श्री दक्षिणामूर्ति संस्कृत ग्रन्थ माला- नौ

॥ श्रीदक्षिणामूर्तये नमः ॥

श्वेताश्वतर-उपनिषद्

महेशानन्द गिरि

प्रकाशक
श्री दक्षिणामूर्ति मठ,
डी. ४६।६ मिश्रपोखरा
वाराणसी

मुद्रक
पर्वतीय मुद्रणालय
पंचगंगा, वाराणसी

प्रथम संस्करण १६७५

प्राप्तिस्थान—

(१) श्री दक्षिणामूर्ति महाविद्यालय
डी. ४६।६ मिश्रपोखरा, वाराणसी १

(२) श्री शंकर मठ,
माउण्ट आबू, (राजस्थान)

(३) श्री संन्यास आश्रम,
श्री राम रोड, दिल्ली ११०००८

उपोद्घात

यज्ज्ञात्वा यतयः सर्वे शिवयोगे स्थिराभवन् ।
महेशं निर्मलं वन्दे श्वेताश्वतरकं प्रभुम् ॥

वैदिक साहित्य में वर्तमान उपलब्ध शाखाओं में सबसे अधिक शाखायें कृष्ण यजुर्वेद की पाई जाती हैं। जबकि ऋग्वेद की एक, अथर्ववेद की दो, सामवेद की तीन एवं शुक्ल यजुर्वेद की दो शाखायें पाई जातो हैं, तब केवल कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय, काठक, कपिष्ठ-काठक एवं मैत्रायणी शाखायें प्रकाशित हो चुकी हैं, तथा कुछ शाखाओं के हिस्से भी प्राप्त हो चुके हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी काल में यजुर्वेद, तत्रापि कृष्ण यजुर्वेद, का कितना अधिक प्रचार रहा होगा। इसी कृष्ण यजुर्वेद की शाखाओं में श्वेताश्वतर शाखा भी आती है। बहुत दिन प्रयत्न करने पर भी हमें इस शाखा का मंत्र, ब्राह्मण एवं आरण्यक कुछ भी उपलब्ध नहीं हो सका। केवल मात्र श्वेताश्वतर उपनिषद् इस शाखा का एकमात्र ग्रन्थ बच गया है। स्वभावतः इसका सम्यक् परिशीलन करना दुस्साध्य हो गया है, क्योंकि यदि श्वेताश्वतर शाखा उपलब्ध होती तो हमें उसी संदर्भ में वैसे ही उपनिषद् का विचार करने का मौका मिलता, ठीक जैसे हम ईशावास्य उपनिषद् के अध्ययन में काण्व शाखा के द्वारा उपकृत हुए हैं। फिर भी कृष्ण यजुर्वेद के मंत्रों में शाखाभेद होने पर भी काफी साम्य मिलता है एवं कपिष्ठ काठक संहिता का श्वेताश्वतर वालों से कुछ वैसा ही सम्बन्ध रहा है जैसा कि शाकल्य शाखा का बाष्कल शाखा से। खिल काण्ड से अतिरिक्त चूंकि विशिष्ट भेदों का समर्थन नहीं मिलता, हमने भी इसी दृष्टि से श्वेताश्वतर का विचार करते हुए प्रधानरूप से कपिष्ठ काठक का संदर्भ रखा है एवं कहीं कहीं तैत्तिरीय ब्राह्मण एवं तैत्तिरीय आरण्यक का आधार लिया है, क्योंकि कपिष्ठ कठ के ब्राह्मण एवं आरण्यक हमें केवल हस्तलेख रूप में देखने को मिले जिनका बार बार अभ्यास करना सम्भव नहीं हो सका।

वैदिक दृष्टि से ही नहीं, वरन् पुरातत्व शास्त्र की दृष्टि से भी शिवपूजन न्यूनतम आठ हजार वर्ष पुराना है। मोहिंजोदड़ो एवं हड़प्पा में शिवलिंग स्पष्ट रूप में तथा जलहरी भी मिली है। वहां की मुद्राओं पर ऊर्ध्वरेता पशुपति की मूर्ति खुदी मिली है। ऋग्वेद में रुद्र के जो कि शिव का ही नामान्तर है, अनेक सूक्त उपलब्ध होते हैं। पाश्चात्य देश वालों ने यद्यपि ऋग्वेद में उपलब्ध शिश्नदेवा: का अर्थ लिंगपूजक किया है परन्तु यह सर्वथा ऋग्वेद को न समझने के कारण ही है। लिंग शिश्न का रूप नहीं है वरन् प्रकृति में जो स्वाभाविक रूप से अण्डाकार गति है तथा समग्र ब्रह्माण्ड का अण्डाकार स्वरूप है, इसी को लेकर अण्डाकार रूप चिह्न अर्थात् लिंग शिव का प्रतीक माना गया है। किसी भी समाज में स्पष्ट रूप से शिश्न का पूजन सम्भव ही नहीं हो सकता। जो भी हो, वेदों में रुद्र का काफी वर्णन है तथा रुद्र के वर्णन में कहीं भी शिश्नदेव का संकेत नहीं है। अतः यदि आधुनिकों की यह कल्पना सत्य भी हो तो शिश्नदेव शैव नहीं थे, यह तो स्पष्ट ही है। इसके विपरीत रुद्र को कपर्दी अर्थात् जटा वाला, शतधन्विने अर्थात् अनेक धनुषों को चलाने की सामर्थ्य वाला, त्रयम्बकं अर्थात् अम्बा का पति, पुष्टिवर्द्धनं पुष्ट करने वाल' मृत्योर्मुक्षीय मृत्यु से छुड़ाने वाला आदि अनेक विशेषणों से याद कि गया है। सामविधान ब्राह्मण में रुद्र संहिता मिलती है। शुक्ल जुर्वेद के सोलहवें तथा कृष्ण यजुर्वेद के चौथे अध्याय में प्रसिद्ध शतरुद्राध्याय प्राप्त होता है जिसमें शिव को अनेक नामों से स्मरण किया गया है। इसी प्रकार अथर्ववेद के छठे, ग्यारहवें एवं पन्द्रहवें काण्ड में शिव, रुद्र, महादेव आदि नामों से शिवस्तुतियाँ हैं। काठक सूत्र परिशिष्टीय रुद्रकल्प में शिव ध्यान एवं पूजा आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है। अनेक स्मार्त उपनिषद् शैव उपनिषद् हैं। गौतम बुद्ध भी अपने उपदेशों में शिवविद्याओं का वर्णन करते

हैं जिसे शिव विद्या कहते हैं। मन्दिरों की दृष्टि से भी सबसे प्राचीन मन्दिर शिव के ही हैं। जब अशोक नेपाल गया तब वहां पशुपति मन्दिर का दर्शन किया, यह घटना आज से २२०० वर्ष पूर्व की है। उसकी पुत्री चारुमती वहीं रह गई थी एवं पशुपति नाथ के उत्तर में उसने एक मठ निर्माण भी करवाया था। अशोक स्वयं भी बौद्ध बनने के पहले शैव था और उसका बड़ा पुत्र जलौ, जो काश्मीर का राजा बनाया गया था, शैव था एवं उसने काश्मीर में अपने पिता के नाम से अशोकेश्वर महादेव की स्थापना की थी। न केवल आर्यावर्त के लोग ही वरन् कड्फिस द्वितीय एवं कनिष्क प्रथम तथा हुविष्क जैसे अनार्य आगन्तुक राजा भी शैव बने थे एवं उनकी मुद्राओं पर नंदी, उमेश एवं त्रिशूल की मूर्तियां बनी हुई हैं। हर्ष का पूर्व पुरुष पुष्यमूर्ति शैव था एवं हर्ष का समकालीन बंगाल का राजा शशांक भी शैव था, ऐसा ह्वेनसांग ने अपने ग्रन्थ में बताया है। यद्यपि वातापि अब खण्डहर बन गया है परन्तु वहां के चालुक्य राजा ने ५५० शताब्दी से ७५० शताब्दी तक राज्य किया था। उनके बनाये हुए शैव मन्दिरों के ध्वंसावशेष अब भी उपलब्ध हैं। चट्टान मन्दिरों में सबसे प्रसिद्ध और प्रधान एलोरा में बना हुआ कैलाश मन्दिर राष्ट्रकूटों के द्वारा बनवाया गया था जो उनके शैवधर्मी होने का प्रमाण है। ९८५ में चोलराज राजराजा ने जो मन्दिर बनवाया था, वह आज भी विद्यमान है। १०२३ में राजेन्द्र ने गंगेकोंडा चोलपुर में एक तीस फुट ऊंचा शिवलिंग प्रतिष्ठित किया। बसव के द्वारा कर्नाट प्रान्त में वीर शैवों की प्रतिष्ठा के बाद तो आज तक वहां पर शैव धर्म ही प्रधान रूप से विद्यमान है। चिदम्बर का नटराज का मन्दिर अघोर शिवाचार्य के समय काफी प्रसिद्ध था। अघोर शिव का समय ११५८ माना जाता है। पाणिनी, कालिदास, नंदिकेश्वर इत्यादि तो स्पष्ट रूप से ही शैव थे। कालिदास ने मेघदूत में महाबलेश्वर का वर्णन

किया है और वह मन्दिर आज भी उज्जैन में विद्यमान है। इस प्रकार वैदिक एवं पुरातत्व खोज तथा ऐतिहासिक आधार पर निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भारत का धर्म शैव धर्म ही रहा। डा० रघुवीर के द्वारा कोरिया, चीन, हिन्देशिया, काकेशिया से लाई हुई ग्रन्थराशि से यह सप्रमाण सिद्ध हो चुका है कि बौद्ध धर्म के पूर्व वहां भी शैव धर्म ही प्रचलित था। योरोप में भी जगह-जगह पर प्राचीन शिवलिंग अब भी मिलते हैं तथा दक्षिण अमरीका में गणेश, देवी के साथ शिव मूर्तियां भी उपलब्ध हुई हैं। एक दृष्टि से कहा जा सकता है कि न केवल भारत का वरन् विश्व का प्राचीनतम धर्म शैव धर्म ही है। यद्यपि यह सत्य है कि यजुर्वेद में ही शिव का माहात्म्य सर्वाधिक प्रतिपादित है एवं सभी शिव सम्प्रदायों में प्रचलित **ॐ नमः शिवाय** का महामंत्र भी यजुर्वेद में ही मिलता है तथापि सनातन धर्म की दृष्टि से वेदों में केवल विषय के अनुसार भेद माना जाता है, देव के अनुसार नहीं। चूंकि यजुर्वेद ही प्रधान रूप से कर्मकाण्ड का प्रतिपादक रहा, अतः उसमें शिव माहात्म्य का अधिक आना स्वाभाविक था। तैत्तिरीय आरण्यक में तो पंच ब्रह्म मंत्र तथा लिंग स्थापन इत्यादि की विधि में प्रयुक्त सभी मंत्र उपलब्ध होते हैं। इस भाग को **याज्ञिकी आरण्यक** कहा जाता है जिसका एक भाग याज्ञिकी उपनिषद् है। **एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयाय तस्थुः** इत्यादि से स्पष्ट है कि जहां-कहीं एक ब्रह्म का वर्णन आया है, उसे रुद्र नाम से ही कहा गया है। अद्वैत वेदांत का सर्वोत्तम ग्रन्थ माण्डूक्य उपनिषद् भी तुरीय अवस्था को शिव नाम से स्मरण करता है। किसी समय शैव धर्म बहुत फूला फला था और आज भी हमको उनके कम से कम आठ सम्प्रदायों के ग्रन्थ मिलते हैं। पाशुपत द्वैतवाद, सिद्धांत शैव वाद, लकुलीश द्वैताद्वैतवाद, श्रीकण्ठ विशिष्टाद्वैतवाद, वीर शैव विशेषाद्वैतवाद, नन्दिकेश्वर शैववाद, रसेश्वर शैववाद, प्रत्यभिज्ञा

त्रिक, क्रम आदि काश्मीर के शैव आदि सभी शैव ही हैं। यद्यपि गत ४०० वर्षों से शैव धर्म का ह्रास होता रहा है तथापि प्राचीन साहित्य को देखने से पता चलता है कि प्रायः सभी दार्शनिक, साहित्यकार, संगीतकार इत्यादि शैव ही रहे। शैवागम भी बड़े विस्तृत हैं जिनमें ज्ञान, योग, क्रिया और चर्या के अध्यायों में व्यावहारिक पूजा इत्यादि का वर्णन बड़े विस्तार से किया गया है। इन्हीं शैवागम के ग्रन्थों के आधार पर समरांगण सूत्रधार की रचना राजा भोज ने की थी जो मन्दिर निर्माण का प्रधान ग्रन्थ है तथा **तत्व प्रकाशिका** में प्रायः सभी शिवपूजा विधियों का वर्णन किया गया है। पातंजल योगसूत्र भी शैवागमों पर ही आधारित है। आज भी नाथयोगी शिवोपासक ही होते हैं। आचार्य शंकर के सम्प्रदाय में सौन्दर्य लहरी एवं दक्षिणामूर्ति स्तोत्र का सर्वाधिक प्रयोग उपासना के लिये किया जाता है। ये दोनों ही शिव तंत्रों पर ही आधारित हैं। इस प्रकार कह सकते हैं कि अनेक भागों में बंटा हुआ शैव धर्म का मूल वेद ही रहा है।

यद्यपि शैवों में विशिष्टाद्वैतवादी एवं द्वैतवादी भी हुए हैं लेकिन इनकी संख्या अति न्यून रही है। शिवविशिष्टाद्वैतवादी श्रीकण्ठाचार्य अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य में **निरन्वय भाष्य** के नाम से अद्वैतभाष्य को ही चरम तात्पर्य मानते हैं, जिसे **शिवार्कमणिदीपिका** में आचार्य अप्पयदीक्षितेन्द्र ने विस्तार से प्रतिपादित किया है। इसी प्रकार वीर शैवों में भी शिवोहं की उपासना प्रचलित है। अतः किंचित् भेद होने पर भी वस्तुतः ये सभी अद्वैतवादी ही रहे हैं। वस्तुतः भावुक लोगों को अद्वैतवाद में भक्ति पर कुछ प्रहार सा प्रतीत होता है और इसीलिये अद्वैत के रहस्य को न समझकर वे प्रायः भक्ति की सिद्धि के लिये द्वैत को स्वीकार कर लेते हैं। परन्तु वास्तविक दृष्टि से अद्वैत से ही भक्ति का समन्वय सम्भव है। प्रेम की सीमा प्रिय पात्र से अभिन्न होकर नित्य एकता में ही होती है, न कि

भेद में। आचार्य शंकर के साक्षात् गुरु आचार्य गोविन्दपाद के द्वारा रसेश्वर शैव दर्शन पर ग्रन्थ का निर्माण इस बात को स्पष्ट करता है कि वह उसके भी आचार्य थे। हेगेल ने अपने ग्रन्थों में कला, धर्म एवं दर्शन को एक त्रिशूल माना है, जिसमें कला वाद, धर्म प्रतिवाद एवं दर्शन संवाद है, और यह हेगेल की दृष्टि में अंतिम त्रिशूल है। हम वाद और प्रतिवाद को स्वीकार करें या न करें लेकिन इतना तो मानना ही पड़ेगा कि इन तीन अवस्थाओं में से प्रत्येक साधक को निकलना पड़ता है। अतः शैव धर्म से ही आगे दर्शन प्रादुर्भूत हुआ। वैदिक दर्शनों में उपनिषद् ही प्रथम कड़ी है। यद्यपि सभी उपनिषदों में शिव वाचक शब्दों की भरमार है तथापि श्वेताश्वतर उपनिषद् जो एक प्रकार से सभी उपनिषदों के सार रूप से और सभी संहिताओं के उपदेश के अनन्तर किया गया है, उसमें तो स्पष्ट रूप से शैव धर्म के साथ-साथ शैव दर्शन का भी प्रतिपादन है। यह उन १६ उपनिषदों में से है जो वेद की शाखाओं से सम्बन्धित है, अतः श्रौत है तथा जिनमें से सूत्रकारों ने उद्धरण ग्रहण किये हैं तथा भाष्यकारों ने उन उद्धरणों का उद्धार किया है। यद्यपि इसके ऊपर आचार्य शंकर का कोई भाष्य नहीं है तथापि इसका कारण इसमें किसी प्रकार के दार्शनिक मतभेद की सम्भावना नहीं होने के कारण ही है, परवर्ती काल में इस उपनिषद् को ही आधार मानकर सांख्यों ने प्रकृतिवाद एवं योगियों ने २६ तत्ववाद का विवरण किया, तथापि निष्पक्ष दृष्टि से इसे पढ़ने पर पता लग जाता है कि यह शुद्ध वेदांत की दृष्टि से प्रतिपादित किया हुआ ग्रन्थ है और सृष्टि प्रक्रिया में यद्यपि सांख्य तत्व और ध्यान प्रक्रिया में योग तत्वों का प्रतिपादन है तथापि दर्शन पक्ष में तो अद्वैत ही स्वीकृत है। ध्यान पक्ष में योग एवं सृष्टि-पक्ष में सांख्य की प्रक्रिया तो वेदांत से मिलती-जुलती है ही, तथा शैवागमों की प्रक्रियाओं की तो सांख्यवाद ने मानो नकल ही उतारी

है। हेगेल का कथन यहां पर चरितार्थ होता है क्योंकि यह बिल्कुल ठीक है कि प्रकृति को जब सहृदय कवि देखता है तब उसके हृदय में जो स्पन्द होता है, वही धर्म होता है। वैदिक मंत्रों में अधिकतर प्रकृति के सौन्दर्य से प्रभावित ऋषियों के हृदय की प्रार्थनाओं का वर्णन है। इसका अर्थ यह नहीं समझ लेना चाहिये कि इन ऋषियों ने इन मंत्रों को लिखा था क्योंकि वस्तुतः वेद अपौरुषेय है। भाव केवल इतना ही है कि इन मंत्रों में इस प्रकार के साधकों की भावनाओं को अंकित किया गया है। फिर जब इस धर्म भावना को बुद्धि के द्वारा ग्रहण करने की प्रवृत्ति हुई तब मानो उसका अंतिम नतीजा श्वेताश्वतर उपनिषद् में ग्रथित कर दिया गया।

अन्य उपनिषदों में यद्यपि किसी न किसी एक ऋषि की विशेषता रहती है परन्तु स्पष्ट रूप से बृहदारण्यक को भी याज्ञवल्क्यीय उपनिषद् नहीं कहा जा सकता, तो दूसरे उपनिषदों की तो बात ही क्या। पर श्वेताश्वतर उपनिषद् में स्पष्ट किया गया है कि श्वेताश्वतर महर्षि ने अपने शिष्यों को, जो स्वयं ब्रह्मनिष्ठ थे, यह अंतिम उपदेश दिया। इस दृष्टि से इस उपनिषद् का बड़ा वैशिष्ट्य है। ठीक जिस प्रकार वेदांत ज्ञान का उपदेश भगवान् कृष्ण के मुख से होने पर उसमें एक व्यक्तित्व का भी विज्ञान सम्मत प्रभाव आ गया, वैसा ही श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी प्रतीत होता है। गीता तथा श्वेताश्वतर उपनिषद् में और भी अनेक समानतायें वैचारिक दृष्टि से हैं जिनका विस्तृत वर्णन करना यहां इष्ट नहीं है।

यह उपनिषद् छः अध्यायों में विभक्त है एवं छठा अध्याय एक तरह से सारे ही पूर्व अध्यायों का संक्षेपमात्र है। प्रथम अध्याय में कुछ ब्रह्मवेत्ता लोग आपस में विचार करते हैं कि जगत् का कारण, संचालक एवं प्रतिष्ठाता कौन है? जब युक्तियों के द्वारा किसी निर्णय र नहीं पहुंचते तो ध्यान का सहारा लेते हैं एवं ध्यान के द्वारा

उनको प्रवाह एवं चक्र इन दो का साक्षात्कार होता है। यह एक रहस्यमय दर्शन है एवं इस प्रकार का अद्वैत ध्यान और कहीं भी उपलब्ध नहीं होता है। इसी के फलस्वरूप वह एकात्मवाद का अनुभव करते हैं और यह समझ लेते हैं कि जब तक आत्मा और परमात्मा को अलग समझते हैं तब तक बंधन है, और आत्मा और परमात्मा की एकता के ज्ञान से ही मोक्ष है। इसके बाद इसका विस्तार किया गया है एवं ध्यान के कई प्रकारों का वर्णन है। दूसरा अध्याय ध्यान का वर्णन करते हुए ध्यान के अंग कुण्डलिनीयोग, प्राणायाम योग, आसन इत्यादि का विस्तार से वर्णन करता है एवं उससे होने वाले फलों का प्रतिपादन करके अंत में परमात्मा की व्यापकता को संहिता के मंत्रों से उद्धृत करके बताते हैं कि एक परमात्मा किस प्रकार अपनी शक्तियों से अनेक रूप का बनता है, यह तीसरे अध्याय में बताया है। तीसरे अध्याय की सबसे बड़ी विशेषता है कि रुद्राध्याय के अनेक मंत्रों का एवं पुरुषसूक्त के अनेक मंत्रों का यहां प्रयोग किया गया है। चौथे अध्याय में केवल उस महादेव की कृपा से ही शुभ बुद्धि की प्राप्ति बताई है जिसके फलस्वरूप वह परमात्मा ही अग्नि, सूर्य आदि रूपों में, पुरुष स्त्री इत्यादि रूपों में, नीले, हरे इत्यादि रूपों में प्रतीत होता है। यहीं वह प्रसिद्ध मंत्र मिलता है जिसमें एक अजा के द्वारा अनेक प्रकार की सृष्टि का वर्णन है एवं जिसके आधार पर सांख्यवादी अपनी त्रिगुणात्मिका प्रकृति को वैदिक सिद्ध करने का दुस्साहस करते हैं। परन्तु प्रकरण से यह स्पष्ट है कि यहां पर किसी भी प्रकार की त्रिगुणात्मिकता का प्रतिपादन नहीं है। उसके बाद ऋग्वेद के मंत्रों के सहारे जीव और ईश्वर के स्वरूप का वर्णन किया जाता है एवं महेश्वर और उसकी माया का निरूपण करके अत्यंत शांति का उपाय कई मंत्रों में बताया है। यहीं पर दक्षिणामूर्ति उपासना का भी प्रतिपादन किया गया एवं यजुर्वेद के अपनी रक्षा के मानस्तोके इस

प्रसिद्ध मंत्र का आध्यात्मिक अर्थ किया है। पांचवें अध्याय में विद्या और अविद्या इन दो शक्तियों को बताते हुए कहा है कि किस प्रकार विश्व आगे बढ़ता है एवं जीव अत्यल्प दीखने पर भी वस्तुतः परमात्मरूप ही है, पुरुष स्त्री आदि शरीरों में रहते हुए भी वह वस्तुतः उन शरीरों से अतीत है। शिव केवल भाव के द्वारा ही ग्रहण किया जा सकता है एवं समग्र कलाओं को उत्पन्न करने वाला एकमात्र वही है। छठे अध्याय में इन सब बातों को संक्षेप में बताते हुए उसकी एकता, निष्कलता, निष्क्रियता का प्रतिपादन किया तथा शरण प्राप्ति के मंत्रों का वर्णन किया। तप और शिव की कृपा से ही श्वेताश्वतर महर्षि ने इस तत्त्व का साक्षात्कार किया और यह केवल गुरुभक्त को ही प्रकाशित होता है, यह कहकर इस उपनिषद् को समाप्त किया। इस प्रकार साधक के काम की जितनी भी बातें हो सकती हैं, सभी इस उपनिषद् में आ गई हैं। यद्यपि इस उपनिषद् के ऊपर कम से कम ९ टीकाओं का प्रकाशन हो चुका है एवं अन्य अनेक टीकायें हस्तलिखित रूप में उपलब्ध हैं तथापि इसका सर्वतोभावेन निरूपण प्रायः नहीं किया गया है। वर्तमान संस्करण में हमने प्रत्येक पद के अर्थ का स्पष्टीकरण ही उद्देश्य रखा है। उसमें उपहित दार्शनिक मीमांसा को बहुत ज्यादा विस्तृत करने का प्रयत्न नहीं किया परन्तु आधारभूत सिद्धान्तों का संकेत अवश्य सर्वत्र कर दिया है। यदि कभी द्वितीय संस्करण का अवसर आया तो उन संकेतों को कुछ और अधिक विस्तृत करने का प्रयास किया जायेगा। उपनिषदों में जो उपासना प्रकरण हैं वे प्रायः बड़े गूढ़ हैं एवं जहां कहीं उपासना प्रकरण आता है, वहां समग्र तंत्र एवं आरण्यक मार्गों का पूर्णतः अवलम्बन किये बिना स्पष्टार्थता आना सम्भव नहीं होता। इसीलिये सम्भव है कि कुछ मंत्रों का अर्थ स्पष्ट न हो पाया हो। परन्तु उनके बारे में जितनी सामग्री उपलब्ध हो सकी है, वह प्रस्तुत की गई है।

साधक उसके ऊपर विचार करके और अधिक नवीन तत्त्वों का भी उद्भावन कर सकेंगे। शास्त्र रसज्ञ यदि किन्हीं उपासनाओं के बारे में किसी अधिक सामग्री को अपने पास रखते हों तो उन हस्त-लेखों को प्राप्त करने पर उनका संग्रह अवश्य ही अगले संस्करण में अथवा अलग से भी किया जा सकता है। इस प्रकार प्रकाशित टीकाओं में एक टीका आचार्य शंकर के नाम से भी मिलती है परन्तु निश्चित रूप से ही वह प्रस्थानत्रयी भाष्यकार भगवत्पाद के द्वारा निर्मित नहीं है, यह कहा जा सकता है। उपनिषद् भाष्यों में वेद-मूलकता ही भाष्यकार की प्रधानता रही है। पुराण स्मृति इत्यादि का उद्धरण देना उन्हें कभी भी संगत नहीं लगा। उनकी यह शैली सभी प्रस्थानों के भाष्य में देखी जा सकती है। इतना ही नहीं, बहुत लम्बे-लम्बे आठ आठ, दस दस श्लोकों के असम्बद्ध उद्धरण देते चले जाना उन्हें कभी प्रिय नहीं रहा। मूल के तात्पर्य प्रतिपादन में युक्ति, विचार में चाहे बृहदारण्यक के कुछ स्थल विस्तृत हो गये हों परन्तु केवल उद्धरण मात्र से उन्होंने कभी भी अपने ग्रन्थों का व्यर्थ विस्तार नहीं किया। आचार्य नारायण ने प्रायः २४ उपनिषदों पर अपनी दीपिकायें लिखी हैं एवं प्रत्येक उपनिषद् के अंत में जहां कहीं भाष्य उपलब्ध रहा है, वहां **शंकरोक्त्युपजीविनः** कहा है, एवं जहां भाष्य उपलब्ध नहीं हुआ है वहां **श्रुतिमात्रोपजीविनः** कहा है। श्वेताश्वतर दीपिका में तो **श्रुतिमात्रोपजीविनः** ही कहा है एवं इस दीपिका में तथा कथित भाष्य का एक भी उद्धरण नहीं है। इसी प्रकार उन्होंने प्रस्थान त्रयी भाष्यकार आचार्य शंकर का प्रायः शब्दशः संक्षेप कर उपलब्ध भाष्यों का संकेत किया है, परन्तु श्वेताश्वतर की दीपिका में न केवल तथा कथित भाष्य के संकेत का अभाव है, वरन् कई मंत्रों की व्याख्या तथा कथित शांकर भाष्य की व्याख्या से विरुद्ध भी है। वक्र एवं प्रवाह दर्शन के अध्यात्म-रहस्य के निरूपण में सांख्य प्रक्रिया

का उद्धरण अक्षरशः दे देना आचार्य शंकर के लिये कथमपि सम्भव नहीं होता। ब्रह्मसूत्र भाष्य में त्रिगुणात्मिका प्रकृति को ऊहापोह के साथ अवैदिक सिद्ध करने वाले प्रस्थानत्रयी भाष्यकार यहां मानो त्रिगुणात्मिका प्रकृति को वैदिक सिद्ध करने में कोई विरोध नहीं देखते। दार्शनिक मीमांसा तो प्रायः सर्वथा ही इसमें नहीं मिलती। आधुनिक दृष्टि से विचार करने पर भाषा भी प्रस्थानत्रयी के भाष्यों से बिल्कुल ही नहीं मिलती। प्रस्थानत्रयी के समग्र भाष्यों पर टीका करने वाले आचार्य आनन्दगिरि स्वामी ने भी इसपर टीका नहीं लिखी है। धनपति सूरी जो भाष्य के गहन अध्येता ही नहीं, वरन् भाष्य के पदार्थों का अपने ग्रन्थों में पूर्णतः प्रतिपादन करने वाले थे, उन्होंने भी डिण्डिम टीका में आचार्य द्वारा कृत दस उपनिषदों के भाष्यों का ही वर्णन किया है। यदि प्रस्थानत्रयी भाष्यकार भगवत्पाद शंकर श्वेताश्वतर उपनिषद् पर भी भाष्य लिखने वाले होते तो शंकर विजय के प्रसंग में इसका अवश्य ही उल्लेख किया जाता। विद्यारण्य स्वामी ने भी इस भाष्य का अपनी दीपिका एवं **अनुभूति प्रकाश** में कोई संकेत नहीं दिया है। इन सब बातों से स्पष्ट होता है कि यह महेश्वर परावतार ज्ञान शक्तिरूप भाष्यकार शंकर की कृति नहीं है। हमें विश्वास है कि इस प्रकार के पद पदार्थ से लोग विचार करने में अधिक प्रवृत्त होंगे। हमने प्रायः नारायण तथा शंकरानन्द का अनु-सरण किया है, यद्यपि सभी टीकाकारों के संमत अर्थ का प्रतिपादन हमारा ध्येय रहा है। प्रज्ञा पाठशाला के संस्करण में भी शंकरानंद को ही शकर सम्प्रदाय का प्रतिनिधि स्वीकार किया है। परमहंस सम्प्रदाय में अनेक प्राचीन ग्रंथों के संग्राहक प्रसिद्ध अर्थों का तो इसमें पूर्ण समावेश कर ही दिया गया है। अन्य उपनिषदों की तरह यहाँ भी हमारा ध्येय उपनिषद् को एक मृत दर्शन की तरह समु-पस्थित करना नहीं वरन् जीवित धर्म के संदर्भ में उपस्थित करना ही रहा है।

१९७२ के चातुर्मास्य में अर्बुदाचल में पं० भागीरथ पाण्डेय के प्रयत्न से ही ग्रन्थ का लेखन सम्भव हो सका। इस ग्रन्थ के एक मंत्र की व्याख्या किसी समय संन्यास आश्रम, दिल्ली में एक पक्ष तक चली थी एवं वह पुस्तकाकार प्रकाशित भी हुई थी। तभी से प्रिय पाण्डेय जी का आग्रह रहा कि इस उपनिषद् का समग्र विवरण उपस्थित किया जाये। हस्तलेख तैयार हो जाने पर भी प्रकाशन के लिये किसी एक स्थान पर रहना आवश्यक था एवं वह १९७३ के चातुर्मास्य में काशी में हो पाया। अतः यहीं से इसका प्रकाशन हो रहा है।

ग्रन्थ का टंकण करने में प्रिय मदनलाल खटर का प्रयास स्तुत्य रहा है।

काशी चातुर्मास्य व्रत — भगवत्पादीयो

भाद्रपद, २०३० — महेशानन्दगिरिः

विषयसूची

प्रथम अध्याय — १
कारण विचार — २
जीवन क्या है — ६
'ब्रह्म' का इतिहास — ९
काल विचार — १०
भूत विचार — १४
शक्ति विचार — १५
तत्त्व साक्षात्कार साधन — २१
शिवशक्ति विचार — २३
चक्र दर्शन — २९
सरिता दर्शन — ३५
संसार तथा मोक्ष — ३९
संवादी विसंवादी भ्रम — ४६
जीवेश्वर विचार — ५३
मोक्षसाधन — ५७
अज विचार — ६२
माया अविद्या अभिन्न है — ६५
क्षर अक्षर हर — ६९
तीन प्रकार के पाशनष्ट — ७३
तीन प्रकार के ब्रह्म — ७७
प्रणवोपासना — ८१
शिव ही साधन तथा साध्य — ९०
उपनिषदर्थ — ९१

द्वितीय अध्याय	९४
मन को युक्त करना	९६
अग्नि स्वरूप	१००
शिव का अनुग्रह	१०७
शिव स्तुति	११२
पुरुषार्थ विचार	११३
अमृत पुत्र	११८
मध्यमाधिकारी के साधन	१२३
प्रतीक विचार	१२५
प्राणयोग	१२८
सोमयोग	१३०
पूर्त	१३४
आसनयोग	१३५
प्राणायाम प्रत्याहार	१४३
उपयुक्त देश	१४८
बिन्दु स्फुरण	१५२
योगाग्नि	१५७
योगप्रवृत्ति	१६५
आत्मदर्शन	१६८
शिव की व्यापकता	१७५
तृतीय अध्याय	१८४
शिव की अनेक शक्तियां	१८६
शिव का प्रत्यक्ष अद्वैत	१९०
'रुद्र' विचार	१९२
विराट्	१९५
शिवलिंग तथा जलहरी	१९६

सर्व स्रष्टा	१९९
शिवा तनु प्रार्थना	२०४
गिरि	२०७
बाण	२०८
निर्गुण शिवज्ञान का फल	२१०
स्वानुभूति प्रदर्शन	२१४
स्कंभ वर्णन	२१९
शिव अज्ञान से दुःख	२२३
व्यापक शिव	२२६
निर्मला की प्राप्ति	२२७
अंगुष्ठ पुरुषोपासना	२३०
दशांगुल ऊपर शिव	२३३
सर्वरूप शिव	२३५
नवद्वाररुद्ध शिव	२४१
महापुरुष	२४५
शिवानुग्रह	२४८
धाता	२५१
कृपा से ज्ञान	२५५
चतुर्थ अध्याय	२५९
ज्ञान प्रार्थना	२६०
वर्ण विचार	२६२
उपासनार्थ उपाधियाँ	२६७
अजा तथा अज	२७२
दो पक्षी	२८०
वीतशोक का साधन	२८६
शिवज्ञान ही वेदार्थ	२९०

सर्वस्रष्टा	२९४
माया व मायावी	२९६
सर्व योनिस्थ ज्ञान से शान्ति	२९८
द्विपाद चतुष्पाद का ईश	३०१
वेष्टन शिव	३०४
मृत्युच्छेत्ता शिव	३०५
घृतमण्ड शिव	३०८
प्रेम, ज्ञान से भक्ति	३१०
गायत्री में शिव	३१२
लिंगमूर्ति शिव	३१७
अतीन्द्रिय शिव	३२१
श्रीदक्षिणामूर्ति	३२४
शिष्यादि के लिये प्रार्थना	३२७
पंचम अध्याय	३२९
कर्म तथा भक्ति का फलदाता	३३३
कपिल विचार	३३५
सर्वाधिप शिव	३३७
वेदगुह्य शिव	३४२
प्राणाधिप	३४५
जीव	३४६
बालाग्र शिव	३४८
पुनर्जन्म कारण	३५०
मुक्ति प्रद ज्ञान	३५६
कला विचार	३६१
षष्ठ अध्याय	३६४
आवरण विचार	३६९

आत्मगुण विचार	३८३
निष्काम कर्म	३९१
ईड्य शिव	३९८
मगेश शिव	४०३
भुवनेश शिव	४०७
ज्ञान-बल-क्रिया-धीश शिव	४११
शक्ति विचार	४१५
ज्योति लिंग	४२०
अज्ञात शिव ही माया	४२५
स्वावरकत्व विचार	४२८
सर्वदववाद	४३१
अनेक देव वाद निराकरण	४३८
स्वप्रकाश शिव	४५०
हंस शिव	४५४
गुणेश शिव	४५७
अनन्येश शिव	४६०
शरणागति	४६४
प्रथम गुरु	४६६
आत्म बुद्धि प्रकाश	४६७
प्रपत्ति	४६९
शिवज्ञान से ही सुख	४७३
ज्ञान साधन	४७६
विद्वान्	४७८
तप	४७९
परमहंस संन्यास	४८२
ज्ञानाधिकारी	४९०
वेदान्त	४९३

धर्म ४९४
परा भक्ति ४९६
गुरु देव एकता ५०३
यज्ञ विचार ५०४
संशयादि निवृत्ति ५११

ॐ

तत्सद्ब्रह्मणे नमः

श्वेताश्वतरोपनिषद्

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं
करवावहै । तेजस्विनावधीतमस्तु ।
मा विद्विषावहै ।

प्रथमोऽध्यायः

हरिः ॐ ब्रह्मवादिनो वदन्ति—

किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क च संप्रतिष्ठा ।
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥ १ ॥
कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम् ।
संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥ २ ॥
ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ।
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥ ३ ॥

तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं शतार्धारं विंशतिप्रत्यराभिः।
अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम् ॥ ४ ॥

पञ्चस्रोतोऽम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम्।
पञ्चावर्तां पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः ॥ ५ ॥
सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते अस्मिन्हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ॥ ६ ॥

उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरं च।
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः ॥ ७ ॥

संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः।
अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावाज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः। ८ ॥

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ॥ ९ ॥

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥१०॥

ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः।
तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः ॥ ११ ॥

एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ॥ १२ ॥

वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिर्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः।
स भूय एवेन्धनयोनिगृह्यस्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे ॥ १३ ॥

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत् ॥ १४ ॥

तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्रोतःस्वरणीषु चाग्निः।
एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ॥ १५ ॥

सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम्।
आत्मविद्यातपोमूलं तद्ब्रह्मोपनिषत्परम् ॥
तद्ब्रह्मोपनिषत्परम् ॥ १६ ॥

इति श्वेताश्वतरोपनिषदि प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत ॥ १ ॥
युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे।
सुवर्गेयाय शक्त्या ॥ २ ॥
युक्त्वाय मनसा देवान्स्वर्यतो धिया दिवम्।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान् ॥ ३ ॥

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥ ४ ॥
युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्विश्लोक एतु पथ्येव सूरेः।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥ ५ ॥

अग्निर्यत्राभिमथ्यते वायुर्यत्राधिरुध्यते।
सोमो यत्रातिरिच्यते तत्र संजायते मनः ॥ ६ ॥
सवित्रा प्रसवेन जुषेत ब्रह्म पूर्व्यम्।
तत्र योनिं कृणवसे न हि ते पूर्तमक्षिपत् ॥ ७ ॥
त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥ ८ ॥

प्राणान्प्रपीड्येह स युक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोः श्वसीत ।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान्मनो धारयेताप्रमत्तः ॥ ९ ॥
समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः ।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥ १० ॥
नीहारधूमार्कानिलानलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम् ।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ॥ ११ ॥
पृथ्व्याप्यतेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते ।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥ १२ ॥
लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च ।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति ॥ १३ ॥
यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत्सुधान्तम् ।
तद्वैआत्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः ॥ १४ ॥
यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत् ।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ १५ ॥
एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः ।
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ्जनांस्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥ १६ ॥
यो देवो अग्नौ यो अप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश ।
य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः ॥ १७ ॥

इति श्वेताश्वतरोपनिषदि द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वांल्लोकानीशत ईशनीभिः ।
य एवैक उद्भवे सम्भवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ १ ॥
एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमांल्लोकानीशत ईशनीभिः ।
प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति संचुकोचान्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः ॥ २ ॥
विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् ।
सं बाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः ॥ ३ ॥
यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिको रुद्रो महर्षिः ।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥ ४ ॥

या ते रुद्र शिवा तनूरघोरापापकाशिनी ।
तया नस्तनुवा शन्तमया गिरिशन्ताभिचाकशीः ॥ ५ ॥
यामिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे ।
शिवां गिरित्र तां कुरु माहिँसीः पुरुषं जगत् ॥ ६ ॥

ततः परं ब्रह्मपरं बृहन्तं यथानिकायं सर्वभूतेषु गूढम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारमीशं तं ज्ञात्वामृता भवन्ति ॥ ७ ॥
वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ ८ ॥
यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् ।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥ ९ ॥
ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयम् ।
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति ॥ १० ॥

सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः ।
सर्वव्यापी स भगवांस्तस्मात्सर्वगतः शिवः ॥ ११ ॥

महान्प्रभुर्वै पुरुषः सत्त्वस्यैष प्रवर्तकः ।
सुनिर्मलामिमां प्राप्तिमीशानो ज्योतिरव्ययः ॥ १२ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः ।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ १३ ॥

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ १४ ॥

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ १५ ॥

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १६ ॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत् ॥ १७ ॥

नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः ।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ॥ १८ ॥

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥ १९ ॥

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः ।
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम् ॥ २० ॥

वेदाहमेतमजरं पुराणं सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात् ।
जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम् ॥ २१ ॥

इति श्वेताश्वतरोपनिषदि तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति ।
वि चैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥ १ ॥

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदापस्तत्प्रजापतिः ॥ २ ॥

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी ।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥ ३ ॥

नीलः पतङ्गो हरितो लोहिताक्षस्तडिद्गर्भ ऋतवः समुद्राः ।
अनादिमत्त्वं विभुत्वेन वर्तसे यतो जातानि भुवनानि विश्वा ॥ ४ ॥

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥ ५ ॥

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥ ६ ॥

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥ ७ ॥

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥ ८ ॥

छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति ।
अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः ॥ ९ ॥

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
अस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥ १० ॥

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको यस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वम् ।
तमीशानं वरदं देवमीड्यं निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति ॥ ११ ॥

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥ १२॥

यो देवानामधिपो यस्मिंल्लोका अधिश्रिताः।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १३॥

सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति ॥ १४॥

स एव काले भुवनस्य गोप्ता विश्वाधिपः सर्वभूतेषु गूढः।
यस्मिन्युक्ता ब्रह्मर्षयो देवताश्च तमेवं ज्ञात्वा मृत्युपाशांश्छिनत्ति ॥ १५॥

घृतात्परं मण्डमिवातिसूक्ष्मं ज्ञात्वा शिवं सर्वभूतेषु गूढम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ १६॥

एषो देवो विश्वकर्मा महात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ १७॥

यदातमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासच्छिव एव केवलः।
तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं प्रज्ञा च तस्मात्प्रसृता पुराणी ॥ १८॥

नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत्।
न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः ॥ १९॥

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा हृदिस्थं मनसा य एनमेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ २०॥

अजात इत्येवं कश्चिद्भीरुः प्रपद्यते।
रुद्र यत्ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यम् ॥ २१॥

मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः।
वीरान्मा नो रुद्र भामितो वधीर्हविष्मन्तः सदमित्त्वा हवामहे ॥ २२॥

इति श्वेताश्वतरोपनिषदि चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे।
क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः ॥ १ ॥

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको विश्वानि रूपाणि योनीश्च सर्वाः।
ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत् ॥ २॥

एकैकं जालं बहुधा विकुर्वन्नस्मिन्क्षेत्रे संहरत्येष देवः।
भूयः सृष्ट्वा पतयस्तथेशः सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा ॥ ३ ॥

सर्वा दिश ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक्प्रकाशयन्भ्राजते यद्वनड्वान्।
एवं स देवो भगवान्वरेण्यो योनिस्वभावानधितिष्ठत्येकः ॥ ४ ॥

यच्च स्वभावं पचति विश्वयोनिः पाच्यांश्च सर्वान्परिणामयेद्यः।
सर्वमेतद्विश्वमधितिष्ठत्येको गुणांश्च सर्वान्विनियोजयेद्यः ॥ ५ ॥

तद्वेदगुह्योपनिषत्सु गूढं तद् ब्रह्मा वेदते ब्रह्मयोनिम्।
ये पूर्वदेवा ऋषयश्च तद्विदुस्ते तन्मया अमृता वै बभूवुः ॥ ६ ॥

गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता।
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः संचरति स्वकर्मभिः ॥ ७ ॥

अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः सङ्कल्पाहङ्कारसमन्वितो यः।
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः ॥ ८ ॥

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥ ९ ॥

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स रक्ष्यते ॥ १० ॥

सङ्कल्पनस्पर्शनदृष्टिहोमैर्ग्रासाम्बुवृष्ट्या चात्मविवृद्धिजन्म ।
कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही स्थानेषु रूपाण्यभिसंप्रपद्यते ॥ ११ ॥
स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति ।
क्रियागुणैरात्मगुणैश्च तेषां संयोगहेतुरपरोऽपि दृष्टः ॥ १२ ॥
अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ १३ ॥
भावग्राह्यमनीडाख्यं भावाभावकरं शिवम् ।
कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम् ॥ १४ ॥

इति श्वेताश्वतरोपनिषदि पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथान्ये परिमुह्यमानाः ।
देवस्यैष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम् ॥ १ ॥
येनावृतं नित्यमिदं हि सर्वं ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः ।
तेनेशितं कर्म विवर्तते ह पृथ्व्याप्यतेजोऽनिलखानि चिन्त्यम् ॥ २ ॥
तत्कर्म कृत्वा विनिवृत्य भूयस्तत्त्वस्य तत्त्वेन समेत्य योगम् ।
एकेन द्वाभ्यां त्रिभिरष्टभिर्वा कालेन चैवात्मगुणैश्च सूक्ष्मैः ॥ ३ ॥
आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि भावांश्च सर्वान्विनियोजयेद्यः ।
तेषामभावे कृतकर्मनाशः कर्मक्षये याति स तत्त्वतोऽन्यः ॥ ४ ॥
आदिः स संयोगनिमित्तहेतुः परस्त्रिकालादकलोऽपि दृष्टः ।
तं विश्वरूपं भवभूतमीड्यं देवं स्वचित्तस्थमुपास्य पूर्वम् ॥ ५ ॥

स वृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यो यस्मात्प्रपञ्चः परिवर्ततेऽयम् ।
धर्मावहं पापनुदं भगेशं ज्ञात्वात्मस्थममृतं विश्वधाम ॥ ६ ॥
तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम् ।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥ ७ ॥
न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥ ८ ॥
न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम् ।
स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः ॥ ९ ॥
यस्तन्तुनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतो देव एकः स्वमावृणोत् ।
स नो दधाद्ब्रह्माप्ययम् ॥ १० ॥
एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥ ११ ॥
एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥ १२ ॥
नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ १३ ॥
न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ १४ ॥
एको हंसो भुवनस्यास्य मध्ये स एवाग्निः सलिले संनिविष्टः ।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ १५ ॥
स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकारो गुणी सर्वविद्यः ।
प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः ॥ १६ ॥
स तन्मयो ह्यमृत ईशसंस्थो ज्ञः सर्वगो भुवनस्यास्य गोप्ता ।
य ईशे अस्य जगतो नित्यमेव नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय ॥ १७ ॥

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥ १८ ॥

निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्।
अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम् ॥ १९ ॥

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥ २० ॥

तपः प्रभावाद्देवप्रसादाच्च ब्रह्म ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान्।
अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसंघजुष्टम् ॥ २१ ॥

वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम्।
नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वै पुनः ॥ २२ ॥

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।
प्रकाशन्ते महात्मनः ॥ २३ ॥

इति श्वेताश्वतरोपनिषदि षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

श्वेताश्वतरोपनिषद्

(पद, पदार्थ एवं विशिष्टार्थ संवलिता)

ॐ **ब्रह्मवादिनः**[1] **वदन्ति**[2] ।

ब्रह्मवादी एकत्रित होकर आपस में विचार प्रारंभ करते हैं।

१. ब्रह्म का अर्थ यहां परमात्मा है। परमात्मा के विषय में विचार करने वाले लोगों का ही जगत्कारण के बारे में विचार हुआ करता है। यदि ब्रह्म का अर्थ वेद भी इष्ट हो तो यहां वेद का उपनिषद् भाग ही संग्राह्य हो सकेगा। एवं उपनिषदों का परमात्मा प्रतिपाद्य होने से पूर्वार्थ ही प्राप्त हो जायेगा।

२. **वीतरागकथा वादः** अर्थात् रागद्वेष से रहित आग्रहहीन व्यक्तियों का सत्य निर्णय करने के लिये किया गया विचार-विनिमय वाद कहा जाता है। जब मनुष्य पहले ही किसी पक्ष को अपना लेता है तब उसके लिये सत्य को निर्णय करना असंभव हो जाता है। चूंकि संन्यासी के लिये **न कञ्चन पक्षमाश्रयेत्** विधि की गई है अतः संन्यासी ही यहां विचार करने के लिये एकत्रित हुऐ थे। **अत्याश्रमिभ्यः प्रोवाच** (६।२१) के द्वारा अन्त में तो यह स्पष्ट कर ही दिया गया है।

१

किम् कारणं ? ब्रह्म, कुतः स्म जाताः ? जीवाम केन ? क्व च सम्प्रतिष्ठा ? अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ? ब्रह्मविदः व्यवस्थाम् ॥

ब्रह्मविदः =हे ब्रह्मवेत्ताओ[1] (आपलोग)
व्यवस्थाम् =निर्णय
(विधेहि) =करें (कि)
किम् =क्या
कारणम् =(सारे जगत् का) कारण[2] (है) ?
कुतः =कहां से
जाताः =(कार्यकारण भाव[3] अथवा कार्य-करण संघात[4]) पैदा हुआ ?
स्म =है ?
केन =किस शक्ति[5] से
जीवाम =हम जीवित[6] रहते हैं ?
च =और
क्व =कहां[7]
सम्प्रतिष्ठा =(सब कुछ) संप्रतिष्ठित[8] है ?
केन =किसके
अधिष्ठिताः =अधिकार[9] में स्थित होते हुए
सुखेतरेषु =सुख और दुःखों में[10]
वर्तामहे =प्रवृत्ति[11] करते हैं ?
ब्रह्म =ब्रह्म[12] ।

१. यद्यपि परमात्मा को इन ऋषियों ने श्रुति और युक्ति के बल से सामान्य रूप से जान लिया है तथापि उसका विज्ञान नहीं हुआ है। बिना परोक्ष ज्ञान के विचार की प्रवृत्ति ही असंभव है एवं विज्ञान हो जाने पर निःसन्दिग्ध अवस्था में भी विचार संभव नहीं है। द्विकोटिक ज्ञान में ही निर्णय-प्रवृत्ति सहेतुक और सफल होती है।

प्रत्येक ब्रह्मवेत्ता अपने को अपूर्ण समझकर सामूहिक रूप से अपने ज्ञानों को एक दूसरे के साथ कसौटी पर कसना चाहता है। इन सभी का निश्चय है कि श्वेताश्वतर महर्षि विज्ञान-सम्पन्न होने से हम सब का मार्ग-दर्शन यथोक्त रूप से कर सकेंगे।

अथवा यह श्वेताश्वतर महर्षि का ही अन्य महर्षियों के प्रति वचन हो सकता है कि उन लोगों ने ब्रह्म को कैसा समझा है।

अथवा बहुवचन आदरार्थक मानकर सब ऋषि परमहंस श्वेताश्वतर को ही सम्बोधन करके कहते हैं कि आप हमारे प्रश्नों का निर्णय करें। इस अर्थ को स्वीकार करने पर द्वितीय मंत्र ऋषियों का स्वानुभव एवं उन सभी स्वानुभवों में श्वेताश्वतर महर्षि का कमी बताना तथा तृतीय मंत्र में उनको ध्यान के द्वारा तत्त्वानुभव, इस प्रकार की श्रेष्ठ व्यवस्था बन जाती है।

२. सारे जगत् का कोई कारण है या नहीं, यह प्रथम प्रश्न है। यद्यपि वेदज्ञ होने से वे सारे जगत् का कारण ब्रह्म को मानते हैं लेकिन उस ब्रह्म का स्वरूप क्या है, भावरूप अथवा अभावरूप ? भावरूप होने पर भी वह केवल उपादान है, केवल निमित्त है अथवा निमित्त तथा उपादान उभय रूप है ? सर्व शास्त्रों में ब्रह्म को असंग और उदासीन माना गया है, फिर वह किस हेतु से जगत् का कारण बनता है, यह भी प्रश्न है। सभी कार्यों के प्रति कोई न कोई कारण होता है। क्या कोई ऐसा भी है जिसका कोई कारण न होने से वह सदा कारण ही है कभी भी कार्य नहीं है। सभी कारणों में क्या कोई ऐसा अनुगत कारण है जिसकी वजह से वे सभी कारण बनते हैं ? क्या जगत् का कारण कोई एक ही निर्मल तत्त्व है अथवा किसी माया आदि के मल की सहायता आदि से कारण बनता है ? मल से मिलने पर वह स्वतंत्र है या परतंत्र ? इस प्रकार के सभी प्रश्न यहां निहित हैं।

३. मानवीय प्रकृति मन के अधीन है। मन न युगपत् सर्व देशों को ग्रहण करने में समर्थ है, न काल, वस्तु एवं घटनाओं को। अतः इसे इन्हें क्रम से ग्रहण करना पड़ता है। इस क्रमिक ग्रहण से इसे आगे पीछे, पूर्व-पश्चिम, ऊपर-नीचे इत्यादि दिग्भ्रम, भूत-भविष्य-वर्तमान इत्यादि काल-भ्रम, एवं निरन्तर आनन्तर्य-भ्रम हो जाता है। घटनाओं में निरन्तर आनन्तर्य से कार्य-कारण भ्रम हो जाता है। अतः

किसी भी अनुभूति के होते ही मन उसके अव्यवहित पूर्व क्षण में अनुभूत को कारण मान लेता है। अगली बार यदि कारण मानी हुई अनुभूति के पश्चात् दूसरी अनुभूति पैदा नहीं होती तो उस अनुभूति से व्यवहित जो अव्यवहित पूर्व क्षण है उसको कारण मानता है, यदि वह अनुभूति पुनरावृत हुई है। इस अवापोद्धार के ऊहापोह से कारणत्व का निश्चय होता है। अतः कारण एक कल्पना से अधिक कुछ नहीं। मनुष्य के मन में जिस अनुभूति से सुख हुआ है उसे पुनः उत्पन्न करने की नियन्त्रण शक्ति प्राप्त करने की सहज कामना होती है। इसी प्रकार जिस अनुभूति से दुःख हुआ है उसकी पुनरावृत्ति को रोकने में भी वह स्वतंत्र होना चाहता है। ये कामनायें ही कारण की कल्पना को उत्पन्न करती रहती हैं एवं बार बार इन कल्पनाओं के भ्रम सिद्ध होने पर भी मूल कल्पना को अर्थात् कार्य-कारण भाव को टूटने नहीं देती। चूंकि दैनन्दिन व्यवहार में यह कल्पना व्यवहार को सिद्ध करती है अतः इसका व्यावहारिकत्व तो अक्षुण्ण है ही। वर्तमान भौतिकी में मानार्दी (Quantum machenics) एवं हाइसनवर्ग-स्थैर्य (Heisenberg constant) तथा दीप्तातु- (radium) शृङ्खलन (deterioration) इत्यादि अनेक सिद्धान्त (Theory) कारणवाद की जड़ को खोखला करने में पर्याप्त हैं। परन्तु अज्ञान के कारण राग द्वेष इस वास्तविकता का अनुभव नहीं करने देता और कार्य-कारण भाव को बनाये रखता है। ऋषियों की जिज्ञासा है कि यह कार्य-कारण भाव काल्पनिक होने पर भी क्यों होता है? क्या अन्तःकरण में यह स्वाभाविक है, या सृष्टि-क्रम में अनिवार्य है अथवा संस्कारों के कारण है?

४. मानवानुभूति देह, इन्द्रियां, प्राण और मन के साथ साथ रहते हुए ही उपलब्ध होती है। इनमें से किसी भी एक के पूर्णतया न रहने पर अनुभूति असंभव हो जाती है। यद्यपि अनेक किस्से-कहानी अशरीरी अनुभवों के बारे में सुने जाते हैं पर वे अनुभूतियां प्रकट

किसी न किसी शरीरवाले के द्वारा ही होती हैं। अतः अनुभूति उत्पादक शरीरी हो अथवा अशरीरी, अनुभूति तो शरीरी में ही होती है। चूंकि ये सब शरीर, इन्द्रियां, प्राण और मन व्यभिचार वाले हैं अतः इन्हें संघात मानना पड़ता है। प्रश्न स्वाभाविक है कि यह संघात किसने, कब, कहां, कैसे किया। यदि संघातों को एक ही स्थिति में संघटित किया गया तो उनमें भेद क्यों दिखाई देता है और यदि अनेक स्थितियों में तो इस अनेकता का कारण क्या है? अकारण मानने पर विषमता और निष्करुणता का दोष अपरिहार्य हो जायगा एवं सकारण मानने पर अनवस्था दोष की प्राप्ति हो जायेगी।

कुक्कुटाण्ड-प्रवाह न्याय से यदि सृष्टि-प्रलय को अनादि मानें तो प्रलय काल में जीव उपादान कारण में लीन होकर पुनः वहीं से उत्पन्न होता है अथवा जलचन्द्रवत् निमित्त कारण में लीन होकर वहां से उत्पन्न होता है। तात्पर्य है कि जीव वास्तविक रूप से है अथवा संघातों के कारण घटाकाश की तरह कल्पना मात्र है?

५. इस संसारयात्रा में जीवन की क्षणभंगुरता सर्ववादिसम्मत है। यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि जीना विकार है और मरना स्वाभाविक। किसी भी अनिश्चित क्षण में काल-पाश कब किसको खींच ले जाता है यह आज के दिल-दौरा युग में सभी को प्रत्यक्ष सिद्ध है। फिर भी हम जीते रहते हैं इससे यह सिद्ध होता है कि किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये कोई शक्ति हमारी स्थिति को बनाये रखती है। वह कौन सी शक्ति है एवं स्वयं हमारे में है या हमसे भिन्न और किसी चेतन या जड़ पदार्थ में? यह स्थितिविषयक प्रश्न है। यदि किसी अदृष्ट या ईश्वर को कारण माना जाय तो भी ये अलग २ कारण हैं या मिलकर, एवं उनकी कारणता स्वाभाविक है, सांसर्गिक है या औपाधिक? यदिकर्म-परतंत्र है तो उन्हें कारण मानना निरर्थक है और यदि कर्म के परतंत्र नहीं है तो स्वतंत्र है या परतंत्र? यदि कर्म के परतंत्र है तो उन कर्मों का विधायक कौन है

और विधि स्वतन्त्र होकर करता है या परतंत्र होकर। भिन्न २ देश-कालों में भिन्न २ विधियों का दर्शन होता है। वे देश-काल विधि प्रयुक्त हैं या विधि ही देश-काल प्रयुक्त है? देश-काल विधिप्रयुक्त होने पर सब विधियों की गतार्थता माननी पड़ेगी, एवं पाप-पुण्य की मर्यादा का लोप हो जायेगा। विधि को देश काल प्रयुक्त मानने पर वह देश-काल परवर्ती होने से विधाता में परिच्छिन्नता का आपादन कर देगी। अतः जीवन की सोद्देश्यता मानने पर भी यह सब प्रश्न बने रहते हैं। निरुद्देश्यता मानने पर जीवन की स्थिति असंभव है। उद्देश्य ही विधेयता का निर्णय करता है।

६. जीवन का अर्थ होता है सोद्देश्य कर्म-रतता। पिछड़े से पिछड़े आदमी में भी सोद्देश्यता देखने में आती है। यह उद्देश्य हट जाने पर मनुष्य केवल सांस लेनेवाला एक लोथड़ा मात्र रह जाता है। इसी लिये सभी भाषाओं में प्राण शब्द का अर्थ अत्यधिक प्रियता का द्योतक होता है जैसे जान, लाँइफ, वॉइटा आदि। जब यह प्रियता निकल जाती है तब जड़ और चेतन का भेद नष्ट हो जाता है; यहां तक कि इसको चेतनता देनेवाली शक्ति भी इसको छोड़ जाती है। अतः जिसमें जितना जीवट है वह उतना ही अधिक जीवित है, आधुनिक युग में सुख-सुविधाओं को उपलब्ध करने की चिन्ता ने मानव की जीवनास्था को इतना कम कर दिया है कि मानव मानव नहीं रह गया है। आस्था की अधिकता ही प्रीति की अधिकता का कारण है, एवं प्रीति ही क्रीड़ा और रति को उत्पन्न कर सकती है। जितनी ही आस्था कम होती जायेगी उतना ही सुखानुभव क्षीण क्षीणतर होता जायेगा। इस कमी को उत्तेजना की तीव्रता से दूर करने का प्रयास किया जाता है जो स्नायु एवं अनुभूति केन्द्रों को और अधिक संवेदन हीन बना देता है। आज का हिप्पीधर्म इसका परिचायक है। ऋषियों का प्रश्न है कि किस प्रकार जीवनास्था का संवर्धन किया जाय जिसमें पूर्ण संवेदना के द्वारा हम अपने जीवन की पूर्णता को प्राप्त कर सकें।

७. यह प्रश्न आधार-विषयक भी है और अधिष्ठान-विषयक भी। तात्पर्य है कि यह सब किसी समान सत्ता वाले पदार्थ में स्थित है अथवा विषम सत्ता वाले में? यदि सत्ता समान है तो उन दोनों में विरोध स्वाभाविक है। यदि सत्ता विषम है तो दोनों में सम्बन्ध असम्भव हो जाता है।

बन्धन और मोक्ष की अवस्था किस में स्थित है यह भी प्रश्न यहां इष्ट है। इसी प्रकार सृष्टि और प्रलय में किस में स्थिति होती है। मोक्षावस्था में क्या अविकृत ब्रह्म में एकता से स्थिति होती है या मायाविशिष्ट से? या विद्या से माया नष्ट होकर जीव अविद्या रूप होने से स्वयं ही नष्ट हो जाता है? यही प्रश्न प्रलय के विषय में भी समझ लेने चाहिये।

८. जो वस्तु जहां रहती है उसको वहां स्थित कहा जाता है। यदि वह अन्यत्र न जाय तो उसको संस्थित कहा जाता है। इसमें गति रूप परिणाम का निषेध है। जो वस्तु स्थानान्तरित और कालान्तरित होने पर भी अपनी संस्थिति पूर्ववत् बनाये हुए है उसे सम्प्रतिष्ठित कहा जाता है। यद्यपि पदार्थों की स्थिति का पता रसायन-शास्त्र आदि विज्ञान दे देते हैं, पर सम्प्रतिष्ठा का विचार केवल उपनिषदों में ही किया गया है।

९. सभी प्राणी अपने आप को परतंत्र अनुभव करते हैं। यह परतंत्रता वास्तविक है या नहीं? वास्तविक होने पर नियामक को यह अधिकार क्यों और कैसे प्राप्त हुआ? स्वाभाविक मानने पर स्वतंत्र होना असम्भव हो जायेगा और शास्त्रप्रतिपादित मोक्ष बन्ध्या-पुत्र हो जायगा। औपाधिक मानने पर उपाधि से सम्बन्ध होने के कारण का निरूपण करना पड़ेगा, जिसमें अनवस्था, चक्रिका, अन्योन्याश्रय दोष आजायेंगे। परतंत्रता का अनुभव काल्पनिक मानने पर कल्पना करने वाला जीव स्वतंत्र है या परतंत्र? स्वतंत्र होगा तो सुख से इतर दुःख, मोह, शोक, श्रम आदि कल्पनायें असं-

गत हो जायेंगी। परतंत्र मानने पर पुनः पूर्ववत् दोष आजायेंगे। संस्कार आदि के द्वारा अनादि प्रवाह स्वीकारना तो बालकों की बुद्धि को ही संतुष्ट कर सकता है।

१०. मनुष्य यद्यपि सुख और दुःख का तादात्म्येन ही अनुभव करता है तथापि जिन पदार्थों से उसे सुख-दुःख के अनुभव की प्रतीति होती है उन्हें वह सुख-दुःख का कारण मानकर उनकी ओर या उनसे दूर जाता है। परन्तु इनका कारण सदा ही अनिश्चित बना रहता है और इसीलिये निश्चित सुख-साधन का अन्वेषण अनादि काल से होते रहने पर भी आज तक निश्चित नहीं हो पाया। यह अनिश्चितता ही निरन्तर अन्वेषण का हेतु है।

११. एक क्षण भी शरीर, मन, इन्द्रियां और प्राण बिना किसी न किसी बर्ताव के नहीं रहते। कभी यह बर्ताव स्वतंत्रता के साथ होते हैं, कभी परतंत्रता के साथ, तो कभी दोनों भावों से युक्त होकर। मानव की दृष्टि परिच्छिन्न है। अतः समग्र दृष्टि के अभाव से न तो उसे अपने बर्तावों में कोई सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है, और न समग्र बर्तावों से सामूहिक रूप से उत्पन्न कोई फल। क्षणिक उद्वेग इतने प्रबल होते हैं कि वे हमें समग्र दृष्टि बनाने से पराङ्मुख कर देते हैं। इसीलिये या तो ऐसे मूर्ख क्षणिक सुखों से फूल जाते हैं जिनके जीवन में समग्रता का कभी भान ही नहीं होता, अथवा वे महामानव, जिनके जीवन में प्रतिक्षण समग्रता का भान रहने से जो प्रत्येक क्षण को उस समग्र फल की प्राप्ति के बढ़ते हुए कोसों के चिह्न देखते हैं। शेष तो प्रवाह में पड़कर बहते भी जाते हैं और निष्फलता देख कर कराहते भी जाते हैं। वस्तुतः प्रवाह की गति में परिवर्तन की चेष्टा उद्देश्य को बिना समझे हुए करना अनधिकार चेष्टा है। अतः प्रवृत्ति का निरोध असम्भव है। ज्ञानी भी स्वप्रकृति के अनुकूल ही प्रवृत्ति करता है, यद्यपि वास्तविक दृष्टि से वह प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों को छोड़ चुका है। अज्ञानी प्रवृत्ति न करे यह असम्भव है। निवृत्ति भी सूक्ष्म सुखों की प्राप्ति के लिये एक प्रकार की प्रवृत्ति ही है।

१२ इन सभी प्रश्नों का उत्तर ब्रह्म है। यद्यपि महर्षियों को यह ज्ञात है पर वे जानना चाहते हैं कि ब्रह्म किस प्रकार इन प्रश्नों का उत्तर है। प्रायः मन का स्वभाव है कि किसी भी प्रश्न के उत्तर में शब्द को सुन कर शान्त हो जाता है। पर कभी न कभी शब्द द्वारा द्योतित अर्थ को ग्रहण करने की अभिलाषा होती है। अर्थ का ज्ञान क्रिया, जाति, गुण, आदि के द्वारा होता है। ब्रह्म में इन सब का अभाव होने से इसका अर्थ कैसे समझा जा सकता है। एवं इनमें से किसी को उसमें स्वीकारने पर वह असंग न रह सकेगा और परिणामी होकर विनाशी हो जायेगा। अतः ऋषियों की जिज्ञासा समीचीन है।

वस्तुतः ऐतिहासिक दृष्टि से ब्रह्म शब्द का प्रथम प्रयोग वेद के लिये हुआ है। वेद के मन्त्रों में गहन विषय होने से उसे समझने के लिये अन्वेषण रूपी तप करना पड़ता था। अतः ब्रह्म का अर्थ तप भी हो गया। क्रियाओं में इस ब्रह्म को फलप्रद बनाने की शक्ति होने से क्रिया विशिष्ट ब्रह्म फलदाता माना गया। परवर्ती काल में इसी को माया-विशिष्ट ब्रह्म या ईश्वर कहा गया। इस ईश्वर का वास्तविक स्वरूप यजमान द्वारा निर्णीत होने से यजमान भी ब्रह्म कहा गया। इस प्रकार आत्मा के लिये भी ब्रह्म पद के प्रयोग का स्वारस्य है। वस्तुतः दोनों के पीछे सत्ता एक ही होने से निष्कल ब्रह्म ही ज्ञेय होकर ब्रह्म पद का लक्ष्यार्थ है। यह ज्ञान ही समग्र कामना और कर्मों का समूल नाश करके जीवन्मुक्ति का सुख उत्पन्न करता है, जो स्वरूप-सुख होने से ज्ञान के निवृत्त होने पर भी निवृत्त नहीं होता।

२

कालः स्वभावः नियतिः यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुषः इति चिन्त्यम् । संयोगः एषां न तु आत्मभावात् आत्मा अपि अनीशः सुखदुःखहेतोः ॥

कालः =समय[1],
स्वभावः =स्वभाव[2],
नियतिः =भाग्य[3],
यदृच्छा =अकस्मात्[4],
भूतानि =पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश[5],
योनिः =प्रकृति[6],
पुरुषः =जीव[7],
इति =इस प्रकार
चिन्त्यम् =सोचने योग्य[8] है।
एषां =इन सभी का
संयोगः =मेल[9]
(अपि) न =(भी) नहीं बनता।
तु =दूसरे पक्ष में
आत्मभावात् =आत्मा की विद्यमानता के कारण[10]
सुखदुःखहेतोः =सुख-दुःख की वजह से
आत्मा =आत्मा
अपि =भी
अनीशः =असमर्थ है[11]।

१ ऋषियों में श्वेताश्वतर महर्षि के सामने जब विचार प्रारम्भ हुआ तो सबसे पहले कालवादियों ने काल को ही कारण बतलाया। जड़ चेतन सभी को परिवर्तित करने वाला सामान्य कारण लोक में समय ही माना जाता है। किसी घटना के होने पर आज भी लोग यही कहते हैं कि समय की बात है। काल की कारणता व्यास आदि महर्षियों ने भी महाभारत इत्यादि में मानी है, ऐसा माना जाता है। ज्योतिषी तो काल को ही प्रधान कारण मानने की वजह से निश्चित काल का पता लगाने के लिये ही गगनावेक्षण करते रहते हैं। यह काल निमेष से लेकर परार्ध तक अनुभूत पर परिच्छिन्न है। वर्तमान भूत और भविष्य के व्यवहार का यही कारण है। परन्तु इससे भिन्न अखण्ड महाकाल को भी कालवेत्ताओं ने स्वीकार किया है। नैयायिकों द्वारा परिगृहीत परमाणु-कारणवादका वस्तुतः उनके ही सिद्धान्त में कालसापेक्ष होने के कारण गौरवत्रस्त ऋषियों द्वारा स्पर्श ही नहीं किया गया। यही हाल मीमांसकों द्वारा स्वीकृत कर्मवाद का समझना चाहिये। महाकाल केवल क्षणादियों के द्वारा अनुभूत काल में अपरिच्छिन्नता की अनुभूति से अपरिच्छिन्न काल को सिद्ध करने के लिये कल्पित है। प्रत्यक्ष द्वारा असत्यापित पदार्थ को केवल कल्पना के बल पर मानना कपोल-कल्पना ही मानी जायेगी। शब्द प्रमाण का सहारा लेने पर तो श्रुति संवत्सर को ही काल मानती है। संवत्सर से अतिरिक्त महाकाल अश्रौत है। यदि अनुभूत, काल, विपल, पल, घटी, अहोरात्र, पक्ष आदि को ही काल माना जाय तो यह जगत् के अन्तःपाती होने से जगत् का कारण नहीं हो सकता है। ऐसा कहना तो मानो काल का कारण काल है कहने की तरह व्यर्थ सिद्ध हो जायेगा। यह काल प्रतिक्षण नष्ट भी होता रहता है अतः प्रलय में भी नष्ट हो जायेगा और जगत् का कारण नहीं बन पायेगा।

वस्तुतस्तु काल बुद्धि के सोचने के आधारभूत अक्षों में से एक है। अतः बुद्धि के ज्ञान से भिन्न उसकी कोई सत्ता नहीं। घड़ी के काटे समय नहीं बताते। उनसे उत्पन्न बुद्धि में होने वाला ज्ञान ही समय बताता है। चूंकि बौद्ध ज्ञान आत्म-सापेक्ष्य है अतः आत्मा के रहते जो काल उत्पन्न होता है वह जगत् का कारण नहीं हो सकता। कुछ लोग काल को द्रव्य-सापेक्ष्य मानते हैं उनका तात्पर्य है कि काल चर-द्रव्य में स्थित रूपविशेष है, और इसलिये द्रव्य से अलग होकर काल का विचार अनावश्यक है। आज का विज्ञान इसी मान्यता को मानता है। न्यूटन काल को स्वतंत्र पदार्थ मानता था एवं मानता था कि एक ही तरफ अर्थात् भविष्य की ओर इसका प्रवाह है। परन्तु आइन्स्टाइन ने इसे गलत सिद्ध कर दिया। द्रष्टृगति-सापेक्ष्य ही प्रत्यक्ष काल को मानना पड़ता है। भिन्न लोकों में रहने वाले व्यक्तियों का एक ही घटना के प्रति कालैक्य असम्भव है। वस्तुतस्तु काल गुरुत्वाकर्षण क्षेत्र पर भी निर्भर करता है। द्रव्यसंघात के निकट काल की गति क्षीण होती है। हर हालत में द्रव्य भिन्न काल की सत्ता विज्ञान ने असिद्ध कर दी है। यद्यपि विज्ञान की यह मान्यता द्रव्य की असिद्धि से ही असिद्ध हो जाती है तथापि काल और

द्रव्य की सापेक्षता स्वयं ही काल को असिद्ध करने में पर्याप्त है। द्रव्यों की गति में निरन्तर काल की अनुवर्तमानता बुद्धि द्वारा गतिमान् में काल प्रक्षेप के द्वारा ही सिद्ध है। अतः उससे काल की सिद्धि तो सर्वथा प्रमाण विरुद्ध है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जो काल स्वयं ही असिद्ध है वह जगत् का कारण कैसे हो सकता है।

लोकायत सिद्धान्त में यद्यपि व्यवहारार्थ भूत भविष्य आदि का प्रयोग होता है परन्तु वह तो केवल अविचार जन्य है। वसन्त में भी गरमी की लू चलती है और शरद् में भी वर्षा हो जाती है। वृक्षादियों के फल भी भिन्न कालों में पकते देखे जाते हैं। किसी पहाड़ पर जाने से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि युगपत् ही नीचे की तलहटी में खेती पकी होती है, मझली में बालें आयी होती हैं और ऊपरी में अभी अंकुर ही फट रहे होते हैं। यह सब लौकिक दृष्टि से भी काल की कारकता को असिद्ध करते हैं।

२. पदार्थों में जो किसी भी अन्य कारण के विना असाधारण कार्यकारिता होती है एवं जिसके कारण वह पदार्थ अन्य सब पदार्थों से भिन्न सिद्ध होता है उसे स्वभाव कहते हैं। जैसे उष्णता अग्नि का स्वभाव है। चार्वाक प्रायः इसे ही कारण मानते हैं। परन्तु यहाँ भी वस्तु-धर्म वस्तु के विना नहीं रह सकता। अतः वस्तुके प्रति स्वभाव को कारण मानना असंगत है। एक वस्तु का स्वभाव वस्त्वन्तर में संक्रान्त नहीं हो सकता। अतः जगत् को नित्य मानने पर भी उसके अन्तःपाती वस्तुओं की उत्पत्ति के लिये भी स्वभाव पर्याप्त कारण नहीं है। स्वभाव नित्य होता है। अतः यदि किसी स्त्री का स्वभाव पुत्र उत्पन्न करना है तो नित्य करती ही रहेगी जो दृष्ट विरुद्ध है। आत्मा के विना स्वभाव का ज्ञान आदि की असंभवता तो पूर्ववत् ही है।

३. सारे पदार्थों में अनुगत उन सबका नियन्त्रण करने वाली शक्ति-विशेष को नियति या भाग्य कहते हैं। प्रायः काल और स्वभाव

को संगत न होने पर सभी लोग भाग्य को कारण बतलाने लगते हैं। जैसे यह नियत है कि चन्द्रोदय पर ही समुद्र में ज्वार आता है या पेट का भोजन पच जाने पर ही भूख लगती है। सूर्य-चन्द्रादिका नियम से चलना भी इसी शक्ति से होता है। आग ऊपर की ओर ही जलती है और वायु भूमि के समानान्तर ही चलती है। नियत करने वाला जड़ है या चेतन? यदि चेतन है तो वह ईश्वर ही सिद्ध हो गया, और यदि जड़ है तो उसमें अनैकान्तिकता क्यों होती है? प्रत्येक पदार्थ का भाग्य हमेशा ही अनियत होता है। एक समय में जो करोड़ों कमाता है वही कालान्तर में मांग खाता है। यह अनैकान्तिकता किसी कारणान्तर को अपेक्षित करके ही संभव है। यद्यपि कर्मकाण्डी लोग नियति के प्रति पुण्य-पाप को कारण मानते हैं पर वह भी सब समय सिद्ध नहीं हो पाता। अदृष्टकारणता तो अकारणता ही है। कार्य के पूर्व कारण का ज्ञान आवश्यक है। कार्योत्पत्ति के अनन्तर कारण-कल्पना वृथा श्रम है। अतः नियति भी विचार से सिद्ध नहीं होती।

४. अनेक लोग, विशेषतः आधुनिक काल में, प्रत्येक पदार्थ को विना किसी कारण के (अर्थात् Chance से) उत्पन्न मानते हैं। जुआड़ियों ने एवं कांग्रेस के सरकारी जुवे (Lotteries) ने इस सिद्धान्त को और अधिक प्रश्रय दे दिया है। प्रमादियों के लिये तो यह अन्तिम आश्रय है। यद्यपि मूलतः यह निरीश्वरवाद है क्योंकि इसमें बुद्धि वाले कर्त्ता का निषेध है तथापि मुसलमान आदियों ने इसको अपने सेश्वरवाद में भी स्थान दे दिया है। पौराणिकों ने तो इसे काल की पत्नी माना है। शुद्ध आकाश में झटिति बादलों का आना, भूकम्प आदि से इसमें श्रद्धा हो जाती है। परन्तु इसे कारण मानने पर मानवों की समग्र प्रवृत्तियां निर्मूल सिद्ध होती है। भूख हटाने के लिये चावल आग इत्यादि का ही ग्रहण किया जाता है अकस्मात् पेट भरने की अपेक्षा नहीं। सारा ही कार्य-कारण भाव, विज्ञान

यदृच्छा का विरोधी है। जिस देश या व्यक्ति में इसकी मान्यता बढ़ेगी वह आलस्य से अवश्य नष्ट हो जायेगा। अतः सर्व-प्रमाण विरुद्ध होने से एवं प्रवृत्ति-निवृत्ति सभी का उपघात करने से इसकी कारणता को स्वीकार करना तो सर्वथा निन्द्य है।

५. किसी भी कार्य की उत्पत्ति के प्रति पृथिव्यादि भूतों के संग्रह को ही प्रवृत्ति होती है। यह भूतों की कारणता में प्रबलतर प्रमाण है। चाहे यज्ञ-यागादि के द्वारा स्वर्ग निष्पन्न करने के लिये गोघृत आदि पदार्थ, मन्त्र-ज्ञान आदि मानसिक पदार्थ तथा पुरोहितादि मानवीय पदार्थों का संग्रह हो अथवा गृह निर्माण के लिये ईंट, वज्र-चूर्णादि पदार्थ, प्रारूपादि मानसिक पदार्थ एवं स्थपति, शिल्पी आदि मानव पदार्थों का संग्रह हो, या पुत्रोत्पत्ति के लिये दुग्धादि पदार्थ, कामादि मानस पदार्थ एवं स्त्री-देहादि मानव पदार्थों का संग्रह हो पर सर्वत्र कारणता पञ्च महाभूतों में ही दृष्ट है। इस प्रकार भूत-कारणवाद तीन, चार आदि भूतों के सम्मेलन से ही सृष्टि की उत्पत्ति मानता है। नये नये पदार्थों की उत्पत्ति इन्हीं आधारभूत भूतों से ही होती है। यहां कारणता परमाणु आदि अतीन्द्रिय पदार्थों में न हो कर प्रत्यक्ष सिद्ध भूतों में ही समझनी चाहिये।

भूतों की कारणता प्रमाण सिद्ध होने पर भी इनके सम्मेलन के लिये किसी चेतन कारण की अपेक्षा दृष्ट सिद्ध होने से सृष्टि में भी माननी ही पड़ेगी। जैसे यहां भूतों के सम्मेलन के प्रति चेतन ही प्रवृत्त होता है वैसे ही सर्वत्र समझना चाहिये। अन्य पूर्व कारणों की अपेक्षा यह मत अधिक समीचीन है यह तो स्पष्ट ही है। भूतों का ज्ञान मनः-सापेक्ष्य है अतः अन्योन्याश्रय दोष तो यहां भी है ही। प्रत्येक भूत को कारण मानने पर भूतान्तर अनावश्यक हो जाता है एवं सब में कारणता के टुकड़े मानने पर कारणता की एकता खंडित हो जाती है। जब भूत अलग अलग हैं उस समय उनमें कारणता हो तो किञ्चित् २ कार्य बिना भूतान्तर के ही उत्पन्न होता रहे। और यदि

अवयवों में कारणता का सर्वथा अभाव है तो संघात मात्र से कारणता का आगमन एक जादू मात्र मानना पड़ेगा। अतः भूतों को भी कारण मानना बनता नहीं। सामान्यतः माता और पिता मिलकर ही पुत्र उत्पन्न करते हैं। पर द्रोण, धृष्टद्युम्न, ईसा इत्यादि में इसका व्यभिचार सुना जाता है। अतः नियत भूतों की संगति सर्वदा आवश्यक नहीं है।

६. भूतों की कारणता न मानने पर कुछ लोग शक्ति को ही कारण मानते हैं। शक्ति अर्थात् जिसके गर्भ में सभी चीजों को उत्पन्न करने की सामर्थ्य (potential energy) हो। यह शक्ति अपने आपको उद्घाटित करती जाती है और इसी का नाम सृष्टि है एवं जब वह पुनः उनको संग्रहीत करती जाती है तब उसका नाम प्रलय है। प्राचीन विज्ञान के प्रायः सभी सिद्धान्तों का खण्डन हो जाने पर भी शक्ति-प्रवाह का द्वितीय सिद्धान्त (second law of thermodynamics) आज भी अक्षुण्ण है। शक्ति और भूत की परस्पर परिणति को अणुस्फोट सिद्ध कर चुका है। अतः विचार दृष्टि से शक्ति की कारणता निर्दुष्ट सी है। परन्तु यह शक्ति भौतिक है, मानस, अतिमानस या शिवा, इसके बारे में अभी बहुत कुछ ज्ञातव्य है। रूस के क्लेयरटोन, मैसिङ, चैकोस्लोवाकिया के नेल्या आदि की गवेषणाओं ने भौतिक और मानस शक्तियों का एक दूसरे में परिवर्तन सिद्ध कर दिया है। वैदिक मान्यता के अनुसार तो इन सभी शक्तियों का केन्द्र शिवा ही है।

यद्यपि सामान्य दृष्टि से शक्ति और शक्तिमान् अविरोधी प्रतीत होते हैं पर विचार दृष्टि से यह सर्वथा एक दूसरे के विरुद्ध हैं। योनि का अर्थ दो विरुद्ध तत्त्वों का साम्यावस्था में इस प्रकार से अविरुद्धवत् स्थित होना है जिसमें किसी भी एक क्षण एक तत्व के उभर आने से पुनः सामञ्जस्य कायम होने तक गतिमत्ता रहती है। जब हम पदार्थ, भाव, व्यक्ति, कुटुम्ब, समाज, राष्ट्र, अन्ताराष्ट्र आदियों को जीती-

जागती क्रियात्मक अवस्था में अध्ययन करते हैं तो उनकी आधार भूत क्रियायें, आपसी सम्बन्ध, प्रगति आदि में ऐसा ही अन्तर्द्वन्द्व पाते हैं। सामान्यतः हम किसी भी पदार्थ को एक स्थिर अवस्था में मानकर विचार करते हैं और उसके द्वन्द्वों को उतने समय के लिये उपेक्ष्य दृष्टि से देखते हैं। यद्यपि यह ज्ञान पदार्थों को समझने के लिये आवश्यक है और चूंकि ऐसा पदार्थ केवल कल्पना मात्र है, अतः वास्तविक नहीं। विज्ञान की यह आधार भूत भूल रही है कि वह ऐसे काल्पनिक पदार्थों को सत्य मानता रहा है। कुछ अंश में यह स्वाभाविक है क्यों कि ठीक एक ही स्थिति में कभी भी कुछ भी दुबारा नहीं हुआ करता। जब तक हम कुछ चीजों को अपने से ओझल न कर दें तब तक विज्ञान का व्यावहारिक उद्देश्य सफल नहीं हो सकता। परन्तु भूल इस बात की होती है कि इसे वास्तविक मान लिया जाता है। यौन विज्ञान यह मानता है कि सभी घटनायें एवं पदार्थ निरन्तर गतिमान् हैं और बदल रहे हैं। प्रकृति किसी भी एक क्षण में दृश्यमान वह स्थिति है जो उस क्षण में एक सामञ्जस्य कायम करने से पैदा हुई है। उपनिषदों में बार बार जगत् के लिये सत् और असत् शब्द का प्रयोग मिलता है जिसका अनुवाद सर्वज्ञ शंकर कार्य और कारण करते हैं। वस्तुतः प्रत्येक क्षण में प्रत्येक पदार्थ एक साथ ही कार्य भी है और कारण भी। चूंकि सारे पदार्थ हर क्षण बदलते हैं अतः विगत क्षण की दृष्टि से वे कार्य हैं और अनागत क्षण की दृष्टि से कारण हैं। दादा के जीवित रहते एक ही व्यक्ति एक साथ ही बाप और बेटा दोनों हुआ करता है। अतः किसी दृष्टि से कोई पदार्थ है और किसी दृष्टि से नहीं है। यह अन्तर्विरोध ही विश्व को आत्मचालित एवं आत्म-प्रगति की ओर ले जाता है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन आधुनिक काल में विकृत रूप में हेगेल ने किया एवं उसका अनुकरण और भी अधिक विश्रृङ्खलित रूप में मार्क्स और फ्रॉयड ने। इस विचार को शुद्ध रूप से कपिल महर्षि ने और पूर्ण रूप से आगमों ने किया है।

यह तो अनुभव सिद्ध ही है कि विश्व में प्रत्येक वस्तु के दो कोण (poles) होते हैं और एक मध्य की शून्यावस्था। ज्ञान में ज्ञाता और ज्ञेय दो कोण हो गये एवं स्वयं ज्ञान मध्यबिन्दु। इसी प्रकार कर्ता, करण और क्रिया आदि सभी त्रिपुटियों में समझ लेना चाहिये। उद्योगीकरण द्वारा एक ओर उद्योगपतियों में धनाधिक्य की तरह ही दूसरी ओर धनन्यूनता अवश्यंभावी है और इससे संघर्ष भी स्वाभाविक है। यह मार्क्स का विश्लेषण यथार्थ है। परन्तु जैसे ही दण्डे का एक कोण नीचे और दूसरा कोण ऊपर होता है वैसे ही गति होने लगती है तथा वह गति अपनी शक्तियों को केन्द्र की ओर प्रवहित करती है और नव-सामञ्जस्य कायम करती है। इस बात को मार्क्स न समझ सका। इतना ही नहीं यदि उसने वैज्ञानिक बनने के दावे को छोड़कर विज्ञान के प्रथम सिद्धान्त को भी समझने का प्रयास किया होता तो उसे पता लगता कि यह विश्लेषण या तो अन्य स्थलों में औद्योगीकरण न करने का सन्देश होता, जैसा गांधी ने समझा, अथवा अन्य किसी आर्थिक दृष्टि को प्रस्तुत करता, जिसमें जिन देशों में औद्योगीकरण नहीं हुआ है वहां संघर्ष की स्थिति न आवे। परन्तु ईसाई मजहब के प्रभाव में होने के कारण वह पूर्व-निश्चित भाग्यवाद (Predestination) के अन्ध विश्वास को न छोड़ पाया, यद्यपि गॉड (God) की जगह उसने ऐतिहासिक आवश्यकता (Historical necessity) को दे दी। वेदान्त वह दृष्टि देता है जो इस संघर्ष को बचा सके क्यों कि वह अन्तर्द्वन्द्व के मध्य-बिन्दु को पकड़ पाता है।

मार्क्स की तरह ही फ्रॉयड ने मानस जगत् में अधश्चेतना (Id) और ऊर्ध्वचेतना (Super - ego) के संघर्ष को पाया एवं ईसाई मजहब के प्रभाव से उसने भी मानव को इस सघर्ष से बचने का कोई उपाय नहीं बताया। यदि मध्यबिन्दु चेतना को उसने पकड़ लिया होता तो वह इस गलती से बच जाता। संक्षेप में कह सकते हैं कि

अन्तर्द्वन्द्वों का दुरुपयोग या उनके सामने अपने को निःशक्त अनुभव करना पाश्चात्य मनीषियों की देन रही है एवं उन अन्तर्द्वन्द्वों को समाप्त कर मध्यबिन्दु का विकास शैव सिद्धान्त के मनीषियों की।

अन्तर्द्वन्द्व ही यह बतलाता है कि ये दोनों ही स्वयं किसी से उत्पन्न हैं। जिसमें यह दोनों हैं उसके ही यह दोनों विकार हैं। मध्यबिन्दु के न होने पर कोण (Poles) असम्भव है। चुम्बक के पासे को देखने पर उसमें उत्तर और दक्षिण दो कोण मिलते हैं। यदि उसको बीच से काट दो तो उन प्रत्येक पासखण्डों में पुनः दो ही कोण हो जाते हैं चाहे जितने भी टुकड़े करते जाओ सबमें दो कोण ही मिलेंगे। इससे सिद्ध होता है कि कोई कण न उत्तरी कोण है न दक्षिणी। मध्य की अपेक्षा से ही वे दो कोण बन जाते हैं। वेदान्त की भाषा में मध्य से ही कोण कल्पित हैं। अतः कोण रूपी योनि स्वयं कारण नहीं। आत्मभावात् के द्वारा यह और दूसरे खण्डन भी यहाँ समझ लेने चाहिये।

७. कुछ लोग जीव के कर्मफल भोग के लिये ही सृष्टि बनी है, ऐसा मानते हैं। परन्तु जीव के लिये सृष्टि तब बने जब पहले वह कर्म करे और बिना सृष्टि के कर्म कैसे करेगा ? अतः यह पक्ष भी असंगत है। वस्तुतः जड़ों की स्वतः प्रवृत्ति की असम्भवता ही चेतन पुरुष की कारणता को उपस्थापित करती है। इसलिये अन्य मनीषीगण यहाँ पुरुष का अर्थ ईश्वर कर देते हैं। ईश्वर को जगत् का कारण मानने पर वह सापेक्ष्य सृष्टि करता है या निरपेक्ष ? एवं कार्य-करण संघात के साथ करता है या उनके बिना ? सापेक्ष्य होकर करने में न वह ईश्वर ही रह जायेगा और न कारण ! कार्य-करण संघात वाला मानने से उसके कार्य-करण संघात को उसने बनाया या किसी दूसरे ने ? दूसरे ने बनाया तो वही ईश्वर हो जायेगा और स्वयं बनाया तो उसे बनाने के लिये कार्य-करण संघात कहाँ से लाया ? अतः ईश्वर की कारणता भी अविचारजन्य ही है।

कुछ लोग पुरुष का अर्थ मन करते हैं। बौद्ध भी सृष्टि को मनः-

कल्पित ही मानते हैं। मन स्वतः कार्य होने से और सृष्टि का अन्तःपाती होने से उसको कारण मानना तो बाल-बुद्धि का काम है।

८. उपर्युक्त प्रकार से विचार करने पर ब्रह्म के पर्याय रूप से यह सब असंभव हैं।

९. प्रत्येक की कारणता के खण्डन से संयोग की कारणता स्वयं असिद्ध हो जाती है। संयोग होने मात्र से नवीन शक्ति का आधान नहीं हुआ करता। इतना ही नहीं, संयोग स्वतन्त्र नहीं होता। अतः इनका संयोग जिसकी परतन्त्रता से होगा उसी को कारण मानना होगा। किञ्च संयुक्त पदार्थ जड़ हुआ करते हैं। अतः स्वतः प्रवृत्ति के अभाव से उनके द्वारा प्रवृत्ति करने वाला तत्त्व ही वास्तविक कारण होगा।

१०. उपर्युक्त सभी कारण जड़ हैं एवं जड़ से चेतन की उत्पत्ति असम्भव है। अतः चेतन आत्मा के इस जगत् में रहते हुए किसी भी जड़ अथवा जड़समूहों को कारण मानना अनर्थक है। किञ्च समग्र समस्या और प्रश्न चेतन में ही उठते हैं अतः चेतन उन सबसे पूर्व है। पूर्व की अपेक्षा पर को कारण मानना सर्ववादियों को अस्वीकृत है। जो जड़ अपनी सिद्धि बिना चेतन के नहीं कर सकता वह चेतन को कैसे उत्पन्न करेगा। अनुभव भी यही कहता है कि भोग्य भोक्ता के लिये होता है। मकान रहने वाले के लिये और भोजन खाने वाले के लिये होता हैं। आज की विडम्बना ही यह है कि समाजवादी भोक्ता को गौण मान कर केवल भोग्यजात को ही प्रधानता देते हैं। भोग्य भोक्ता के परतन्त्र होता है। यद्यपि पूँजीवादी ऊपर से भोक्ता को प्रधानता देते देखे जाते हैं परन्तु हृदय से वे भी यन्त्र और भोग्य पदार्थों का अभिवर्धन (Mechanisation and high standard of Living) ही चाहते हैं। अतः सनातन धर्म की दृष्टि से पूँजीवादी और समाजवादी एक ही थैली के चट्टे बट्टे हैं। सनातन धर्म भोग्य-वादी नहीं भोक्ता वादी है। अतः सुख-दुःखके अनुभव को वह पदार्थों

की कमी-बेशी की अपेक्षा ज्यादा महत्त्व देता है। 'गरीबी हटाओ' की जगह 'सुखी करो' का नारा उसे अधिक प्रिय है। इसीलिये सनातन धर्म का नेता न सोवियत संघ के जनरलिस्मो स्टालिन की तरह फौजी होता है, न कोसाइजिन की तरह अर्थेश, वरन् ब्राह्मण बादरायण होता है। सनातन धर्म के शासन में सबसे ज्यादा ध्यान और व्यय उस शिक्षा पर किया जायगा जिससे भोक्ता सुखी बन सके।

११. जो चेतनको कारण मानते हैं वह भी यह देखते हैं कि यदि वह स्वतन्त्र कारण होता तो कभी भी अपने लिये दुःख का अनुभव न होने देता। इतना ही नहीं जब वह बिना सहयोग और सामग्री के एक झोपड़ा भी नहीं बना सकता तो यह विश्व क्या बनायेगा? जब स्वयं अपने लिये ही इच्छा करते हुए भी सुख नहीं पाता और इच्छा न करते हुए भी दुःख पाता है तो उसकी व्यवस्था सारे जगत् में सुख-दुःख के लिये तो स्वतः निराकृत हो जाती है। सारे चेतनों के मिलकर सृष्टि करने की योग्यता तो मक्खियों के चमड़े से नगाड़ा बनाने की तरह है। समग्र सृष्टि, स्थिति, लय के नियमों का बनाने वाला वह जीव कैसे हो सकता है जो स्वयं ही उन नियमों के अधीन है? एवं अनादि काल से उन नियमों का पता लगाने पर भी आज तक एक भी नियम के बारे में निःसंदिग्ध नहीं हो सकता। अधिदैव, अधिभूत, अधिलोक, अधिज्यौतिष इत्यादि भेदभिन्न जगत् का मन के द्वारा चिन्तन भी इसके लिये असम्भव है, इनकी सृष्टि कहां से करेगा।

(३)

इस प्रकार ब्रह्म शब्द के अनेक अर्थों में से कोई भी उपर्युक्त प्रश्नों का समाधान करने वाला जब सिद्ध नहीं हुआ तो ऋषियों का यह निर्णय हुआ कि प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण इस विषय में असमर्थ हैं। वस्तुतः परब्रह्म के विषय में अन्य प्रमाणों की असम्भवता ही समग्र विचार का अन्तिम फल है। **तर्काप्रतिष्ठानात्** के द्वारा बादरायण **नैषा तर्केण मतिरापनेया** के द्वारा यमराज और **अतर्क्यैश्वर्ये** के द्वारा पुष्पदन्तादि आचार्य इसका पुनः पुनः प्रतिपादन करते हैं। चूंकि ये वैदिक ऋषि वेदका श्रवण कर चुके थे और अब मनन भी कर लिया, अतः उन्हें निदिध्यासन करने के लिये श्वेताश्वर महर्षि ने आदेश दिया।

ते ध्यानयोगानुगताः अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैः निगूढाम्। यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तानि अधितिष्ठति एकः॥

ते	=उन ऋषियों ने	**यः**	=जो (परमात्मा)
ध्यानयोगानुगताः	=चित्त एकाग्रता[१] के द्वारा अन्तर्मुख होकर	**एकः**	=एक[६] होते हुए भी
स्वगुणैः	=अपने विशेषणों[२] से	**कालात्मयुक्तानि**	=काल से लेकर आत्मा तक[७]
निगूढाम्	=छिपी हुई[३]	**निखिलानि**	=सभी
देवात्मशक्तिं	=परमात्मा की शक्ति को[४]	**तानि**	=इन
अपश्यन्	=समझा[५]	**कारणानि**	=कारणों को
		अधितिष्ठति	=अपने में अधिष्ठित[८] करता है।

१. यद्यपि योग और भक्तिमार्ग ध्यान के भिन्न २ अर्थ करता है तथापि वस्तुतः धात्वर्थ से ध्यान का अर्थ चिन्तन ही होता है। परन्तु यह चिन्तन इतना तीव्र हो जाना चाहिये कि विचार्य विषय से भिन्न कुछ भी प्रविष्ट न हो सके। यह प्रसिद्ध है कि चाहे वैज्ञानिक हो चाहे कलाकार या दार्शनिक, जितनी एकाग्रचित्तता से अपने विषय में जितना अधिक एकाग्र होकर सोच सकेगा उतना ही रहस्य का उद्घाटन कर सकेगा। ऋषियों ने जगत् के मूल कारण के विषय में श्रुतियों के आधार पर वाचनिक विचार को छोड़कर, वह विषय अति गम्भीर है

इसलिये भक्तिपूर्ण हृदय से एकाग्र होकर विचार किया। इससे उनका दिङ्मोह नष्ट हो गया, क्योंकि विषय की गम्भीरता के कारण और बाहर जाने वाले इन्द्रियादिक प्रमाणों की अविषयता निश्चित हो चुकी थी अतः स्वभाव से ही बहिर्मुखता नष्ट होकर वे अन्तर्मुखी हो गये।

उपर्युक्त मीमांसा से उनको इतना तो निश्चय हो चुका था कि जगत् जिससे भी उत्पन्न है वह इसका न कारण हो सकता है, न अकारण, न दोनों मिलकर, न दोनों से रहित। इसी प्रकार न वह अद्वितीय परमात्मा निमित्त कारण हो सकता है, न उपादान, न दोनों, न दोनों भावों से रहित। शिव जब इन सब चीजों से युक्त होकर कल्पित किया जाता है तो कोई न कोई उपाधि स्वीकारनी पड़ती है जो वास्तविक नहीं हो सकती। चिन्तन की गम्भीरता में जब यह सब औपाधिक विचार हट जाते हैं तभी शिव का वास्तविक रूप प्रकट होता है।

२. पञ्च महाभूत कारण रूप से एवं दृश्य जगत् कार्यरूप से विशेषण हैं। सर्वज्ञ, अल्पज्ञ, सर्वशक्ति, अल्पशक्ति आदि भी विशेषण हैं। अथवा काल, स्वभाव आदि भी उसी के विशेषण हैं। पुराणों में ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, लक्ष्मी, सरस्वती, दुर्गा आदि नामों से उसके विशेषणों को बतलाया है। विचार दृष्टि से भोक्ता, भोग्य, भोग, ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय इत्यादि उसीके विशेषण हैं। इन्हें समष्टि-व्यष्टि उभय रूप से समझना चाहिये।

इन्हें अपने विशेषण इसलिये कहा कि यह सहज और स्वाभाविक होने से औपाधिक और सकारण नहीं हैं। श्वेताश्वतर की भाषा में तो इन्हें ज्ञान, बल और क्रिया कहा गया है।

३. जिस प्रकार सेंवार जल से उत्पन्न होकर, जल में ही स्थित रहकर खुद जल को ही ढांकती है अथवा जंग लोहे से उत्पन्न होकर, लोहे में ही स्थित रहकर, लोहे को ही ढांकती है उसी प्रकार माया से ही उत्पन्न माया में ही स्थित गुण माया को ही ढांकते हैं। गुणों से रहित केवल माया का अनुभव असम्भव है। वस्तुतस्तु ब्रह्म में पदार्थों की प्रतीति के अनुभव की व्यवस्था करने के लिये उस में किसी ऐसी शक्ति की कल्पना करनी पड़ती है जो अत्यन्त असम्भव जगत्-प्रतीति की सम्भावना कर दे। इसीलिये 'अघटित घटना पटीयसी' जगत्-प्रतीति की अन्यथा अनुपपत्ति रूप अर्थापत्ति प्रमाण से सिद्धि माननी पड़ती है। जिस प्रकार रस्सी में माला, सांप बैल का मूत, भूछिद्र आदि की अन्यथा अनुपपत्ति से रस्सी में इन चीजों के बनने की शक्ति की कल्पना करनी पड़ती है। परन्तु इन चीजों के विना केवल रस्सी देखने पर इस शक्ति का कभी दर्शन नहीं हो सकता। अथवा सोने से सब गहने (Ornamental designs) बनते हैं इससे सोने में इन सब गहनों के बनने की शक्ति माननी पड़ती है। परन्तु सोने को कितना भी ध्यान से देखने पर यह शक्ति दिखाई नहीं देती। इसी प्रकार अपने ही गुणों से यह आच्छादित होकर गुणों द्वारा अनुमेय भी हो ही जाती है।

४. इसमें देव, आत्मा और शक्ति इन तीन का प्रयोग करके यह ध्वनित किया गया है कि भक्त जिसे देव अर्थात् ईश्वर कहते हैं, ज्ञानी उसे ही आत्मा जानते हैं, तथा योगी और कर्मी उसी को शक्ति शब्द से कहते हैं। इस दृष्टि से धर्म का भगवान्, दर्शन का तत्त्व और सृष्टि-चिन्तक या वैज्ञानिकों की शक्ति (Energy) एक ही तत्त्व हो जाते हैं। इन तीनों तत्त्वों की एकता को जानना ही ब्रह्म को जानना है। इसीलिये यह अल्प बुद्धि वालों के लिये अगम्य है।

मनोविज्ञान की दृष्टि से अन्तर्मुख होने पर अपने अन्दर दिमाग, दिल, और मर्जी इन तीन चीजों का अनुभव होता है। देव शब्द से दिमाग (Intellect), आत्म शब्द से मर्जी (Will), और शक्ति शब्द से दिल (Emotion) को बताकर उनकी एकता के प्रतिपादन से इन तीनों की एकता को बताना ही यहां इष्ट है। अथवा देव-

शक्ति और आत्मशक्ति के द्वारा ईश्वर की ज्ञान एवं क्रिया में स्वतन्त्रता और जीव की इच्छा में स्वतन्त्रता, इस प्रकार दोनों शक्तियों का प्रतिपादन इष्ट है। अथवा देवशक्ति से आवरणशक्ति-प्रधान माया और आत्मशक्ति से विक्षेपशक्ति-प्रधान माया को बतलाया गया है। आवरण के समय देव की प्रधानता रहती है एवं विक्षेप के समय जीव की। इसी को आगमों में माया और अविद्या शब्द से भी कहा गया है।

द्युधातु से बना हुआ देव शब्द प्रकाश स्वभाव वाली अखण्ड चित्-सत्ता का वाचक हैं। उस अखण्ड चित् से अभिन्न होने के कारण जो उसकी आत्मभूत शक्ति है अर्थात् उसका स्वभाव है वह देवात्मशक्ति है। तात्पर्य है कि असंग उदासीन चित् अविकारी होने के कारण वास्तविक कारण नहीं हो सकता अत: अवास्तविक कारणता का अध्यास उसमें स्वभाव से होता है। यह अभेदाध्यास नियम से उसके परतन्त्र है। अतः शक्ति शब्द का वाच्य है। इस शक्ति को स्वरूप और स्फुरण प्रदान करने वाला अधिष्ठान ब्रह्म है। चूंकि यह परमात्मा की अपनी सामर्थ्य है अत: इसको देव की आत्मशक्ति कहा गया। देव से ज्ञान और आत्मा से इच्छा तथा शक्ति से क्रिया, यह भी प्रतिपादित है, क्योंकि ब्रह्म का यही तीन स्वरूप है। ज्ञान-प्रधान होकर वह चित् होता है और जीवरूप को धारण करता है, यद्यपि शेष दोनों भी उसमें निहित हैं। इसी प्रकार आनन्द में इच्छारूप की प्रधानता है और जगत् के द्रव्यों में क्रिया या सत्-रूप की।

प्राय: सांख्यवादी शिव की शक्ति या माया को सांख्य शास्त्र में कल्पित प्रकृति से अभिन्न मानते हैं। श्वेताश्वतर और कठ की शब्दावली में उनको अनेक उद्धरण मिलते हैं। परन्तु स्मरण रखना चाहिये कि यहां देवशक्ति न कह कर देवात्मशक्ति कहा गया है जिसका तात्पर्य है कि वह उस महेश्वर की आत्मभूत एवं अस्वतंत्र

अर्थात् अपृथग्भूत शक्ति कही गई है, जब कि सांख्यकी प्रकृति ऐसी नहीं है।

देवात्मशक्ति का अर्थ देवात्म रूप से अर्थात् ईश्वर रूप से विद्यमान शक्ति भी हो सकता है।

यातीतागोचरा वाचां मनसाञ्चाविशेषणा ।
ज्ञानध्यानपरिच्छेद्या तां वन्दे देवतां पराम् ॥

इत्यादि के द्वारा जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय की कारण भूत देवता को ही शक्ति कहा गया है। तात्पर्य है कि ब्रह्म ही ध्यान का विषय होने पर मायी रूप से ईश्वर कहा जाता है। एवं इसी रूप से सारे नियमनों का कार्य करता है।

अथवा देव अर्थात् ईश्वर, आत्मा अर्थात् जीव, एवं शक्ति अर्थात् अविद्या और उसका कार्य जगत्, तीनों जिसके व्यक्त रूप हैं वही ब्रह्म है। अथवा देव से अधिदैव जगत्, आत्मा से अध्यात्म जगत् और शक्ति से अधिभूत जगत् का ग्रहण करके इन तीनों जगत् की एकता का प्रतिपादन किया है। संक्षेप में व्यष्टि, समष्टि, जड़-चेतन जगत् की एकता के ज्ञान से ब्रह्म ज्ञान बतलाया।

बाह्य पदार्थों का प्रकाशक होने से जीव ही जाग्रत् अवस्था में देव, अन्तर्भूत जगत् का निर्माता होने से स्वप्न में आत्मा, एवं इन दोनों भावों को अपने में लीन करके केवल शक्ति भाव में स्थित रहने से सुषुप्ति में शक्ति कहा जाता है। इस दृष्टि से जीव की कारणता के ज्ञान के बाद उसी में जगत की कारणता का निर्देश **अयमात्मा ब्रह्म** इत्यादि वेद वाक्य कर देते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं देवात्मशक्ति एक गूढ़ रहस्यवादी शब्द है। अगले दो मंत्रों में इसका कुछ विस्तार, किया गया है। वस्तुतस्तु इसके आगे की सारी उपनिषद् इसी शब्द को समझाने में गतार्थ है। **इष्टं हि विदुषां लोके समास-व्यासधारणम्** का न्याय यहां लगा लेना चाहिये।

५. परमात्मा का ज्ञान न तो किसी भी इन्द्रिय से हो सकता है और न अन्तः करण से ही। लेकिन जैसे सुषुप्ति का ज्ञान न इन्द्रिय न अन्तः करण, से होता है फिर भी उस अनुभव की छाप जाग्रत् में आ जाती है, इसी प्रकार परमात्म-ज्ञान की छाप भी प्रारब्ध द्वारा प्रतीति काल में आ जाती है। इस छाप को ही यहां समभ शब्द से कहा गया है। नव निरुक्त (philology) के अनुसार स्पृश् धातु के रूप का ही पश्य होता है। विज्ञान की दृष्टि से भी छूने वाली त्वक् का ही रूपान्तर चक्षुरिन्द्रिय है। इस अर्थ को लेने से यह समझने का भाव और छूने का भाव एक होकर वास्तविकता को प्रकट कर देते हैं। मानस विज्ञान ने भी यह सिद्ध कर दिया है कि दृष्टि और स्पर्श के द्वारा जितना परस्पर में भाव दान किया जाता है उतना और किसी इन्द्रिय से नहीं। अति विश्लेषण (transcendental analysis) में रौजर्स और बर्न ने सहलाना (Stroke) को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण जीवन निर्माण-कर्त्री शक्ति माना है और सभी व्यवहारों को इसी के माप दण्ड (Stroke-value) से नापा है। भारतीय संस्कृति में बड़ों के पैर छूना एवं छोटों के सिर और पीठ को सहलाना तथा योरुपीय संस्कृति में कर-पीड़न (handshake) एवं दोनों ही संस्कृतियों में बराबरी वाले से गले मिलना इसी का व्यावहारिक रूप है। ब्रह्म दर्शन वस्तुतः एक विशेष प्रकार का स्पर्श ही है। इसमें ब्रह्म के गुण-धर्म जीव के गुण-धर्मों को समाप्त प्राय कर देते हैं। गीता में स्पष्ट ही ब्रह्मसंस्पर्श कहा गया है।

यद्यपि 'समझा' में भूतकाल लगता है पर यह नहीं समझना चाहिये कि भूतकाल में ही समझा गया और अब नहीं समझा जा सकता। वेद में काल की विवक्षा न होने से इस प्रकार के ध्यान योग से हमेशा अनुभव में आ जाता है यही तात्पर्य है।

६. **एकमेवाद्वितीयम्** इत्यादि श्रुतियों से यहाँ सजातीय, विजातीय एवं स्वगत भेदों से रहित एकता अवगन्तव्य है। तात्पर्य है कि वस्तुतः भेद शून्य होने पर भी वह अनेक रूपों में प्रतीत होता है। एवं इस प्रतीति के लिये उसे किसी दूसरे सहायक कारण की आवश्यकता नहीं है। वह सच्चिदानन्द सभी को स्वरूप स्फुरण और आनन्द प्रदान करते हुए सब रूपों को धारण करता हुआ दीखने पर भी अद्वितीय ही बना रहता है। जिस प्रकार चीनी खिलौने और मकान को स्वरूप श्वेतता और मधुरता प्रदान करते हुए भी एक चीनी ही बनी रहती है।

७. पूर्व मन्त्र में बताये काल, स्वभाव और चेतन आत्मा तभी कारण बनते हैं जब पहले शिव से सत्ता, स्फुरत्ता प्राप्त कर लेवें। वेदज्ञ अथवा विचारक की दृष्ट शक्ति का आश्रय और विषय बना हुआ ब्रह्म शब्द ही काल से लेकर चेतन पर्यन्त रूप से कारण बना हुआ प्रतीत होता है। काल और आत्मा कहने से प्रत्याहार के द्वारा मध्य के सभी संग्रह हो जाते हैं। युक्त से इनका संग्रह या जिस जिस वादी को उसके अविद्वान् उपदेशक ने जिस जिस को युक्ति से कारण सिद्ध करके बता दिया वह वह वादी मूर्खता से उसी को कारण मान लेता है। वस्तुतः उन सभी रूपों में एकमात्र चित्सत्ता ही कारण हुई हुई भान होती है। **'गुणा इति गुणविदः तत्त्वानीति च तद्विदः प्राण इतिप्राणविदाः भूतानीति च तद्विदः लोका इति लोकविदो देवा इति च तद्विदः वेदा इति वेदविदो यज्ञा इति च तद्विदः मूर्त इति मूर्तविदो अमूर्त इति' तद्विद् काल इति कालविदो दिश इति च तद्विदः चित्तमिति चित्तविदो धर्माधर्मौ च तद्विदः पञ्चविंशक इत्येके षड्विंश इति चापरे,** आदि के द्वारा गुण, तत्त्व, प्राण, भूत, विषय, देवता, वेद, यज्ञ, चक्रादिवारी मूर्ति, अमूर्ति, तथा शून्य, काल, दिक् (Space), मन, पुण्य, पाप, पचीस और छब्बीस सेश्वर और निरीश्वरों के तत्त्व, इत्यादि और भी अनेक सृष्टि-कारणों की कल्पनाओं को बताकर भगवान् गौड़पादाचार्य अन्त में कहते हैं—

'स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा ।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः ।।

जिस प्रकार स्वप्न इन्द्रजाल अथवा गन्धर्वनगर देखने में आता है उसी प्रकार वेदान्तनिपुण पुरुषों को यह विश्व लगता है। दूसरों को यह क्यों नही लगता ? इसका कारण बताया **यं भावं दर्शयेत् यस्य तं भावं स तु पश्यति** जिस पदार्थ को तत्त्व रूप से उसके गुरु ने दिखा दिया वह उसी पदार्थ को तत्त्व समझ लेते हैं। वस्तुतः उस पदार्थ में भी कारणता रूप से ब्रह्म विद्यमान है ही। युक्ति से सिद्ध हाने के कारण ही उसे युक्त कह दिया। जब दूसरी युक्तियों से उस पदार्थ का खण्डन किया जाता है तब वह उस दूसरे पदार्थ को सत्य मानकर पकड़ लेता है। चूंकि वह भी अन्य युक्तियों से खण्डित किया जा सकता है और तर्क सदा अनिश्चित है अतः सभी हेतुवादों का सहारा छोड़कर अन्तर्मुखी होकर आत्मा में ही ब्रह्म का दर्शन करना चाहिये यह श्रुति का तात्पर्य है, क्योंकि इन सभी कारणों और हेतुओं का आविर्भाव, स्थिति, और लय वहीं होता है।

युक्त का अर्थ संयुक्त भी लिया जा सकता है। तब तात्पर्य होगा कि काल स्वभाव आदि गुणों के द्वारा मिलकर उस आत्मशक्ति को ढांक लिया जाता है जो इन गुणों के द्वारा ही प्रकट हो रही है। ये सारे के सारे इकट्ठे ही युगपत् उसकी उपाधि हैं। अतः इन सब कारणों का आपस में विरोध न होकर सामञ्जस्य है और ये सभी एक से ही मिथ्या हैं।

८. अधिष्ठान के दो अर्थ होते हैं। नियमन करने वाले को भी अधिष्ठान कहते हैं और भ्रान्तिस्थल में सर्प का अधिष्ठान रज्जु कहलाता है। ईश्वर रूप से नियमन करने वाला होने से परमात्मा अधिष्ठान कहलाता है। वस्तुतः सृष्टि का अभाव होने के कारण वह इस कल्पित सृष्टिका वास्तविक अधिष्ठान है। वस्तुतः विचार करने पर कोई भी कारण-कार्य भाव आदि ठहरते नहीं हैं। अतः ये कारणत्वादि की कल्पनायें कुछ मान्यताओं को लेकर बाहर प्रतीत होती हैं और पुनः उन

मान्यताओं के दूर हो जाने पर पुनः अपने में लीन होकर स्वायत्त हो जाती हैं। अत्यन्त विचार के बाद भगवान् गौड़पादाचार्य का निर्णय है—

तस्मान्न जायते चित्तं चित्तदृश्यं न जायते ।
तस्य पश्यन्ति ये जातिं खे वै पश्यन्ति ते पदम् ।।

न कोई प्रतीति उत्पन्न होती है और न किसी प्रतीति का विषय ही उत्पन्न होता है। जो उनकी उत्पत्ति को देखना चाहता है वह आकाश में पक्षियों के पद-चिन्ह ढूँढता है, क्योंकि अनुत्पन्न को उत्पन्न मानता है।

४

इस प्रकार जो दर्शन उन्होंने किया उस देवता का अब ऋषि रहस्यमय वर्णन करते हैं :—

तं एकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं शतार्धारं विंशति प्रत्यराभिः ।
अष्टकैः षड्भिः विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम् ।।

तं = उस प्रसिद्ध
एकनेमिं = एकनेमि[१] (Rim) वाले,
त्रिवृतं = तीन हाल[२] (Tyre) वाले,
षोडशान्तं = सोलह पीठ[३] (Blocks) वाले,
शतार्धारं = पचास ताड़ियों[४] (Spokes) वाले,
विंशति प्रत्यराभिः = बीस सहायक ताड़ियों वाले,[५]
षड्भिः = छः
अष्टकैः = (आठ आठ के) अटकों (दांतों) वाले,[६]
विश्वरूपैकपाशं = अनेक रूप और एक फांसी (Chain) वाले,[७]
त्रिमार्गभेदं = तीन भिन्न रास्तों[८] पर चलने वाले,
द्विनिमित्तैकमोहम् = दो कारणों वाले, और एक मोह[९] रूपी नाभि वाले (free wheel) को
(अपश्यन्) = देखा

१. जिस प्रकार से नाभि से गति प्रारम्भ होकर चक्के के बाहर के घेरे पर समाप्त होती है उसी प्रकार इस विश्व का यावत् विस्तार ज्ञाता और ज्ञेय के सम्बन्ध में समाप्त होता है। यह ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध ही नेमि है। यहाँ कालिक सम्बन्ध का निवेश तो इष्ट ही है। अर्थात् जिस क्षण से अवच्छिन्न पदार्थ है उसी क्षण से अवच्छिन्न ज्ञाता भी है। इस ज्ञान में ज्ञाता का भी पर्यवसान है और ज्ञेय का भी। दोनों परस्पर में एक होकर अवसित हो जाते हैं। ज्ञाता पुनः अन्य काल से अवच्छिन्न अन्य पदार्थों की ओर बढ़ जाता है और ज्ञेय अन्य काल से अवच्छिन्न अन्य ज्ञाताओं की ओर। इस प्रकार के ज्ञानों का समूह नेमि कहा जाता है। सृष्टि के आदि क्षण से अन्तिम क्षण पर्यन्त नेमि का निरन्तर प्रवाह चलता रहता है। अतः इसको व्यक्त माया कह सकते हैं।

२. जिस प्रकार रथ के पहिये के ऊपर लोहे की अथवा साइकिल के चक्के के ऊपर रबड़ का टायर चढ़ाया जाता है जिससे नेमि सड़क के टक्कर से बचती है उसी प्रकार व्यक्त माया की नेमि एवं देवयानादि तीन मार्गों के बीच में तीन प्रकार की हाल चढ़ाई जाती है। ज्ञान, इच्छा, क्रिया ही तीन हाल हैं। प्रत्येक ज्ञाता और प्रत्येक ज्ञेय का सम्बन्ध जिस प्रतीति को उत्पन्न करता है वह प्रतीति प्रधान रूप से ज्ञान रूप होती है या इच्छा रूप या क्रिया रूप। परन्तु स्मरण रखना चाहिये कि तीनों विद्यमान अवश्य रहते हैं चाहे प्रवृत्ति रूप से, निवृत्ति रूप से अथवा उदासीन रूप से। प्रायशः ज्ञान के उत्थान में उदासीनता प्रधान रहती है और इच्छा एवं क्रिया में प्रवृत्ति एवं निवृत्ति प्रधान रहती है। इन तीनों के बिना यह चक्र आसानी से नहीं च । सकता। संक्षेप में कह सकते हैं कि यही इस नेमि की गति को तीव्र भी करते हैं और अधिक देर तक नेमि को जीवित भी रखते हैं।

३. 'स एष संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलः तस्य रात्रय एव

पञ्चदश कला ध्रुवैवा अस्य षोडशी कला' इत्यादि यजुर्वेद में कही हुई संवत्सर अर्थात् काल रूप प्रजापति की पन्द्रह तिथियां और सोलहवीं अमावास्या ही सोलह कलायें हैं। आध्यात्मिक रूप से 'यो वैस संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलोऽयमेव सोऽयमेवंवित् पुरुषः तस्य वित्तमेवपञ्चदश कला। आत्मैवास्य षोडशी कला' इत्यादि के द्वारा यजुर्वेदोक्त संवत्सर रूप जीवात्मा का स्त्री, पशु, धन आदि पन्द्रह कलायेंएवं स्वयं जीव सोलहवीं कला है। ये दोनों ही संवत्सर से अभिन्न हैं अतः सोलह पीठ काल के ही भेद समझने चाहिये। काल के पीठों से ही सारे ज्ञान निर्मित होते हैं एवं काल के चलने से वे सब चलते हैं। काल ही इन ज्ञानों का और पचास ताड़ियों का सम्बन्ध स्थापित करता है अर्थात् नाभि की गति को ताड़ियों से ग्रहण कर बाह्य जगत् के अनुभवों में परिणत कर देता है।

४ यजुर्वेद में प्रोक्त पञ्चाग्नि विद्या की उपासना और उपासक के पञ्च कोश ही पांच भागों द्वारा विभाजित होकर पचास ताड़ियां हैं जो नाभि से गति को काल के प्रति देते हैं। इनके द्वारा ही काल का निर्माण होता है क्योंकि ये ही भोग्य और भोक्ता को समीप लाते हैं। प्रथम है स्वर्ग की लोकाग्नि जिसमें सूर्य ही समिधा है, किरणें ही धुंआ, दिन लपट, दिशायें अंगारा और बीच की अवान्तर दिशायें नैऋत्य आदि चिन्गारियां ये पांच खण्ड हैं। इस अग्नि में देवता अर्थात् यजमान की इन्द्रियां श्रद्धा की आहुति देती हैं जिससे राजा सोम प्रकट होते है। बादल ही दूसरी अग्नि है जिसका संवत्सर ही समिधा है, बादल धुंआ बिजली लपट बज्र (कड़कड़ाहट) अंगारे है एवं फौहार चिन्गारियां। इसमें सोम राजा की आहुती दी जाती है जिससे वृष्टि उत्पन्न होती है। तीसरी अग्नि यह मानव लोक है जिसकी पृथ्वी ही समिधा, आग धुंआ, रात लपट, चन्द्रमा अंगार एवं नक्षत्र चिन्गारियां है। इस अग्नि में वृष्टि की आहुति दी जाती है जिससे अन्न उत्पन्न होता है। चतुर्थ पुरु-

षाग्नि है जिसका खुला मुंह समिधा, प्राण धुंवा, वाणी लपट आंखें अंगारे, कान चिन्गारियां हैं। इस अग्निमें अन्न की आहुति दी जाती है जिससे शुक्र उत्पन्न होता है। पञ्चम स्त्री रूपी अग्नि है जिसका उपस्थ ही समिधा, रोयें धुंआ, योनि लपट, मैथुन अंगारा, तथा आनन्द चिन्गारी है। इसमें शुक्र को आहुति दी जाती है जिससे पुरुष उत्पन्न होता है। इस प्रकार पचीस पञ्चाग्नि विद्या के खण्ड हुए।

यह पुरुष पुनः पांच कोशों का है और प्रत्येक पांच कोशों के पांच खंड हैं। पहले कोश अन्न रस मय है। गले से सिर तक पहला खंड, दाहिना बाजू दूसरा, बांयां बाजू तीसरा, कमर से गले तक चौथा आत्म-खण्ड एवं कमर से नीचे का पूंछ वाला पांचवां खण्ड है। इसके भीतर प्राणमय कोश है, जिसमें प्राण सिर है, व्यान दाहिना बाजू, अपान बांयां बाजू, आकाश चौथा आत्म खण्ड और पृथ्वी पांचवां पूंछ खण्ड। इसमें पुनः मनोमय कोश है जिसमें यजुर्वेद सिर, ऋग्वेद दाहिना बाजू, सामवेद बांया बाजू, आदेश देने वाला ब्राह्मण भाग आत्म खण्ड एवं अथर्ववेद पूंछ वाला पांचवां खण्ड। इसमें विज्ञान-मय कोश है जिसका श्रद्धा सिर, ऋत दाहिना बाजू, सत्य बांया बाजू, योग आत्म खण्ड, एवं महः (हिरण्यगर्भ) पूंछ वाला पांचवां खण्ड है। इसमें आनन्दमय कोश है जिसका इष्ट वस्तु दर्शन रूपी प्रिय सिर है, इष्ट वस्तु को प्राप्ति रूप मोद दाहिना बाजू है, इष्ट वस्तु का भोग बांया बाजू, आनन्द आत्म-खण्ड और ब्रह्म पूंछ रूपी पांचवां खण्ड है। इस प्रकार इन पचास ताड़ियों के द्वारा ही यह नेमि चलती है।

५. जिस प्रकार सहायक ताड़ियां ताड़ियों की गति में मदद देती है उसी प्रकार अधिलोक, अधिज्यौतिष, अधिविद्य, अधिप्रजा और अध्यात्म इन पाँच के चार चार भेद यद्यपि सृष्टि चक्र को चलाने में कोई गति की तीव्रता नहीं लाते पर इनको पुष्ट करते हैं। अधिलोक लोकाग्नि को, अधिज्यौतिष पर्जन्याग्नि को, अधिविद्य मानव को और अधिप्रजा प्रजननाग्नि को, एवं अध्यात्म पुरुष को पुष्ट करता है। इसी को यजुर्वेद में महासंहिता कहा है। अधिलोक में पृथ्वी ही पूर्व रूप (नीचे का रूप) है, द्यु उत्तर रूप (ऊपर का रूप), आकाश सन्धि, और वायु सन्धान अर्थात् दोनो को मिलाने वाला सम्बन्ध रूप है। यह चार अधिलोक के खण्ड चार सहायक ताड़ियां हुई। इसी प्रकार अधिज्यौतिष में अग्नि पूर्वरूप, सूर्य उत्तररूप, जल सन्धि और बिजली संधान है। अधिविद्य में आचार्य पूर्वरूप, शिष्य उत्तररूप, विद्या संधि और प्रवचन ही सन्धान है। अधिप्रज में माता पूर्वरूप, पिता उत्तर-रूप, बच्चे सन्धि, प्रजनन सन्धान है। अध्यात्म में नीचे की ठोड़ी पूर्वरूप, ऊपर की ठोड़ी अर्थात् मुख के ऊपर की हड्डी जिससे ऊपर के दाँत हिलते हैं उत्तररूप, वाक् सन्धि और जीभ सन्धान है। इस प्रकार इन बीस के कारण ही पूर्वोक्त पचास अरे मजबूत बने रहते हैं और जल्दी जर्जरित नहीं होते।

६. पाश (फांसी Chain) के द्वारा किसी भी चक्र को चलाने पर उसमें छोटे-छोटे अटकों या दाँतों की जरूरत होती है जिससे वह चक्र आगे की तरफ तो चले परन्तु पाश को पीछे घुमाने पर भी चक्र आगे ही चलता रहे, पीछे की ओर कभी न जाय। यह तो सबको प्रत्यक्ष ही है कि संसार चक्र आगे ही चलता है और कभी भी पीछे की ओर नहीं जाता। काल की एक ही दिशा (Direction) माननी पड़ेगी। यदि घटनाओं में विपरीत दिशा में प्रत्यावर्तन हो भी जाय तो भी वह एक बार आगे चला हुआ इस उपाधि से प्रत्यावर्तित होने के कारण वास्तविक दृष्टि से दुहराना नहीं हो सकता। जिस प्रकार एक बार प्रधान मन्त्री बनकर सामान्य व्यक्ति बन जाने पर भी पहले वाला सामान्य व्यक्ति न बनकर भूतपूर्व प्रधान मन्त्री वाला सामान्य व्यक्ति बनता है। ये छँ अटके वाणी के हैं। हमारी स्मृति चाहे दिमाग में और चाहे पुस्तकों में शब्द रूप में ही रहती है। इस

शब्दरूपी स्मृति के कारण ही काल की गति एकतरफी ही दिशा हो सकती है। जैसे घड़ी के कांटे पुनः पुनः उन्हीं स्थितियों में आने पर भी हमारी गत दिनों की स्मृतियों के कारण ही पुनरावृत्ति का भ्रम नहीं होने देती। इन शब्दों को बनाने वाले स्थानभेद से किये हुए छै अष्टक हैं जो पाणिनीय सिद्धान्त में और संस्कृत एवं तन्मूलक भाषाओं में आज भी उसी रूप में विद्यमान हैं। अ क ख ग घ ङ ह एवं विसर्ग प्रथम अष्टक है जिसका स्थान कण्ठ है। इ च छ ज झ ञ य और श द्वितीय अष्टक है जिसका स्थान तालु है। ऋ ट ठ ड ढ ण र और ष तृतीय अष्टक है जिसका स्थान मूर्धा है। लृ त थ द ध न ल और स चतुर्थ अष्टक है जिसका स्थान दाँत है। उ प फ ब भ म और ᳲ (उपध्मानीय) ये पांचवां अष्टक है। इसका स्थान होंठ हैं। स्वरों के ह्रस्व दीर्घ, प्लुत और उदात्त, अनुदात्त, स्वरित तथा सानुनासिक अननुनासिक आठ भेद ही छठा अष्टक है। इसका स्थान हृदय है।

७. इन दांतों को चलाने वाली जंजीर अनेक रूप वाली है अर्थात् अनन्त पदार्थों के अनन्त संस्कारों द्वारा शब्द याद आते रहते हैं। जैसे जंजीर में अनेक छेद (Groove) होते हैं और उनमें से कुछ ही किसी एक काल में दाँतों में फंसे होते हैं पर क्रम से सभी छिद्र कभी न कभी दांतों में फंसते ही हैं। इसी प्रकार अनन्त स्मृतियां कभी न कभी ज्ञान में आती ही हैं। यह संस्कार ही अनन्त कामनाओं का कारण है। यह जंजीर काम ही है और संस्कार इसके छेद।

८. देवयान वैदिक उपासनायुक्त कर्म से, पितृयान उपासना रहित वैदिक कर्म से, एवं अधोयान दोनों से रहित होने पर प्राप्त होता है। देवयान द्वारा ब्रह्मलोक में जाकर अक्षय सुख को प्राप्त करता है। पितृयान के द्वारा स्वर्गलोक को जाकर अतिदीर्घ काल तक सुख भोगता है। अधोयान के द्वारा पशु-पक्षी मानवादि योनियों में जल्दी जल्दी पैदा होते और मरते रहता है।

प्रायः चक्र की दो गतियां देखने में आती हैं, एक जमीन में सामने की दिशा में और दूसरी ऊपर नीचे की दिशा में। यद्यपि सामान्यतः आगे जाने के लिये ही चक्र का उपयोग किया जाता है पर यदि दो सौ मील व्यास के चक्र की कल्पना करें तो स्पष्ट हो जायेगा कि ऊपर जाने के लिये भी उस चक्र का उपयोग किया जा सकता है। जैसे चर्खा में या रहट में। कभी कभी अक्ष (Axil) के ढीला होने पर इक्के या मोटर के चक्कों की अगल बगल की गति भी देखी जा सकती है। यद्यपि इसका उपयोग देखने में नहीं आता लेकिन यदि दो सौ मील का व्यास अगल बगल जायेगा तो कई मीलों का रास्ता अगल बगल में जाने वाले भी उस पर चढ़ कर पार कर सकेंगे। जिस प्रकार यहाँ एक ही चक्र एक साथ ही तीन प्रकार के रास्तों पर चलते हुए तीन प्रकार की गतियों से तीनों प्रकार के पथिकों को स्वेष्ट दिशाओं में पहुँचा देता है उसी प्रकार से ब्रह्म चक्र भी युगपत् ही सभी प्रकार के मार्गों पर चलते हुए भिन्न भिन्न पथिकों को अभीष्ट स्थानों पर पहुँचाता रहता है।

९. यह सारी गति कराने वाला मूल केन्द्र मोह अर्थात् अज्ञान है जो आवरण और विक्षेप दो निमित्तों वाला होकर यह सारी गति कराता है। यद्यपि यह चक्र निरन्तर चलता रहता है और इसमें सभी कुछ बदलता रहता है पर अज्ञान स्वयं अचल, अव्यय हुआ हुआ स्थिर बना रहता है। ज्ञान से इसका नाश होने पर यह सारा ही चक्र गायब हो जाता है।

इस प्रकार सारी ही श्रुतियों का सार रूप ब्रह्म-चक्र का दर्शन करके ऋषियों का अन्तःकरण कारणादि जिज्ञासाओं से निवृत्त हो गया। लगता है कि यह ब्रह्म-चक्र ही परवर्ती तन्त्र के यन्त्रों का मूल है। इसके ध्यान करने से अनन्त जन्मों की वासनायें क्षीण हो जाती हैं।

५

ऋषियों ने जिस प्रकार चक्र का दर्शन किया उसी प्रकार गुह्य प्रवाह का भी दर्शन किया। इसका वर्णन करते हैं—

पञ्चस्रोतोम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यादि मूलां ।
पञ्चावर्तां पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वाम् अधीमः ।

पञ्चस्रोतोम्बुं =पांच स्रोतों वाले जल को[१],
पञ्चयोन्युग्रवक्रां=पांच कारणों से उत्पन्न[२] भयंकर मुख वाले को,
पञ्चप्राणोर्मिं =पांच प्राणरूपी लहर वाले को[३],
पञ्चबुद्ध्यादिमूलां =पांच बुद्धि के[४] आदि कारण को,
पञ्चावर्तां =पांच भंवर वाले को[५],
पञ्चदुःखौघवेगां=पांच दुःखों के तीव्र प्रवाह को[६],
पञ्चाशद्भेदां = पचास भेद वाले को[७],
पञ्चपर्वाम् = पांच जोड़ वाले को[८]
अधीमः =हम स्मरण करते हैं ।

१. यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा में **पाङ्क्तम् वा इदं सर्वम्** कह कर सभी चीजों की पञ्चरूपता का जो प्रतिपादन किया है वही यहां पर विस्तार से किया जा रहा है । सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष और ईशान ये पांच ही सारी सृष्टि के स्रोत हैं । हृदय रूपी गुहा में स्थित शिव रूपी लिंग के जो पांच सुशिर या मुख कहे गये हैं वे ही समष्टि में यह पञ्च मूर्तियां हैं । चूंकि व्यष्टि और समष्टि दोनों इसी से निकलती हैं अतः यही दोनों के स्रोत हुए । जैसे स्रोत से जल निरन्तर बहता रहता है वैसे ही सृष्टि प्रवाह भी नित्य है ।

२. इस प्रत्येक मुख की जो एक एक शक्ति हुई मही (क्रिया), ज्ञान (काली), इच्छा (गौरी), सृष्टि-स्थिति-लय (रमा), और माया (तिरोधान-आविर्भाव) वही योनियां हैं जिनके द्वारा पञ्चब्रह्म सृष्टि को उत्पन्न करते हैं । योनि के द्वारा यह बताया कि विना ब्रह्मयोग के न ये शक्तियां कुछ करने में समर्थ हैं और न इनके विना पञ्च ब्रह्म ही कुछ

कार्य कर सकते हैं । इसी लिये बृहज्जाबाल में कहा है **तदित्थं शिवशक्तिभ्यां नाव्याप्तमिह किंचन** शिव और शक्ति के द्वारा जो व्याप्त न हो ऐसा अनुभव में आने वाले पदार्थों में कोई भी नहीं हैं ।

जगत् में यद्यपि स्वतः कुता या सौम्यता कुछ भी नहीं है, परन्तु सोम (शिव-शक्ति सामरस्य) से एकता करने वाला जीवन सौम्य हो जाता है, एवं दोनों में भेददर्शन करने से उग्र हो जाता है । इस भेददर्शन का कारण कामना है । इसी लिये कहा है–

'अतएव हि कामाग्निर् अधस्तात् शक्तिरूर्ध्वगा ।
यावदा दहनश्चोर्ध्वम् अधस्तात् पावनं भवेत् ॥
अग्नेरूर्ध्वं भवत्येषा यावत् सौम्यं परामृतम् ।

इस प्रकार सामान्य मनुष्यों को कामनायें कराकर कठोर क्रियाओं में प्रवृत्ति कराने वाली होने से इसे उग्र कहा है । साधक को भी शक्ति को ऊर्ध्वगामी करने के लिये अनेक उग्र प्रयत्नों का सहारा लेना पड़ता है इसलिये इसे उग्र कहा जा सकता है ।

३. शिव-शक्ति से उत्पन्न क्रमशः पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश एवं निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति और शान्त्यतीता अवस्थाएं ही इस सृष्टि-प्रवाह के संरक्षण करने वाले होने से प्राण हैं । एवं पूर्व शिव-शक्ति के मानो बाह्य प्रकटन या लहरें हैं । जिस प्रकार लहरों से ही जलराशि प्रकट होती हैं, पूर्ण शान्तावस्था में नहीं, उसी प्रकार इन महाभूत और अवस्थाओं से ही ब्रह्म-प्रवाह का प्राकट्य है । जैसे लहर जल को ढाँकती है वैसे ही इनके द्वारा शिव ढांक दिया जाता है ।

४. मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और सामान्य चेतना, इनमें ही सारे ज्ञान विद्यमान रहते हैं, उत्पन्न होते हैं, और अन्त में लीन हो जाते हैं । अतः यही पांच ज्ञानों के आदि कारण हैं । काम के पांच बाणों को भी समग्र कामों के प्रति ज्ञान को कारणता होने से यहां समझ लेना चाहिये ।

५. ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, और पञ्चम निषाद, इन योनियों में जीव उसी प्रकार घूमता रहता है जैसे भौरें में पड़ा कीड़ागोल गोल वहीं घूमता रहता है। अथवा देव, पितृ, दानव, मानव एवं प्रेत भेद से पांच योनियों का ग्रहण किया जा सकता है।
देवा गन्धर्वा मनुष्याः पितरो असुरास्तेषां सर्वभूतानां माता मेदिनी पृथिवी महती मही सावित्री गायत्री जगती ऊर्वी। (तै. आ. १० प्रपा०)

६. रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श यह पांच दुःखों का प्रवाह एक के बाद एक निरन्तर तेजी से आता ही रहता है। चूंकि इनसे निरन्तर दुःख ही होता है। अतः इन्हें दुःख रूप कहा। यद्यपि किसी किसी रूपादि के प्राप्तिकाल में सुखाभासता प्रतीत होती हैं, तथापि आदि और अन्तवाला होने से एवं इन्द्रिय और मन को थकाने वाला होने से वस्तुतः दुःखरूप ही है।

७. पांच कर्मेन्द्रियां, पांच उनके विषय और पांच उनके देवता, पांच ज्ञानेन्द्रियां, दस प्राण, दस उनके विषय और दस उन ` देवता, इन पचास भेदों से यह ब्रह्म-प्रवाह भिन्न २ धाराओं में बटा प्रतीत होता हैं। तात्पर्य हैं कि जब एक इन्द्रिय या प्राण एक कार्य करता हैं उस समय वह एक प्रवाह प्रतीत होता है और इन भिन्न भिन्न इन्द्रियों के द्वारा यह प्रवाह अलग अलग समूहों में बटा रहता हैं।

८. ईश्वर, अन्तर्यामी, सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ और विराट् इन्हीं में सबका जोड़ होने से इन्हें पाँच पर्व कहा जाता हैं। पुराणों की भाषा में इन्हीं का नाम पञ्चदेव भी है।

६

यद्यपि ऋषियों ने अपने अनुभव में आयी हुई जिस देवात्मशक्ति का स्वरूप से वर्णन किया वह ध्यान के द्वारा सप्रपञ्च और निष्प्रपञ्च दोनों ज्ञानों को उत्पन्न कर देती है, तथापि वहां सृष्टि चालक या प्रवाहक रूप से ईश्वर एवं चलित चक्र रूप से या बहती हुई नदी रूप से जीव जगत् का वर्णन होने से साधारण बुद्धि के मानव में द्वैतदृष्टि

बनी रह जा सकती है। अतः अब भगवती श्रुति स्वमुख से ही, जीव-ईश्वर की एकता का प्रतिपादन करने के लिये क्या कारण है, इसके जवाब को चौथे और पांचवें मन्त्र द्वारा दे दिया गया, ऐसा मानकर, कहां से और क्यों उत्पन्न हुए, इसका जवाब देने में प्रवृत्त होती है :—

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते तस्मिन् हंसः भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे। पृथक् आत्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टः ततः तेन अमृतत्वम् एति॥

हंसः	=जीव[1]	**बृहन्ते**	=बड़े[7]
आत्मानं	=अपने आपको	**ब्रह्मचक्रे**	=ब्रह्मचक्र में
च	=और	**भ्राम्यते**	=घुमाये[8] जाते हैं।
प्रेरितार	=प्रेरक परमात्मा को[2]	**तत.**	=तदनन्तर[9] (वैराग्य-एवं ज्ञान साधना करके)
पृथक्	=अलग अलग		
मत्वा	=मान कर[3]	**तेन**	=उससे (ईश्वर से)[10]
तस्मिन्[4]	=इस ऊपर कहे हुए		
सर्वाजीवे	=(जिसमें सारे जीव होवें) संसार[5]	**जुष्टः**	=अभिन्न होकर[11]
		अमृतत्वं	=मोक्ष को[12]
सर्वसंस्थे	=(जिसमें सब लय होते हैं) प्रलय[6] के	**एति**	=पाते हैं[13]।

१. हन् धातु का अर्थ जाना होता है। अतः जो देवयानादि में जाता रहता है उसको हंस कहा जाता है, जो जीव है। हन् धातु का दूसरा अर्थ मारना या नष्ट करना भी होता है। जाग्रत् के स्थूल कार्य-कारणों को नष्ट कर स्वप्न में जाता है, वहां के वासनामय सूक्ष्म कार्य-कारण संघात को नष्ट कर सुषुप्ति में एवं प्रारब्ध कर्म के समाप्त होने पर वर्तमान कार्य-कारण संघात को नष्ट कर अविद्या-कामकर्म के वश में दूसरे शरीर को जाता है, तथा प्रलय

काल में सभी कामकर्मों को नष्ट कर मायाविशिष्ट ब्रह्म में जाता हैं, एवं अन्त में ज्ञान के द्वारा अज्ञान को भी नष्ट कर अखण्ड सच्चिदानन्द ब्रह्म रूप को जाता है। इस प्रकार हनन करने वाला होने से भी इसे हंस कहा जाता है। विचार दृष्टि से तो प्रतिक्षण घट-पटादि पदार्थों की जड़ता को नष्ट कर उन्हें ज्ञानवाला बनाने के साथ ही साथ अपनी तूला विद्या को भी नष्ट करता रहता है। अनुभवियों का तो कहना है कि मन आदि में अध्यास के द्वारा यह आत्मा की चेतनता को भी मारता है और मन आदि की जड़ता को भी मारता है।

'आधारे लिंगनाभौ प्रकटितहृदये तालुमूले ललाटे
द्वे पत्रे षोड़शारे द्विदशदशदले द्वादशार्धे चतुष्के।
वासान्ते वालमध्ये डफकठसहिते कण्ठदेशे स्वराणां
हं सं तत्त्वार्थयुक्तं सकलदलगतं वर्णरूपं नमामि ॥

इत्यादि के द्वारा कहा हुआ जीवका इन वर्ण और चक्रों में वासनाधीन होकर नित्य भ्रमण करने के कारण भी इसे हंस कहा गया है। अथवा—

गुदलिंगान्तरे चक्रं आधारं तु चतुर्दलम् ॥
परमः सहजस्तद्वत् आनन्दो वीरपूर्वकः।
योगानन्दश्च तस्य स्यात् ईशानादिदले फलम् ॥
स्वाधिष्ठानं लिंगमूले षट्पत्रं चक्रमस्य तु।
पूर्वादिषु दलेष्वाहु फलान्येतान्यनुक्रमात् ॥
प्रश्रयः क्रूरता गर्वनाशो मूर्च्छा ततः परम्।
अवज्ञास्यादविश्वासो जीवस्य चरतो ध्रुवम् ॥
नाभौ दशदलं चक्रं मणिपूरकसंज्ञकम्।
सुषुप्तिरत्र तृष्णास्यादीर्ष्या पिशुनता तथा ॥
लज्जा भयं घृणा मोहः कुधियोऽथ विषादिता।
हृदयेऽनाहतं चक्रं दलैर्द्वादशभिर्युतम् ॥

लौल्यं प्रणाशः कपटं वितर्कोऽप्यनुतापिता।
आशा प्रकाशश्चिन्ता च समीहा समता ततः ॥
क्रमेण दम्भो वैकल्यं विवेको हुँकृतिस्तथा।
कण्ठेऽस्ति भारतीस्थानं विशुद्धिः षोडशच्छदम् ॥
कृपाक्षमार्जवं धैर्यं वैराग्यं च धृतिस्तथा।
शिवता हास्यरोमांचध्यान सुस्थिरता तथा ॥
गाम्भीर्यमुद्यमः सत्त्वमौदार्यं च शिवाग्रता।
इति पूर्वादिपत्रस्थे फलान्यात्मनि षोडश ॥
भ्रूमध्ये द्विदलं चक्रं तत्त्वमर्थौ यतः स्थितौ।

इत्यादि दलों में कर्मफलों के उदय होने पर वासना से वायु-प्रेरित जीव अपने स्वरूप को नष्ट करते हुए भावों में जाता रहता है। इन संसार-चक्रों में घूमने के कारण इसको हंस कहा जाता है। अन्त में इन सभी चक्रों को छोड़कर सहस्रार में स्थित शिव में लीन हो जाता है।

वस्तुतः हंस से तात्पर्य एक ऐसे यात्री से है जो अपने स्थान को छोड़कर पिंजड़े में बन्द हो गया है और पंख फड़फड़ा कर भी उड़ नहीं पा रहा है। यह पिंजड़ा कोई बाहर से ढक्कन वाला पिंजड़ा नहीं है वरन् एक ऐसा डंडा है जो निरन्तर घूम रहा है जिसका घूमना भी यात्री के बैठने के साथ ही प्रारम्भ हुआ है। उसमें गिर न पड़ूँ इस भावना से वह पैर बदलता रहता है और इसी से गति आती रहती है। अचेतन मन से ऊर्ध्व चेतना की ओर ही यह यात्रा है। चेतन मन को यह हंस ही अपने प्रतिबिम्ब द्वारा घुमाता रहता है और नष्ट न हो जाऊं इस भय से छोड़ता नहीं है।

२. कुछ दर्शनशास्त्र से अनभिज्ञ लोगों ने इस पंक्ति का चतुर्थ पंक्ति से अन्वय करके अपने आपको परमेश्वर से भिन्न मान के उसकी सेवा करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है, ऐसा अर्थ लगाने का प्रयत्न किया है। चूंकि अपने से ईश्वर को भिन्न तो बालक, ग्वाले और

स्त्रियाँ भी समझती हैं, अतः यह श्रुतिवाक्य अनुवादक होकर अप्रमाण हो जायेगा। इसलिये इसका पूर्वेण अन्वय करना ही समीचीन है। सम्भवतः अत्यधिक नास्तिक व्यक्ति ईश्वर को मानते ही नहीं तदपेक्षया ईश्वर को अपने से भिन्न मानकर उसके भय से अधर्म से बचते हुए उसकी भक्ति करना अधिक अच्छा है, यह समझ कर ही ऐसा भ्रान्त अर्थ किया गया होगा। जब तक इस ब्रह्म-चक्र के चलाने वाले एवं प्रेरक ईश्वर को 'मैं खुद ही हूँ' इस प्रकार से नहीं समझ लिया जाता तब तक इस चक्र से कोई भी छुड़ा नहीं सकता।

अथवा संसार रूप जो सोपाधिक आत्मा है जिसके यह शरीर मन आदि सब अंग हैं उसकी अपेक्षा इन सब से भिन्न प्रियतम प्रत्यगात्मा रूप अधिष्ठान रूप से संसार-चक्र का प्रवर्तक शिव मैं ही हूँ ऐसा ज्ञान यहां इष्ट है।

अथवा यह देह मनादि ही आत्मा शब्द से कहे गये हैं। इनमें से प्रत्येक और संघात से भिन्न प्रेरिता साक्षी अर्थात् ईश्वर है। वह साक्षी ही मेरा स्वरूप है। इस प्रकार का ज्ञान मोक्ष का कारण है।

अथवा महाकाशस्थानीय परमात्मा से घटाकाशस्थानीय आत्मा भिन्न है, ऐसा समझना भ्रम का कारण है। क्योंकि जो अन्य देवता की उपासना यह मानकर करता है कि वह अन्य है और मैं अन्य हूँ वह बार बार मरता है, यह श्रुति का उद्घोष है। तात्पर्य है कि कार्य-कारण उपाधि से रहित सच्चिदानन्द ब्रह्म ही मैं हूं इस प्रकार का ज्ञान कर्तव्य है। परमात्मा का ज्ञान आत्मा से अतिरिक्त और कहीं नहीं हो सकता है।

३. यद्यपि प्रतीति काल में भी प्रतिबिम्ब बिम्ब से भिन्न नहीं होता, केवल मान भर सकता ह कि "मैं भिन्न हूं", अथवा नशे काल में भी ब्राह्मण शूद्र हो नहीं सकता वरन् केवल मान लेता है कि मैं शूद्र हूं। अथवा भिन्नात्मराग (Schizophrenia) में मनुष्य अपने को नेपोलियन मान भर सकता है हो नहीं जाता। इसी प्रकार

जीवेश्वर भेद दर्शन-काल में भी जीव ईश्वर से भिन्न हो नहीं जाता। **अन्विष्टः स्यात् प्रमातैव पाप्मदोषादिवर्जितः** इत्यादि कारिका इसमें प्रमाण है।

४. अस्मिन् इत्यपि पाठान्तरः। अर्थाभेदेऽपि शंकरानन्द-विज्ञान-भगवत्-नारायणादिकृतटीकायामनुपलब्धत्वादुपेक्षितम्।

५. आजीव अर्थात् सब प्रकार का जीवन जहां हो उसे सर्वाजीव कहते हैं। जीवन के हेतु कार्य-करण संघात रूप भोगायतन ही होते हैं। जिस प्रकार चांदी का जीवन सीप या बाघ का जीवन जादूगर अथवा स्वप्न का जीवन आत्मा होता है उसी प्रकार सभी चेतन-अचेतनों का सच्चिदानन्द जीवन है। वही उन्हें सत्ता, ज्ञान और आनन्द वाला दिखलाता है।

६. सब जिसमें संस्थित अर्थात् स्थित या लीन हो जाय वह सर्वसंस्था हुआ। जैसे सृष्टि-काल में परमात्मा सर्वाजीव है, वैसे ही प्रलय काल में सर्वसंस्थ। सुषुप्तिमें भी सभी इन्द्रियां उसी में लीन हो जाती हैं इसलिये भी उसे सर्वसंस्थ कहा जाता है।

७. माया-शबल ब्रह्म-चक्र में अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड एक अंश मात्र में स्थित हैं। जिसमें अनन्त ब्रह्मा विष्णु चक्र काटते रहते हैं। पुराणों में बताया है कि ब्रह्मा और विष्णु भी इस ब्रह्म-चक्र अर्थात् शिव लिंग का आदि अन्त नहीं जान सकते। इसके एक अंश में जब सृष्टियां होती हैं तभी दूसरे अंश में प्रलय होता रहता है। आज तो वैज्ञानिक भी यह मानने लगे हैं कि किसी नीहारिका में नक्षत्र-भ्रमण से विद्युतीय चुम्बक (Electro magnetic waves) के द्वारा नवीन परमाणुओं की सृष्टि होती रहती है, तो किसी अन्य नक्षत्र में अणु-स्फुटन के द्वारा द्रव्य नष्ट होता रहता है। एक तरफ तो दिक् का अन्त नजर नहीं आता और दूसरी तरफ मानव देह के खरबवें हिस्से वाले कोशा का (Cell) भी अन्त समझ में नहीं आता। ऐसे इस ब्रह्म-चक्र को बड़ा कहना ठीक ही है।

८. अनात्मरूप शरीर मनादि में आत्मा की एकता के भान से उन अनात्माओं के घूमने से आत्मा के घूमने की भ्रान्ति हो जाती है। जैसे अपनी रेल के स्थिर रहने पर भी पड़ोसी रेल के चलने से अपनी ही रेल चलने की भ्रान्ति हो जाती है। इसी प्रकार सुर, नर, तिर्यगादि शरीरों के धर्माधर्म कुम्हार के द्वारा अविद्या-वासनादि दण्डों से बनने पर आत्मा अपने को उन योनियों में गया हुआ मान लेता है। वास्तविकता तो यह है कि अद्वितीय सुख सच्चिन्मात्र स्वरूपात्मा अपने ही अविद्या रूपी अन्धकार से अपने को ढांककर गमनागमन उत्क्रान्त्यादि का कारण रूप प्राण की सृष्टि कर लेता है, एवं उस उपाधि को अपने ऊपर तादात्म्याध्यास से चढ़ाकर धर्म-अधर्म करने की सामर्थ्य पा लेता है। फिर इस पुण्य-पापादि के द्वारा सुख-दुःखादि भोगने के लिये भिन्न भिन्न योनियों में भ्रमण करता है। परन्तु यह भ्रमण वास्तविक न होकर भ्रम से है, यह भ्राम्यते पद से स्पष्ट है। चिदानन्दैकरस अद्वैत शिव तत्त्व में अज्ञान रूपी वायु-चक्र से ब्रह्म-चक्र का विलास चलता रहता है। यही बन्धन भी है और बन्धन का कारण भी।

९. नाना योनियों में भ्रमण का कारण बताकर अब उससे छूटने का उपाय बताते हैं। अनेक कल्पों तक संसार के भोग कर लेने से वे नीरस हो जाते हैं तब मनुष्य इनसे अन्वय-व्यतिरेक न्याय के द्वारा दृश्यत्व, व्यभिचारित्व, परिच्छिन्नत्व आदि हेतुओं से अपने आप को भिन्न समझने लगता है। तब इनसे छूटने के लिये साधनों को ढूंढता है और करता है। काकतालीय न्याय से अथवा ईश्वरानुग्रह से किसी तत्त्वनिष्ठ श्री परमहंस का संग मिल जाता है। एवं वह वेदों के परम रहस्य का उपदेश करता है कि तुम संसारी नहीं वरन् शिव हो। इस श्रवण से ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। परन्तु यदि श्रद्धा की कमी से संशय उत्पन्न हो जाता है तो उसको युक्ति से ज्ञान की दृढ़ता के लिये पुनः यत्न करना पड़ता है। इसी प्रकार वासनाओं के कारण

यदि शिवभाव में स्थित नहीं रह पाता तो निदिध्यासन करना पड़ता है। जो पूर्ण श्रद्धा वाला शिवयोगी गुरु में ही अपनी सब वासनाओं को एकाग्र कर लेता है वह तो साक्षात् ही शिवरूप हो जाता है। एवं अविद्या के निवृत्त हो जाने से निरतिशय आनन्द में स्थित हो जाता है। अतः 'तदनन्तर' का तात्पर्य ज्ञानानन्तर अर्थात् साक्षात्कार के अनन्तर समझना चाहिये।

१० यहां आत्मा से भिन्न ईश्वर न समझकर साक्षी रूपी ईश्वर ही समझना चाहिये। ईश्वर, गुरु और आत्मा का अभेद ही शास्त्र-तात्पर्य है।

११. ब्रह्मसूत्रों में अहंग्रहोपासना ही प्रधान मानी गई है। प्रतीकोपासना तो अत्यन्त तुच्छ फल वाली है। अतः यदि वासनावशात् चित्त विक्षिप्त हो तो **शान्तं शिवमद्वैतमानन्दाद्वितीयब्रह्मास्मि** इस प्रकार का बार बार अनुसन्धान करे। यही शुद्ध ब्रह्म की सेवा है। जैसे पैर इत्यादि दबाने की सेवा से शरीरगत कष्ट दूर होता है वैसे ही इस सेवा से ब्रह्म का परोक्षता, द्वितीयता आदि दोष दूर होता है। यही वास्तविक सेवा है। अपने व्यवहारों में भी **ब्रह्मैवेदं सर्वम्** इत्यादि श्रुतियों के अनुसार सबको अपने से अभिन्न मानकर परम प्रीति करने पर ईश्वर प्रसन्न हो जाता है। जुषि प्रीतिसेवनयोः धातु इन दोनों अर्थों को बताता है। आनन्द का आविर्भाव ही ईश्वर की प्रसन्नता है।

१२ **विमुक्तश्च विमुच्यते** की श्रुति के अनुसार यद्यपि ज्ञान क्षण में ही मुक्ति हो जाती है तथापि प्रारब्धक्षय पर्यन्त जगत् प्रतीति एवं तीव्र भोग काल में किञ्चित् काल स्थायी सत्यत्व अनुभूति भी अविद्या-लेश के कारण हो जाती है। प्रारब्ध की प्रतीति का समाप्त हो जाना ही अविद्यालेश का नष्ट हो जाना है। यह चाहे प्रारब्धक्षय से हो चाहे ऐक्यानुसन्धान की दृढता से, यही यहां मोक्ष शब्द से कहा गया है। अपरोक्ष साक्षात्कार का यही चरम परिपाक है। चूंकि

इसके बाद भेद दर्शन ही नहीं रह जाता अतः प्राणों की उत्क्रान्ति भी नहीं हो सकती।

१३. यहां नवीन प्राप्ति न समझ कर प्राप्त की ही प्राप्ति समझनी चाहिये। अथवा एति माने जान जाता है।

७

चौथे और पांचवें मंत्र में सप्रपञ्च ब्रह्म अर्थात् मायाविशिष्ट चेतन का प्रतिपादन किया गया। जिसकी उपासना करता है वही बन जाता है, यह उपासना-शास्त्र का रहस्य है। सप्रपञ्च ब्रह्म से अभिन्न होने पर एवं उसी को अपने आत्म-स्वरूप से जानने पर प्रपञ्च कैसे निवृत्त हो सकता है? प्रपञ्च के न हटने पर मोक्ष तो वन्ध्या-पुत्र हो जायेगा। अतः जिससे अभिन्न होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है उस निष्प्रपञ्च ब्रह्म को प्रतिपादन करते हुए मोक्ष की सिद्धि करते हुए सप्रपञ्च भी उसी में कल्पित होने से दोनों की वास्तविक एकता का प्रतिपादन करके ईश्वरोपासना संवादिभ्रम है, यह बताना इष्ट है। भ्रम दो तरह के होते हैं। जहां भ्रम से इष्ट फल की प्राप्ति हो जाय उसे संवादिभ्रम कहते हैं। जैसे गोदावरी के जल को गंगाजल समझकर छिड़कने से पवित्रता आ जाती है अथवा विटामिनैट समझकर विमग्रैन खाने से शरीर में विटामिन की कमी दूर हो जाती है। यहां भ्रम तो है ही क्यों कि जो गंगाजल या विटामिनैट नहीं है उसे गंगा या विटामिन समझा गया परन्तु शुद्धि या विटामिन रूपी जो फल इष्ट था वह प्राप्त हो गया। दूसरा भ्रम विसंवादीभ्रम है। सीप को चांदी समझ कर उसके पास जाने से चांदी की प्राप्ति नहीं होती, अतः यह विसंवादी भ्रम है। मायाविशिष्ट ब्रह्म की ब्रह्म समझ कर उपासना ब्रह्मरूपी फल दे देती है, अतः यह संवादी भ्रम है। इसी का प्रतिपादन करने के लिये अब इस मंत्र को प्रारंभ करते हैं—

उद्गीतम् एतत् परमम् तु ब्रह्म तस्मिन् त्रयं सुप्रतिष्ठा अक्षरं च।
अत्र अन्तरम् ब्रह्मविदः विदित्वा लीनाःब्रह्मणि तत्पराः योनिमुक्ताः॥

तु	=दूसरी ओर[1]	अक्षर	=अक्षर[10] हैं।
एतत्	=यह[2]	अत्र	=इस (ब्रह्म) में
परमं ब्रह्म	=परम[3] ब्रह्म	तत्पराः	=मुस्तैद[11]
उद्गीतम्[4]	=उत्तम (या सार) कह कर गाया गया है[5]।	ब्रह्मविदः	=ब्रह्म वेत्ता[12]
तस्मिन्	=उसमें[6]	अन्तर	=भेद[13]
त्रयं	=तीनों[7]	विदित्वा	=जान कर[14]
सुप्रतिष्ठा[8]	=अच्छी तरह से स्थित[9] हैं।	ब्रह्मणि	=ब्रह्म में
		लीनाः	=लय हुए[15]
		योनिमुक्ताः	=योनि से मुक्त[16]
च	=और (वह)	(भवन्ति)	=(हो जाते हैं)।

१. उपर्युक्त प्रकार से ब्रह्म के प्रतिपादन के बाद अब कार्य-कारण निर्मुक्त ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं। तात्पर्य है कि उपोद्घात में आई हुई शंका मोक्षाभाव को उपपन्न कर देती यदि ब्रह्म सप्रपञ्च ही होता। प्राचीनों ने तो यहां तु का अर्थ च किया है। एवं सप्रपञ्च ब्रह्म के और निष्प्रपञ्च ब्रह्म के प्रतिपादन में सम्बन्ध माना है, जो ठीक ही है।

२. जिसका प्रकरण चला हुआ है वह ब्रह्म ही है अतः सप्रपञ्च-निष्प्रपञ्च भेद को नजरअन्दाज करके यहां समझना चाहिये। अथवा उद्गीत को विषय करके यहां एतत् कहा गया। तब तो तु का अर्थ ही कर लेना पड़ेगा।

३. प्रपञ्च धर्म से अस्पृष्ट होने से ही उसे परम कहा गया। ब्रह्म में किसी भी संसार के धर्मों का लवलेश भी नहीं है। यह सोपाधिक रूप वाले जीव को प्रीतिकर है इस लिये भी उसका परम हैं।

४. उद्गीथमित्यपि पाठान्तरः। तस्मिन् पक्षेऽपि प्रणववाचकत्वा-देष एवार्थः। **अग्निमीळे पुरोहितम्** इत्युपक्रम्य ऋग्वेदे, **समुद्रो बन्धु-**रित्युकारेण यजुर्वेदे समापनात्, **ज्योतिरुत्तमम्** इति मकारे सामवेद **समापनात्** प्रत्याहाररूपेण वेदत्रयस्य ओं इति रूपम् सिद्धम्।

५. सभी वेदों में ब्रह्म का कार्य-कारण रूप समग्र जगत् से उत् अर्थात् ऊर्ध्व या अधिक (Transcendental) कह कर प्रतिपादन किया गया है। अथवा वेदों के शीर्ष भाग (उत्) वेदान्तों में ब्रह्म का ही गान है। साध्य और साधन दोनों से ब्रह्म ऊर्ध्व ही रहता है, अर्थात् न वह साध्य है न साधन, वरन् नित्य सिद्ध ही है। सभी कार्य-कारणों का वह सार रूप से उद्धृत (उत्) किया हुआ तत्त्व है। **अन्यदेव तत् विदितादथो अविदितादधि, ततो यदुत्तरतर, अन्यत्र धर्मात् अन्यत्र अधर्मात्, न सन् न चासन् शिव एव केवलः** इत्यादि श्रुतियां इसमें प्रमाण हैं।

६. यद्यपि प्रपञ्चोद्धृत ब्रह्म की प्राप्ति से मोक्ष तो सिद्ध हो गया परन्तु प्रपञ्च के ब्रह्म से भिन्न होने पर ब्रह्म सद्वितीय हो गया। अर्थात् ब्रह्म और प्रपञ्च दो तत्त्व सिद्ध हो गये। यह एक प्रकार का सांख्यवाद ही है। वेद पुनः पुनः अद्वितीयता का प्रतिपादन करता है। अतः प्रपञ्च का और ब्रह्म का सम्बन्ध बताना इष्ट है। अधिकरण कारक से यहां ब्रह्म में जगत् को स्थित बताया जिससे दोनों में भेद को हटा दिया। जैसे मेज पर किताब है तो मेज अपनी स्थिति में स्वतन्त्र है और किताब मेज के परतंत्र। जब तक किताब मेज पर रहेगी मेज के चलने से या हिलने से अवश्य चलेगी या हिलेगी। परन्तु किताब के चलने से या हिलने से मेज न चलेगी या न हिलेगी। अतः यहां मेज स्वतंत्र है और किताब परतंत्र। इसी प्रकार ब्रह्म में जगत् है का तात्पर्य यही हुआ कि जगत् ब्रह्म के परतंत्र है और ब्रह्म जगत् से स्वतंत्र। यदि सप्रपञ्च ब्रह्म या ईश्वर इष्ट हो तो वह जगत् का शासक है। और यदि निष्प्रपञ्च इष्ट हो तो उसकी सत्ता से जगत् सत्तान्वित होने के कारण ब्रह्म के परतंत्र है। **वाचारम्भणं**

विकारो नामधेयम् इत्यादि श्रुतियों से जगत् की असत्यता सिद्ध है। फिर भी यह सत्य लगता है तो ब्रह्म की सत्ता को अपने में लेकर के ही लगता है।

किञ्च ब्रह्म चेतनरूप होने से अपनी सिद्धि के लिये जगत् की अपेक्षा नहीं रखता जैसे चेतन जीव सुषुप्ति में बिना कार्य-करण संघात के भी स्वतः सिद्ध है। परन्तु जड़ कार्य-करण संघात बिना चेतन के सिद्ध नहीं हो सकता। इसी प्रकार प्रपञ्च की सिद्धि ब्रह्म के अधीन होने पर भी ब्रह्म की अपनी निष्प्रपञ्चता सिद्ध ही है। बिना किसी रुकावट के बढ़ना अर्थ वाले ब्रह्म शब्द का देश-काल-वस्तु परिच्छेद शून्यता में ही अर्थ लग सकता है। मिथ्या प्रपञ्च अविद्या दशा में ब्रह्म को ईश्वर बना देता है और ज्ञान होने पर उस कल्पित प्रपञ्च की कल्पित ही निवृत्ति होकर निष्प्रपञ्च ब्रह्म स्वयमेव प्रकाशित होता है।

७. विश्व में सभी कुछ तीन टुकड़ों में आता है जिसे वेदान्तों में त्रिपुटी कहा गया है। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय; कर्ता, क्रिया और कर्म; जन्म, स्थिति और नाश; ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र; जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति; काली, लक्ष्मी, सरस्वती; विश्व, तैजस, प्राज्ञ; विराट्, हिरण्यगर्भ, ईश्वर; भूर्भुवः स्वः (तीन लोक), सत्त्व, रज, तम, आदि सभी त्रिपुटियां निष्कल, असंग, निर्मल, अनन्त, सुख संविन्मात्र ब्रह्म में रस्सी में सर्प की तरह अविद्या से कल्पित होकर मौजूद रहती हैं। संक्षेप में भोक्ता, भोग्य, एवं प्रेरणा करने वाला अर्थात् जीव, जगत् और ईश्वर ही यह प्रपञ्च है। ये तीनों ही अविद्या से ब्रह्म में प्रतीत होते हैं।

तत्तु समन्वयात् न्याय से सभी वेद ब्रह्म में ही अधिष्ठित हैं, अर्थात् ब्रह्म के प्रतिपादन में ही गतार्थ हैं। अतः तीनों वेद भी यहां त्रय शब्द से लिये जा सकते हैं।

८. स्वप्रतिष्ठेति शंकरानन्दाः पठन्ति। तत्पक्षे स्वस्मिन्—आत्मनि आश्रयत्वेन विषयत्वेन च प्रतिष्ठा यस्या अविद्यायाः सा स्वप्रतिष्ठा

स्वस्मिन् कल्पितस्य चेतनाचेतनात्मकस्य स्वरूपप्रदत्वात् प्रतिष्ठा स्वप्रतिष्ठा परब्रह्मेत्यर्थः।

६. जिस प्रकार रस्सी में सांप दृढ़ता से प्रतिष्ठित होता है, उसी प्रकार ब्रह्म में जगत् अचल-प्रतिष्ठा वाला है। यद्यपि जाग्रत् स्वप्नादि अवस्थाओं में या पृथ्वी आकाशादि भूतों में अथवा विष्णु, क्षेत्रज्ञ, इन्द्र आदि देवताओं में भी जगत् कुछ काल के लिये प्रतिष्ठित होता है पर न तो वे स्वयं अचल हैं और न जगत् ही उनमें सदा रहता है। अतः वे जगत् की अचल प्रतिष्ठा नहीं हैं। ब्रह्म स्वयं अचल है एवं जगत् भी उसमें सदा प्रतिष्ठित है इसलिये ब्रह्म ही जगत् की अचल प्रतिष्ठा है।

किञ्च ब्रह्म अविद्या के द्वारा जगत् का आश्रय और विषय दोनों है अतः जगत् ब्रह्म में भली प्रकार प्रतिष्ठित है। यह परब्रह्म के सर्वथा अधीन है। इस लिये भी ब्रह्म की प्रतिष्ठा से प्रतिष्ठा वाला है।

१०. विकारात्मक प्रपञ्च का आश्रय होने से ब्रह्म परिणामी एवं परिणामी होने से दही की तरह अनित्य हो जावेगा। इस शंका को दूर करने के लिये उसे अक्षर कहा गया। प्रपञ्च का आश्रय होने पर भी उसका क्षरण नहीं होता है। इसके पहले आये हुए 'और' का अर्थ 'ही' कर लेना चाहिये। अर्थात् विकार मायिक होने से उसका आश्रय होने पर भी ब्रह्म अविनाशी कूटस्थ ही बना रहता है। इसी लिये ब्रह्म की सर्वात्मकता होने पर भी प्रपञ्च की मिथ्यारूपता के कारण ब्रह्म की प्रपञ्च से भिन्नता तथा असंसर्गता के ज्ञान से पूर्णानन्द ब्रह्म को अपना स्वरूप जानने वाले का मोक्षरूप परम पुरुषार्थ सिद्ध हो जाता है। चूंकि इस ब्रह्म और आत्मा की एकता के ज्ञान के बिना जगत् ब्रह्म से च्युत नहीं होता इस लिये भी ब्रह्म को अक्षर कहा गया है। कहीं कहीं श्रुतियों में अव्यक्त या माया को भी अक्षर कहा है क्यों कि सारे ही ब्रह्म-स्वरूप में वह व्याप्त रहता है। इस दृष्टि से अक्षर और त्रय उस ब्रह्म में अध्यस्त हैं, ऐसा अर्थ कर

लेना चाहिये। न केवल जगत् से अतिरिक्त आत्मा है न केवल जगत् आत्मा से अतिरिक्त, यह भाव है। सारे क्षर को जो व्याप्त करे (अश्नुते) उसे अक्षर कहते हैं।

अक्षर का अर्थ ओंकार भी होता है। **सुप्रतिष्ठाक्षर** को एक पद मानने पर वेद त्रय ओंकार में प्रतिष्ठित है और वह ओंकार ब्रह्म में वैसे ही प्रतिष्ठित है जैसे बाकी त्रिपुटियां प्रतिष्ठित हैं। इसके अलग ग्रहण करने का तात्पर्य है कि 'यह ब्रह्म का प्रियतम नाम है' 'ओं यही ब्रह्म है' 'प्रणव ही ईश्वर है' 'ओंकार ही पर और अपर दोनों ब्रह्म हैं' इत्यादि श्रुति वाक्यों से वैय्याकरणों को तरह ओंकार में ब्रह्म-भ्रान्ति अथवा ओंकार ब्रह्म का वाचक है ऐसी भ्रान्ति न हो जाय।

११. अन्नमय से आनन्दमय पर्यन्त व्यष्टि देह में और विराट् से अव्यक्त पर्यन्त समष्टि देह में पूर्व पूर्व उपाधि को विलय करके अन्त में भूख इत्यादि से अछूत एवं वाणी से अगोचर ब्रह्म में अपने आप को समाहित करना ही यह मुस्तैदी है। ब्रह्म के साथ एक चित्त हुए हुए 'हम ही ब्रह्म हैं' ऐसा निरन्तर ज्ञान ब्रह्म में एकाग्रता के द्वारा प्राप्त होता है।

१२. यहां ब्रह्म के विषय में वेदार्थ ज्ञान को जानने वालों से तात्पर्य है।

१३. ब्रह्मा से चींटी पर्यन्त स्थित संसार-चक्र में सत् चित् सुख अपरोक्ष स्वभाव वाले आत्मा को प्रपञ्च से आधार और आधेय रूप से भिन्न जानना ही यहां इष्ट है। वस्तुतः चिद्घन की जीव-जगत्रूप से एक होकर प्रतीति होती है। जब विचार पूर्वक मूंज से इषीका की तरह इसको अलग करके प्रपञ्च की असत्यता को जान लिया जाता है तो मोक्ष सिद्धि हो जाती है।

अथवा यहां '**अत्र आन्तर**' ऐसा छेद कर लेना चाहिये। तब तात्पर्य होगा कि आधार और आधेय रूप कार्य और कारण दोनों का यही वास्तविक आन्तर अर्थात् सच्चा रूप है। कार्य और कारण

दोनों में सत्ता रूप से यही अन्दर में बना रहता है।

१४. विश्वादि के उपसंहार के द्वारा अहं ब्रह्म इस प्रकार के साक्षात्कार को ही यहां जानना कहा गया है। वेद के शक्तार्थ अर्थात् बाहरी अर्थ को पहले जान कर फिर उसका लक्ष्यार्थ या तात्पर्य समझा जाता है। तभी देह इन्द्रियादि में आत्माभिमान छोड़ कर सत् चित सुख का नित्य अपरोक्षानुभव होता है।

१५. यद्यपि अविद्या काल में भी जीव ब्रह्म रूप ही है, तथापि आवरण और विक्षेप से अपने को भिन्न समझता है। आवरण तीन प्रकार का है। ब्रह्म नहीं है, ब्रह्म को मैं नहीं जानता हूँ, ब्रह्म आनन्द रूप नहीं है। वेद पढ़ने से 'ब्रह्म नहीं है' यह आवरण दूर हो जाता है। न्याय शास्त्र भी ईश्वर की सिद्धि से इस आवरण को बहुत कुछ दूर करता है। परन्तु तर्क अप्रतिष्ठित होने से निश्चय कराने में असमर्थ है। वेदान्त पढ़ने से 'मैं ब्रह्म हूँ' इस ज्ञान के द्वारा 'मैं ब्रह्म को नहीं जानता' यह आवरण भी दूर हो जाता है। ब्रह्म में वृत्तिके सर्वथा लीन होने पर 'मैं ब्रह्म आनन्द रूप नहीं हूँ' यह तीसरा आवरण नष्ट होता है। इसी को यहां लय होना कहा गया है। ये तीनों आवरण शास्त्रों में असत्त्वापादक आवरण, अभानापादक आवरण, एवं अनानन्दापादक आवरण कहे जाते हैं।

१६. योनि अर्थात् चौरासी लाख योनियां। इनसे मुक्ति अर्थात् देव-दानवादि किसी भी जगह न जाकर गर्भ जन्म जरा मरण संसार भय से रहित हो जाना। वस्तुतस्तु आवरण की निवृत्ति होने पर भी संस्कार-वशात् प्रारब्धानुरोध से जो जगत्की प्रतीति होती है उसके प्रति अविद्या लेश को कारण माना जाता है। यही आवरण नाश पर भी विक्षेप शक्ति का बच जाना है (देखिये नोट संख्या १५ ऊपर), जो जीवन्मुक्ति की और ईश्वर की सिद्धि करती है। ब्रह्मवेत्ता के द्वारा दृष्ट जो आत्म-शक्ति वही अविद्यालेश योनि कही गई है। जब इस अविद्यालेश से भी मुक्त हो जाता है तब योनिमुक्त कहा जाता है। एवं ऐसे ब्रह्म-

निष्ठ को ब्रह्मविद् वरिष्ठ कहा जाता है। उसे ब्रह्म के सिवाय, व्यवधान करने वाली माया के सर्वथा निवृत्त हो जाने के कारण और कोई अनुभूति नहीं रह जाती। तंत्रों में निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति, और शान्त्यतीता अवस्थाओं से परे उसे बतलाया है। उद्गीत से ब्रह्मातिरिक्त अन्य पदार्थों से निवृत्ति की अवस्था, सुप्रतिष्ठा से प्रतिष्ठा की अवस्था, तत्पराः से विद्या की अवस्था, विदित्वा से शान्ति की अवस्था, लीनाः से शान्त्यतीतावस्था, एवं योनिमुक्ताः से स्वरूप स्थिति का प्रतिपादन है। अथवा वासिष्ठ सिद्धान्त से उद्गीत में शुभेच्छा या श्रवणावस्था बताई, अयं से मननावस्था और तत्परा से निदिध्यासनावस्था बताकर तीन साधक-भूमिकाओं का निरूपण किया। पुनः ब्रह्मविदः से चतुर्थ ज्ञानी की भूमिका को बताया। विदित्वा, लीनाः और योनिमुक्ताः से उत्तरोत्तर ज्ञान की दृढ़ताओं वाली पञ्चम, षष्ठ, सप्तम भूमिकाओं को बता दिया।

८

अद्वितीय परमात्मा में जीव और ईश्वर का कोई विभाग न होने पर भी व्यवहार दशा में जीव और ईश्वर का भेद समझना आवश्यक है। अतः इन दोनों के औपाधिक रूपों का वर्णन करते हैं। किञ्च अखण्ड परमात्मा को स्वीकार करने पर जब जीव और ईश्वर में कोई भेद रह ही नहीं गया तो जैसा जीव वैसा ही ईश्वर, तो जीव का ब्रह्म में पूर्वोक्त श्लोक में जो लीन होना लिखा है, वह असंगत हो जायेगा। अतः अवस्थात्रय रूप से व्यष्टि और समष्टि सभी आत्मा में अध्यस्त हैं। इस प्रकार मोक्ष के स्वरूप का वर्णन कर के, जीव रूपी कार्य एवं ईश्वर रूपी कारण का कारण कार्य रूप से भेद, और तन्नि-मित्तक जीव का संसारीपना और ईश्वर का असंसारीपना प्रतिपादन करते हुए, ईश्वर के आत्मरूप से अनुभूत होने पर ही मोक्ष होता है, इसका प्रतिपादन करते हैं।

संयुक्तम् एतत् क्षरम् अक्षरम् च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वम् ईशः । अनीशः च आत्मा बुध्यते भोक्तृभावात् ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥

ईशः = ईश्वर[१]
एतत = इस
क्षरम् = विनाशी[२],
अक्षरम् = अविनाशी[३],
च = और
व्यक्ताव्यक्तम् = कार्य[४] और कारण[५] रूप
विश्वं = सारे विश्व को
संयुक्तम् = इकट्ठे ही[६]
भरते[७] = भरण[८] करता है;
च = और
अनीशः = ईश्वर-विमुख[९]
आत्मा = जीव[१०]
भोक्तृभावात् = (अपने को) भोक्ता मानकर
बुध्यते[११] = जानता है ।
देवं = (फिर) ईश्वर को
ज्ञात्वा = जानकर[१२]
सर्वपाशैः = सभी फांसियों से[१३]
मुच्यते = छूट जाता है ।

१. वेदान्त शास्त्रों में ईश्वर और ब्रह्म वस्तुतः अविद्या और विद्या की दृष्टि से एक तत्त्व का ही नाम है । साधक की दृष्टि से कर्मफल दाता या प्रेम की दृष्टि से देखे जाने पर वह ईश्वर कहा जाता है और विचार की दृष्टि से देखे जाने पर ब्रह्म कहा जाता है । अज्ञाननाश के पूर्व तक ब्रह्म ईश्वर रूप से ही अनुभव में आता है और अज्ञान नष्ट होने पर ईश्वर ही ब्रह्म रूप से प्रतीत होता है । जिस प्रकार सूर्य का प्रतिबिम्ब घड़े के पानी में पड़ता है । अतः प्रतिबिम्ब की दृष्टि से सूर्य को बिम्ब कहा जाता है । अर्थात् जब तक प्रतिबिम्ब है सूर्य बिम्बत्व-विशिष्ट ही रहेगा । बिम्ब रूपी सूर्य अपनी गतिसे प्रतिबिम्ब का नियामक है अतः उसका ईश्वर है । जल के सूख जाने पर प्रतिबिम्ब बिम्ब में लीन हो जाता है और प्रतिबिम्ब रूप से नष्ट हो जाता है । अब प्रतिबिम्ब के अभाव में सूर्य का बिम्ब विशेषण भी नष्ट हो जाता है और वह प्रतिबिम्ब का नियामक भी नहीं रहता । सूर्य

की जगह ब्रह्म है, और ईश्वर की जगह बिम्ब-विशेषण युक्त सूर्य और प्रतिबिम्ब की जगह जीव । यद्यपि प्रतिबिम्ब-काल में और प्रतिबिम्ब के समाप्त होने पर सूर्य में वस्तुतः कोई भेद नहीं आता, तथापि प्रतिबिम्ब से निरूपित या प्रतिबिम्ब के प्रतियोगी रूप से उसमें बिम्ब धर्म की कल्पना हो जाती है । इस कल्पना का कराने वाला प्रतिबिम्ब स्वयं कल्पित है यह स्मरण रखना चाहिये । इसी प्रकार यद्यपि जीव स्थिति काल में ब्रह्म में वास्तविक ईश्वरत्व नहीं आता पर जीव द्वारा उसमें कल्पित ईश्वरता तो आ ही जाती है । जीव स्वयं कल्पित है ही । जब तक जीव है तब तक ब्रह्म ईश्वर ही है । जीव भाव के नष्ट हो जाने पर ब्रह्म में ईश्वरत्व कल्पना नष्ट हो जाने पर केवल ब्रह्म ही रह जाता है ।

२. संसार में कार्य रूप से जो भी अनुभव में आता है वह शिवशक्ति-संयोग से क्षरित हुआ है अर्थात् भरा है, इसलिये उसे क्षर कहते हैं । चूंकि वह उत्पन्न हुआ है इसलिये उसका विनाश भी अवश्यंभावी है । जब तक जीवात्मा रूप से शिव चित् रूप से जिस विषय में क्षरण करता रहता है और सद् रूप ईश्वर जीव में उस नाम रूप का क्षरण करता रहता है तभी तक वह विषय रहता है । जीव रूप से केवल ज्ञान का क्षरण होता है और ईश्वर से सभी अनन्त नाम रूपों का । इस क्षरण काल मात्र में स्थिर रहने के कारण उसे क्षर कहा जाता है । इस प्रकार क्षर का भरण या धारण करने वाला ईश्वर बनता है । स्थूल देह को भी क्षर कहा गया है क्यों कि वह जल्दी-जल्दी बदलता रहता है । इस शरीर को ईश्वर जीवात्मा को कर्म और भोग करने के लिये देता है । इसकी विनाशिता तो स्पष्ट ही है ।

३. शिव की शक्ति जो अव्यक्त, अविद्या, माया आदि नामों से कही जाती है वही यहाँ अक्षर शब्द से कही गई है । उसका कभी भी क्षरण नहीं होता, महाप्रलय में भी वह स्थिर रहती है । वस्तुतस्तु वह ब्रह्म का स्वभाव होने से नित्य ही है । इसीलिये ईश्वर को

माया बन्धन नहीं कराती। अथवा अक्षर से सूक्ष्म शरीर भी लिया जा सकता है। क्योंकि महाप्रलय पर्यन्त अनेक योनियों में भ्रमण करने पर भी वह अविनाशी हो बना रहता है।

४. यद्यपि क्षर और व्यक्त प्रायः एक ही अर्थ वाले हैं परन्तु प्रथम दल स्वरूप बताने के लिये है एवं द्वितीय दल प्रतीति बताने के लिये। जो भी अनुभव में आता है वह किसी न किसी का विकार ही होता है, एवं किसी न किसी अवयव से ही संघटित होता है। अतः अभिव्यक्त नाम रूप की अवस्था को प्राप्त हुआ गेहूँ, दूध, गुलाब, पत्नी, आदि पदार्थ ही यहां इष्ट हैं। बुद्धि के द्वारा ग्राह्य स्त्रीत्व, भोग्यत्व आदि जातियों को अथवा सोना, लोहा आदि द्रव्यों को या लाल, पीला आदि गुणों को यहां नहीं लेना है। जैसा जो पदार्थ ग्रहण होता है वैसा ही उसे समझना चाहिये। अथवा व्यक्त से स्थूल अर्थात् पञ्चीकृत महाभूत समझने चाहिये।

५. जो बुद्धिग्राह्य हैं अतः अनभिव्यक्त नाम रूप बीजावस्था। जैसे सोना, जो बुद्धि ग्राह्य है एवं, सोने के सभी कार्यों में अभिव्यक्त होने पर भी उन सब की बीजावस्था वाला ही है। इसी प्रकार लाल, स्त्रीत्व आदि भी बुद्धिग्राह्य होने से यहां इष्ट हैं। स्वयं अविद्या भी स्वरूप से अव्यक्त ही है। अथवा अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों का यहां इन्द्रियातीत होने से ग्रहण है। इसी प्रकार पुण्य-पाप, परमाणु आदि का भी ग्रहण यहां इष्ट है। वस्तुतस्तु द्वितीय मंत्र में कहे हुए सभी पदार्थ यहां संग्रहीत हैं।

६. ईश्वर इन सब विरोधी तत्त्वों को एक साथ ही अपने में धारण करता है, एवं उनको पुष्ट भी करता है। वस्तुतः इन विरुद्ध धर्मों के एकसाथ रहने से ही उनकी असत्यता सिद्ध हो जाती है। रस्सी में सर्प, जलधारा, दण्ड आदि विरोधी पदार्थ इसी लिये रह पाते हैं कि वे मिथ्या हैं। ईश्वर के अंश-भेदों में ब्रह्माण्ड भेदों की कल्पना तो ईश्वर को अंशी अर्थात् अवयवी सिद्ध करके नष्ट होने

वाला सिद्ध कर देगी। अतः प्रत्यक्ष दृष्ट विनाशी पदार्थों को सत्य सिद्ध करने के लिये वेद सिद्ध अविनाशी ईश्वर को विनाशी बनाना सर्वथा असंगत है।

७. हरत इति पाठ उपसंहरति इति व्याख्येयम्, इति दीपिका। भवते प्राप्नोति भू प्राप्तावात्मनेपदी वेति।

८. परमेश्वर जीवों के कर्म का फल देने के लिये सच्चिदानन्दैकरस होने पर भी अज्ञान के द्वारा जीवों के सामने गेहूँ, चावलादि अत्यन्त परिच्छिन्न रूपों में दिखता है। इसी प्रकार प्राणिमात्र का भोजनादि व्यवहार चलाने वाला वही है। एक गेहूँ के बीज से हज़ार बीजों की उत्पत्ति इत्यादि नियम भी इसी बात का समर्थन करते हैं। जीव में आनन्द एवं पदार्थों में सत्ता भी वही बनता है।

९. जब तक जीव परमेश्वर का हृदय में अधिवास नहीं करता तब तक ईश्वर विमुख हुआ हुआ स्वयं भी सामर्थ्य रहित बना रहता है। यही इसकी परतंत्रता है और ईश्वर से भेद है। इस काल में इसमें सोलह वृत्तियां रहती हैं जो इसके बन्धन का कारण हैं।

रागद्वेषौ कामक्रोधौ लोभो मोहो मदस्तथा।
मात्सर्यमीर्ष्यासूया च दम्भो दर्पस्त्वहङ्कृतिः॥
इच्छा भक्तिश्च श्रद्धा च वृत्तयः षोडश स्मृताः।

स्त्री-विषयक चित्तवृत्ति राग है। नुकसान करने वाले का नुकसान करने की इच्छा द्वेष है। मकान, खेत, सोना, चांदी, रुपया आदि प्राप्त करने की इच्छा काम है। इस प्राप्ति में विघ्न करने वाले के प्रति क्रोध होता है। अपने द्वारा कमाये हुए में से सत्पात्र को न दूं, यह बुद्धि लोभ है। ऐश्वर्य के घमण्ड से पाप-पुण्य का बिना विचार किये फूले हुए रहना मोह है। खुद के पास धन है अतः क्या नहीं किया जा सकता यह भावना मद है। अपने समान सम्पत्ति वाले मनुष्य को सहन न कर सकना मात्सर्य कहा जाता है। यह दुःख उसे न आकर मुझे क्यों आया ऐसा विचार ईर्ष्या है। यह सुख मुझे है उसको भी

क्यों हो गया यह भावना असूया है। इस धर्म से मेरी प्रख्याति हो जाय ऐसी मन की वृत्ति दम्भ है। मेरे समान कोई भी नहीं है यह निश्चय दर्प है। अपनी कही, सोची, देखी, की, पढ़ी, आदि सब बातों में ठीक ही है, ऐसा आग्रह अहंकार है। जिसके विना कार्य-करण संघात न रह सके ऐसा अवर्जनीय खाना, हगना आदि कर्म करने की वृत्ति इच्छा है। गुरु, महात्मा, सज्जन पुरुष, ईश्वर आदि में अत्यन्त प्रेम भक्ति है। वेद वाक्यों में एवं ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु के उपदेश में अत्यन्त विश्वास श्रद्धा है। इन सोलह के कारण ही मनुष्य अनीश बना रहता है।

वस्तुतः चित्तवृत्ति के विचार का प्रयोजन सब जीवों के बन्ध-मोक्ष का चित्तवृत्ति के अधीन होने से ही है। चित्त के सिवाय और कोई भी न बन्धन का कारण है न मोक्ष का। स्वभाव से निर्मल मन का अशुद्ध भाव से युक्त होना बन्ध है, एवं शुद्ध रूप से अवस्थिति मोक्ष के प्रति हेतु है। स्वरूपानन्द में तो चित्तवृत्ति का सर्वथा अभाव है। प्रथम तेरह वृत्तियां अशुद्ध और हेय हैं अतः बन्धन का कारण हैं। ये विना प्रयत्न के भी बार बार आकर मनुष्य को पाप में प्रवृत्त कराती हैं। एवं इन्हें दूर हटाना भी अत्यन्त कठिन है। इनके पीछे चलने वाले की तो अधोगति निश्चित है। चौदहवीं इच्छा के द्वारा भूख प्यास की निवृत्ति, मूत्रादि का त्याग, सर्दी गर्मी का बचाव, आदि वे कर्म होते हैं जो शरीर-धारण के लिये आवश्यक हैं। इन्हें न करने से केवल दुःख ही प्राप्त होता है और करने से केवल सुख ही प्राप्त होता है। इनका आत्यन्तिक त्याग असम्भव है। केवल भोग रूप होने से ये कर्म न स्वर्ग देते हैं न नरक। परन्तु इन कर्मों से धृत देह को यदि उपर्युक्त तेरह अशुद्ध वृत्तियों के अधीन चलाया जाता है तो ये दुर्गति के सहकारी कारण बन जाते हैं। एवं अन्तिम दो जो शुद्ध हैं, अर्थात् भक्ति श्रद्धा के अधीन बनाया जाता है तो सद्-गति या मोक्ष के हेतु बन जाते हैं। जाग्रत्-स्वप्न में रागादि हैं तो

कर्म भी हैं। सुषुप्ति, मूर्छा, समाधि, निरायासता (Relaxing) आदि अवस्थाओं में रागादि नहीं होने से कर्म भी नहीं हैं। इस अन्वय व्यतिरेक के द्वारा रागादि की कर्म हेतुता सिद्ध है।

यह रागादि अभिमान से आते हैं। जबतक किसी स्त्री को मैं स्त्री हूँ, ऐसा अभिमान नहीं होगा तब तक स्त्री-निमित्तक रागादि नहीं आयेंगे। एवं पति सेवा, गृह रक्षा, पकाना आदि कर्म में प्रवृत्ति भी नहीं होगी। इसी प्रकार 'मैं पुरुष हूँ' इस अभिमान के बाद ही राग आकर विवाह, कमाना आदि कर्मों में प्रवृत्ति आती है। इदानीं काल में अमेरिका इत्यादि देशों में स्त्रियों में हम भी पुरुष के समान हैं की भावना से शनैः शनैः कमाना आदि पुरुष धर्मों की प्रवृत्ति आती जा रही है। इसी प्रकार भारत में पुरुषों में 'स्त्रियाँ और हम एक समान हैं' इस भावना से पकाना, स्त्री की तीमारदारी करना, तथा वस्त्र आदि में एवं प्रायशः नजाकत आदि में स्त्रियों की तरह प्रवृत्ति होती जा रही है। इसी प्रकार सभी प्राणियों का अपनी अपनी जाति में, एवं मानवों का वर्णाश्रमादि में, अभिमान ही उनमें राग उत्पन्न करके प्रवृत्ति कराता है। अतः अभिमान ही रागादि का कारण है।

मोक्ष की इच्छा वाला जाति, वर्ण, आश्रम, उमर, अवस्था, सम्पत्ति, कुल आदि के अभिमानों का परित्याग करे। इनके छोड़ने पर बन्धन नष्ट हो जाता है और पुनः ईश भाव की प्राप्ति हो जाती है। प्रश्न हो सकता है कि यह अभिमान कैसे आता है? अभिमान अवि-वेक से आता है। सभी जीवों का शरीर से भेद होने पर भी अविवेक के कारण ही शरीर में मैं ब्राह्मण, संन्यासी, पुरुष हूँ आदि अभिमान हो जाता है। ये सारे धर्म शरीर में ही रहते हैं। यदि शरीर से भिन्न जीव में रहते तो जन्मान्तर में ब्राह्मण शरीर में जाने पर भी क्षत्रिय जीव अपने को क्षत्रिय ही समझता। कोई कह सकता है कि जनेऊ से ब्राह्मणत्व का एवं गेरू कपड़े से संन्यासित्व का अभिमान आता है। परन्तु बनिये के भी जनेऊ और उदासियों के भी गैरिक वस्त्र देखा

जाता है। लेकिन उन में ब्राह्मणत्व और संन्यासित्व का अभिमान नहीं है। सभी के अवयव एक रूप होने से स्त्री पुरुष की तरह अवयव-विशेष के अवलम्बन से भी ब्राह्मणत्व संन्यासित्व आदि की सिद्धि नहीं हो सकती। यदि कहा जाय कि विशिष्ट माता-पिता से जन्य अवयव संस्थान को लेकर इस अभिमान को माना जाय तो उनसे बाल, नख, दांत, पेशाब, टट्टी आदि अवयवों में भी ब्राह्मणत्व का व्यवहार करना पड़ेगा। अतः अविवेक से अतिरिक्त ब्राह्मणादि अभिमान के प्रति और कुछ कारण नहीं है। जिस प्रकार लोक में अनेक वस्तु समूह को मेला, सभा, सेना, इत्यादि रूप से अविवेक मात्र से व्यवहृत किया जाता है। उसी प्रकार अनिर्वचनीय मायामय देहेन्द्रियादि संघात का लोक व्यवहार मात्र से पुरुष, ब्राह्मण, नंपुसक, पौराणिक, शास्त्रीय, वैष्णव, सेवक, प्राधानिक, राजा, मन्त्री, संन्यासी, गुरु, शिष्य इत्यादि व्यवहार है। इस प्रकार का विचार न करके जिस आत्मा का किसी भी काल में नाम-रूप-व्यवहार नहीं है, उसे इन व्यवहारों वाला मान लेना ही अविवेक है।

इस अविवेक का कारण अज्ञान है। मुझे अपना पता नहीं, इस प्रकार की प्रतीति सभी को होती है। क्यों कि शरीर-व्यतिरिक्त आत्मा को कोई नहीं जानता। यद्यपि पौराणिक, स्मार्त, वैष्णव आदि शरीर को अनात्मा समझकर इससे भिन्न आत्मा को मानते हैं परन्तु वे भी सूक्ष्म देह से इसे भिन्न न मानने के कारण कर्ता, भोक्ता, परिच्छिन्न, एवं देहान्तर में जाने वाला मानते हैं। यह अज्ञान अनिर्वचनीय है एवं अज्ञान होने के कारण ज्ञान से नष्ट हो जाता है।

१०. मैं इस अनुभव में जिसे जाना जाता है।

११. **बध्यते इत्यपि पाठः**। तस्मिन् पक्षे मिथ्याभूतबुद्ध्यात्मकभोक्तात्मैक्यानुभवेन बन्धनम् अनुभवतीत्यर्थः। भोक्तृभावोऽत्र कर्तृभावस्योपलक्षणार्थम्। कर्ताभोक्ताहमस्मीति प्रतीत्या आत्मानीश एवेत्यर्थः।

शंकरानन्द-नारायण-विज्ञानभगवदादि प्राचीनाचार्यैरुपेक्षितत्वात् नादरणीयोऽयं पाठः।

१२. स्वयं प्रकाश ईश्वर को लक्षणा से अपरोक्ष त्वं पदार्थ से अभिन्न जानना ही जानना है। तात्पर्य है कि अनीश जीव ही भोक्ता भाव से जब तक अनुभव करता है तब तक परमात्मा को नहीं जानता। और जब भोक्ताभाव को छोड़ देता है तब जानता है। विज्ञान-क्रिया-शक्ति वाला, अहंकार, भोक्ता, बुद्धि, इच्छा, प्रयत्न, सुख दुःखादि का कर्ता बनता है। एवं अहंकार से तादात्म्याध्यास करके भोक्ता-भाव के कारण ही उसके धर्म कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुख दुःखादियों को अपना धर्म स्वीकार कर लेता है। एवं सुखी दुःखी, कर्ता-भोक्ता मैं हूं, इस प्रकार से जानता है। फिर अनेक जन्मों में अनुष्ठित नित्य नैमित्तिक कर्मों के पुण्य समूहों का उदय होने पर पाप नष्ट हो जाने से अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। शुद्धान्तःकरण वाला ईश्वरोपासना की दृष्टि से सब कर्मानुष्ठान की इच्छा करता है। ईश्वराराधन की बुद्धि से अनुष्ठित कर्मों से उत्पन्न पुण्य समूह उसमें ईश्वर ध्यान की इच्छा को उत्पन्न करते हैं। इस ध्यान योग के महान् फल स्वरूप सर्व कर्म संन्यास लेकर श्रौत परमहंस धर्म के अनुष्ठान को इच्छा उत्पन्न होती है। इस परमहंस सन्यास के पुण्य से शमदमादि पालन करने की इच्छा उत्पन्न होती है। शमदमादि के अनुष्ठान से उत्पन्न पुण्य समूहों से श्रवण की इच्छा उत्पन्न होती है। इस प्रकार अनेक जन्मों में अनुष्ठित अनेक प्रकार की पुण्य-परम्परा से निर्मल अधिकारी को तत्त्वदर्शी परम कारुणिक गुरु की प्राप्ति होती है। उसकी सेवा करके उसके अनुग्रह से तत्त्वमस्यादि महावाक्यों का श्रवण करने पर अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न होकर समूल अज्ञान नष्ट हो जाता है।

१३. अविद्या-काम-कर्म ही वे फांसियां हैं जो बन्धन का हेतु हैं। **पाश्यत इति पाशः** फांसने वाली को फांसी कहते हैं। अतः कार्य-कारण

उनके धर्म रूपी सारा संसार ही फांसी है। इस फांसी के चिन्मात्र में अध्यस्त होने से चिन्मात्र ज्ञान से आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। एवं फांसी भी चिन्मात्र में ही लीन हो जाती है।

९.

ज्ञाज्ञौ द्वौ अजौ ईशनीशौ अजा हि एका भोक्तृभोगार्थयुक्ता। अनन्तः च आत्मा विश्वरूपः हि अकर्ता त्रयम् यदा विन्दते ब्रह्मम् एतत् ॥

ईशनीशौ[1] = ईश्वर और अनीश्वर[2],	आत्मा = आत्मा
ज्ञाज्ञौ = ज्ञानी और अज्ञानी[3]	विश्वरूपः = सब रूपवाला[11],
द्वौ = दोनों[4]	अनन्तः = अनन्त[12] (और)
अजौ = जन्म रहित[5] हैं।	अकर्ता = अकर्ता (है)[13]
हि = प्रसिद्ध है कि[6]	हि = एवं
एका = एक[7]	यदा = जब
अजा = जन्म रहित	एतत्[14] = इन
भोक्तृभोगार्थयुक्ता[8] = भोक्ता और भोग सामग्री वाली है[9]।	त्रयं = तीनों को[15]
च = और[10]	ब्रह्म = ब्रह्मरूप[16]
	विन्दते = जान लेता है (तब मुक्त है)।

१. **ईशनीशावित्यत्र ह्रस्वत्वं छान्दसम्।**

२. बिम्बस्थानीय परमात्मा नियन्ता और स्वतंत्र होने से ईश्वर है और जीव प्रतिबिम्ब स्थानीय होने से नियम्य, परतंत्र, होकर अनीश्वर है।

३. ज्ञः अर्थात् अविद्यालेश से भी अछूत चैतन्य सर्वज्ञ ईश्वर, एवं अविद्या के आश्रय वाला किञ्चिज्ज्ञ कर्ता भोक्ता जीव अज्ञ है।

४. उपाधि से यहां दो पने की प्राप्ति है, स्वरूप से नहीं। तात्पर्य

है कि चेतन भी एक है और अज्ञान भी एक, फिर जीवों में भेद एवं जीवों का ईश्वर से भेद, जीव का कल्मष और ईश्वर का कल्मष-निर्मुक्तत्व, आदि विरुद्ध धर्म व्यवहार कैसे बनेगा, इसको बताने के लिये उपाधि रूप अज्ञान से कल्पित भ्रान्ति के भेद से सारे भेदों की व्यवस्था को बनाना है। जिस प्रकार बिम्ब-प्रतिबिम्बादि सब व्यवहारों से रहित सूर्य में दर्पण से सम्बन्ध न होने पर भी कल्पित सम्बन्धकृत भेद से बिम्ब-प्रतिबिम्ब आदि व्यवहार तथा हिलना-डुलना, परिच्छिन्नतादि धर्मों से रहित प्रतिबिम्ब में इन धर्मों की काल्पनिक प्राप्ति आदि विरुद्ध व्यवहार देखने में आते हैं, उसी प्रकार यहां भी समझना चाहिये।

५. औपाधिक भेद भी अनादि सिद्ध ही है। अर्थात् बिना किसी कारण के ही है। वस्तुतस्तु सामान्यतः कार्य-कारण भाव से आविष्ट अन्तःकरणों के लिये ऐसा कहा जाता है। पारमार्थिक दृष्टि से तो

अजः कल्पितसंवृत्या परमार्थेन नाप्यजः।
परतन्त्राभिनिष्पत्त्या संवृत्त्या जायते तु सः॥

चूंकि प्रत्येक कार्य के प्रति कारण की कल्पना होती है अतः जगत् का कारण ईश्वर को माना गया एवं सृष्टि वैचित्र्य का कारण जीव को माना गया। अविद्या रूपी कल्पित उपाधि से इन दोनों की वैसे ही प्रतीति हो गई जैसे नशे रूपी उपाधि से मैं ब्राह्मण नहीं चाण्डाल हूँ, इस प्रकार ब्राह्मण और चाण्डाल दोनों की प्रतीति हो जाती है। अतः यहां जीव, ईश्वर, अविद्या तीनों को रूपकालंकार से अज कह दिया गया क्योंकि तीनों परस्पर सापेक्ष्य हैं। वास्तविक अज तो आत्मा ही है। वेदान्तनिष्णात तो ऐसा मानते हैं कि आत्मा की अजता भी केवल कल्पित व्यवहार की संगति बैठाने के लिये है। स्वकीय दृष्टि में तो वह भी अज नहीं है। चूंकि दूसरे परिणामवादी शास्त्र आत्मा से जगत् की उत्पत्ति और व्यावहारिक जीव का जन्म भी स्वीकार करते हैं, उसके निषेध के लिये आत्मा को

अज कहा, ठीक इसी प्रकार से जीव, अविद्या और ईश्वर में वास्तविक अजता न होने पर भी कई स्वयूथी अविद्या से ईश्वर और जीव की प्रतीति मान कर जीव और ईश्वर को उत्पन्न होने वाला मान लेते हैं उनका मूलोच्छेद करने के लिये यहां अज शब्द का प्रयोग है।

६. सभी आस्तिक दर्शन अविद्या को ही मूल कारण मानते हैं। अविद्या स्वयं अविद्या होने से हो किसी अन्य कारण की अपेक्षा अपनी सिद्धि में नहीं करती। अत्यन्त मूढ़ व्यक्ति भी किसी दूसरे व्यक्ति के 'मैं नहीं जानता' ऐसा मानने पर 'क्यों नहीं जानते' ऐसा प्रश्न नहीं करता है। **न चोदनीयं मायायां तस्यश्चोद्यैकरूपता।** माया के विषय में कोई भी प्रश्न नहीं किया जा सकता क्यों कि वह स्वयं ही प्रश्न रूप है। अतः सर्ववादि सम्मत होने से ही यह प्रसिद्ध है।

७. वेदान्त सिद्धान्त में तम, स्वधा, माया, आदि शब्दों से जिसे वेद में कहा है, उसी का अविद्या, अव्यक्त आदि शब्दों से प्रतिपादित किया है। यद्यपि सामान्य बुद्धि के लोगों को वेदान्त शास्त्र में प्रवेश कराने के लिये कहीं कहीं ईश्वर को उपाधि माया और जीव को उपाधि अविद्या, ऐसा कह दिया गया है, परन्तु यह भेद मूल भूत सूत्र, भाष्य, वार्तिक, पञ्चपादी आदि कहीं पर भी स्वीकार नहीं किया गया है। यहाँ भगवती श्रुति स्वयं अपने मुख से ही उसे एक बता रही है। आचार्य विद्यारण्य स्वामी ने यद्यपि कहीं कहीं माया और अविद्या को दो बताया है। पर उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि शुद्ध सत्त्व प्रधानांश अज्ञान ही माया शब्द से कहा गया है एवं रज और तम अंश प्रधान से अविद्या कही गई है। सांख्य के प्रकृतिवाद की वेदान्त से सगति बैठा कर निकृष्ट अधिकारी के लिये ऐसी कल्पना अपेक्षित होने पर भी इसकी वास्तविकता उन्हें स्वीकृत नहीं है। **सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाऽविद्ये च ते मते** की तरह ही **मायया कल्पितावेतौ** के द्वारा माया की एकता का भी प्रतिपादन किया है। अन्त में तो

मायाख्यायाः कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ कह कर एक माया निमित्तक ही जीव और ईश्वर दोनों को बतलाया है।

आजकल कुछ दर्शन एवं सम्प्रदाय से अनभिज्ञ लोगों ने माया और अविद्या दोनों को अलग अलग रूप से जीव का बन्धन करने वाली माना है। इसलिये वे मानते हैं कि माया के बन्धन की निवृत्ति भक्ति से होगी तथा अविद्या की ज्ञान से। इस प्रकार वे ज्ञान और भक्ति के समुच्चय का प्रतिपादन करते हैं और भक्ति का अर्थ 'मैं शिव ही सर्व रूप हूँ' ऐसी अनन्य भक्ति न मान करके अन्य भक्ति को मानते हैं। श्रुति रूप चक्षु से हीन होने के कारण वे यह नहीं समझ पाते कि द्वैत और अद्वैत का एक ही अन्तःकरण में रहना असम्भव है। और अन्य दृष्टि से देवतोपासन का फल मृत्यु की प्राप्ति बताया गया है। स्वकपोल कल्पना से वे किले में जेल में बन्द व्यक्ति का दृष्टान्त देकर कहते हैं कि जैसे किले का दरवाजा खुलने पर भी कैदी बाहर नहीं निकल सकता, एवं जेल का दरवाजा खुलने पर भी किले से बाहर नहीं निकल सकता। वैसे ही केवल ज्ञान से और केवल भक्ति से मुक्ति नहीं मिलती। जेल के दरवाजे को वे अविद्या मानते हैं और किले के दरवाजे को माया। इस कल्पना में न केवल श्रुति का विरोध है वरन् ईश्वर को नित्य बद्ध बनाकर जीव से भी निकृष्ट कर दिया गया है। चूंकि माया रूपी उपाधि ईश्वर की नित्य रहेगी अतः उसमें जितनी भी उत्कृष्टता कही जाय मोक्ष की संभावना कभी नहीं बनेगी। यदि इस माया को कल्पित भी मान लिया जाय तो, इसका कल्पक जीव है या ईश्वर। ईश्वर को मानने पर वह अविद्या-तिमिराच्छन्न हो जायेगा और जीव को मानने पर जीव में दो अविद्याओं को मानने का व्यर्थ गौरव स्वीकार करना पड़ेगा। किञ्च दोनों ही अविद्या होने से ज्ञान से ही निवृत्ति हो सकेगी और वेदान्त दुर्ग में चोर दरवाजे से भक्ति को घुसाने का उनका प्रयास भी व्यर्थ

३. मनन करना मन का काम है । अर्थात् तर्क मीमांसादि के द्वारा अपने मन को शुद्ध करना चाहिये । तभी मन मनन के योग्य बनता है । जो मनन करने में असमर्थ है वह वेदान्त का तात्पर्य ग्रहण नहीं कर सकता । एवं कराया हुआ श्रवण भी व्यर्थ हो जाता है । मनन सहकृत श्रवण ही अप्रतिबद्ध आत्म-ज्ञान का कारण सर्वज्ञ शंकर एवं सुरेश्वर ने स्वीकार किया है ।

अथवा **मनसो मनः** के द्वारा कहा हुआ मन का भी मन अर्थात् मनः साक्षी यहां ग्राह्य हैं। इस मनःसाक्षी को न समझने से नपुंसक का बांझ से विवाह होकर पुत्र प्राप्ति की तरह सम्बन्ध हो जाता है। वस्तुतः यही आत्मा की कार्य-करण संघात की प्रवृत्ति कराने का मूल केन्द्र है जो ज्ञान, क्रिया, इच्छा सभी को स्फुट करता है । इसी को अन्तःकरण भी कहते हैं।

अत्यन्त मस्त हाथी की तरह इन्द्रिय और प्राणों का नियन्त्रण मन के अंकुश के बिना व्यर्थ हो जाता है । यद्यपि योग-शास्त्रों में प्रत्याहार के द्वारा इन्द्रिय एवं प्राणायाम के द्वारा प्राण निरोध का प्रतिपादन है परन्तु वे जड़ समाधि के साधन होने पर भी ज्ञान-मार्ग में नितान्त व्यर्थ हैं। वस्तुतः सारे अनर्थों का मूल मन ही है अतः मन के नियन्त्रण का अर्थात् परमात्म-ध्यान में लगाने का साधन यहां बतलाया। मुख्य रूप से मनन के द्वारा तत्त्वमस्यादि महावाक्यों का तात्पर्य निर्णय करके असंभावना दोष का निराकरण करना ही मन को परमात्मा के लिये जोतना है । गौण रूप से ओंकार या अहं के आलम्बन में मायाविशिष्ट चेतन का ध्यान भी मन को ईश्वर में लगाना है । अत्यन्त नौसिखिये के लिये तो उपनिषदों का श्रवण ही मन को ईश्वर में लगाना है ।

प्रजापति समष्टि रूप लिङ्गशरीर का निर्माण करता है अर्थात् समष्टि रूप लिङ्ग को व्यवहार के लिये जोतता है, यह भी तात्पर्य है।

यहां मन का अर्थ **समष्टि मन** या **आद्य मन** लेना चाहिये। अथवा महेश्वर प्रत्येक प्राणी को तत् तत् संस्कारों द्वारा मन में प्रेरणा देकर कर्म में प्रयुक्त करता हैं। अधिदैव सविता अपने मन की सिद्धि के लिये संकल्प-विकल्प का कर्ता बनकर समष्टि भाव से मनोरूप हिरण्यगर्भ जगत् कल्पक को उत्पन्न करता है । **मनो वै सविता** इत्यादि श्रुति इसमें प्रमाण हैं।

अथवा समाधि के अभ्यास को प्रारम्भ करने के पहले अर्थात् षट्चक्र भेदन के पूर्व हृदय-कमल में अध्यात्मादि भेद भिन्न प्रपञ्च-प्रसव गुण युक्त शक्ति सहित शिव का आधान पहले सिद्ध कर लेना चाहिये। **हृत्पुण्डरीकं विरजं** इत्यादि श्रुतियां इसमें प्रमाण हैं। ज्ञान में प्रवृत्त साधक का मन इससे इह लोक और परलोक के समग्र विषयों से हट जाता है एवं हृदय में आनन्द का अनुभव करने लगता है। इससे आगे की साधना सुकर हो जाती है।

४. निदिध्यासन के लिये बुद्धि को परमात्मा में लगा कर विपरीत भावना की निवृत्ति करना ही बुद्धि को तत्त्व में लगाना है। श्रद्धा, ऋत, सत्य, योग यही बुद्धि के साधन हैं। इनके द्वारा बुद्धि शुद्ध होने पर ही विज्ञान के योग्य बनती है। यही बुद्धि को तत्त्व में लगाना है। जो विज्ञान करने में असमर्थ है उसको मनन द्वारा निःसंशय ज्ञान होने पर भी विपरीत भावना रूपी प्रतिबन्धक से ब्रह्म-निष्ठा प्राप्त नहीं होती। निदिध्यासन-सहकृत श्रवण ही आत्म-ज्ञान को अप्रतिबद्ध करता है। यद्यपि भगवान् वार्तिक-कारों ने निदिध्यासन को विज्ञान से अभिन्न माना है तथापि उन्होंने भी प्रकरणान्तर में ध्यान को सहकारी कारण स्वीकृत कर लिया है। जो लोग श्रवण के बाद ज्ञानानन्तर ध्यान को आवश्यक मानना चाहते हैं उनका मुख-मर्दन करने के लिये ही भगवान् वार्तिककारों ने वार्तिकामृत में निदिध्यासन और विज्ञान को एकार्थक प्रतिपादित किया है। ज्ञान

यह अभिन्न निमित्तोपादान अर्थात् अधिष्ठान कारण है। सब का अधिष्ठान होने से ही सब रूपों वाला कहा जाता है।

१२. देश-काल या वस्तु से इसका अन्त अर्थात् परिच्छेद नहीं आता। अर्थात् इन परिच्छेदों से रहित है। यद्यपि माया की उपाधि से देश-काल-वस्तु माया के कारण इसमें कल्पित होती है पर यह अविकारी होने से अनन्त बना रहता है। जैसे घट उपाधि सम्पर्क से भेदादि विरुद्ध धर्मों की कल्पना आकाश में होने पर भी आकाश शुद्ध ही बना रहता है, इसी प्रकार संसार कलिल में पड़ा हुआ दीखने पर भी आत्मा असंग ही बना रहता है।

१३. कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि सभी संसार धर्मों से रहित समझना चाहिये। जिस प्रकार जगत् रूप से उसमें सान्तत्व की प्राप्ति का निषेध करने के लिये अनन्त पद का प्रयोग है वैसे ही जीव भाव से कर्ता-भोक्ता की प्राप्ति होने पर उसका निषेध करने के लिये अकर्ता पद है। किञ्च जिस शिव के ज्ञात-मात्र से अनादि काल से आया हुआ कर्तृत्व नष्ट हो जाता है वह स्वयं अकर्ता हो इसमें सन्देह ही क्या है॥ अथवा जैसे आकाश में सभी क्रियायें होने पर भी आकाश निष्क्रिय रहता है वैसा ही यहां समझ लेना चाहिये।

१४. **नारायणे तु ब्रह्म ह्येतत् इति पाठः। स तु छन्दोभंगभिया त्यक्तः।**

१५. दोनों अज और एक अजा यह तीन ही प्रकरण के अनुरोध से ग्राह्य हैं। भोक्ता-भोग-भोग्य रूप त्रिपुटियों का संग्रह यहां प्रकरण के विरोध से बनता नहीं और न जीव, ईश्वर और शुद्ध ब्रह्म की ही मानना संगत है। बिम्ब-स्थानीय परमेश्वर प्रतिबिम्ब-स्थानीय जीव और दर्पण-स्थानीय माया की एकता ही सम्यक् ज्ञानावस्था में प्रतीत होती है। इस ज्ञान के प्रति अनन्त, विश्वरूप और अकर्ता का ज्ञान कारण पड़ता है। तात्पर्य है कि चूंकि वह अनन्त-विश्वरूप और अकर्ता है अतएव जीव माया और ईश्वर एक है।

१६. ब्रह्म को प्रत्यगात्म रूप से एक करना ही यहां इष्ट है। एक प्रत्यगात्मा रूप ब्रह्म ही यथार्थ रूप से अज्ञात हुआ हुआ तीन रूपों से प्रतीत होता है, वस्तुतः तो एक ही बना रहता है। मायात्मक होने से अधिष्ठानभूत ब्रह्म से ये तीनों अलग नहीं वरन् ब्रह्म ही हैं जो सारे विकल्पों से रहित एवं कर्तृत्वादि सकल संसार धर्मों से रहित है। मोतियाबिन्द में चन्द्रमा के एक बने रहने पर भी जैसे दो या तीन चन्द्रमा दीखते हैं एवं मोतियाबिन्द के दूर हो जाने पर पुनः एक ही चन्द्रमा बना रहता है वैसा ही यहां समझना चाहिये।

ब्रह्मम् में अन्तिम मकार ब्रह्ममेतु मां, मधुमेतु मां, इत्यादि मंत्रों की तरह प्रातिशाख्य-सिद्ध समझना चाहिये।

१०

क्षरं प्रधानम् अमृताक्षरं हरः क्षरात्मानौ ईशते देवः एकः।
तस्य अभिध्यानात् योजनात् तत्त्वभावात् भूयः च अन्ते विश्वमायानिवृत्तिः।

प्रधानं = प्रकृति[1]
क्षर = विनाशी (और)
अमृताक्षरं = अविद्या विशिष्ट चिदाभास अविनाशी[2]
(अस्ति) = (है)।
एकः = एक[3]
हरः = हर[4]
देवः = महादेव[5]
क्षरात्मानौ[6] = प्रकृति और जीवात्मा दोनों को
ईशते = शासित[7] करते हैं।
तस्य = उनके

अभिध्यानात् = सर्वत्र ध्यान[8] करने से,
योजनात् = एक हो जाने से[9]
च = और
तत्त्वभावात् = तत् और त्वं की एकता में स्थिर हो जाने से[10]
भूयः = फिर द्वैत की निवृत्ति से[11]
अन्ते = प्रारब्ध के समाप्त हो जाने पर[12]
विश्वमायानिवृत्तिः = सभी प्रकार की माया निवृत्त[13] हो जाती है।

१. प्रकृति से यहां परिदृश्यमान जगत् लेना चाहिये जिसे गीता में क्षरः सर्वाणि भूतानि के द्वारा कहा है। संसार के सभी पदार्थ स्पष्ट ही नष्ट होते हुए देखे जाते हैं। सुषुप्ति, प्रलय में भी उनका अभाव सिद्ध है।

२. सभी पदार्थों के बदलने पर भी, यहां तक कि शरीर मनादि के बदलने पर भी जन्म से मृत्यु तक चिदाभास एक जैसा बना रहता है। जन्म-जन्मान्तरों में देश-कालादि सारे सम्बन्ध बदल जाने पर भी यह अविनाशी ही बना रहता है। यहां तक कि ज्ञान होने पर भी इसका केवल आभासत्व नष्ट हो जाता है, चित् तत्त्व तो फिर भी बना ही रहता है। अतः इसकी अविनाशिता सिद्ध ही है। वेदान्त सम्प्रदायाचार्यों ने इसीलिये महावाक्यों में मुख्य समानाधिकरण स्वीकार किया है। यहां अक्षर को उद्देश्य करके अमृत का विधान होने से उद्देश्य-विधेय भाव एकत्व समझना चाहिये। कूटस्थोऽक्षर उच्यते में श्रीकृष्ण ने भी चिदाभास को अक्षर ही कहा है।

३. सर्वव्यापी परमात्म तत्त्व ही यहां इष्ट है।

४. यह शिव का प्रसिद्ध नाम है। अविद्या आदि क्लेशों का हरण करने वाला होने से इसे हर कहा है। कर्म के परतन्त्र न होने से अन्य देवताओं की तरह यह कर्माधीन होकर पापों का नाश या इष्ट पदार्थों का दान न करके भक्तों के प्रेम से उनका पाप-ताप, रोग-शोक हर लेता है इसलिये भी उसे हर कहा जाता है।

इस प्रकार जीव-प्रकृति का विभाग दिखा कर अब ईश्वर का उन दोनों से वैलक्षण्य बताते हैं। सांख्यों के प्रकृतिवाद में या मीमांसकों के कर्मवाद में अथवा नैयायिकों के निमित्तेश्वर वाद में अथवा योगियों के पुरुष विशेष ईश्वर वाद में परमेश्वर की हर संज्ञा नहीं हो सकती।

५. स्वप्रकाश होने से उसे महादेव कहा गया। इसी को गीता में परमात्मेत्युदाहृतः कहा है। चैतन्य बल शक्ति ही वस्तुतः सर्वत्र स्वप्रकाश रूप होती है।

६. क्षरात्मना विशत इति वा पाठः। क्षराख्येना क्षरात्मरूपेण विशति सर्व भवति इत्यर्थः। अस्मिन् पाठे यो लोकत्रयमाविश्येति गीता संगततरा भवति।

७. जब तक मनुष्य शिव-प्रेम से शून्य होता है, तब तक नियमों के द्वारा शासन करते हैं। जब शिव में प्रेम हो जाता है तब औढरदानी बनकर प्रेम से शासन करते हैं और मुमुक्षा उत्पन्न होने पर निरुपाधिक चिन्मात्र रूप से आत्म-स्वरूप को प्रकट करके अधिष्ठान रूप से शासन करते हैं। प्रकृति का तो सदा ही स्वरूपस्फुरणप्रद बन कर शासन करते हैं। यह बात दूसरी है कि किसी काल में इसका प्रलय करके शासन करते हैं तो किसी काल में सृष्टि करके। इस प्रकार सच्चिदानन्द रूप ऐश्वर्य से वह जड़ चेतन सबको व्याप्त करके शासन करते हैं।

८. शिवोऽहं के द्वारा अपनी आत्मा में और 'शिवः सर्वं' के द्वारा सभी भोग्य पदार्थों में शिव दर्शन ही अभिध्यान पद का अर्थ है। ध्यान अर्थात् चिन्तन या स्मरण। तात्पर्य है कि देवता, मनुष्य, पशु आदि भेदों में एवं कपड़ा, दरवाजा आदि भेदों में शिव ही उनको स्वरूप प्रदान करने वाला कारण है, एवं वही उनमें आनन्द प्रदान करने वाला कारण है, तथा स्फुरणता देकर साक्षी रूप से प्रवृत्त करने वाला कारण है। इस प्रकार का चिन्तन ही प्रथम कर्तव्य है।

ईश्वर ही जीव और जगत् उपाधि से प्रतीत हो रहा है, ऐसा विशिष्ट चिन्तन भी यहां लिया जा सकता है। अर्थात् उपासना के लिये ज्ञ, अज्ञ आदि भेद शून्य चित् सुख पर ध्यान के लिये उपाधि को रख के भी अभिध्यान किया जा सकता है। अथवा अहं वृत्ति का साक्षी शिव है, इस प्रकार का चिन्तन करना चाहिये।

९. जब अभिध्यान करते करते ध्याता और ध्येय का भेद मिट जाय, एवं अनात्म माया की प्रतीति सर्वथा निवृत्त हो जाय, उस समय की सायुज्य प्राप्ति ही योजना है। इसमें चिदाभकाास आभास

मिट करके चित् ही प्रधान रह जाता है। कुछ लोग तो इसको सबीज समाधि मानते हैं।

१०. वेदान्त वाक्यों के श्रवण से द्वैत भ्रम एवं अविद्या से तिरोहित निरतिशय आनन्द का अवतरण ऐसा हो जाय कि व्यवधान करने वाला द्वैत भ्रम और मूलाविद्या दोनों ही ज्ञानाग्नि से जल कर तत् और त्वं पदार्थ की एकता स्वरूप यथार्थतः 'शिव ही मैं हूँ' ऐसा भाव तत्त्व भाव है।

११. अनात्मा अधिष्ठान रूप से ब्रह्म है और आत्मा मुख्य रूप से ब्रह्म है, इस प्रकार के बुद्धिभेद रूपी द्वैत के निवृत्त हो जाने पर। इसका उपाय दृश्यत्वादि हेतुओं से पुनः पुनः द्वैत का ज्ञान बाध योग्यता लक्षण मिथ्यात्व का प्रसाधन करने से एवं आत्मा का अद्वैत भाव निर्णय करने के द्वारा द्वैत सम्पर्क की व्यावहारिक कल्पना की निवृत्ति पुनः पुनः अभिध्यानादि करने से ही होती है।

१२. अज्ञान विश्व में पारमार्थिक, व्यावहारिक, और प्रातिभासिक तीन प्रकार की सत्ता का ज्ञान कराता है। अविद्यालेश जबतक जीवन्मुक्त में है तब तक प्रातिभासिक ज्ञान होता रहता है। अविद्या लेश के निवृत हो जाने पर प्रातिभासिकत्व भी निवृत्त हो जाता है। वही अवस्था इष्ट है। यह भोग समाप्ति होने पर भी हो सकता है अथवा प्रबल योग के द्वारा, मन्द-प्रारब्ध का उन्मूलन करके अथवा अनेक काय-व्यूहों का निर्माण करके शीघ्र भोग समाप्त करके।

१३. स्वात्मज्ञान की निष्पत्ति होते ही ज्ञानोदय वेला में सुख-दुःख-मोहात्मक अशेष प्रपञ्च निवृत्त हो जाता है। अथवा विश्व, अर्थात् विपरीत प्रतीति, और माया अर्थात् उसका कारण, इनकी किसी भी रूप में उपलब्धि न होना निवृत्ति है। संस्कार मात्र रूप से अवशिष्ट अविद्या ब्रह्मवेत्ता के देहयात्रादि व्यवहार के लिये पर्याप्त

होती है। ब्रह्म और अपरोक्ष की एकता को आच्छादन करने वाली अविद्यान्धकृति पहले नष्ट होती है तब अर्थ-क्रिया-कारिता रूपी अविद्या नष्ट होती है जिससे आकाश इत्यादि द्वैतभ्रमकी कल्पना कराने वाली माया नष्ट हो जाती है। तब द्वैत-प्रतिभास मात्र निर्वाहक माया लेश अप्रतिबद्ध शक्ति विद्या से निवृत्त हो जाती है। इस क्रम से विद्वान् की सारी माया निवृत्त हो जाती है।

११

जीव, ईश्वर और प्रकृतियों की अनादिता एवं उनके सम्पर्क से सर्वज्ञत्वादि की व्यवस्था बतायी। फिर सम्यक् ज्ञान से सारे विकल्पों से रहित सच्चिदानन्द निर्मलाद्वैत का प्रतिपादन हो गया। सभी आकाशादि विकर्त रूप से माया में रहते हैं अतः उसे प्रधान कह दिया। अनादि पदार्थ का नाश कैसे होगा, इस शंका को हटाने के लिये प्रकृति को विनाशी बताकर सत् से भिन्न निरूपित किया। तब अनादि जीव और ईश्वर भी कहीं अनित्य न हो जाय इसलिये उनको अविनाशी बताया। जीव और ईश्वर स्वरूप से एक होने पर भी उपाधि से भिन्न भिन्न हैं। जीव असंग होने से प्राण-वियोग लक्षण वाले मृत्यु से युक्त नहीं होता अतः अमृत है। साक्षी रूप होने से उसका स्वरूप-नाश भी नहीं है अतः अक्षर है। फिर भी संग दोष से इन दोषों वाला अपने को मानता है। बनियों के बीच में रहने वाला व्यापारी ब्राह्मण अपने सभी आचार-विचार में बनिये जैसा बनता ही देखा जाता है। परन्तु शिव कभी भी इन संगों से दूषित नहीं होता। अद्वितीय होने से स्वरूप द्वारा नित्य ही द्वैत समूह का संहारक है। परन्तु सम्यक् ज्ञान रूपी वृत्ति पर चढ़कर के ही चित् के प्रतिभास मात्र शरीर वाले जीव की मूलाविद्या का हरण करता है। इस हरण करने के प्रकार को अब स्पष्ट करते हैं :—

ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैः जन्ममृत्युप्रहाणिः । तस्य अभिध्यानात् तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवलः आप्तकामः ॥

देवं = स्वयं प्रकाश देव को
ज्ञात्वा = अनुभव करके
सर्वपाशापहानिः = सारे पाश[१] नष्ट हो जाते हैं,
क्लेशैः = क्लेशों के[२]
क्षीणैः = नष्ट हो जाने पर
जन्ममृत्युप्रहाणिः[३] = जन्म मृत्यु[४] नष्ट हो जाते हैं।
तस्य = उसका
अभिध्यानात् = सर्वत्र ध्यान करने से
देहभेदे = शरीर की प्रतीति के समाप्ति होने पर[५]
केवलः = केवलीभाव[६] को प्राप्त हुआ हुआ
आप्तकामः = पूर्ण काम[७]
तृतीयं = तीसरे[८]
विश्वैश्वर्यम् = समग्र ऐश्वर्य को
(आप्नोति) = (प्राप्त कर लेता है ।)

१ अविद्या एव उसके सभी कार्य यहां पाश शब्द से लिये गये हैं। यहां पुत्र, सम्पत्ति आदि बाह्य पाश और अहन्ता ममता आदि अन्तः पाश दोनों का ग्रहण है। सर्वात्म रूप से शिव को जान कर सर्वत्र सम बुद्धि वाला बनना ही पाशों की अपहानि अर्थात् परित्याग है। शिव सर्व रूप है इसलिये मैं भी शिव रूप हूँ। यजुर्वेद में उत्तम, मध्यम और अधम रूप से वर्णित सभी पाशों को यहां ग्रहण कर लेना चाहिये।

उदुत्तमं वरुण पाशम् अस्मत् अव अधमम् विमध्यमं श्रथाय अर्थात् हे श्रेष्ठ वरण करने के योग्य परमेश्वर हमारे तीनों पाशों को ऊपर, बीच, और कमर के नीचे से हटाओ। यहां माया की आवरण, विक्षेप और प्रातिभासिक शक्तियों को ही बांधने वाली होने से ही पाश कहा है।

२. राग-द्वेष, पुण्य-पाप, आदि क्लेश कहे जाते हैं। इनके नष्ट होने का क्रम इस प्रकार है। शिवज्ञान से अविद्या का नाश, अविद्या नाश से उससे उत्पन्न होने वाले राग-द्वेष का नाश, राग-द्वेष के नष्ट होने पर उससे उत्पन्न विहित और प्रतिषिद्ध क्रियाओं का नाश, इन क्रियाओं के नष्ट होने से उनसे उत्पन्न पुण्य-पाप रूपी अपूर्व का नाश, अपूर्व के नष्ट होने से उससे उत्पन्न होने वाले भावी शरीर और उन शरीरों के निमित्त से होने वाले सुख दुःख का नाश, इस प्रकार सम्यक् ज्ञान के सभी क्लेश नष्ट हो जाते हैं। वस्तुतः आत्मा सदा ही अकर्ता है। परन्तु मिथ्या कर्त्तापने के मोह से क्लेशों को प्राप्त करता है। अविद्या निवृत्ति से कल्पित कर्त्ताभाव की निवृत्ति होकर उस कर्तृत्व भाव मूलक जितने कर्म थे वे भी जल जाते हैं। एवं, सम्यक् ज्ञान के पूर्व इस जन्म में, और इस जन्म से पूर्व अनुष्ठित सभी कर्मों के नष्ट हो जाने से सभी क्लेश निवृत्त हो जाते हैं।

योग सूत्रों के अनुरोध से यहां अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश, इन पञ्च क्लेशों का भी ग्रहण किया जा सकता है।

३. जन्ममृत्युप्रहानिरिति शंकराभ्यपाठः।

४. जन्म-मरण के ग्रहण से इसके बीच में आने वाले सभी विकारों का ग्रहण कर लेना चाहिये। सम्यक् ज्ञान से बीज सहित संसार दुःख का नाश हो जाता है, यह तात्पर्य है।

५. उत्तम अधिकारी की तो श्रवण से कारण सहित अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। एवं केवल लेशाविद्या की स्थिति प्रारब्ध कर्म के कारण रह जाती है। परन्तु मध्यमाधिकारी का अज्ञान श्रवण मात्र से समाप्त नहीं होता। अतः इस शरीर के निवृत्त हो जाने पर भी देवयान से जाकर ब्रह्म सायुज्य की प्राप्ति रूपी द्वितीय स्थिति, एवं अव्याकृत परमाकाश आकार से ईश्वर भाव में स्थिति होकर समग्र ऐश्वर्य रूपी तृतीय स्थिति होती है। उसके बाद आत्मज्ञान की दृढ़ता होकर वह भी निर्विशेष ब्रह्म में लीन हो जाता है।

अथवा ज्ञानी की तो सीधे ही स्वरूपस्थिति हो जाती है परन्तु ध्यानी की सहसा निराकार में बुद्धि स्थिर नहीं हो पाती अतः सविशेष ब्रह्म विषयक होने से देह-भेद की अपेक्षा रखती है। यहां दहरोपासना, ओंकारोपासना आदि उपासनाओं से तात्पर्य है।

६. अविद्या लेश से भी अछूत को यहां केवल कहा गया है।

७. आनन्द स्वभाव अपरोक्ष आत्मस्वरूप होने से समग्र कामनायें जिसकी पूर्ण हो गई हैं वही पूर्णकाम कहा जाता है। जिसकी कामना की जाती है उसे काम कहते हैं। वस्तुतः आनन्द ही सबके द्वारा काम्य होने से एक मात्र काम है। यह आनन्द स्वरूप से प्राप्त हो जाने पर और दुःख रूप अविद्या के निवृत्त हो जाने पर पूर्णकामता स्वयं सिद्ध है। स्वयं आनन्द रूप होने से वही दूसरों की कामना का विषय बना हुआ रहता है।

८. केवल कर्म से धूमादि मार्ग के द्वारा एक गति हुई। उपासना के द्वारा ब्रह्मलोक दूसरी गति हुई। इन दोनों का ऐश्वर्य परतंत्र ऐश्वर्य है। अभिध्यान से कोमल ब्रह्म ज्ञानी की ईश्वर रूप से स्थिति तीसरी गति हुई। यह स्वतंत्र होने से विश्वैश्वर्य है।

दृढ़ आत्मबोध से मार्ग-निरपेक्ष मोक्ष रूपी ऐश्वर्य का आविर्भाव गति-हीन होने से यहां विवक्षित नहीं है। इस पक्ष में यह सब कुछ शिव है इस अनुभव के फल स्वरूप शत्रु-मित्रादि अविद्या का नाश पहला है। मैं शिव हूं, इस प्रकार आत्मा और ब्रह्म के तादात्म्य सम्बन्ध ज्ञान से उसके विपरीत अहंकारादि अज्ञान का नाश दूसरा है। प्रारब्ध कर्म के क्षीण हो जाने पर संस्कारों की भी आत्म भाव से स्थिति हो जाना तृतीय भाव है। इस तृतीय भाव को ही अन्तःसुख, अन्तराराम, आत्मक्रीड़, आत्मरति, आत्ममिथुन आदि शब्दों से श्रुतियों में बतलाया है।

९. विश्वम् एव ऐश्वर्यं यस्य तं विश्वैश्वर्यम्।

१२

एतत् ज्ञेयं नित्यम् एव आत्मसंस्थम् न अतः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्। भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्मम् एतत्॥

एतत् = इस[१]
आत्मसंस्थम् = आत्मा में संस्थित[२] को
एव = ही[३]
नित्य = नित्य नियम[४] से
ज्ञेयं[५] = अनुभव करना चाहिये,
हि = क्योंकि[६]
अतः = इससे
परं = परे[७]
किञ्चित् = कुछ भी
वेदितव्यं = अनुभव करने के योग्य
न = नहीं है।
भोक्ता[८] = जीव
भोग्यं = भोग्य संसार को[९]
च = और
प्रेरितारं = प्रेरक ईश्वर को[१०]
ब्रह्म = ब्रह्म रूप
मत्वा = समझकर[११] (फिर)
एतत् = इन[१२]
सर्वं = सब
त्रिविधं = तीन प्रकारों को[१३]
प्रोक्तम् = कहा हुआ (ब्रह्मात्म रूप जानें)।

१. आत्म तत्त्व ही अज्ञात होने से सभी प्रमाणों द्वारा जाना जाता है। निरतिशय पुरुषार्थ रूप होने से यही उपनिषदों द्वारा भी जाना जाता है। चूंकि आत्मा से भिन्न कुछ भी अज्ञात हो यह संभव नहीं है, अतः सारा अनात्म-जगत् न तो प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विषय है और न अपुरुषार्थ रूप होने से वेद द्वारा ही प्रतिपाद्य है। तात्पर्य है कि शब्द वही प्रमाण होता है **आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्** जहाँ किसी न किसी प्रयोजन वाली क्रिया या ज्ञान को बताये। अतः विश्व के पदार्थ दुःख रूप होने से श्रुतिप्रतिपाद्य नहीं हो सकते। इसी प्रकार जो पदार्थ अपनी सत्ता सिद्ध करने के लिये चैतन्य रूप आत्मा की अपेक्षा रखते हैं, वे चैतन्य से भिन्न सत्ता वाले अर्थात अज्ञात कैसे हो

सकते हैं। अतः ऊपर कहे हुये आत्म-तत्त्व को छोड़कर और कुछ कभी भी ज्ञान का विषय हो ही नहीं सकता। पारिभाषिक भाषा में कहें तो घटज्ञान का विषय घटाकार से आवृत आत्मा ही है। यह बात दूसरी है कि यहाँ परिच्छिन्न आवरण का भंग है और ब्रह्मज्ञान में अपरिच्छिन्न आवरण का भंग। परिच्छिन्न और अपरिच्छिन्न आवरण को भंग करके जाना ब्रह्म को ही जा रहा है।

२. शिव का ज्ञान आत्मा में ही होता है किसी आत्म-भिन्न बाह्य पदार्थ में नहीं होता। इसीलिये कहा है—

आत्मस्थं तीर्थमुत्सृज्य बहिस्तीर्थादि यो व्रजेत्।
करस्थं स महारत्नं त्यक्त्वा काचं विमार्गति॥

आत्मा में स्थित परम तीर्थ को छोड़कर जो बाहर तीर्थों में भटकता है वह उस मूढ़ की तरह है जो हीरे को फेंक कर काँच को ढूंढता है। आत्मा में वर्तमान का अर्थ आत्म रूप से विद्यमान समझना चाहिये। अथवा आत्म अर्थात् बुद्धि। बुद्धि में ही वेदान्त वाक्यों द्वारा यह प्रत्यगात्मा रूप से भली प्रकार स्थित होता है। यद्यपि अज्ञान काल में भी बुद्धि में मैं रूप से विद्यमान है परन्तु सम्यक् अर्थात् शुद्ध रूप से नहीं। वेदान्त वाक्यों के द्वारा यह बुद्धि में शुद्ध रूप से भान होता है।

३. वैराग्य द्वारा आत्म-भिन्न पदार्थों के ज्ञान के लिये 'ही' शब्द है। सारे प्रमाणों के द्वारा अर्थात् प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से भी उपाधि को छोड़कर उपहित आत्मा को ही पकड़ने का अभ्यास साधक करे। जब वस्त्र को देखे तो वस्त्र के द्वारा वस्त्रनिष्ठ सत् चिद् रूप ब्रह्म का ही ग्रहण करे। अर्थात् वस्त्र के नाम रूप का बाध करके ब्रह्म ही अविद्या विलास के द्वारा परिच्छिन्न होकर नाम रूप को धारण किये हुये वस्त्र रूप से प्रतीत होता है। इसी प्रकार ब्रह्म ही परिच्छिन्न अन्तः करण नाम रूप को धारण कर वस्त्र का ज्ञाता हुआ प्रतीत हो रहा है। इस प्रकार ब्रह्म को 'ही' देखे।

४. श्री परमहंसों के लिये जब तक नींद न आ जाय और जब तक जगत्-प्रतीति समूल नष्ट न हो जाय तब तक एक मात्र इसी नियम का विधान है कि ब्रह्मानुभव करते रहें। अन्य बाह्य आचार एवं क्रिया-कलापों से अपनी दृष्टि को अवरुद्ध न होने दें। जब तक यह ब्रह्मदृष्टि न बने तब तक सभी समय प्रयत्न पूर्वक वेदान्त ग्रन्थों के श्रवण मनन में लगे रह कर तदुपयोगी शम-दमादि का अभ्यास करते रहें। इसके अतिरिक्त और कोई कर्तव्य करने और बताने वाले स्वयं भ्रान्त होकर दूसरों को भी भ्रान्त करते हैं।

५. **ज्ञातव्यं ज्ञानार्हम्** इति वा। ज्ञानाय विधिरसंगता। प्रमाण-प्रमेययोः सन्निकर्षे ज्ञानस्यानिच्छन्नपि ह्यवश्यंभावित्वात्। तस्मात् प्रमाणपरिग्रहे यत्नः कार्यः प्रमेयस्य आत्मसंस्थत्वात्।

६. जैसे आत्मा ज्ञातव्य है वैसे ही कुछ अन्य भी ज्ञातव्य हो सकता है, ऐसी शंका का निवारण करने के लिये यह हेतु है।

७. ब्रह्म से अधिक और कुछ भी आनन्द दायक न होने से यही सब से परे है। ब्रह्म-ज्ञान के बाद और कुछ ज्ञान संभव भी नहीं है। यथार्थ ज्ञान का लक्षण ही है कि न जानी हुई और जिसका बाध न हो ऐसी चीज को जानना। ब्रह्म-ज्ञान से सर्व विज्ञान हो जाने के कारण कोई चीज नहीं जानी हुई नहीं रह जाती। एवं ब्रह्मातिरिक्त सब ज्ञानों का बाध भी हो जाता है। अतः वस्तुतः आत्मतत्त्व से भिन्न और कुछ है ही नहीं जो जानने के योग्य हो। दृश्य और दृक् भिन्न हैं इस प्रकार के प्रमाण ज्ञान से प्रतियोगी रूप से भी दृश्य की ज्ञेयता स्वीकार नहीं करनी चाहिये। क्योंकि दृश्य और द्रष्टा का भेद ज्ञान किसी भी प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उत्पन्न न होने के कारण उसमें प्रमाणवेद्यता कैसे आ सकती है। अतः जड़ को किसी भी प्रकार से विद्या या अविद्या दोनों कालों में ज्ञेयता प्राप्त नहीं हो सकती। अतः ब्रह्म से भिन्न और कुछ भी ज्ञान के योग्य नहीं है। अतः अनात्म वस्तु

का जड़ और दुःख रूप से हेय होने के कारण, चञ्चल रूप से मिथ्या होने के कारण, तथा ज्ञान का अविषय होने के कारण आत्मा ही एक मात्र ज्ञेय है।

८. द्वितीयायाः प्रथमात्वेन व्यत्ययो छान्दस इति केचित्। भोक्तारं भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा अतः परं न हि किञ्चित् वेदितव्यमस्ति इत्यन्वयः। तेषां मते सर्वं त्रिविधं प्रोक्तं नातः परं प्रवचनीयमस्ति इति शेषः। वस्तुतस्तु वाक्यशेषत्वस्वीकारे प्रमाणाभावत्वात् नैतच्छोभनम्।

९. यह कार्य उपाधि को बताने के लिये है। वस्तुतस्तु उपर्युक्त भोक्ता शब्द से आभास उपलक्षित चेतन (साक्षी) को लेना चाहिये, क्यों कि बुद्ध्यादि सभी उपाधियां कार्योपाधियां ही हैं।

१०. इससे कारणोपाधि का ग्रहण है। अवस्था त्रय का विचार करने पर जाग्रत्-स्वप्न रूपी कार्योपाधि का साक्षी और सुषुप्ति रूपी कारणोपाधि का साक्षी एक ही सिद्ध होता है।

११. व्यष्टि समष्टि आदि सभी भेद अविद्या में हैं। ऐसा मनन के द्वारा निश्चय करके।

१२. इस प्रकार कार्य और कारण उपाधिवाला इन दोनों उपाधियों से उपहित मैं साक्षी।

१३. यहां सभी त्रिपुटियों का ग्रहण है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति; विश्व, तैजस्, प्राज्ञ; अ, उ, म; अन्तर्यामी, सूत्रात्मा, विराट्; सत्, चित्, आनन्द; चिदाभास, साक्षी, कूटस्थ; शान्त, घोर, मूढ; घोर, घोरतर, अघोर; आदि वेदान्त शास्त्रों में कहे हुए सभी त्रिकों का यहां ग्रहण है। स्थाणु-पुरुष न्याय से ही वेदान्तों में इन्हें ब्रह्म-रूप कहा है। अतः परवर्ती त्रिक दर्शनाचार्यों के चिद्विलासवाद का यहां प्रवेश नहीं है।

१३

निरतिशय आनन्द का कारण विद्यमान होने पर भी क्यों नहीं स्फुट होता?

वह्नेः यथा योनिगतस्य मूर्तिः न दृश्यते न एव च लिङ्गनाशः। सः भूयः एव इन्धनयोनिगृह्यः तत् वा उभयं वै प्रणवेन देहे॥

यथा=जैसे
योनिगतस्य=कारण रूप लकड़ी में घुसी हुई[१]
वह्नेः=आग की
मूर्तिः=शकल[२]
न=नहीं
दृश्यते=दीखती
च=और
लिङ्गनाशः[३]=(उसका) बीज नष्ट[४]
न=नहीं
एव=ही (हुआ है);
सः=(क्यों कि) वह (आग)
भूयः=फिर से[५]
इन्धनयोनिगृह्यः[१०]=ईंधन रूप कारण से[६] (आंख से ग्रहण की)
एव=ही (जाती है)।
तत्=उस
वा[७]=तरह
देहे=बुद्धि रूप सूक्ष्म शरीर में[८]
प्रणवेन=ओंकार से
उभयं=दोनों प्रकारों का (ब्रह्म)[९]
वै=निश्चय रूप से
(गृह्यते)=(ग्रहण अर्थात् अनुभव किया जा सकता है।)

१. यद्यपि लकड़ी के घिसने से ही आग प्रकट होती है, तथापि लकड़ी को देखने से आग दिखाई नहीं देती। दियासलाई में भी सलाई के ऊपर का मसाला और डिब्बी के ऊपर का मसाला एक ही होता है। उनमें आग दिखाई नहीं देती। परन्तु घिसने पर आग प्रकट हो जाती है, इससे सिद्ध होता है कि रगड़ने से पहले भी बीज

रूप से आग मौजूद थी। यदि वहां अग्नि न होती और प्रकट हो जाती तो पानी के घिसने से भी आग का प्राकट्य हो जाता। अतः मनुष्य सूखी पीपल इत्यादि की लकड़ी अथवा दियासलाई इत्यादि को ही घिसता है, चाहे जिस चीज को नहीं। यदि कहा जाय कि वहां अग्नि छिपी हुई नहीं है परन्तु घिसने पर उसमें अग्नि पैदा करने की शक्ति है तो भी शक्ति सम्बन्ध से वहां आग को मानना ही पड़ेगा। प्रलयादि में कारण मात्र रूप से कार्य की सिद्धि सैकड़ों श्रुतियों के द्वारा प्रतिपादित है।

२. जलाने और रोशनी करने की क्षमता को ही अग्नि की शकल कहा जाता है।

३. विमतं काष्ठं वह्निमत् उपायलब्धवह्नित्वात् महानसवत्।

४. यद्यपि आग सर्वव्यापक है फिर भी अन्य पदार्थों में स्वतः विना कहीं अन्यत्र से अग्नि लाये प्रकट नहीं की जा सकती। अरणि, दियासलाई, स्फुरातु (Phosphorus) आदि में उसको स्वतः प्रकट किया जा सकता है, इसी लिये वहां बीज माना गया। इसी प्रकार आत्मा सर्वव्यापक होने पर भी बुद्धि में ही प्रकट होती है। यह बात दूसरी है कि प्रबल दावाग्नि रूप से प्रकट अग्नि जिस प्रकार सभी पदार्थों को अग्नि रूप बना देती है उसी प्रकार बुद्धि में प्रबल दृढ़तर ज्ञान उत्पन्न होने पर सभी चराचर जगत् ब्रह्मरूप बन जाता हैं। सामान्यतः अरणि इत्यादि में लकड़ी विद्यमान अग्नि को भी तिरस्कृत करके रखती है अतः उसकी प्रतीति नहीं होती। इसी प्रकार सामान्य बुद्धि में कार्य-करण संघात के धर्म चेतन तत्त्व को तिरस्कृत करके रखते हैं। अतः परमात्मा की प्रतीति नहीं होती।

५. लकड़ी में दबी हुई बीजावस्था में विद्यमान अग्नि ही 'फिरसे' प्रकट होती है, नयी अग्नि कहीं से आती नहीं। यद्यपि आँख या त्वचा से अग्नि का ग्रहण नहीं हो सकता पर बार बार घर्षण रूपी उपाय

से वह प्रकट होती है। यह बार बार उपाय करना भी 'फिरसे' से ग्रहण कर लेना चाहिये।

६. जैसे पहले तिरस्कृत अग्नि धूम, उष्णादि लिङ्गों से प्रतीत होकर फिर चिन्गारी इत्यादि का प्रकट रूप लेती है उसी प्रकार पहले उपाधिवाले रूपों में साक्षी इत्यादि रूपों में प्रकट होकर अन्त में अपरोक्ष आनन्द घन रूप से प्रतीत होती है।

७. तद्वोभयम् इत्यत्र तद्वा उभयं इतिच्छेदे इवार्थो वाशब्दः। तद्व उभयं इतिच्छेदे वस्य वदित्यर्थः। तद्वत् उभयम् इत्यभिप्रायस्तु न भिद्यते। **नारायणेन तु तद्वोभयम् इति पाठः स्वीकृतः।**

८. शरीर में हृदय कमल के मध्य ही ध्यान करने से आत्मा की उपलब्धि होती है। यही बुद्धि का सामान्यतः निवास स्थल है। परमात्मा परम प्रेम स्वरूप है। जब सामान्य प्रेम का अनुभव भी हृदय में ही होता है तो परम प्रेम का अनुभव तो यहां होना ही है। समष्टि-व्यष्टि रूप सभी कार्य-कारणों में निरतिशय आनन्द रूप हृदय में ही बीज रूप से छिपा हुआ बैठा है। ओंकार परमात्मा का प्रियतम नाम है। अतः उसको हृदय में लाने पर और बार बार ध्यान रूपी मथन करने से शिव का वास्तविक स्वरूप अभिव्यक्त हो जाता है। यह विद्वानों का अनुभव ही सिद्ध करता है कि जलाये जाने योग्य माया और उसके कार्य से तिरस्कृत होने पर भी चित्सुख शिव वहां विद्यमान है। आत्मा में साक्षित्व, नित्यत्व, प्रेमास्पदत्वादि चिह्न तो धुयें इत्यादि की तरह सम्यक् ज्ञान से पहले ही खिल जाते हैं। अन्त में ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञान से माया के जल जाने पर इस कार्य-करण संघात में ही शिव तत्त्व की अभिव्यक्ति हो जाती है, जिसका ताप अमानित्वादि रूप से सबको मिलता है। इस प्रकार निरतिशय आनन्द का कारण होने पर भी क्यों नहीं स्फुट होता, यह बता दिया।

९. ओंकार को श्रुतियों में पर और अपर दोनों की प्राप्ति का साधन बताया है। ध्यान के द्वारा अपर ब्रह्म अर्थात् माया-शबल ब्रह्म की प्राप्ति और अकार, उकार, मकार, के विचार से शुद्ध ब्रह्म की प्राप्ति। इस विषय में प्रश्न, माण्डूक्य, छान्दोग्य आदि उपनिषदें द्रष्टव्य हैं।

१०. इन्धनं योनिरस्येति इन्धनयोनिः। इन्धनयोनिश्च असौ गृह्यश्चेति यावत्।

१४

ब्रह्म-ज्ञान से मोक्ष होता है यह बताया गया। अब उस ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति के उपाय का परिचय देते हैं :—

स्वदेहम् अरणिम् कृत्वा प्रणवम् च उत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासात् देवं पश्येत् निगूढवत्॥

स्वदेहम्=अपने शरीर को[1]
अरणिम्=नीचे की अरणि बना कर
च=और
प्रणवम्=ओंकार को
उत्तरारणिम्=ऊपर की अरणि
कृत्वा=बनाकर
ध्याननिर्मथनाभ्यासात्=ध्यान रूपी निरन्तर घुमाने के अभ्यास से[2]
निगूढवत्=अत्यन्त छिपे हुए[3]
देवं=परमात्म देव को[4]
पश्येत्=देखे[5]।

१. यहां देह से उपलक्षित हृदय-कमल को ही समझना चाहिये। अथवा षट्चक्रों को क्रम से भेदन करके ऊपर ले जाना पड़ता है। अतः देह शब्द से सभी चक्रों का ग्रहण कर लेना चाहिये। ज्ञान से पहले शिव के तिरस्कार का प्रधान कारण देह ही है। इसलिये अविद्या काल में देह की प्रधानता स्पष्ट है। साधन काल में साधन देह में ही संभव है। एवं ज्ञान भी देह में ही प्रकट होता है। इस

प्रकार देह को अरणि की तरह परम पवित्र मानना चाहिये। जैसे सूखी अरणि में ही अग्नि प्रकट होती है वैसे ही पूर्ण स्वस्थ प्रसन्न एवं शान्त देह में ही ज्ञानोत्पत्ति संभव है। **देहो देवालयः प्रोक्तः** इत्यादि स्मृतियां भी इसमें प्रमाण हैं। शरीर को अधरारणि इस लिये कहा कि अग्नि प्रकट होने पर उत्तरारणि हट जाती है एवं अधरारणि में ही रूई इत्यादि के द्वारा हवा इत्यादि करके अग्नि को तेज किया जाता है। इसी प्रकार ज्ञानाग्नि के प्रकट हो जाने पर ओंकार की आवश्यकता नहीं रह जाती परन्तु हृदय में उस अग्नि का संवर्धन प्रयत्न पूर्वक करना पड़ता है, जिसके प्रधान साधन **अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्** इत्यादि बताये गये हैं। इस प्रकार आत्मा की अभिव्यक्ति का स्थान अधरारणि देह है एवं अभिव्यक्ति का उत्कृष्ट अन्तरंग साधन प्रणव का निदिध्यासन है। इसीलिये उसे उत्तरारणि कहेंगे।

प्रणव-चिन्तन का आधार होने से भी इसे अधरारणि कहा गया है। तात्पर्य है कि जो देह अध्यात्म तत्त्व का आच्छादक है उसी को उसके प्रकट करने का आधार ओंकार बना देता है।

२. यहां बाच्य रूप से प्रणव का ध्यान परब्रह्म की प्राप्ति का साधन है, एवं आलम्बन रूप से अपर ब्रह्म का। ओंकार को ज्ञान के कारण रूप से स्वीकार करना ही निदिध्यासन का आधार है। बार बार इसको प्रेम पूर्वक हृदय में लाना ही निर्मथन है। जब तक साक्षात्कार न हो जाय तब तक करते रहना ही अभ्यास है।

३. जैसे बाप द्वारा सञ्चित महानिधि गड़ी होने के कारण अज्ञात रहकर अपनी होने पर भी सुख नहीं देती, परन्तु किसी कारुणिक के बता देने पर दीर्घ व घोर दारिद्र्य को नष्ट कर देती है वैसे ही वेद द्वारा प्रदत्त आत्मज्ञान सारे दुःखों को नष्ट कर देता है। वेद के बताने पर अपना ही गुह्य आत्मतत्त्व मिलकर अनन्त सुख की प्राप्ति करा देता है।

४. द्योतन स्वभाव वाले स्वयं प्रकाश आत्मरूप अथवा ध्यान द्वारा ज्योति रूप को।

५. अपरोक्ष साक्षात्कार करना चाहिये।

१५

ध्यान की विशेषता को बतलाने वाले अनेक दृष्टान्तों से यह बताते हैं कि मौजूद होने पर भी छिपी हुई चीज को प्रकट करने के समझ में न आने लायक एवं उपदेशमात्र से प्राप्त उपायों द्वारा प्रकटन होता है :—

तिलेषु तैलं दधिनि इव सर्पिः आपः स्रोतःसु अरणीषु च अग्निः। एवम् आत्मा आत्मनि गृह्यते असौ सत्येन एनं तपसा यः अनुपश्यति ॥

तिलेषु=तिलों में
तैलम्=तेल,[१]
दधिनि=दही में
सर्पिः=घी,[२]
स्रोतःसु=स्रोतों में
आपः=जल,[३]
च=और
अरणीषु=अरणियों में
अग्निः=आग की[४]
इव=तरह
एवम्=इसी प्रकार
आत्मनि=बुद्धि में
असौ=यह[५]
आत्मा=आत्मा (है)।
यः=जो
एनं=इस (आत्मा) को
सत्येन=सत्य रूपी साधन (व)
तपसा=तप रूपी साधन से[७]
अनुपश्यति=देखता है[८]
(तेल)=(उसके द्वारा ही)
गृह्यते=साक्षात्कार किया जाता है।

१. शिव दर्शन प्रत्यगात्म रूप से ही होता है, परोक्ष रूप से या तटस्थ रूप से नहीं होता इसमें यह दृष्टान्त है। तिलों को घानी में पेर कर उनमें व्याप्त, पर खली से तिरस्कृत किये हुए, तेल का प्रत्यक्ष

दर्शन होता है। यह पेरने की क्रिया किसी भी तर्क से नहीं समझी जा सकती केवल गुरु परम्परा से ही प्राप्त होती है। इसी प्रकार आत्म विषयक साधन में भी समझना चाहिये। किञ्च जिस प्रकार तिलों को भार से दबाकर पेरा जाता है उसी प्रकार धर्म के भार से कार्य-करण संघात को दबाकर आसुरी प्रवृत्तियां रूपी खली को दूर कर आत्मा का देवभाव प्रकट हो जाता है। ब्रह्म का सत् रूप यहां प्रकट होकर असत्त्वापादक आवरण भंग हो जाता है। आसुरी प्रकृति वालों को शिव है, यही दृढ़ निश्चय नहीं हो पाता। असत्वापादक आवरण की निवृत्ति का उपाय धर्म ही है, यह केवल उपदेश से जाना जा सकता है तर्क के द्वारा नहीं।

२. दही को मथने से उत्पन्न मक्खन की तरह योग से मूलाधार से सहस्रार पर्यन्त योगाभ्यास से जो ओज या शक्ति विशेष उत्पन्न होती है उसको लेना चाहिये। जैसे मक्खन ऊपर चला जाता है वैसे ही ओज शक्ति ऊपर चली जाती है जिससे मनुष्य ऊर्ध्वलिङ्ग बन जाता है। इस प्रकार यहां योगाभ्यास इष्ट है। इससे ब्रह्म की चिद्-रूपता का ज्ञान होकर अचित्त्वापादक आवरण निवृत्त हो जाता है। जैसे मक्खन को आग पर गरम करने से सुगन्धि रूप से घी प्रकट हो जाता है वैसे ही यहां योगी जब वेदान्त विचार रूपी अग्नि से अपनी ओजस् शक्ति को गरम करता है तभी परम पुरुषार्थ रूप से 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार से निर्गुण ब्रह्म अभिव्यक्त होता है। मक्खन सगुण ब्रह्म की जगह पर है एवं घी निर्गुण ब्रह्म की जगह पर। सम्भवतः इसी लिये सगुण ब्रह्म रूप श्रीकृष्ण को मक्खन चढ़ाया जाता है, एवं निर्गुण ब्रह्म रूप केदार को घी चढ़ाया जाता है।

३. पहाड़ों में पत्थर को फोड़ कर स्रोत में से स्वतः पानी निकलता है। इसी प्रकार शिव कभी कभी हमारे पत्थर जैसे कठोर हृदयों को फोड़ कर भी सहज करुणा से प्रकट हो जाते हैं, एवं

संसार ताप को उपशान्त कर देते हैं। इस प्रकार यहां अनुग्रह भक्ति का ग्रहण किया जा सकता है। परन्तु जैसे स्रोत के पास जाने वाले को ही यह जल मिलता है उसी प्रकार सब उपायों को छोड़ कर शिव का अवलम्बन करने वाले को ही इसकी प्राप्ति होती है।

अथवा जिस प्रकार निष्कारण ही स्रोतों से जल निकलता है उसी प्रकार जीवन्मुक्त महापुरुष जो शिव रूप हैं उनके हृदय से एवं देहादि संघात से शिव-करुणा का प्रवाह निरन्तर बहता रहता है। जो प्रेम पूर्वक उनके पास जाकर उनकी सेवा करते हैं उनके संसार-ताप शान्त हो जाते हैं।

अथवा सूखी नदी या जमीन में खोदने पर जल मिलता है जो ताप को शान्त करता है। इसी प्रकार भक्ति के द्वारा अन्य सारे सांसारिक प्रेमों एवं कामनाओं को खोद करके अलग करने से परमात्म-प्रेम प्रकट हो जाता है। आत्मा की परम प्रेमास्पदीयता का अनुभव होने से 'मैं ही चिदानन्द रूप हूं' के निरन्तर अनुभव से अनानन्दापादक आवरण दूर हो जाता है। इस प्रकार शिव भक्ति से आनन्द भाव प्रकट होता है। लेकिन यहां द्वैत भक्ति न समझकर अद्वैत भक्ति समझनी चाहिये।

४. उपर्युक्त तीनों दृष्टान्तों में तेल, घी और जल अपने आवरण को सर्वथा नष्ट नहीं करते। क्या इसी प्रकार आत्मा भी अनात्मा को नष्ट नहीं करता। इसका जवाब देने के लिये यह अन्तिम दृष्टान्त है। अरणि में जो आग पैदा होती है वह अपने आच्छादक हिस्से को जलाती हुई ही पैदा होती है। अर्थात् आच्छादक अंश का नष्ट होना और अग्नि का पैदा होना युगपत् होता है। इसी प्रकार वेदान्त श्रवण के द्वारा जो ज्ञानाग्नि उत्पन्न होती है वह माया के किसी अंश को जलाते हुए ही उत्पन्न होती है। अनात्मा का नाश और आत्मा का आविर्भाव युगपत् ही होता है। जैसे अरणियों में एक

बार उत्पन्न हुई आग धीरे धीरे सारी अरणि को जलाने में समर्थ होती है एवं दूसरी लकड़ी को भी सम्पर्क में आने से जला देती है उसी प्रकार हृदय में उत्पन्न हुई ज्ञानाग्नि धीरे धीरे दृढ़तर होते हुए अविद्या और उसके समग्र कार्यों को नष्ट कर देती है तथा अन्य साधकों के अज्ञान को भी नष्ट करने में समर्थ होती है। इस प्रकार ज्ञान की पूर्णता सान्तापादक आवरण को भंग करके आत्मा की अनन्त रूपता का आविर्भाव कर देती है।

५. 'मैं' इस बुद्धि का साक्षी।

६. सत्य वचन या **सत्यं भूतहितं प्रोक्तं** इस व्यासोक्ति से सब प्राणियों का हितकारी शब्द अर्थात् वेद के बार बार श्रवण करने से अथवा सत्य शब्द से उपलक्षित यमों के अभ्यास से। वस्तुतस्तु सत्य शब्द का मुख्यार्थ ब्रह्म होने से बार बार ब्रह्माकार वृत्ति ही यहां ग्राह्य है।

७. स्वधर्म को पालन करते हुए जो कष्ट उठाने पड़ते हैं वह तप कहा जाता है। मन और इन्द्रियों की एकाग्रता ही तप कही जाती है। कुछ लोग कृच्छ्र चान्द्रायणादि को भी तप कहते हैं। वस्तुतस्तु अनात्म पदार्थों का ज्ञान से बाध रूपी जलाना ही वास्तविक तप यहां ग्राह्य है।

८. ब्रह्म वस्तुतः किसी भी ज्ञान का विषय नहीं हो सकता। अतः तत् त्वं पदार्थ के शोधन का अनुसरण करके कार्य-करण उपाधि में ब्रह्म ही अपने आप को उपहित रूपसे जानता है। इस प्रकार प्रमेय ब्रह्म और ज्ञाता ब्रह्म में कोई भेद नहीं है। ब्रह्म स्वयं को स्वयं के द्वारा ही जानता है। **ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तद् आत्मानम् एव अवेत्** इत्यादि यजुर्वेद इसमें प्रमाण है।

१६

शिव को साधन साध्य-साधकादि सबका मूल बतलाते हैं :—

सर्व-व्यापिनम् आत्मानं क्षीरे: सर्पिः इव अर्पितम् ।
आत्म-विद्या-तपोमूलं तद् ब्रह्म उपनिषत् परम् ॥
तद् ब्रह्म उपनिषत् परम् इति ॥

क्षीरे=दूध में
सर्पिः=घी को
इव=तरह
अर्पितम्=एक हुआ हुआ ।[1]
सर्वव्यापिनम्=सर्वव्यापी[2]
आत्मानं=आत्मा[3]
आत्मविद्यातपोमूलम्=आत्म-ज्ञान और तपस्या के मूल[4]
तद्= उस[5]
परम्[6]=परम[7]
उपनिषद्=उपनिषद्[8]
ब्रह्म=ब्रह्म को (जानो) ।
तद्ब्रह्मोपनिषत्परम् इति ।[9]

१. जैसे दूध में घी ऐसा एक होकर रहता है कि अलग प्रतीत नहीं होता उसी प्रकार ब्रह्म की सत्ता जगत् से एवं चित्ता शरीर और मन से ऐसी एक होकर रहती है कि अलग प्रतीत नहीं होती। किन्च जिस प्रकार उपाय विशेष से दूध से घी निकल आता है उसी प्रकार जगत् और जीव में से ब्रह्म ज्ञान उत्पन्न होता है। जैसे घी दूध का सार है वैसे ही ब्रह्म जीव और जगत् का सार है। दूध के कण कण में जैसे घी है वैसे ही जीव और जगत् के कण कण में ब्रह्म है। दूध का आत्मा घी ही है। अतः सार रूप घी के निकल जाने से दूध की कोई कीमत नहीं रह जाती। उसी तरह ब्रह्म से भिन्न हुआ जगत् मिथ्या रह जाता है।

२. आकाशादि समस्त भौतिक, विष्णु इन्द्रादि समस्त दैवी प्रपन्च, निरुपचरित रूप से यहां संग्राह्य हैं। ब्रह्म इन सबका व्यापक है अर्थात् इन सबसे बड़ा है। यद्यपि इसकी उपलब्धि देहेन्द्रियादि

संघात में होने से यह सन्देह हो सकता है कि यह केवल अध्यात्म में व्याप्त है परन्तु सर्व व्यापी शब्द का प्रयोग करके इस शंका-कुश को उखाड़ डाला है।

३. 'मैं' इस ज्ञान का साक्षी स्वयं प्रकाश चिद्रूप ही अन्तर और बहिः जगत् का आत्मा अर्थात् स्वरूप हूँ। इस साक्षी के बिना सभी कुछ स्वरूप रहित अर्थात् शून्य हो जायेगा। यही जैसे घी दूध को अर्थवान् बनाता है, वैसे सब पदार्थों को अर्थक्रियाकारी बनाता है।

४. शिव ही आत्म विद्या का मूल है। **ज्ञानमिच्छेत् महेश्वरात्, ईशानः सर्वविद्यानां** इत्यादि इसमें प्रमाण हैं। समग्र विद्याओं का प्रारम्भ परमेश्वर ही करते हैं। एवं दक्षिणामूर्ति रूप से आत्म ज्ञान की परम्परा का भी वही प्रारम्भ करते हैं। इसी प्रकार वेद विद्या का प्रारम्भ करके विचार रूपी तपस्या का भी मूल वही हैं। **तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व** इत्यादि यजुर्वेद की श्रुतियां इस में प्रमाण हैं।

आत्मा को सगुण ब्रह्म मानने से सगुण ब्रह्म ही सारी सगुण विद्याओं का विषय होकर के मूल है। एवं मन को उसी में एकाग्र किया जाता है। इसलिये तप का भी वही मूल है। वर्णाश्रमाचार का भी वही प्रवर्तक होने से मूल है। इस पक्ष में प्रवृत्ति धर्मों को विद्या और निवृत्ति धर्मों को तप समझना चाहिये।

ज्ञान का तो आश्रय और विषय दोनों ही ब्रह्म है। श्रवण-मननादि का भी वही विषय है। बाध का भी अधिष्ठान रूप से वही मूल है इस प्रकार आत्मविद्या तपो मूल शिव है यह सुस्पष्ट है।

अथवा आत्मविद्या और तप जिसके मूल अर्थात् प्रकट करने वाले हैं वह ब्रह्म है। अर्थात् इनके बिना सर्वव्यापक होने पर भी ब्रह्म प्रकट नहीं होता।

५. सत्यज्ञानादि लक्षण वाला सर्वत्र प्रसिद्ध होने से 'वह' कहा जाता है। तत् शब्द ब्रह्म के अर्थ में प्रसिद्ध भी है। सर्वनाम के द्वारा उसकी अद्वितीयता को भी प्रकट किया गया है।

६. पदम् इत्यपि पाठः।

७. निरतिशय आनन्द रूप से आविर्भूत होने के कारण उसको परम कहा गया।

८. जिसमें कल्याण बैठा हो उसे उपनिषद् कहते हैं। **उपनिषण्णम् अस्यां श्रेय इति** यह तैत्तिरीय भाष्य इसमें प्रमाण है। अथवा जो संसार बन्धन को शिथिल करे, ज्ञान की तरफ गति करावे, एवं संसार का आत्यन्तिक नाश करावे, वह उपनिषद् है। यह षद्लृ धातु के तीनों अर्थों से सिद्ध होता है। सगुण ब्रह्म पक्ष में भी यह तीनों अर्थ संगत हो जाते हैं। अथवा उप अर्थात् समीप, आत्मा के सबसे अधिक समीप (निषण्णम्) बैठी हुई अविद्या ही है। परन्तु उससे भी समीप जो अपना स्वरूप है उसका ज्ञान कराने के कारण इसे उपनिषद् कहा गया। स्वरूप से अधिक समीप तो और कुछ हो ही नहीं सकता। एवं स्वरूप ही वास्तविक एकान्त होने से शिवात्मैक्य का ज्ञान रहस्य कहा जाय यह ठीक ही है। रहस्य भी उपनिषद् का एक अर्थ होता है।

इस प्रकार उपनिषद का अर्थ ब्रह्मज्ञान सिद्ध होता है। ब्रह्म-ज्ञान ब्रह्मरूप ही होता है यह पहले बता आये हैं। लोक में जो उपनिषद् कर के प्रसिद्ध हैं वे ग्रन्थ राशि तो ब्रह्म ज्ञान के साधन होने से साधन और साध्य की एकता मान कर उपनिषद् कहे जाते हैं।

'उपनिषत् पदं' पाठान्तर में तो उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मज्ञान का पद अर्थात् विषय ब्रह्म है यह अर्थ सुस्पष्ट ही है।

९. यद्यपि इस प्रकार की द्विरुक्ति शास्त्र समाप्ति में हुआ करती है फिर भी इस प्रथमाध्याय के अन्त में द्विरुक्ति यह सूचन करने के लिये है कि प्रथम अध्याय सूत्र है एवं आगे के पांच अध्याय वार्तिक हैं। अनेक कारणवादों को उपस्थित करके उनके निरसन के द्वारा परमात्म तत्त्व को बुद्धि के पार बता कर आत्म शक्ति के निरूपण

से प्रारम्भ करके ध्यान के लिये ब्रह्म चक्र और ब्रह्म प्रवाह का वर्णन एवं जीव, माया, जगत्, ईश्वर के भेदों का वर्णन करते हुए उन सब को ब्रह्म से अभिन्न बता कर भेददर्शन से संसार एवं अभेद दर्शन से मोक्ष की प्राप्ति बताते हुए प्रणव के द्वारा साधन निरूपण कर सत्य और तप की अंगरूपता बतलाते हुए ब्रह्म का स्वरूप निर्धारण प्रथम अध्याय में करके संक्षेप में समग्र ज्ञातव्य विषयों का निरूपण यहां कर दिया गया। इससे अधिक उत्तम अधिकारी के लिये और कुछ आवश्यक नहीं है। अवशिष्ट पञ्चाध्यायी मध्यम अधिकारी को कुछ अधिक योग, ध्यान, सगुण ब्रह्म, माया, विश्वरूप आदि का वर्णन करके सम्प्रदाय परम्परा बतलाना है। अतः अग्रिम पञ्चाध्यायी वार्तिक-स्थानीय है।

इति प्रथमोऽध्यायः

अथ द्वितीयोऽध्यायः

प्रथम अध्याय में बताये हुए ध्यान योग का निरूपण करने के लिये यह अध्याय प्रारम्भ होता है। बहिर्मुख व्यक्ति को ब्रह्म ज्ञान और प्रणवध्यानादि वैसे ही व्यर्थ हो जाते हैं जैसे हाथी को नहलाना। क्योंकि जैसे हाथी नहाकर बाहर निकलते ही पुनः अपने ऊपर धूल फेंक लेता है उसी प्रकार वेदान्त श्रवणादि करके ऐसे लोग पुनः अपने को कामनाओं से ग्रस्त कर लेते हैं। अतः उसके अपेक्षित साधनों का विधान करना सर्व प्रथम आवश्यक होने से उसी को प्रारंभ करते हैं :—

१

युञ्जानः प्रथमं मनः तत्त्वाय सविता धियः।
अग्नेः ज्योतिः निचाय्य पृथिव्या अधि आभरत् ॥

सविता = उत्पन्न करने वाले ने[१]
प्रथमं = पहले[२]
मनः = मन[३] (और)
धियः = बुद्धि को[४]
तत्त्वाय = परमात्मा के लिये[५]
युञ्जानः = जोतते हुए,[६]
अग्नेः = अग्नि की[७]
ज्योतिः[८] = ज्योतिका
निचाय्य = निश्चय करके[९]
पृथिव्या = सारे संसार का[१०]
अधि = पूरी तरह से
आभरत्[११] = भरण पोषण किया[१२]।

१. सू धातु का अर्थ पैदा करना है। साधक चूंकि आत्मज्ञान को मानो अपने हृदय रूपी गर्भ से निकाल कर बाहर प्रकट कर देता है इस लिये उसे सविता कहा जाता है। सविता का सूर्य अर्थ प्रसिद्ध है। जैसे सूर्य अन्धकार को नष्ट करता है वैसे ही साधक अज्ञान को नष्ट करता है। जैसे सूर्य स्वयं गतिहीन होने पर भी भूभ्रमण होने

के कारण उदयास्त वाला दीखता है एवं जो भू-भाग सामने आता है वहां के अन्धकार को नष्ट करता है, इसी प्रकार प्रत्यगात्म रूप साधक स्वरूप से गतिहीन होने पर भी मन की साधनाओं से साधना करता हुआ प्रतीत होता है। मन की जो भी वृत्ति उसके सामने आजाती है उसका वह प्रकाश कर देता है।

सविता का दूसरा अर्थ जगत् को उत्पन्न करने वाला परमेश्वर भी लिया जा सकता है। शिवाद्वय सिद्धान्त में ईश्वर और जीव का भेद स्वीकृत न होने के कारण **ब्रह्मैव संसरति मुच्यते च** इस न्याय से परमेश्वर ही बद्ध, साधक, मुमुक्षु और मुक्त रूप से प्रतीत होता है। ईश्वर ही समग्र साधना करा रहा है इस प्रकार की भावना अहंकार को दूर रखती है। अतः यहां सविता से अन्तर्यामी रूप परमेश्वर का ग्रहण भी ठीक ही है।

अधिदैव सूर्य ही हम चाक्षुष-प्रधान प्राणियों के लिये नियामक है अतः अन्तर्यामी के लिये सविता पद का प्रयोग इस दृष्टि से भी ठीक ही है। वैसे यहां सविता का मतलब जगत्-प्रसविता भी लिया जा सकता है। एवं काण्व संहिता में तथा महाब्राह्मण में इसका अर्थ प्रजापति भी लिया गया है। उस पक्ष में इस मन्त्र से सृष्टि प्रक्रिया का प्रतिपादन है। वह भी यहां संग्राह्य है। वस्तुतस्तु अध्यात्म-साधक, अधिदैव सूर्य, अन्तर्यामी, प्रजापति, एवं महेश्वर सबकी एकता प्रतिपादन करने वाला सविता शब्द यहां महावाक्यों की तरह जगत्-जीवेश्वर भेदों को निवृत्त करने के लिये है।

२. यहाँ प्रथम शब्द प्रधान अर्थ में भी है अर्थात् यह मुख्य साधन है यह अभिप्राय है। चित्तशुद्धि के अनन्तर ईश्वर की ओर रुझान होने के बाद यह पहला साधन है। इसके बिना अन्य साधन निष्फल हैं। जिसकी निवृत्ति-साधना में प्रवृत्ति हो वह इन साधनों को सबसे पहले करे क्यों कि यही मुख्य आधार शिला है।

३. मनन करना मन का काम है । अर्थात् तर्क मीमांसादि के द्वारा अपने मन को शुद्ध करना चाहिये । तभी मन मनन के योग्य बनता है । जो मनन करने में असमर्थ है वह वेदान्त का तात्पर्य ग्रहण नहीं कर सकता । एवं कराया हुआ श्रवण भी व्यर्थ हो जाता है । मनन सहकृत श्रवण ही अप्रतिबद्ध आत्म-ज्ञान का कारण सर्वज्ञ शंकर एवं सुरेश्वर ने स्वीकार किया है ।

अथवा **मनसो मनः** के द्वारा कहा हुआ मन का भी मन अर्थात् मनः साक्षी यहां ग्राह्य है। इस मनःसाक्षी को न समझने से नपुंसक का बांझ से विवाह होकर पुत्र प्राप्ति की तरह सम्बन्ध हो जाता है। वस्तुतः यही आत्मा की कार्य-करण संघात की प्रवृत्ति कराने का मूल केन्द्र है जो ज्ञान, क्रिया, इच्छा सभी को स्फुट करता है । इसी को अन्तःकरण भी कहते हैं।

अत्यन्त मस्त हाथी की तरह इन्द्रिय और प्राणों का नियन्त्रण मन के अंकुश के बिना व्यर्थ हो जाता है । यद्यपि योग-शास्त्रों में प्रत्याहार के द्वारा इन्द्रिय एवं प्राणायाम के द्वारा प्राण निरोध का प्रतिपादन है परन्तु वे जड़ समाधि के साधन होने पर भी ज्ञान-मार्ग में नितान्त व्यर्थ हैं। वस्तुतः सारे अनर्थों का मूल मन ही है अतः मन के नियन्त्रण का अर्थात् परमात्म-ध्यान में लगाने का साधन यहां बतलाया। मुख्य रूप से मनन के द्वारा तत्त्वमस्यादि महावाक्यों का तात्पर्य निर्णय करके असंभावना दोष का निराकरण करना ही मन को परमात्मा के लिये जोतना है । गौण रूप से ओंकार या अहं के आलम्बन में मायाविशिष्ट चेतन का ध्यान भी मन को ईश्वर में लगाना है । अत्यन्त नौसिखिये के लिये तो उपनिषदों का श्रवण ही मन को ईश्वर में लगाना है ।

प्रजापति समष्टि रूप लिङ्गशरीर का निर्माण करता है अर्थात् समष्टि रूप लिङ्ग को व्यवहार के लिये जोतता है, यह भी तात्पर्य है।

यहां मन का अर्थ समष्टि मन या आद्य मन लेना चाहिये। अथवा महेश्वर प्रत्येक प्राणी को तत् तत् संस्कारों द्वारा मन में प्रेरणा देकर कर्म में प्रयुक्त करता हैं। अधिदेव सविता अपने मन की सिद्धि के लिये संकल्प-विकल्प का कर्ता बनकर समष्टि भाव से मनोरूप हिरण्यगर्भ जगत् कल्पक को उत्पन्न करता है । **मनो वै सविता** इत्यादि श्रुति इसमें प्रमाण हैं।

अथवा समाधि के अभ्यास को प्रारम्भ करने के पहले अर्थात् षट्चक्र भेदन के पूर्व हृदय-कमल में अध्यात्मादि भेद भिन्न प्रपञ्च-प्रसव गुण युक्त शक्ति सहित शिव का आधान पहले सिद्ध कर लेना चाहिये। **हृत्पुण्डरीकं विरजं** इत्यादि श्रुतियां इसमें प्रमाण हैं। ज्ञान में प्रवृत्त साधक का मन इससे इह लोक और परलोक के समग्र विषयों से हट जाता है एवं हृदय में आनन्द का अनुभव करने लगता है। इससे आगे की साधना सुकर हो जाती है।

४. निदिध्यासन के लिये बुद्धि को परमात्मा में लगा कर विपरीत भावना की निवृत्ति करना ही बुद्धि को तत्त्व में लगाना है। श्रद्धा, ऋत, सत्य, योग यही बुद्धि के साधन हैं। इनके द्वारा बुद्धि शुद्ध होने पर ही विज्ञान के योग्य बनती है। यही बुद्धि को तत्त्व में लगाना है। जो विज्ञान करने में असमर्थ है उसको मनन द्वारा निःसंशय ज्ञान होने पर भी विपरीत भावना रूपी प्रतिबन्धक से ब्रह्म-निष्ठा प्राप्त नहीं होती। निदिध्यासन-सहकृत श्रवण ही आत्म-ज्ञान को अप्रतिबद्ध करता है। यद्यपि भगवान् वार्तिक-कारों ने निदिध्यासन को विज्ञान से अभिन्न माना है तथापि उन्होंने भी प्रकरणान्तर में ध्यान को सहकारी कारण स्वीकृत कर लिया है। जो लोग श्रवण के बाद ज्ञानानन्तर ध्यान को आवश्यक मानना चाहते हैं उनका मुख-मर्दन करने के लिये ही भगवान् वार्तिककारों ने वार्तिकामृत में निदिध्यासन और विज्ञान को एकार्थक प्रतिपादित किया है। ज्ञान

के अनन्तर ध्यानादि की आवश्यकता तो किसी भी केवलाद्वैती को स्वीकृत नहीं हो सकती। प्रकृत श्रुति में तो स्पष्ट ही मनन निदिध्यासन के बाद निचाय्य के द्वारा श्रवण कहा गया है।

बुद्धि से यहां अहंकार का भी ग्रहण है। अर्थात् अहंकार के साक्षी रूप से तत्त्व को समझना चाहिये। मनके संस्कारों का प्रवर्तन अन्तर्यामी अहंकार के माध्यम से ही करते हैं। अतः इस केन्द्र का नियन्त्रण होने पर सभी प्रवृत्तियों का नियन्त्रण सहज हो जाता है।

अहं के द्वारा ही इच्छा शक्ति का प्रवाह होता है। अतः इच्छाओं के प्रवाह को सभी लोग अपना ही प्रवाह मानते हैं। सभी साधनाओं में इच्छा का नियन्त्रण प्रधान है। भक्ति का तो मूल ही ईश्वर को अपना सब कुछ अर्पण करना रूपी इच्छा त्याग ही स्वरूप है।

मन पर बुद्धि का नियन्त्रण ही बुद्धि को मन से जोड़ना है। **प्राणा वै धियः** इस यजुर्वेद की श्रुति के आधार पर मन को प्राणों से चलने वाले सोऽहं जप के साथ लगा देना भी यहां ग्राह्य है। अथवा जिस प्रकार मन की वृत्तियों का साक्षी माना है उसी प्रकार प्राण के आवागमन को ज्ञान दृष्टि से देखते रहना भी बुद्धि-शुद्धि का एक साधन है। सहस्रार बुद्धि का कार्य-स्थान है। अतः सहस्रार में हृदय देश से मन को उठाकर स्थित करना मन और बुद्धि को जोत देना है। कुछ योगी तो सहस्रार में शिव-चालन को भी यहां ग्रहण कर लेते हैं।

प्रजापति रूप से सविता का ग्रहण करने पर बुद्धि से प्राण अर्थात् कर्मेन्द्रियों की एकता को लेकर समष्टि लिङ्ग देह से कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति को बताया।

वस्तुतस्तु मन के विक्षेप का कारण जो आसुर वृत्तियां, उनसे हटा कर सात्त्विक वृत्तियों को स्थिर करना इष्ट है।

५. तत् अर्थात् ईश्वर एवं ईश्वर से उपलक्षित चेतन तथा त्वं माने जीव और उससे उपलक्षित चेतन, इन दोनों की चेतन रूप

एकता ही तत्त्व का वास्तविक अर्थ है। जिस प्रकार बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव को छोड़ देने पर ही वास्तविक सूर्य का ज्ञान होता है उसी प्रकार जीव-ईश्वर भाव का परित्याग करने पर ही ब्रह्म-रूप में स्थिति होती है। यह आत्मा की यथार्थता का अपरोक्ष ही समग्र साधनाओं का उद्देश्य शिव है।

परमेश्वर बुद्धि और मन की सृष्टि के अनन्तर पञ्चतत्त्व अर्थात् आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी की सृष्टि करता है। तात्पर्य है कि पहले समष्टि मन और बुद्धि की सृष्टि इस विराट् रूप को उत्पन्न करने के उद्देश्य से ही की गई। कुछ विचारकों के अनुसार तो तत् का अर्थ मन लेकर **तस्य भावस्तत्त्वं तस्मै** अर्थात् मन को सृष्टि संकल्प-विकल्प करने के लिये हो की, क्यों कि संकल्प विकल्प ही मन का भाव है।

६. जिस प्रकार गाड़ी चलाने के लिये दो बैल जोतने पड़ते हैं इसी प्रकार साधना के लिये मन और बुद्धि दोनों को जोतना आवश्यक है। मनन और निदिध्यासन ही जब श्रवण रूपी गाड़ी में जोते जाते हैं तब तत्त्वनिष्ठा की प्राप्ति होती है।

धात्वर्थ यहां योग अर्थात् समाधि को भी बतलाता है अर्थात् जब साधनों के द्वारा कुण्डलिनी को उठाकर मूलाधार से सहस्रार में चढ़ा दिया जाता है तभी स्वरूप स्थिति संभव होती है। यहां अन्तर्निहित णिजन्त भी माना जा सकता है। अर्थात् युञ्जानः का अर्थ योजयन् हो जायेगा। तात्पर्य है कि जब हम परमेश्वर से प्रेम करते हैं वह हमारे मन और बुद्धि को जोड़कर परमात्मा में लगा देता है। पातञ्जल सूत्रों में **ईश्वरप्रणिधानाद्वा** कह कर प्रपत्ति योग का ही प्रतिपादन है।

प्रजापति विराट् की सृष्टि करके कर्म में अर्थात् जीवों के कर्मफल भोग के अनुसार उन्हें जोड़ देता है यह भी यहां तात्पर्य है।

७. अग्नि अर्थात् अग्रेसर याने सबसे आगे चलने वाला। **धावतः अन्यान् अत्येति** इत्यादि यजुर्वेद इसमें प्रमाण है। ब्रह्म की ज्योति, अर्थात् ब्रह्म-ज्ञान, उसका निश्चय श्रवण से ही होता है। अतः सब ज्ञानों को आगे चलकर के देने वाला वेद अग्नि पद का वाच्य है। वेदों की वास्तविक ज्योति महावाक्य हैं। षड्विध लिङ्ग तात्पर्य से उनका जीव-ब्रह्मैक्य में निश्चय करना ही श्रवण है। अतः यहां वेद-श्रवण भी संग्राह्य है। अग्नि का तात्पर्य शिव भी होता है। **रुद्रो वै अग्निः** इत्यादि श्रुति इसमें प्रमाण हैं। उनकी ज्योति अर्थात् शक्ति समग्र वेदों का शक्तिविशिष्ट शिव में अर्थात् सोपाधिक ब्रह्म में अन्वय करके निश्चय करना भी यहां समझ लेना चाहिये। अथवा शिव की ज्योति अर्थात् स्वयं प्रकाश रूप चिन्मात्र। सर्व जगत् में सत् चित् रूप से उसको अन्वित देखना भी यहां बताया गया। अथवा अग्नि से यहां सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, विद्युत् आदि सभी अग्नियों की उपलक्षणा कर लेनी चाहिये। अर्थात् सभी प्रकाशों में उसका ही प्रकाश है यह निश्चय कर्तव्य है। **ज्योतिषां ज्योतिः** इत्यादि यजुर्वेद इसमें प्रमाण है। अग्नि से पञ्चमहाभूत भी उपलक्षित हो सकते हैं। सभी महाभूत उसी के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं ऐसा निश्चय करना चाहिये। **पृथ्वी च म अग्निश्च मे द्यौश्च मे वरुणश्च मे** आदि यजुर्वेद इसमें प्रमाण है। परमेश्वर ही इन सब नाम रूपों को धारण करके हमारे सामने प्रकट न होता तो इन सबमें सत्ता और प्रियता की अनुवृत्ति कैसे होती।

प्रजापति की सृष्टि-प्रक्रिया में तो अग्नि अर्थात् अपने अन्दर स्थित सर्व-ज्ञान रूपी अग्नि का निश्चय करके ही सृष्टि की गई एवं इसी लिये ज्ञान ही सब सृष्टि के पदार्थों में स्फुट होता रहता है। इस दृष्टि से साधक के लिये अग्नि रूपी अपनी अन्तरात्मा को सर्वशक्तिमान् समझकर वह शक्ति ही मन को मनन की शक्ति देती है, इन्द्रियों को,

प्राणों को अपने २ कर्म की शक्ति देती है, इत्यादि निश्चय करके यह सभी कुछ अपने ही तेज से तेज वाला है ऐसा निश्चय करना चाहिये।

नौसिखिये साधक के लिये तो दीपादि की ज्योति जलाकर उसे ही परमात्मा का प्रतीक मानकर साधन प्रारम्भ करना चाहिये। वैराग्य रूपी तेल से एवं भक्ति रूपी बत्ती से वेदज्ञान रूपी पात्र में ईश्वर-ध्यान रूपी दीपक जला करके हृदय में भी इस ज्योति का ध्यान किया जा सकता है।

अथवा **आग्नेयः कृष्णग्रीवः** इत्यादि यजुर्वेद-सिद्ध नीलकण्ठ महादेव का भी ध्यान यहां इष्ट है। **नीलकण्ठं प्रशान्तं** इत्यादि वेद इसमें प्रमाण है। नौसिखिये के लिये यह ध्यान बाह्य ही हो सकता है।

वस्तुतः मन और धी से युक्त हुआ यह निश्चय ही, अर्थात् मनन निदिध्यासन सहकृत् श्रवण ही ज्ञान के प्रति साक्षात् कारण है। इसी लिये प्रथम दो को तत्त्व के लिये बताकर यहां साक्षात् ही अग्नि की ज्योति को बता दिया। जैसे लोक में अग्नि लकड़ी में विद्यमान होने पर भी ज्योति रूप से प्रकट होने पर ही अन्धकार का नाश एवं सर्दी को दूर कर सकती है उसी प्रकार हृदय में शिव रहते हुए भी श्रवण के द्वारा उत्पन्न ज्ञान से ही अविद्यान्धकार और संसार रोग को नष्ट कर सकते हैं। जैसे दीप, बत्ती, तेल इत्यादि सभी अप्रकाश जाति के हैं पर अपने से भिन्न प्रकाश जाति को उत्पन्न करते हैं उसी प्रकार मन आदि सभी जड़ जाति के होते हुए भी चेतन प्रकाश को उत्पन्न करते हैं। इसी विलक्षणता के कारण अग्नि शब्द को वेदों में प्रायः परब्रह्म परमात्मा का प्रतीक शब्द रूप में और ध्येय रूप में भी माना है।

८. **शंकरानन्दस्तु अग्निं ज्योतिरिति पठति।** तत्र तु अग्निरूपेण ज्योतिरूपेण च ब्रह्म एव इति निश्चेतव्यम्। अग्निरिति सोपाधिकं ब्रह्म ज्योतिरिति निरुपाधिकम्। **द्विविधो हि ब्रह्मणो** रूपमित्यादि भाष्यप्रतिपादितत्वात्।

९. प्रमाणगत संशय की निवृत्ति ही यहां इष्ट है सत्यतत्त्व में प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों की प्रवृत्ति की असंभवता, वेद-प्रमाण की संगतता, वेदजन्य ज्ञानसे अज्ञात और अबाधित होने से प्रमा का उदय, ब्रह्म ज्ञान मात्र से अज्ञान का नाश, वेद की आप्तता, वेदेतर प्रमाणों की अनाप्तता, वेदों का तात्पर्य जीव-ब्रह्म की एकता को छोड़ कर अन्यत्र कहीं भी होने की असंभवता, आदि आदि प्रमाण विषयक संदेहों की निवृत्ति ही प्रमाणगत असंभावना की निवृत्ति है।

१०. पृथिवी से तात्पर्य यह पार्थिव देह है। जब मनन-निदिध्यासन सहकृत् श्रवण से ज्ञान हो जाता है तब जीवन्मुक्ति की प्राप्ति से यह देह भी कृत-कृत्य हो जाता है एवं इसके सभी अवयव और व्यवहारों में आत्म-ज्ञान की झलक बनी रहती है। जीवन्मुक्त ही पृथिवी में परमात्मा का दिव्य तेज भरता रहता है। ऐसा शिवयोगी श्री परमहंस साक्षात् चलता फिरता नारायण है ऐसा स्मृतियों में प्रतिपादित है। अतः यहां बताया कि ऐसे ज्ञानियों ने इस ज्ञान के विस्तार को सारे संसार में प्रतिष्ठित कर दिया। वेद-ज्ञान का तात्पर्य परमहंस सारे विश्व में प्रतिष्ठित करें यह विधि भी यहां प्राप्त हो जाती है। **असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम्** इत्यादि यजुर्वेद इस में प्रमाण है। **सर्वभूतहिते रताः** आदि स्मृति वाक्य भी इसी बात को बताते हैं। आत्म ज्ञान के अतिरिक्त और कोई भी चीज सारे प्राणियों के कल्याण की हो, यह संभव नहीं।

अथवा इस पञ्चभूत के कार्य-करण संघात में रहते हुए भी वह इससे अधि अर्थात् अस्पृष्ट ही रहता है। असंग रहते हुए ही आ, अर्थात् अच्छी तरह से, इसमें बुद्धि के द्वारा तत् पदार्थ रूप अग्नि ज्योति का प्रत्यक् रूप से अभिव्यञ्जन करता रहता है। तात्पर्य है कि उसका प्रत्येक कार्य ईश्वर की प्रेरणा से प्रेरित होकर ही होता है, यश मान आदि के प्रति प्रीति और अपयश अपमान आदि के प्रति द्वेष उसको नहीं होता है।

प्रजापति की सृष्टि-प्रक्रिया में समष्टि मन को व्यष्टि मन रूप से सारी प्रजाओं में रख दिया गया। अर्थात् प्रत्येक मन में प्रतिबिम्ब के द्वारा उसने व्यष्टि रूप ले लिया। यहां पृथिव्यै अर्थात् प्रजा को विस्तीर्ण करने के लिये, यह तात्पर्य है। अथवा ब्रह्माण्ड गोलक रूप से स्थूल, और विराट् शब्द के द्वारा कही गई तथा सूक्ष्म रूप से सूत्रात्म-शब्द से कही गई पृथिवी का यहां ग्रहण है। तात्पर्य है कि परमेश्वर में मन लगाने के लिये वह सविता देवता ईश्वर सूत्रात्मा और विराट् रूप से हमारे पार्थिव देह पर अनुग्रह करके अग्न्यादि समग्र रूपों को इस प्रकार प्रवृत्त करे कि हमारे वाणी आदि सर्व कार्य-करण संघात उसकी कृपा से समाधि को प्राप्त करें।

११. **आहरति लेट् लिप् इतश्च लोपः परस्मैपदेषु शब् गुणः छन्दोभेश्छन्दसि।**

१२. अधि अर्थात् इस जगत् से अधिक याने अव्याकृत। उसको भी आ अर्थात् अच्छी तरह से धारण और पोषण परमात्मा करता है। यहां भूतकाल का प्रयोग विवक्षित नहीं है।

अथवा जिस प्रकार इस आद्य अधिकारी ने पृथिव्यादि सब भूतों में अपने आपको विस्तृत हुआ हुआ देखा वैसे ही आधुनिक अधिकारी भी ज्ञान की परिपाकावस्था में अपने को सर्व रूप से अनुभव करता है। जब तक यह अनुभव न हो जाय तब तक कृतकृत्यता नहीं समझनी चाहिये। सांख्य प्रक्रिया से प्रभावित होकर कई बार जीव साक्षी में ही अटक जाता है। अतः जीव और ईश्वर चैतन्य का अभेदानुभव अवश्य कर्तव्य है यही श्रुति का तात्पर्य है।

२

पूर्व मन्त्र में जिसे विधिरूप से बतलाया उसी के अनुष्ठान की शक्ति को प्राप्त करने के लिये प्रार्थना करते हैं—

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे सुवर्गेयाय शक्त्या।

वयं = हम[१]	युक्तेन = योग युक्त[३]
सवितुः = परमेश्वर	मनसा = मनसे
देवस्य = महादेव के	शक्त्या = पूर्ण सामर्थ्य के साथ[४]
सवे = सृष्टि रूपी सामूहिक यज्ञ में[२]	सुवर्गेयाय[५] = कल्याण के लिये[६]
	(प्रभवाम) = (प्रयत्न कर सकें)।

१. जिन्होंने शिव से मन को जोड़कर दैव-शक्ति का अपने में आधान करके दृढ़ता प्राप्त कर ली है ऐसे साधक संघ से यहां तात्पर्य है। अथवा मंत्रद्रष्टा ऋषि आत्मा की एकता को जानते हुए भी देह-भेदों से व्यवहार के लिये जीव भेदों को सिद्धवत् मान कर यह प्रार्थना कर रहे हैं। अथवा एक ही देह में मन, बुद्धि, अहंकार, इन्द्रियां शरीर, आदि अनेक संघातों को अपने से अभिन्न मानकर यह प्रार्थना है। वस्तुतस्तु अपने सभी शिष्यभक्त एवं प्राणिमात्र के अन्तःकरण में अनेक रूपों को देखकर ऋषि की तरफ से यह प्रार्थना है।

२. सविता अर्थात् सर्व प्राणियों का उत्पन्न करने वाला, उसके सव में अर्थात् प्रसव में यानी उत्पत्ति रूपी यज्ञ में यह सृष्टि-चक्र एक यज्ञ है, जिसमें **एतावद् रूपं यज्ञस्य यद्देवैर्ब्रह्मणा कृतम्** इत्यादि यजुर्वेद के प्रमाण से इन्द्रियों द्वारा आत्मा की बलि दी जाती है। इस यज्ञ में सोम अर्थात् ब्रह्म-ज्ञान को चुवाया जाता है, अतः इसे सोम-सव या केवल सव कहा गया। जब हम इस उद्देश्य से प्रवृत्त होते हैं तो यज्ञ में शामिल माने जाते हैं। एवं जब इससे बहिर्भूत हो जाते हैं तो शोक-मोह में पड़कर **शूद्रो यज्ञे अनवक्लृप्तः** के अनुसार यज्ञ के अयोग्य हो जाते हैं। यह यज्ञ प्रवृत्ति और निवृति के मार्गों से चलाकर

अन्त में शिव में स्थित कर देता है। चूंकि इस प्रकार का जीवन-यापन करने की ही परमेश्वर ने अनुज्ञा दी है इसलिये इसमें लग जाना ही परमेश्वर की अनुज्ञा में रहना है। सव का अर्थ अनुज्ञा भी होता ही है।

शतपथ ब्राह्मण में तो इस मंत्र की सृष्टिपरक व्याख्या है। हम युक्तेन मनसा अर्थात् कर्म में दत्तचित्त होकर सविता देव के हिरण्य-गर्भ रूप से बनाये हुए प्रसव में, अर्थात् ब्रह्माण्ड में, इस शरीर में स्थित हैं।

३. परमात्मा से मन का योजन ही योग युक्त होना है। परमेश्वर के प्रसाद से हमारी प्रत्यगात्मा रूपी शिव में एकात्मता हो जाय यह तात्पर्य है। शिव प्रसाद से ही शमदमादि सम्पन्न साधक हो पाता है।

पूर्व मंत्र के अनुरोध से यहां मन और बुद्धि का योग समीचीन-तर प्रतीत होता है।

४. यद्यपि प्रत्येक मनुष्य में आत्मज्ञान की शक्ति निहित है एवं अनेक लोग आत्म-ज्ञान की ओर प्रवृत्ति करने पर भी इसी लिये ज्ञान में समर्थ नहीं हो पाते कि वे अपनी समग्र शक्ति का प्रयोग ज्ञान-साधना में नहीं करते। बहुत से तो यह सोचकर कि श्रवण मनन से अतिरिक्त कोई साधन होगा अनेक व्यर्थ के पन्थों और पचड़ों में पड़ जाते हैं। इस प्रकार जो शक्ति श्रवण मनन में लगाते वह बिखर जाती है। कुछ अन्य तो संसार के धन्धों में संन्यासी होकर भी संसार के उपकार के नाम पर लगकर पथ-भ्रष्ट हो जाते हैं। अन्य प्रमाद के कारण केवल दिन ही बिताते जाते हैं। जिस व्यक्ति को बन्धन सिर पर रखे हुए धधकते हुए अंगारों की तरह असह्य प्रतीत नहीं होता वह समग्र-शक्ति से ब्रह्म की तरफ नहीं लग सकता। ऐसा शक्तिसंग्रह महादेव की कृपा से ही हो सकता है। इसलिये यहां अपनी समग्र शक्ति को एकत्रित करने की प्रार्थना है।

प्राचीनों ने तो शक्त्या का अर्थ यथा-शक्ति किया है। अर्थात् हम अपनी शक्ति भर ज्ञान-साधन श्रवणादि कर्म करते रहें, अथवा परमेश्वर-कृपा से प्राप्त बल के द्वारा ही हम ज्ञानसाधना कर सकते हैं इसलिये परमेश्वर हमको ऐसा बल देवें।

शतपथ ब्राह्मण में परमात्मा ने हमें शक्ति अर्थात् कार्य-करण संघात की सामर्थ्य इसीलिये दी है कि हम स्वर्ग के लिये कर्म करते रहें। विभक्ति व्यत्यय करके कुछ आचार्यों ने 'शक्ति के लिये' ऐसा सम्प्रदान माना है। अर्थात् हम उस शक्ति के लिये प्रार्थना करते हैं जो हमें ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने में समर्थ करे। वस्तुतः प्रथम अध्याय में प्रतिपादित आत्मशक्ति ही यहां इष्ट है। तात्पर्य है कि जिस आत्म-शक्ति ने जगत् प्रवर्तन किया है वह स्वयं ही अपने आप को पुनः हटा कर हमें निरतिशय आनन्द का अनुभव करने दे। इस दृष्टि से जिस प्रकार जगत् के विषय दृश्यमान शक्ति कार्य हैं उसी प्रकार शिवयोगी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु भी उसी शक्ति का परिदृश्यमान कार्य है। उन विषयों के लिये किया हुआ कर्म और प्रेम चिन्तन एवं ध्यान तथा निश्चय बन्धन को बढ़ाता है एवं गुरु के प्रति किया हुआ यही सब मोक्ष देता है। अतः वे परमेश्वर हमें गुरु रूप शक्ति की प्राप्ति के लिये अथवा गुरु रूप शक्ति से युक्त होने के लिये वरदान दें।

५. **स्वर्गेयाय इति दीपिकापाठः**। स्वर्गिभिर् ईयाय गमनाय प्रार्थ्यते इति स्वर्गेयाय। अथवा स्वः = स्वर्लोकवासिभिः गीयते इति स्वर्गेयः मोक्षः तस्मै। माध्यन्दिनानामपि अयमेव पाठः। स्वर्गनिमित्ताय कर्मणे इति यावत्। **यथैतेन कर्मणा स्वर्गं लोकम् ईयात्** इति शतपथश्रुतेः।

६. सु अर्थात् श्रेष्ठ वर्ग अर्थात् समूह। शुभ कर्म भक्ति, साधन-चतुष्टय, श्रवण, और ज्ञान सुवर्ग हैं। इसको प्राप्त कराने की यहां प्रार्थना है। अथवा स्वर्ग अर्थात् निरतिशय सुख उसकी प्राप्ति के समग्र हेतुओं के लिये हमारे में सामर्थ्य आवे। अविद्या निवृत्ति ही

दुःखों के कारण की निवृत्ति है। यह स्वर्ग के लोगों को भी इष्ट है। अथवा स्वर्ग में देवता रहते हैं, अतः दैवी गुण सम्पन्नों के द्वारा जो ज्ञेय अर्थात् प्रशंसित होवे वह वेद यहां इष्ट है अर्थात् हम वेदाध्ययन करें। परमात्मा को भी स्वर्ग कहा है। स्वर्ग शब्द का वाच्य सुख है एवं परमात्मा ही वस्तुतः सुख रूप है उससे भिन्न पदार्थ तो केवल उसके आभास मात्र से ही सुख-रूप प्रतीत होते हैं।

इस प्रकार इस मंत्र का तात्पर्य हुवा कि परमात्मा के अनुग्रह से उसकी आज्ञा से प्रवृत्त इस विश्व-यज्ञ में हम एकाग्र मन से निरतिशय आनन्द को प्रकट करने वाले शम-दम युक्त श्रवणादि में पूर्ण शक्ति से प्रयत्न करें। अथवा **देवस्य सवितुः शक्त्या युक्तेन मनसा** ऐसा अन्वय करके उस देव की ज्ञान उत्पन्न करने वाली शक्ति अर्थात् कुण्डलिनी से युक्त होकर मन से साधन में लगें।

३

मुमुक्षु और ज्ञानियों पर अनुग्रह करना परमेश्वर का स्वभाव है :—

युक्त्वाय मनसा देवान् स्वर्यतः धिया दिवम्।
बृहत् ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान्॥

सविता = परमेश्वर[1]	ज्योतिः = ज्ञान[6]
तान् = उन	करिष्यतः[7] = करने की इच्छा वाले[8]
स्वर्यतः[2] = आनन्द के इच्छुक,[3]	देवान् = देवताओं को[9]
मनसा = मन (और)	युक्त्वाय = निर्विकल्प समाधि के लिये[10]
धिया = बुद्धि के द्वारा	प्रसुवाति = प्रसव करता है[11]।
दिवं = स्वयं प्रकाश[4]	
बृहत् = ब्रह्म[5]	

१. यहां अन्तर्यामी से भी तात्पर्य हो सकता है। क्योंकि अन्तर्यामी रूप से ही वह सभी प्राणियों को सदा ही ब्रह्म की तरफ प्रवृत्त करता

है। विद्या से अविद्या में जीव ही अपने आपको उत्पन्न करता है ऐसा मान कर यहां जीव को भी ग्रहण किया जा सकता है। **मनो वै सविता** इत्यादि यजुर्वेद की श्रुति इसमें प्रमाण है।

२. **सुवर्यतः इति पाठभेदः।** सुवः स्वर्गं पूर्णानन्दब्रह्म यतः ब्रह्मज्ञानात्। **क्वचित् पाठे स्वरिति यत् पृथक् पदं** तस्मिन् पक्षे स्वः आत्मा तदुद्दिश्य यन्त इति व्याख्येयम्।

३. **स्वः माने** स्वर्ग को जाते हुए अर्थात् जो निरतिशय सुख को जाने के रास्ते पर आरूढ़ हो गये हैं। स्वर्यतः में यहां द्वितीया बहुवचन है। देव का अर्थ इन्द्रियां मानने पर जो मन आदि इन्द्रियां शब्दादि विषयों को छोड़ कर स्व अर्थात् शिव रूप प्रत्यगात्मा की तरफ जाने वाली बन गई। वस्तुतः इन्द्रियां पहले तो स्वर्यतः अर्थात् स्वर्ग लोक के सुखों तक जाने की अभिलाषा करती रहती हैं। इन्द्रियों की लालसा का कोई अन्त ही नहीं है। यह इन्द्रियों का 'सव' अर्थात् प्रथम जन्म है। फिर ब्रह्म-निष्ठों के संग से वही मन-इन्द्रियां वैराग्य-वती होकर स्वर्यतः अर्थात् आत्मा की ओर जाने वाली बन जाती हैं। यह उनका प्रसव अर्थात् दूसरा जन्म है। प्र अर्थात् प्रकर्ष माने श्रेष्ठ। विषयाभिलाषा वालों की इन्द्रियों को वह परमेश्वर उनकी कामना पूर्ण करने के लिये बहिर्मुखी बनाता है। इसमें **पराञ्चि खानि** इत्यादि यजुर्वेद की श्रुतियां प्रमाण हैं। शिवाभिमुखी लोगों को इन्द्रियों की अन्तर्मुखता श्रेष्ठ इसलिये है कि वह कार्य सहित माया का विनाश कर जन्म प्रतीतियों का सकारण नाश कर देती है। ये सभी विशेषण देवान् को ही विशेष्य करते हैं।

४. शुद्ध मन और बुद्धि के द्वारा प्रत्यगात्मा की ब्रह्मरूपता, जो इनकी अशुद्धि के कारण छिपी हुई थी, प्रकट हो जाती है। यद्यपि ब्रह्म स्वयं-प्रकाश है तथापि मन और बुद्धि के प्रयत्नों से ही मानो उसका आवरण भंग करके उसको प्रकाशवान् करने की इच्छा साधक करता है।

कुछ लोग तो दिवं से द्योतन करने वाले विषय समूह का ग्रहण करते हैं। उनका तात्पर्य है कि सविता मन और बुद्धि के द्वारा देवों को अर्थात् इन्द्रियों को स्वः अर्थात् वैषयिक सुख की ओर यतः अर्थात् लगाते हुए दिवं अर्थात् विषय समूह को बृहत् अर्थात् अधिक ज्योतिः अर्थात् प्रकाश रूप करिष्यतः अर्थात् करते हुए प्रसुवाति अर्थात् उत्पन्न करता है। उन इन्द्रियों को हम पूर्व मंत्र में कही हुई सविता देव की शक्तियों से युक्त होकर मोक्ष के लिये लगा सकें। तात्पर्य है कि सुख के लिये जाती हुई इन्द्रियां यद्यपि विषयों को प्रकाशित करती हैं एवं विषय वासना को बृहत् बृहत्तर करती हैं तथापि हम उसे परमात्म शक्ति का ही विकास समझकर मन के द्वारा, यह सब सविता ही है, इस प्रकार युक्त कर सकें। इसके फलस्वरूप इन्द्रियां फिर विषयमुख नहीं हो पायेंगी। इस प्रकार मन के करने में हेतु रूप से मंत्र का चतुर्थ पाद लगा लेना चाहिये। चूंकि सविता ही उनका प्रसव करने वाला है। यहां सविता के प्रसव में प्रकर्ष अभिन्न निमित्तोपादान कारणत्वेन है। इसीलिये इन सब चीजों का जब हम सविता रूप से ग्रहण कर लेते हैं तब इन्द्रियों की उनमें हेयोपादेय बुद्धि नष्ट हो जाती है।

५. जीवेश्वर जगत् भाव रहित निर्मल ब्रह्म, अथवा शक्ति विशिष्ट शिव दोनों ही अर्थ इष्ट हैं।

६. यद्यपि ब्रह्म स्वयं ज्ञान स्वरूप होने से उसका ज्ञान होना असंभव है तथापि यहां अविद्या-नाश से ऐसा उपचार संभव है। जिस प्रकार बिजली के जलते हुए लट्टू के ऊपर यदि काला घड़ा रखा हुआ हो तो कहा जा सकता है कि मैं इस घड़े को फोड़कर इस कमरे में प्रकाश करना चाहता हूँ। यहां यद्यपि घड़ा फूटने से प्रकाश नहीं हुवा हैं वरन् बिजली के प्रकाश से ही प्रकाश हुवा है तथापि घड़े के फूटने से ही उसका अनुभव हुवा है इस लिये ऐसा कथन संभव है।

तात्पर्य है कि एकाग्र गुण युक्त मन से प्रत्यगात्मा को युक्त्वाय अर्थात् एक करके स्वयं प्रकाश अद्वितीय चैतन्य प्रकाश को बुद्धि से आविष्कार करते हुए, अर्थात् प्रत्यगात्मपरायण मन बुद्धि से **अहं ब्रह्मास्मि** इस ज्ञान से ब्रह्म को प्रत्यगात्मा में अवतरित करते हुए, परमेश्वर **प्रसुवाति** अर्थात् अनुजानाति, अनुज्ञा देता है, अर्थात् अनुग्रह करके ज्ञान देता है। इस पक्ष में तान् अर्थात् प्रयत्न करते हुए मुमुक्षुओं को एवं देवान् अर्थात् इन्द्र, विष्णु, यम आदि देवताओं को भी वही प्रसन्न होके ब्रह्म ज्ञान देता है जिससे वे कृतकृत्य हो जाते हैं।

७. **अत्र द्वितीया बहुवचनम्**। विषयजातम् अति प्रौढ़ं कुर्वतः ज्ञानं चेत्यर्थः।

८. माध्यन्दिन संहिता में **युक्त्वाय सविता देवान्** इस प्रकार पाठ है। शातपथ श्रुति के अनुरोध से वहां भी सविता का अर्थ मन ही है। तात्पर्य है कि सविता अर्थात् मन, स्वर्ग को जाती हुई देवान् अर्थात् वाणी इत्यादि इन्द्रियों को धिया अर्थात् कर्म-प्रवृत्तक बुद्धि से युक्त्वाय अर्थात् जोड़कर (**क्त्वो यगिति सूत्रेण यगागमः**) कर्म के द्वारा सूर्य-ज्योति बढ़ाते हुए उसके लिये बृहत् ज्योतिः अर्थात् अग्निका कर्म निष्पत्ति के लिये संस्कार करते हुए उनको मनका अधिष्ठाता परमात्मा प्रसुवाति अर्थात् प्रवृत्त करता है। आदित्य मण्डलको शातपथी श्रुति ने वेद-रसमय बतलाया है अतः वैदिक कर्मों से सूर्य का वर्धन स्पष्ट है। षूञ् प्रेरणे से लेट् में आट् करके प्रसुवाति बना लेना चाहिये। मन की शक्ति से ही वागादि इन्द्रियों की प्रवृत्ति होती है यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। **असौ वा आदित्यो बृहज्ज्योतिः, एषो अग्निः। एतं वै ते संस्करिष्यन्तो भवन्तिः** यह शातपथ श्रुति यहां स्मर्तव्य है।

सविता से प्रसूत ही कर्म किये गये यह तात्पर्य है।

९. विषयों को प्रकाशित करने से इन्द्रियों को देव कहा गया। देव अर्थात् प्रकाश स्वरूप। यही यहां मुख्य अर्थ है। यह कृष्ण यजुर्वेद के श्वेताश्वतर शाखा की ब्रह्म-प्रतिपादक उपनिषद् भाग की श्रुति होने से देव का अर्थ यद्यपि कर्म-प्रतिपादक भाग में ब्रह्मादि भी बन जाता है और यहां भी संगत हो ही जाता है तथापि उस अर्थ का गौणत्व ही समझना चाहिये।

१०. जो साधक मनन निदिध्यासन सहकृत श्रवण के द्वारा आत्मा-ज्ञान करते हैं उनका सारा साधन इस परमात्म-भाव से युक्त होने के लिये ही है। अथवा **युक्त्वा अय** योग सिद्धि कराकर ब्रह्म में ले जाओ, यह भाव है। यहां उभयत्र अन्तर्हितणिजन्त समझना चाहिये। अथवा **युक्त्वा आय** अ अर्थात् परमेश्वर, उसके लिये सब साधनों को जोड़कर वह परमात्मा हमें अनुग्रहीत करे। शतपथ श्रुति में तो इस मंत्र के व्याख्यान में योजयित्वा ही अर्थ किया है। वस्तुतस्तु प्रातिशाख्यों के अनुसार युक्त्वा अर्थात् जोड़कर अर्थ में ही युक्त्वाय का वैदिक प्रयोग है।

११. पहले परमेश्वर ही हमको अविद्या में उत्पन्न करता है और पुनः उसकी भक्ति करने से विद्या में उत्पन्न करके हमें द्विज बनाता है। अतः ऋषियों की प्रार्थना है कि हमारे कार्यकरण संघात को विषयों से निवृत्त करके वे आत्माभिमुख होकर आत्म-ज्ञान ही करें, ऐसी अनुज्ञा या आज्ञा सविता अन्तर्यामी रूप से देवें। पुनः पुनः प्रार्थना से आत्म ज्ञान को शिव कृपा के बिना अलभ्य बताया जा रहा है।

४

ज्ञान और ध्यान को देनेवाले परमेश्वर की पूर्वजों ने भी स्तुति की थी अतः सभी मुमुक्षुओं को उसकी पुनः २ अधिकाधिक स्तुति करते ही रहना चाहिये, इसका प्रतिपादन करते हैं :—

युञ्जते मनः उत युञ्जते धियः विप्राः विप्रस्य बृहतः विपश्चितः । वि होत्रा दधे वयुनावित् एकः इत् मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥

विप्राः = वेद वेत्ता[1]
मनः = मन को
युञ्जते = योग में लगाते हैं[2]
उत = और
धियः = बुद्धि को[3]
युञ्जते = योग में लगाते हैं ।
एकः = एक (अद्वितीय)[4]
वयुनावित् = सर्वज्ञ ने[5]
होत्रा[6] = होताओं के द्वारा[7]
विप्रस्य = विशेष रूप से व्याप्त[8]
बृहतः = महान्[9]
विपश्चितः = बुद्धिमान्[10]
सवितुः = सविता
देवस्य = देव की
इत् = ही[11]
मही = विस्तृत[12] (एवं)
परिष्टुतिः = भली प्रकार से स्तुति
विदधे = की[13] ।

१. यद्यपि इस संसार में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चार पुरुषार्थ माने गये है परन्तु इनमें भी धर्म और अर्थ साधन रूप से पुरुषार्थ हैं, काम और मोक्ष साध्य रूप से । अपने से भिन्न किसी शोभनाध्यास वाले पदार्थ को प्राप्त करना काम है और स्वयं अपनी ही आनन्द रूपता को जानना मोक्ष है । सापेक्ष होने से ही काम सातिशय या अपर पुरुषार्थ है, एवं मोक्ष निरतिशय अथवा परम पुरुषार्थ है । स्वरूप होने से ही मोक्ष नित्य है और केवल स्वरूप-ज्ञान से सिद्ध हो जाता है, परन्तु काम अनित्य है और किसी न किसी क्रिया के द्वारा

प्राप्त होता है । यह ज्ञान अध्यारोप और अपवाद के साधन से ही होता है । **अध्यारोपापवादाभ्यां ज्ञातव्यस्तत्त्वनिर्णयः ।** अध्यारोपित की निवृत्ति से ही अधिष्ठान के ज्ञान का उदय हो सकता है ।

सीप में चांदी, रस्सी में सांप, स्थाणु में पुरुष इत्यादि की तरह निष्प्रपञ्च, निर्मल, शिव में मल रूप प्रपञ्च को देखना ही अध्यारोप है । शिव के अज्ञान से ही यह अध्यारोप होता है । इस अज्ञान को ही अविद्या, तम, मोह, प्रधान, माया, प्रकृति, अव्यक्त, इत्यादि अनेक नामों से कहा गया है । इसी को पुराणों में प्रलय, एवं वसिष्ठ महर्षि ने महासुषुप्ति कहा है । इस अज्ञान में अपनी अपनी कर्मवासनाओं के साथ अनन्त कोटि जीव वैसे ही रहते हैं जैसे सोने के कण पिण्ड में रहते हैं । उद्भूत होने के पहले जैसे कणों में चाञ्चल्य आ जाता है वैसे ही सृष्टि के पूर्व लीनावस्था से शक्त्यभिमुखता आजाती है । यह अनुभव सभी पुरुषों को सुषुप्ति और सुषुप्ति से जाग्रत में आने के काल में होता है । जीव-कर्म-परिपाक के कारण यह अज्ञान पुनः तीन प्रकार से प्रतीत होता है । ज्ञान-क्रिया की विशुद्धावस्था, इच्छा की विशुद्धावस्था; इच्छा की विशुद्धावस्था पर ज्ञान-क्रिया की अशुद्धावस्था; एवं तीनों की अविशुद्धावस्था । कुछ लोग प्रथम को माया, द्वितीय को अविद्या और तृतीय को तामस कहते हैं । अज्ञान की इस प्रथम अवस्था से विशिष्ट शिव का नाम ईश्वर है, एवं यह बिम्ब रूप है । इसी को अन्तर्यामी रूप से सभी अनुभव करते हैं । यहां ब्रह्म चैतन्य परिपूर्ण प्रतीत होता है । द्वितीय-अवस्था-विशिष्ट शिव को जीव कहते हैं । एवं तृतीय को जगत् उपादान अथवा महाभूत कहते हैं । मकड़ी की तरह अज्ञान प्रधान हुआ हुआ ब्रह्म उपादान कारण है, और स्वरूप से प्रधान हुआ हुआ निमित्त कारण । जैसे जाल का मकड़ी अभिन्न निमित्तोपादान कारण है, परन्तु मकड़ी का जीवात्मा निमित्त कारण है और शरीर उपादान कारण, वैसे ही यहां समझना

चाहिये। इस प्रकार से जिसने वेदों के अध्यारोप एवं उसके भेद ईश्वर, जीव, जगत् तथा अपवाद शिव को समझ लिया है वही वास्तविक वेदवेत्ता है। वह काम रूपी अपर पुरुषार्थ का सर्वथा त्याग करके केवल परम पुरुषार्थ में लग जाता है।

२. तत्त्वज्ञान के लिये मन का निरोध स्वतंत्र या सहायक प्राण-निरोध से किया जा सकता है। योगी दो प्रकार का होता है-युञ्जान और युक्त। प्रथम मंत्र में युञ्जान अर्थात् अपरिपक्व योगी को जो अभी मित-योगी है एवं भेद दृष्टि से चल रहा है, बताया गया। अब युक्त योगी को बताया जा रहा है जो परिपक्व और अमित होने के कारण बाह्य दर्शन से रहित स्वात्म-मात्र में निष्ठा वाला निष्पन्न अद्वैतानुभव हैं। इसी लिये युञ्जान पवन को रोककर मूलाधार के योनि में स्थित तेज को ज्वाला रूप से तीव्र करके वायु के प्रयोग से भरकर के, पैर से ऊपर तक उत्तरोत्तर भूत-पञ्चक को प्रकट करके जीतते हुए लीन करता जाता है। फिर इस अग्नि से हृदय-देश की अग्नि को प्रदीप्त करके भूतोपसंहार के द्वारा तत्त्वों को द्वादशान्त में स्थित कर देता है। इसी को सोम-सव अथवा योग-यज्ञ का प्रथम सोपान माना है। इसके द्वारा युक्त-योग के अधिकार की प्राप्ति होती है जिसके द्वारा मन आत्मदर्शन में समर्थ होता है।

३. योग मार्ग को प्रसव करने वाला होने से भी सविता कहा गया है। अर्थात् सविता योगोपदेश के द्वारा योग मार्ग में प्रेरित करता है जिसके द्वारा ब्रह्मलोक में जाकर आत्म-ज्ञान सहज ही प्राप्त हो जाता है।

बुद्धि के कारण होने से ज्ञान-करणों को भी बुद्धि कहा जाता है। उसका भी यहां संग्रह है।

४. सजातीय, विजातीय, स्वगत भेदों से रहित अद्वितीय शिव। अथवा सविता ही यहां 'एक' पद का वाच्य है। वही जगद्गुरु है। जीव रूप से वही साधक है, अन्तर्यामी रूप से वही प्रवर्तक है, ईश्वर रूप से प्रापक है, एवं ब्रह्म रूप से प्राप्य है। जीव रूप से कर्मों को करके फल का प्रसव करता है। एवं कर्म त्याग करके मोक्ष का प्रसव करता है। यहां तात्पर्य इन सभी भेदों से रहित उस अधिष्ठान तत्त्व से है जो इन सब रूपों में प्रकट है।

५. वयुना अर्थात् ज्ञान। अतः वयुनावित् अर्थात् प्रज्ञावित् अथवा सर्व ज्ञानों का साक्षीभूत। प्रत्येक के हृदय में सभी भावों के अभिप्राय को वह जानता है। यदि इसे साधक रूप से समझा जाय तो एकः अर्थात् कोई, इत् अर्थात् ही, वयुना (वयुनानि) यम से निर्विकल्प समाधि पर्यन्त अष्टांग योग का ज्ञान, होत्रा अर्थात् आचार्य से प्राप्त कर, विदधे अर्थात् करता है। निघंटु के अनुसार वयुना बुद्धि का नाम है। तब वयुनावित् का अर्थ होगा सारी बुद्धि-वृत्तियों का साक्षी अर्थात् अन्तर्यामी।

६. **होत्राः पदच्छेदम् इच्छन्ति केचित्। होतारः इति स्थाने आर्षे होत्राः स्वीकर्तव्यम् भवेत्।**

७. परमात्मा ही सभी इन्द्रियां, अन्तः करण, प्राण, एवं देह संघात के द्वारा साधना और स्तुति करवाता है। जैसे यजमान होताओं के द्वारा यज्ञ निष्पन्न करके यज्ञ-फल-भागी बनता है उसी प्रकार परमात्मा इन कार्य-करण संघातों के द्वारा ज्ञान-यज्ञ निष्पन्न करके ज्ञान-फल-भागी अर्थात् मुक्त बनता है। **ब्रह्मैव संसरति मुच्यते च** मुख्य सिद्धान्त है। अथवा जीव रूप से इन्हीं करणों के द्वारा वह कर्म-फल-भागी बनकर बद्ध हुआ था और अब मुक्त होता है। तात्पर्य यही है कि जैसे कर्म होता करते हैं और अभिमान मात्र से यजमान फल भोगता है वैसे ही कर्म अनात्म पदार्थ करते हैं एवं अभिमान मात्र से आत्मा फल भोगता है।

निघंटु में तो होतृ को ऋत्विगों का नाम माना है जो कर्म में

बैठते हैं। तब तात्पर्य होगा कि इन इन्द्रियादि ऋत्विगों के द्वारा निर्वर्त्य अन्तःकरण के निर्मलता की कारण रूप सारी क्रियाओं को परमात्मा ने किया। **अग्नि वै होता** इस शातपथ श्रुति के आधार पर होत्रा अर्थात् सुषुम्ना में प्रदीप्त अग्नि के द्वारा परमात्मा ने योग की सिद्धि का विधान किया। होत्रा का अर्थ क्रिया भी संभव है। अर्थात् उसने कर्म योग के द्वारा सिद्धि का विधान किया। इसमें **इमं विवस्वते योगं** इत्यादि स्मृति प्रमाण है।

८. विपूर्वक प्रा पूरणे से निष्पन्न यह विप्र शब्द देश, काल, वस्तु सब प्रकार से पूर्ण परमात्मा को विषय करता है। अथवा विप्र अर्थात् ब्राह्मण जाति का कारण होने से उसे विप्र कहा गया। **अथ ब्राह्मणः** इत्यादि यजुर्वेद इसमें प्रमाण है। अथवा वेदपाठी को विप्र कहा जाता है, अतः विप्र का कारण वेद और वेद का कारण ब्रह्म होने से यहां लक्षित-लक्षणा समझ लेनी चाहिये। शास्त्रों में सूर्य को भी विप्र कहा है। वह अपनी किरणों से जगत् को भर देता है यह तो स्पष्ट ही है। अतः कर्म-काण्ड के अनुसार तो विप्र लोग मन-बुद्धि को वेदोक्त कर्म में प्रवृत्त करते हैं। एवं विप्रस्य अर्थात् सूर्य या यज्ञ-पुरुष का जिनसे सम्बन्ध हो ऐसे कर्मों को वयुनावित् (वयुनवित् दीर्घत्वं छान्दसः) ज्ञानी या धनी ऋत्विजों के द्वारा कर्मों को करते हैं। ये कर्म ही मन के अभिमानी सविता की स्तुति हैं। **धिया हि एतया मनुष्यायुष्युषन्ति। यज्ञो वै बृहन्विपश्चित् होत्रा प्रकामो अवेन इव गाथाभिः यज्ञं तन्वते** इत्यादि शतपथ इसमें प्रमाण है।

९. निरतिशय महान् अर्थात् ब्रह्म। उसे महान् इसलिये कहा कि उसके द्वारा प्रवृत्त बन्धन और मोक्ष शास्त्र आज भी ब्राह्मणों द्वारा सेवित है एवं उसी के सम्बन्ध से योग संभव है। योग के लिये सूर्य नाड़ी एवं कुण्डलिनी का विद्युत् तत्त्व परम आवश्यक है यह स्पष्ट ही है।

१०. ज्ञान-स्वभाव होने के कारण ही परमात्मा को बुद्धिमान् कहा है अथवा बुद्धि में प्रतिबिम्बित होने से उसे बुद्धिमान् कहा है। अथवा विपश्चित् का अर्थ पण्डित समझना चाहिये। पण्डा अर्थात् आत्माकार वृत्ति जिसको विषय करके रहती है वह पण्डित है। स्वयं प्रकाश चिदेकरूप होने से ही विपश्चितों में उसके कारण ही विपश्चितता आती है तो वह विपश्चित् है, यह तो कैमुतिकन्याय से ही सिद्ध है। अथवा सर्वज्ञ होने से भी उसे विपश्चित् कहा गया है।

११. इसका अर्थ उस परमात्मा से भिन्न सभी सत्ताओं को निवृत्त करने में है। जीव ईश्वरादि भेदों में भिन्न प्रतीत होने पर भी वस्तुतः वह परिवर्तित होता नहीं। वह अद्वितीय परमात्मा ही पहले क्रियाओं का विधान करता है एवं फिर ज्ञान का विधान करता है। वह सर्वज्ञ अद्वितीय परमेश्वर ही जीव रूप से ज्ञान-प्राप्त्यर्थ कर्म करता है एवं ज्ञानानन्तर सर्व-कर्म-संन्यास करता है। उस स्थावर-जंगमात्मक प्रकाश स्वरूप परमात्मा को छोड़कर और कोई स्तुति के योग्य नहीं है।

इत् का अर्थ इत्थं (इस प्रकार से) भी होता है। अर्थात् कर्म-योग मार्ग को प्रकाशित करने वाले की यही स्तुति है कि इन मार्गों से चला जाय। चूंकि प्रत्येक प्राणी शुभ कर्म के द्वारा शुभ फल को पाकर या अशुभ कर्म के द्वारा अशुभ फल को पाकर उसकी ही महत्ता को प्रतिपादित करता है अतः यह सब उसको ही परिष्टुति है। श्री सायण ने तो यहां इत् को अनर्थक निपात ही बताया है।

इत् का सम्बन्ध वयुनावित् के साथ करके इस प्रकार ज्ञान वाले स्वाध्याय ज्ञान-यज्ञ शील विप्र लोग, वह विप्र बृहत् विपश्चित् सविता देव है, इस प्रकार की स्तुति करते हैं एवं इस स्तुति में ही मन को लगाते हैं। अर्थात् परमात्मा ने यह विधान किया है कि जो विप्र मन को विषयों से उपसंहृत करके बुद्धि को आत्म-ज्ञान में लगाते हैं उन्हें इस प्रकार स्तुति करनी चाहिये।

१२. सारा ही वेद विस्तृत रूप से उसकी ही स्तुति करता है यह बताना इष्ट है। अर्थात् ज्ञान-यज्ञ में लगने वाले लोग सारी ही श्रुतियों को **तत्त्वमसि** में ही गतार्थ स्वीकृत करते हैं। एवं इस प्रकार केवल शिव की महिमा का वर्णन करना ही वेद का एकमात्र उद्देश्य है।

१३. शिव ने सबको विधारित किया, या सबके लिये विधान किया। एवं इस मार्ग से चलकर ऋषियों ने उसको पाया। इस प्रकार भूत कालीन प्रयोग से शिष्य को दिलासा देते हैं कि जैसे उन्होंने पाया वैसे ही परमेश्वर की स्तुति के द्वारा तुम भी पा सकते हो। अथवा यहां काल विवक्षित नहीं है।

५

जैसे पूर्व ऋषियों ने ब्रह्म का साक्षात्कार किया वैसे ही मैं भी प्रत्यगात्मा रूप से जीव-शिवकी एकता प्राप्त करता हूँ :—

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यम् नमोभिः वि श्लोकः एतु पथ्या इव सूरेः।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः॥

वां = तुम दोनों[1] (शिव-पार्वती)को (तथा)
पूर्व्यम् = उनसे भी पहले होने वाले[2]
ब्रह्म = ब्रह्म को
नमोभिः = प्रणामों के द्वारा[3]
युजे[4] = मिलता हूं[5]।
सूरेः[6] = ब्रह्म वेत्ताओं के[7]
पथ्या[8] = मार्ग से[9]
इव = (चलने) की तरह[10]
श्लोकः = कीर्ति[11]
वि[12] = विविध प्रकार से
एतु = आवे[13]
अमृतस्य = परमात्मा के[14]
ये = जो
विश्वे = सारे
पुत्राः = पुत्र[15]
दिव्यानि = दिव्य
धामानि = लोकों को[16]
आ = अधि
तस्थुः = स्थित कर गये[17]
शृण्वन्तु[18] = (वे) सुनें[19]।

१. यह युष्मत् का द्वितीया द्विवचन है। अपने सामने विद्यमान

के लिये युष्मत् का प्रयोग होता है। यहां साधक कह रहा है कि मेरे पूर्ण ध्यान के फल स्वरूप देव और उनकी आत्मशक्ति साक्षात् सामने प्रकट हैं एवं दहराकाश में मैं उनसे अभिन्न हो रहा हूँ। द्विवचन का प्रयोग करके यद्यपि लगता है मानो शिव और शक्ति अलग अलग हैं परन्तु वस्तुतः उनकी एकता में ही तात्पर्य है। साधन-क्रम में पहले इस विशिष्ट रूप का साक्षात् होने के बाद ही निर्गुण तत्त्व का साक्षात् होता है। वस्तुतः सुषुम्ना की अग्नि और कुण्डलिनी शक्ति स्वरूप से एक होने पर भी दो की तरह प्रतीत होती हैं। जब इन दोनों को एक कर लिया जाता है तभी इनकी गति होती है। अथवा प्राण और मूलाधार की अग्नि यहां ग्राह्य है। इन दोनों को पहले एक करने पर साक्षी तत्त्व का साक्षात्कार होता है।

प्रकरण के अनुरोध से मन और बुद्धि का भी ग्रहण हो सकता है। तब अर्थ होगा तुम दोनों को (मन-बुद्धि को) ब्रह्म से मिलाता हूँ। अर्थात् ब्रह्मानुसंधान में लगाता हूँ। अथवा तुम दोनों के सम्बन्ध वाले ब्रह्म अर्थात् वेदार्थ को ब्रह्मप्राप्ति के साधन रूप से ब्रह्म में ही मिलाता हूँ अर्थात् समन्वित करता हूँ। अथवा तुम दोनों इन्द्रियों के अनुग्राहक हो एवं इन्द्रियों से प्रकाश्य पदार्थों के द्वारा सत् रूप से पहले से विद्यमान ब्रह्म प्रकाशित हो जाता है उसमें चित्त को समाहित करता हूँ।

वाक्यशेष के अनुरोध से यहां वाणी और मन को भी लिया जा सकता है। अर्थात् वाणी के द्वारा नमस्कार रूपी स्तुति से एवं मन के नमस्कार अर्थात् एकाग्ररूपी स्तुति से ब्रह्म को मिलाता हूँ।

शतपथ में तो ब्रह्म का अर्थ प्राण और पूर्व्य का अर्थ अन्न किया है। **प्राणा वै ब्रह्म पूर्व्यम् अन्नम्।** ब्रह्म और पूर्व्य दोनों सम्बोधन हैं अर्थात् हे प्राण! हे अन्न! तुम दोनों को नमः शब्द से उपलक्षित आहुतियों से युक्त करता हूं। प्राण-शक्ति या इन्द्रियों के द्वारा अन्न

की आहुति दी जाती है अतः कर्ता और कर्म भाव से प्राण और अन्न आहुति में युक्त होते हैं।

२. **सदेव सोम्येदमग्र आसीत्** इत्यादि श्रुतियों के अनुसार शक्ति-शिव के प्रभिन्न होने से पूर्व शिव-शक्ति-सामरस्य रूपी अद्वैत चिदानन्द रस त्रिविध परिच्छेद शून्य ब्रह्म विद्यमान है। मन, बुद्धि, वाणी, प्राण, अन्न, आदि से पूर्व तो वह है ही। अनादि सिद्ध होने से भी इसे पूर्व्य कहा गया है। अथवा पूर्वैः कृतम् अर्थात् हिरण्यगर्भ रूप सवितादि द्वारा साक्षात् किया होने से उसे पूर्व्य कहा गया है।

वां को बहुवचन के लिये मानकर समग्र युष्मत् प्रपञ्च का कारण होने से भी ब्रह्मा को पूर्व्य अर्थात् चिरन्तन कहा जा सकता है। सारी पूर्व कल्पनाओं के भी पूर्व में चेतन विद्यमान रहता है इसलिये उसकी पूर्वता सब प्रकार से सिद्ध है।

३. चित्त का प्रणिधान ही यहां वास्तविक नमन है। अथवा अधिकारानुसार कर्मोपासना भी नमन ही है। नमन का मुख्य अर्थ त्याग होने से सर्वसंन्यास भी यहां संग्राह्य है। विनय रूप अहंकार का त्याग एवं तद् अनुरूप वाणी, देहादि की प्रवृत्ति तो नमन का प्रसिद्ध अर्थ है ही। यहां बहुवचन से सब प्रकार के नमनों का संग्रह भी है एवं जब तक ज्ञान की दृढ़ता न हो जाय तब तक बार बार करते रहने के लिये भी है।

४. **युञ्जे इति वा पाठान्तरः।**

५. यहां तादात्म्य रूपी मिलना ही इष्ट है। प्रत्यगात्मा और परमात्मा की अद्वैत रूप से अनुभूति ही योग है। हार्दाकाश में प्रत्यगात्मा विद्यमान है। वहां शिव-पार्वती को ध्यान से स्थित करना योग है। अथवा निष्कल ब्रह्म का प्रत्यगात्मा से अभेद चिन्तन रूपी तादात्म्य योग यहां समझना चाहिये। कुछ लोग तो युजे का योजयामि ऐसा अर्थ करके मन प्राण को या मन-बुद्धि को ब्रह्म में जोड़ता हूँ

अर्थात् मनन निदिध्यासन के द्वारा लगाता हूँ ऐसा अर्थ करते हैं।

६. **सुरैः इति वा पाठः।**

७. यहां ब्रह्म का अर्थ वेद, कर्म, योग और ज्ञान सभी क्रम से स्वीकार करने चाहिये।

८. **पथि इत्यपि छिद्यते।**

९. सन्मार्ग के द्वारा।

१०. जैसे स्ववर्णाश्रम-कर्मानुष्ठानों से परमात्मा की कीर्ति होती है वैसे ही कर्म से अनभिज्ञ लोग नमस्कारों के द्वारा उसकी कीर्ति करते हैं। तात्पर्य है कि परमात्मा के नमन के द्वारा वह सब फल प्राप्त हो जाता है जो कर्म करने से होता है। अथवा जैसे कर्मियों को कर्म से कीर्ति आती है वैसे ही भक्तों को परमात्मा के नमन से भी आ जाती है।

११. **श्लोको यशसि** इस कोश के अनुसार श्लोक का अर्थ यश है। तात्पर्य हुआ कि इस प्रकार शिव-पार्वती एवं ब्रह्म का प्रत्यगात्मा रूप से तादात्म्य अनुभव करने वाले मेरी या अन्य साधकों की कीर्ति विविध प्रकार से सुनने में आवे। अथवा विविध प्रकार की कीर्तियां ब्रह्म की करते हुए ब्रह्म को विविध कीर्तिमान् बनाते हैं एवं उस विविध कीर्तिमान् ब्रह्म को पाते हैं। अथवा मुक्त मुमुक्षु के द्वारा किया हुआ श्लोक अर्थात् स्तुति ईश्वर को ही उद्देश्य करके होवे। मेरी स्तुति ईश्वर को पहुँच जाय यह भाव है। अथवा श्लोक अर्थात् कीर्तितव्य परमात्मा भिन्न भिन्न प्रकार से कीर्तन के योग्य है।

वाक्य शेष से इसका सम्बन्ध करने पर तो सूरेः अर्थात् विज्ञानियों की, पथ्या अर्थात् भिन्न भिन्न मार्गों से इव अर्थात् जैसे, श्लोक अर्थात् कीर्ति, सुनने में आती है वैसे ही मेरी भी **अमृतस्य विश्वे पुत्राः** अर्थात् दिव्यधाम में रहने वाले ब्रह्मा के पुत्रों को सुनने में आवे।

१२. **नमोभिर्विश्लोकायन्ति पथ्येव इति पठन्ति केचित्।**

१३. शतपथ में तो देव और मनुष्य दोनों में यजमान की कीर्ति होवे ऐसा अर्थ किया है। मेरे मन में परमात्म विषयक स्तुति आवे, अथवा परमात्मा को मेरी स्तुति पहुँचे, या चारों तरफ मुझ ब्रह्म-वेत्ता की कीर्ति सुनने में आये, ये सभी तात्पर्य हैं। ब्रह्म और ब्रह्म-वेत्ता का अभेद होने से ब्रह्म की स्तुति ब्रह्म-वेत्ता की ही स्तुति है।

१४. मरणशून्य होने से ब्रह्म को ही अमृत कहा गया। अथवा ब्रह्म-ज्ञानी को अमर कर देने वाला होने से इसे अमृत कहा। **प्रजापतिर्वा अमृतः** इस शतपथ वाक्य से तो प्रजापति सविता ही अमृत है। सोमरस को भी अमृत कहा गया है। शरीर की इन्द्रियां इत्यादि उसी से जीवन प्राप्त करने के कारण उसके पुत्र हो गये। वो जहां जहां स्थित हैं वे उसके दिव्य धाम हैं। वे सभी इसी दिव्य कीर्ति का श्रवण करें यह तात्पर्य है।

१५. ब्रह्म या प्रजापति से उत्पन्न सारा जगत् या देवताओं का यहां संग्रह है। बाह्यान्तःकरण भी इष्ट है।

१६. अमरावती, वैकुण्ठ, गोलोक आदि में स्थित देव समुदाय या मेरुदण्ड के चक्र में स्थित देवता विशेष।

१७. स्वधर्मानुष्ठान से उन धामों में स्थित होने वाले, अथवा योग द्वारा इन स्थितियों का अनुभव करने वाले। ज्ञान से इन भावों को अपने हृदय में अनुभव करके इन देवताओं से तादात्म्य भाव की प्राप्ति ही वास्तविक अधिष्ठान बन जाना है।

१८. **शृण्वन्ति इति पठन्ति केचित्।**

१९. दूसरों के द्वारा की हुई ब्रह्म की स्तुति को अपने कानों से पियें। अथवा मेरी इस प्रार्थना को सुनें। भाव है कि मेरी इस स्तुति को सुनकर दिव्य धामों में रहने वाले देव गण एवं इन्द्रियां विघ्न रहित बनाकर मुझे भी सिद्धि प्राप्त करने दें।

प्रति दिन इन पांच मंत्रों का जप करके योग और ज्ञान में प्रवृत्त होने वाले को शीघ्र सिद्धि प्राप्त होती है। एवं सूर्य-देवताक स्तुति होने से सूर्य की कृपा से सूर्य मण्डल को भेदकर ब्रह्मनिष्ठ बन जाता है। भ्रूचक्र भी सूर्य मण्डल ही है। अतः जीवन्मुक्ति और विदेह मुक्ति दोनों की प्राप्ति के लिये ये प्रार्थनायें लाभदायक हैं।

६

तृतीय मंत्र में आत्म-ज्ञान की तरफ ले जाने वाले पुनर्जन्म का प्रतिपादन किया। इसी का श्लेष से पुनः प्रतिपादन करते हैं। किन्च उत्तमाधिकारी के मोक्ष साधन की प्रणाली का वर्णन करके जिसमें वैराग्य, भक्ति, एवं विचार की सामर्थ्य नहीं है उस मध्यमाधिकारी के आत्मज्ञान की सिद्धि के लिये अगले कुछ मंत्र साधना का निर्देश करेंगे। इस मंत्र में उन सभी साधनों का संक्षेप से वर्णन करते हुए श्लेषालंकार से योग करने के योग्य शरीर की उत्पत्ति का प्रकार भी बतलायेंगे :—

अग्निः यत्र अभि मथ्यते वायुः यत्र अधि रुध्यते।
सोमः यत्र अति रिच्यते तत्र सञ्जायते मनः॥

यत्र = जहां[1]
अग्निः = अग्नि को[2]
अभि = भली प्रकार
मथ्यते = मथा जाता है,[3]
यत्र = जहां
वायुः = वायु को[4]
अधि = ऊपर
रुध्यते = रोका जाता है,

यत्र = जहां
सोमः = सोम[5]
अति = ज्यादा
रिच्यते = बहता है
तत्र = वहां
मनः = मन
सञ्जायते = आत्मज्ञान के योग्य उत्पन्न होता है[6]।

१. यहां यत्र में जिस देश, काल और निमित्त में, इन तीनों भावों

का संग्रह कर लेना चाहिये। वस्तुतः यहां गर्भ के दृष्टान्त से ही मन की उत्पत्ति को समझाया जा रहा है। अग्नि अर्थात् पुरुष का तेजांश गर्भ के योग्य देश, काल और निमित्त को पाकर मन्थन के द्वारा ही प्रकट होता है। फिर वायु के द्वारा ऊपर ले जाया जाकर रुद्ध कर दिया जाता है तभी उसमें अंकुर फूट सकता है। उसके बाद सोम अर्थात् स्त्री का शोणितांश जब पूरी तरह से बह करके गर्भ का उपचय करता है तभी गर्भ सुस्थिर होता है। इस प्रकार पुष्ट किया हुवा देह ही मन के सम्यक् प्रकार से कार्य करने का स्थल होता है। अतः कहा जा सकता है कि वहां मन भली प्रकार पैदा होता है। इन तीनों हिस्सों में कहीं भी अपूर्णता रह जाने पर मन सशक्त नहीं बन पाता। शक्तिहीन मन इह लोक और परलोक दोनों के लिये व्यर्थ होता है। वस्तुतः समष्टि रूप ब्रह्म-शक्ति ही गर्भात्मक संघात में मन रूप से चलन-वलनादि के रूप में पैदा होती है।

वस्तुतः योगिनी भू की प्रक्रिया का यहां संक्षेप में वर्णन है। चित्त में एकाग्रता पूर्वक ब्रह्मानुसन्धान करते हुए सभी इन्द्रियों की निरुद्धावस्था में अग्नि और सोम से उत्पन्न कार्य-करण संघात स्वभावतः योगयोग्य होता है। कुछ विचारक तो अग्नि अर्थात् सूर्य नाड़ी में उत्पन्न तेज और सोम अर्थात् चन्द्र नाड़ी में उत्पन्न तेज का कुम्भक द्वारा सुषुम्ना में निरुद्धावस्था में प्रसृत कार्य-करण संघात को ही पर्याप्त मानते हैं।

कुण्डलिनी में सूर्य और चन्द्र दोनों नाडियों को पूरी तरह से जय करके जब केवल कुम्भक के द्वारा सुषुम्ना में अन्तःकरण को प्रवेश कराया जाता है तभी योग सम्भव होता है। नाड़ी शोधन, महान्यास, आदि के द्वारा सूर्य और चन्द्र नाड़ी का जय होता है। इस मंत्र का अग्रिम मंत्र गर्भाधान संस्कार में इसीलिये विधान किया गया है। ऋग्वेद में गर्भाधान संस्कार के लिये **आसिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं**

दधातु ते के द्वारा यही बताया है कि सबको उत्पन्न करने वाला प्रजापति ही हम जीवों की उपाधि के द्वारा सिञ्चन करता है।

शास्त्रों में गर्भाधान संस्कार के लिये विशिष्ट देश-कालों का इसी लिये विधान किया गया है कि योग योग्य दैवी सम्पत्ति वाले देह की उत्पत्ति होवे।

२. वेदों में अग्नि ज्ञान और कर्म का प्रतीक है। देवताओं का मुख होने से सारी आहुतियां इसी में दी जाती हैं अतः कर्म की प्रतीकता स्पष्ट ही है। अज्ञान को नष्ट करने वाला होने से इसकी ज्ञान-प्रतीकता भी स्पष्ट है। यद्यपि प्रतीकवाद को आजकल के लोग कृत्रिम पूजन (fetishism) से भिन्न नहीं समझते परन्तु दोनों में आधारभूत भेद है। प्रतीकवाद उन्नत संस्कृति में अनेक विचारों को थोड़े में प्रकट करने का साधन है। झंडा, शब्द, आदि इसी प्रकार के प्रतीक हैं। कृत्रिमवाद में पेड़, नदी, या किसी मूर्ति विशेष को खुद ही विशिष्ट शक्तियों वाला देव रूप से कल्पित कर लिया जाता है। यह गुह्य अलौकिक शक्ति मानव तर्क से परे मानी जाती है। यद्यपि धार्मिक कृत्रिमवाद का ही अधिकतर मखौल उड़ाया गया है परन्तु सामाजिक सम्बन्ध, आर्थिक सम्बन्ध, राजनैतिक विचार, इत्यादि भी कृत्रिम पूजा के साधन बन जाते हैं। धर्म निरपेक्षता, प्रजातंत्र समाजवाद आदि आजकल के कृत्रिम पूज्य हैं। इनकी हानियां प्रत्यक्ष-सिद्ध होने पर भी इनमें एक गुह्य दिव्य श्रेष्ठता मानी जाती है जिसकी समालोचना इस सम्प्रदाय के लोग सहन नहीं कर सकते। 'This I call the fetishism' इत्यादि के द्वारा मार्क्स ने भी इसको कृत्रिम पूजा माना है। यह बात दूसरी है कि उसकी शिष्य परम्परा ने स्वयं मार्क्स और उसके विचारों को ही (fetish) या कृत्रिम बना दिया हो। वस्तुतः अच्छा, उचित, न्याय, आदि विचार किसी सन्दर्भ विशेष में ही सार्थक होते हैं। जब तक समाज में मनुष्य की वास्तविक परि-

स्थितियों का अर्थ समझकर उन परिस्थितियों में आवश्यकता और लाभ के अनुकूल समाज के भिन्न वर्गों का उच्चतर दिशा में गमन करने के उपाय प्रतिपादित न किये जांय तब तक ये सब विचार अर्थ शून्य होते हैं। स्थितिस्थापकता (statusquo) को कायम रखने के लिये इनका प्रयोग एक प्रकार का कृत्रिम पूजन ही है। वेदान्त की दृष्टि से आचार सामाजिक प्रगति, एवं वैयक्तिक प्रगति को संयुक्त करने का प्रकार है। समाज की प्रगति का अधिनायकवाद (dictatorship) से घनिष्ठ संबन्ध है। चाहे वह समाज हिटलर का राष्ट्र हो, मुसोलिनी का उच्च वर्ग हो, या लेनिन का सरमाया (proletarrate) हो वस्तुतः यहां समाज का प्रत्येक मानव इसी एक मानव का अंग बन जाता है चाहे वह मानव जीवित हो या मृत हो। दूसरी तरफ व्यक्तिवाद की पूर्णता समाज को जंगली बना देती है चाहे वह जंगल अफ्रीका में हाथी और गैंडे हो या शिकागो में गुण्डे व अर्थ कामुक। वेदान्त संवादी होने के कारण इन दोनों वाद-प्रतिवादों का परित्याग करता है। अतः न व्यक्ति को ही वह एक कृत्रिम पूज्य पदार्थ मान लेता है और न समाज को। वह तो दोनों का ऐसा संयोग चाहता है जिसमें समाज के अप्रबुद्ध वर्ग को प्रबुद्ध होने का मौका मिले और प्रबुद्ध वर्ग अपने प्रबोध क्षेत्र का परिष्कृत विस्तार करे। अज्ञान में पड़े लोगों को कुछ रोटी और कपड़ों के टुकड़े डाल कर उनकी मानवता को समाप्त करना उससे भी बड़ा अत्याचार है जिसमें उन अज्ञानियों को मानवता के नाम पर रोटी कपड़ा न देकर केवल मानव बनाये रखने का प्रयत्न किया जा रहा है। दैहिक आवश्यकताओं की अपेक्षा बौद्धिक आवश्यकतायें अधिक जरूरी हैं यह तो पाश्चात्य देशों के मानस रोगों की व्यथा को देखकर कोई भी विचारशील समझ सकता है। पूरबियों का यह प्रयास कि इसकी बुद्धि को ही हटा दिया जाय जिसके कारण मानसिक तनाव पैदा होते हैं, न

केवल अमानवता वादी है वरन् समग्र प्रगतियों का विरोधी भी है। अतः वेदान्त की आचार संहिता का आधार है सभी प्रकार से प्रबोध का विकास। भौतिक प्रबोध से आर्थिक एवं अन्य जीवन की कठिनाइयों को प्रबुद्ध समाज स्वयं ही दूर कर देगा। एवं बुद्धि के अन्य क्षेत्रों का विकास न केवल मानसिक तनावों को दूर करेगा वरन् द्वन्द्वातीत बनाकर स्थितप्रज्ञ बनायेगा। वेदान्त इस लिये गरीब और अमीर (haves and have nots) को प्रतिद्वन्द्वी बनाकर मानवों में संघर्ष उत्पन्न नहीं करता वरन् ज्ञान और अज्ञान का संघर्ष स्वीकार करता है। चेतन होने के कारण यद्यपि प्राणी-मात्र ज्ञान की कोटि में हैं परन्तु व्यावहारिक आचार शास्त्र में मानव को ही यहां ग्रहण करते हैं। चूंकि कोई भी मानव पूर्ण रूप से न अज्ञानी है न अज्ञान को चाहता है इसलिये सारे मानव समाज को मिलकर अपनी अपनी सामर्थ्य के अनुसार अज्ञान को नष्ट करना है। पूर्ण-प्रज्ञा को प्राप्त किये परमहंस एवं प्रज्ञातिशय वाले ब्राह्मण चूंकि अज्ञान नाश के लिये हमेशा लगे रहते हैं अतः वे समाज के आचार-विधायक हैं। अतः मनुष्य के अज्ञान एवं अज्ञान प्रयुक्त पिछड़ापना, चाहे वह आर्थिक हो या सामाजिक, को नष्ट करते हुए जिस समाज में ज्ञान का प्रकाश सब प्राणियों में उत्तरोत्तर परिवृद्ध होता रहे, ऐसे समाज का निर्माण ही उद्देश्य है। धर्म निरपेक्षता, प्रजातंत्र, समाजवाद आदि नारों को गुह्य-शक्ति समन्वित मानकर मंत्र की तरह जप करना या पूजा करना नहीं। अग्नि चूंकि अन्धकार को दूर करती है अतः हम अग्नि के प्रकाश में ही कर्म करें एवं अग्नि की तरह ही प्रत्येक कार्य के स्वरूप को पहले समझें तब करें, एवं उस ज्ञान का विस्तार करें।

३. अरणियों से मथकर ही अग्नि प्रकट होती है। ज्ञान तभी प्रकट होता है जब दो चीजों में संघर्ष होता है। विश्व का प्रत्येक पदार्थ एक चुनौती है। जब हम समझने के लिये अपने अन्तःकरण

और उस पदार्थ का संघर्ष करते हैं तब पदार्थ का गहरा ज्ञान होता है। इसी प्रकार दो विचारकों के वादी-प्रतिवादी रूप से किसी विषय पर चिन्तन करने से नवीन ज्ञान उत्पन्न होता है। गुरु और शिष्य के व्यवहार में भी दो दिमागों के संघर्ष से दोनों ही लाभान्वित होते हैं। यदि गुरु प्रयत्न करे कि शिष्य समझे और शिष्य प्रयत्न करे कि गुरु को समझे तो दोनों ही लाभान्वित होते हैं। यजुर्वेद ने इसी लिये गुरु को उत्तरारणि और शिष्य को अधरारणि कहा है। जितना यह मथन गहरा होगा उतना ही ज्ञान प्रकट होगा। कर्म भी वस्तुतः पदार्थों के साथ कर्मेन्द्रियों का मथन ही है। आज के विज्ञान में इसे वैज्ञानिक सत्यों का (theoretical science) का व्यवहार दर्शन (practical demonstration) कहते है। जो ज्ञान कर्म में खरा न उतरे वह ज्ञान वास्तविक नहीं हो सकता। वेदों का सारा कर्म-काण्ड जीव-शिवैक्य का व्यवहार दर्शन ही है। मध्यकाल में ज्ञान और कर्म का विच्छेद हो जाने से ही कर्म प्राण-शून्य हो गया और ज्ञान अर्थ-शून्य, अतः ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों का प्रत्येक पदार्थ को चुनौती मानकर मथन करना ही वास्तविक ज्ञानोत्पत्ति लिये आवश्यक है।

देह दृष्टि से भी तेज के घनीभूत होने पर ही उसमें ओजस्विता आती है। यह घनीभवन चाहे रक्त के मथन से हो अथवा नाड़ी संस्थान के।

४. यह प्राण-योग को बतलाता है। पहले मूलाधार में योनि-पीठ पर मूल बीज से जब अग्नि को क्षुब्ध कर लिया जाता है तभी उसे वायु के द्वारा सुषुम्ना मार्ग से ऊपर उठाकर नीचे आने से अवरुद्ध कर दिया जाता है। बिसतन्तु की तरह यह अग्नि शिखा जब कलार्क में स्थित चन्द्रमण्डल (सोम) को पहुँच जाता है तब द्वादशान्त में ध्यान का अतिरेक होता है। यहां से ही सुषुम्ना में मूलाधार तक अमृत का अभिषेक होता है जिससे मन ध्येय-प्रवण बन जाता है।

वायु का रेचक, पूरक और कुम्भक के द्वारा ही सामान्यतः रोध किया जाता है। परन्तु साधकों का अनुभव है कि इसके द्वारा कुछ काल पर्यन्त प्राण का निरोध होने पर भी प्राण पर अधिकार स्थापित नहीं होता। आधुनिक योगियों में दीर्घजीविता की कमी इसका सबसे बड़ा प्रमाण है। प्राण-निरोध ही पूर्ण नहीं तो मन-निरोध की बात तो उठती ही नहीं। अतः यहां इस प्रकार का वायु-निरोध इष्ट नहीं। प्राण पर नियन्त्रण करने वाले अनासक्ति, प्रत्या-सक्ति, उपासक्ति, आसक्ति, आदि तंत्रोक्त प्राणायामों का ग्रहण है। इनसे जो वायु पर अधिकार आता है वह वज्रोली, सहजोली, अमरोली आदि अवस्थाओं को पार कर निर्विकल्प में स्थित करा देता है। रहस्य यह है कि सामान्य प्राणायाम वायु द्वारा सृष्ट अग्नि तत्त्व को बढ़ाता है। अर्थात् वायु निम्नोन्मुखी होती है। सिद्ध प्राणायाम वायु को अपने कारण आकाश की तरफ प्रवृत्त करता है जिससे वायु क्षीण होती है। अगले मन्त्रों में **क्षीणे प्राणे** के द्वारा इसे स्पष्ट करेंगे। इसीलिये दीर्घायु और रोग नाशक ही नहीं चित्त को सर्वथा सूक्ष्म बनाकर **ॐ खं ब्रह्म** के द्वारा बताई हुई यजुर्वेदोक्त उपासना का अधिकारी साधक बन जाता है।

अधि अर्थात् अधिक यानी सब रूप से रुध्यते अर्थात् रुक जाता है यानी नष्ट हो जाता है। शंका हो सकती है कि फिर आकाश रूप से स्थिति हो जायेगी। उसका जवाब सोम के अतिरेक के द्वारा श्रुति स्वयं ही दे देती है। अर्थात् आकाश के बाद शक्ति-विशिष्ट शिव की प्राप्ति में लगना चाहिये। वस्तुतः अग्नि के द्वारा पृथ्वी और जल सहित अग्नि अर्थात् दृश्य जगत् का विजय का मार्ग अभिमथन बताया एवं वायु के द्वारा वायु और आकाश रूपी अदृश्य जगत् की विजय अधिरोध के द्वारा बताई। अदृश्य जगत् का ही अंग सूक्ष्म देह है। वैसे जिस प्रकार अग्न्याधान में अग्नि का मथन है वैसे ही प्रवर्ग्यादि में सविता

के द्वारा प्रेरित शब्दों की अभिव्यक्ति ही अविरोध कही जाती है। अवर्ग्य विद्या प्राणायाम का मूल है यह तो सभी जानते हैं।

५. ऋग्वेद में पूरा का पूरा नवम मण्डल सोम की महत्ता का प्रतिपादन करने के लिये है। उमा सहित महेश्वर ही सोम पद के वाच्य हैं। उनके ऊपर से बह कर आने वाला रस सोम रस कहा जाता है। आज भी शिव लिङ्ग के ऊपर से अभिषेक के द्वारा आये हुए रसों को अमृत कहते हैं। पांच पदार्थों का रस आने पर पञ्चामृत कहते हैं। हिमालय के उच्चतम शृंगों में प्राप्त लता भी इसीलिये सोम कही जाती है। सहस्रार स्थित लिंग पर से बहने वाला स्राव भी सोम कहा जाता है। ये सभी सोम तेज को बढ़ाते हैं, अतः उत्तेजक हैं। दशा पवित्रों से शुद्ध किया हुवा वल्लीविशेष का रस भी इसी प्रकार तेज का अभिवर्धक है। परमेश्वर प्रेम में भी एक प्रकार की उत्तेजक मादकता होती है। अतः भक्ति को भी सोम कहा गया है। माया और मायाविशिष्ट चेतन, इनको जय करके ब्रह्म-स्वरूप में स्थित होना ही सोम का वास्तविक अतिरेक है। वस्तुतः इस प्रेम की प्राप्ति ही नारद के शब्दों में दुर्लभ, अगम्य और अमोघ है। अन्य साधन यदि इसको उत्पन्न कर पाये तो सफल हैं अन्यथा निष्फल। इस उपनिषद् के अन्त में भी **यस्य देवे परा भक्तिः** के द्वारा इसी बात को बतायेंगे।

अग्नि से धनात्मक पुरुषतत्त्व, एवं वायु से ऋणात्मक प्रकृति-तत्त्व का ग्रहण करने पर श्रुति भौतिक,उज्जीवक (elan vital) एवं मानस शक्तियों की उत्पत्ति का वैज्ञानिक प्रकार भी बता रही है। धनाणुओं का मथन करके ऋणाणुओं का अवरोध करने पर ही नव शक्ति की सृष्टि होती है जो पदार्थ में परिणत की जा सकती है।

६. योग युक्त मन यद्यपि पहले उत्पन्न हो चुका है तथापि वह देहादि संघात से एक होकर उत्पन्न हुआ था। अब ब्रह्म रूप से एक

होकर वह उत्पन्न होता है अथवा मन से से जीव को भी लिया जा सकता है। वह जीव उसी जन्म में या जन्मान्तर में ब्रह्म रूप से उत्पन्न होता है। इस प्रकार क्रम मुक्ति का भी यहां संग्रह है। वस्तुतः सारा जीवन मन के दृष्टि कोण का ही परिणाम है। अतः आचूलमूल दृष्टिकोण का परिवर्तन नया जन्म कहा जाता है। संन्यास को भी नया जन्म ही माना है।

७

पूर्वोक्त प्रक्रिया ही स्पष्ट करते हैं :—

सवित्रा प्रसवेन जुषेत ब्रह्म पूर्व्यम् ।
तत्र योनिम् कृणवसे न हि ते पूर्तम् अक्षिपत् ।

प्रसवेन =प्रसव करने वाले[1]
सवित्रा[2] =सवितासे[3]
पूर्व्यम् =पहले होने वाले[4]
ब्रह्म =ब्रह्म को
जुषेत[5] =सेवे[6]
हि =चूंकि
ते =तेरे लिये
पूर्तम् =(कर्मों का) पूर्ण फल[7]
न =नहीं
अक्षिपत् =दिया
तत्र =वहां
योनिं =योनि को[8]
कृणवसे =तू करता है।

१. गर्भ दस मास में पकता है। अर्थात् दस मास में वागादि वृत्तियां पूर्ण रूप से पुष्ट हो जाती हैं। सविता रूपी हिरण्यगर्भ ही इस प्रसव का वास्तविक कर्ता है। पूर्वोक्त मन्त्र में प्रतिपादित जो सञ्जनन है उसको पूर्व्य अर्थात् अन्न के द्वारा प्रीति पूर्वक यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण में बताये हुए पदार्थों के द्वारा तेजस्वी बनकर संयोग करने से ही शुद्ध मन की उत्पत्ति संभव है। यज्ञ के अभेद से यहां जुषेत का अर्थ जूस निकालना है। **जुषी प्रीतिसेवनयोः** तव योनि को पूर्वजन्म कृत धर्माधर्म के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र,

चाण्डाल, म्लेच्छ रूप में विकरण करता है।] उसका कारण वह अन्न है जो अदृष्ट के कारण देह में प्राप्त होकर भी नष्ट नहीं होता। यदि पूर्ण रूप से योनि को पूर्त कर दिया जाता तो भविष्य योनिप्राप्ति का मार्ग बन्द हो जाता। चूंकि इस प्रकार का क्षिपण नहीं हुआ अतः जन्मान्तरादि की प्राप्ति सभव हो गई। ऋषि प्रार्थना करते हैं, मेरे शुभाशुभ कर्म इस प्रकार पूरे हो जांय कि मुझे पुनः सन्दंशन की यन्त्रणा न मिले।

यद्यपि इस विषय का ज्ञान कुछ लुप्त सा हो गया था परन्तु चेकोस्लॉवाकिया के डाक्टर योनाश (Jonas) एवं प्राग के कुमाराध्यक्ष (head of the gynecology clinic) डा० मालकौम (Malkom) ने यह सिद्ध किया है कि सूर्य एवं नक्षत्रों तथा भोजन एवं मनःस्थिति का प्रभाव प्रजनन पर पड़ता ही है। डा० औरेल हुडकोविक (Aurel Hudcovic) जो ब्राटिस्लावा कुमाराध्यक्ष हैं, ने अन्न परिपाक का यहां तक अध्ययन किया है कि बालक के लिंग का निर्णय भी देश, काल और भोजन के प्रभाव से किया जा सकता है।

प्रकर्ष से सवन करने के कारण ही परमेश्वर को सविता कहा जाता है। इस दृष्टि से परमात्मा का सेवन किस प्रकार किया जाय इसको हेतुगर्भ विशेषण से श्रुति बतला रही है। अर्थात परमात्मा ही जगत् का कारण है इस रूप से उसका हृदय में चिन्तन करे। कैवल्य उपनिषद में भी 'भूतयोनि' पद से यही कहा गया है। वस्तुतस्तु विचारशीलों के लिये प्रत्येक क्षण में ही अधिष्ठान ब्रह्म से नाम रूप का प्रसव होता ही रहता है। इस प्रकार उसका बाह्य जगत् में एवं आभ्यन्तर जगत् में संस्कार प्रसव को जानता है वही सविता का प्रकर्षेण सव समझता है।

२. **सविता पठति नारायणः संहितानुरोधात्।**

३. यहां सविता का अर्थ पूर्व मंत्र में प्रसव किया हुआ मन लेना चाहिये।

४. प्रसव के पूर्व नित्य सिद्ध चिरन्तन प्रपञ्चोपशम शान्त शिव निर्मल भाव से सदा ही है। यही मानव प्रसव के द्वारा एवं मानस प्रसव के द्वारा सृष्टि का मूल है, जो सविता के द्वारा कारण त्रिकोण में अग्नि उत्पादन करके सृष्टि-चक्र को भरता रहता है। एवं उसी स्थल में पुनः लीन करके स्वरूप में स्थित रहता है।

५. **नारायणस्तु युषेत इति पठति। युष् वधे इत्यर्थस्तु न सङ्गतः।**

६. जिस प्रकार सविता के द्वारा पूर्व्य अर्थात् अन्न का प्रसव होता है उसी प्रकार मन का प्रसव हो। तात्पर्य है कि जो परमेश्वर की प्रार्थना एवं अनुज्ञा के बिना ध्यान ज्ञान में प्रवृत्त होता है वह वस्तुतः भोग हेतु कर्म में ही प्रवृत्त होता है अतः उसका फल भी सस्य की तरह बारम्बार जन्म मरण देने वाला ही होता है। जिस प्रकार खेत में डाला हुवा बीज सूर्य के बिना नष्ट हो जाता है वैसे ही ऐसा कर्म भी नष्ट हो जाता है। अतः निर्गुण निराकार ब्रह्म का साकार सविता रूप से निरतिशय प्रेम पूर्वक सेवन करे। यद्यपि मैं ब्रह्म हूँ, ऐसा जानने वाला मैं और सूर्य में भेद जानकर उससे प्रेम नहीं करेगा, परन्तु जो इस मैं को प्रीतिमान बनाने वाला है वह प्रेम का प्रसव करने वाला सविता त्रिविध परिच्छेद शून्य है और वही मेरा वास्तविक आत्मा है, इस प्रकार सेवन करेगा।

अथवा मंत्र का पूर्वार्ध ध्यान के प्रकार को बताता है। सवित्रा अर्थात् द्वादशान्त में स्थित बारह कला वाले सूर्य से सोम मण्डल से सुषुम्ना में प्रसव किये हुवे अमृत का सेवन करे। यह सेवन ही पूर्व्य ब्रह्म रूप से ध्येय है। पूर्व्यम् अर्थात् मूलाधार में स्थित, तत्र अर्थात् उस मूलाधार में, योनि अर्थात् अग्नि मण्डल को, ब्रह्म के उपासना स्थान रूप से सोमस्राव के द्वारा, कृणवसे अर्थात् योग्य बनाते हो या योग्य बनाओ। ते अर्थात् इस प्रकार करने वाले तुझ को कलार्क के द्वारा विलुप्त किये हुए चन्द्र मण्डल से सुषुम्ना में झरते हुए अमृत

से पूर्त अर्थात् पूरित अर्थात् फलित मूलाधारस्थ ब्रह्म को बाहर नहीं अक्षिपत् माने फेंक पाया। याने नहीं दूर कर पाता है। तात्पर्य है कि इस प्रकार ध्यान करने पर ब्रह्म पूर्ण रूप से शीघ्र फल देदेता है।

७. प्रायः स्मार्त कर्मों को पूर्त कहते हैं। जिसमें धर्मशाला, कूप निर्माण इत्यादि समाज सेवा के धर्मों का ग्रहण है। यहां पूर्त से सभी कर्मों का उपलक्षण है। विशेष करके पूर्त का ग्रहण इन कर्मों की प्रत्यक्ष फल सिद्धि से है। प्रत्यक्ष ही धर्मशाला आदि लोगों को सुख पंहुचाते हैं। अतः इन कर्मों का फल अवश्यम्भावी है। यहां शुभ की तरह अशुभ कर्मों का भी ग्रहण कर लेना चाहिये। चूंकि जीव रूप सविता के द्वारा इन कर्मों का आक्षेप अर्थात् त्याग नहीं किया हुआ होता है इसी लिये वे फल देते हैं। कालान्तर में भोग के द्वारा ही इन कर्मों का क्षय होता है। किन्तु सविता की अनुज्ञा से प्रवृत्त होने पर वह इन कर्म-फलों का प्रक्षेप भोगने के लिये जीव के प्रति नहीं करता। अतः वे कर्म भोग के हेतु नहीं बनते एव मुक्ति मार्ग सुलभ हो जाता है। यदि सविता रूप से जीव पहले ही कर्म फल का त्याग कर दे तो भी कर्म-फल भोग से बच जाता है चूंकि इस जन्म के प्रारब्ध का भोग इसीलिये है कि इन कर्मों का फल त्याग नहीं किया गया था एवं कर्म-फल रूप से सविता इनको हमारे ऊपर फेंक चुका है, अतः इनकी निवृत्ति भोग के विना असम्भव है।

८. ब्रह्म में अपनी कारणता का दर्शन ही उसे अपनी योनि बनाना है। सामान्य पुरुष अपना कारण माता, पिता, कर्म, प्रकृति, महाभूत आदियों को समझता है। वैदिक शिव को ही अपना एक मात्र कारण समझता है। यही ब्रह्म को योनि बनाना है। अथवा योनि का अर्थ निष्ठा भी होता है। अतः ब्रह्म में निष्ठा करने से तात्पर्य है। योगावस्था में मन का स्थान योग-सम्पन्न व्यक्ति का जहां होता है वही उसकी योनि है। योगावस्था में सोम ही मन का आधान का केन्द्र होता

है। जगत् कारणभूत जीवात्मा की जननी माया रूप योनि की विद्या-वृत्ति ही यहां समझनी चाहिये। जब समग्र वृत्तियां ब्रह्म में प्रवृत्त हो जाती हैं तब शुभाशुभ निखिल कर्म नष्ट हो जाते हैं एवं अविद्या का कार्य बहिर्मुखता के द्वारा क्षेपण अर्थात् गमन नहीं होता। मूलाधार में स्थित योनि केन्द्र का विचार तो यहां इष्ट है ही।

८

इस प्रकार के शरीर मिलने के बाद आत्म-ज्ञान के लिये जिन साधनों को करना चाहिये उसका उपाय मां की तरह अनुकम्पा करके प्राणियों को श्रुति बतलाती है जिससे अति दुष्कर मार्ग भी सुकर हो जावे:—

त्रिः उन्नतम् स्थाप्य समम् शरीरम् हृदि इन्द्रयाणि मनसा सन्निवेश्य। ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि॥

विद्वान्=पण्डित[१]	**हृदि**=हृदय में[८]
शरीरं=शरीर को	**सन्निवेश्य**=सन्निविष्ट करके[९]
त्रिः=तीन स्थानों से[२]	**ब्रह्मोडुपेन**=ब्रह्म-रूपी नाव से[१०]
उन्नतं=उठा कर[३]	**भयावहानि**=भय-प्रद[११]
समं=सीध में[४]	**सर्वाणि**=सभी
स्थाप्य=स्थित करके[५]	**स्रोतांसि**=स्रोतों को[१२]
इन्द्रियाणि=इन्द्रियों को[६]	**प्रतरेत**[१३]=तर जाय (पार कर जाय)।[१४]
मनसा=मन के सहित[७]	

१. जिसने शास्त्रों के द्वारा ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लिया है ऐसा परोक्ष ज्ञानी अथवा अपरोक्ष अनुभव वाला ऐसा ज्ञानी जिसका विज्ञान विपरीत भावना से प्रतिबद्ध है। कहीं कहीं तो तीव्र विक्षेप

की प्राप्ति होने पर शिव योगी श्री परमहंस भी इसका प्रयोग करते देखे जाते हैं। अथवा कृष्णयजुर्वेदोक्त विद्या अर्थात् उपासना करने वाला यहां इष्ट है। **य एवं विद्वान् अमृत इह भवति** इत्यादि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं। यद्यपि इन मंत्रों से ही पातञ्जल योग का प्रादुर्भाव है तथापि उपासना से अलग प्राणायाम पर अधिक बल एवं सिद्धियों का विचार आदि अवैदिकांश उसमें काफी है। ऐतिहासिक दृष्टि से तो कृष्ण यजुर्वेद की काठक, श्वेताश्वतर एवं कैवल्य ही कपिल, सांख्य एवं पातञ्जल योग के प्रधान उपजीवक हैं। शिव को प्रधानता योग में स्पष्ट ही है। परन्तु अवैदिकांश के पुष्कल सम्मेलन से पुराण, धर्मशास्त्र आदि में अतिशय सन्निवेश होने पर भी भगवान् बादरायण एवं भगवान् शंकर को ब्रह्म-सूत्र और भाष्य में इनका खण्डन करना पड़ा। परन्तु सर्वज्ञ भाष्यकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि सांख्य की विवेक-प्रक्रिया एवं योग की ध्यान-प्रक्रिया वैदिक होने से अखण्ड है। अतः यहां वैदिक उपासनाओं से अन्वित योग का उपदेश होने से विद्वान् शब्द का प्रयोग है। चूंकि इस उपनिषद् के अन्त में **अथ विद्वान्** आया है, अतः ब्रह्म-ज्ञान के लिये लगे हुए ब्रह्मनिष्ठा रूपी योनि को प्राप्त करने वाले साधक का ही यहां मुख्य रूप से ग्रहण है।

२. पेट, कन्धा और स्तन का मध्यभाग; अथवा प्रातः, सायं और मध्यरात्रि; अथवा चार घंटा जगना, फिर चार घंटा सोना, फिर चार घंटा जगना, फिर चार घंटा सोना, इस क्रम से चार चार घंटे जगने के जो तीन मध्यकाल आते हैं। कुछ लोगों ने सिर, गर्दन और हृदय इन तीन अंगों का ग्रहण किया है। वस्तुतस्तु किसी भी तीन के उन्नत से एक ही आसन बन जाता है। इससे तंद्रा इत्यादि नहीं आती। विवेकी तो श्रवण मनन और निदिध्यासन की उन्नतावस्था इससे ग्रहण करते हैं। अथवा ज्ञान, इच्छा, क्रिया तीनों ही जब उत् अर्थात् ब्रह्म में नत अर्थात् नम्र हो जाते हैं तब त्रिरुन्नतावस्था मानते

हैं। इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना; अथवा तीनों तत्त्वों का सामरस्य भी उनकी उन्नतावस्था है। सांख्य दृष्टि से जब तीनों गुण एक जैसे उन्नत हो जाते हैं तब कारणभाव अर्थात् ईश्वर में स्थिति हो जाती है।

३. यहां उठाने से तात्पर्य शरीर के इन भागों को हवा से भरकर ऊपर की तरफ खींचना है। परन्तु इतना ज्यादा न उठाया जाय कि वायु का कोप हो जाय। इसीलिये योगाभ्यास गुरु के सामने ही करना चाहिये। वायु कम भरने से क्षय इत्यादि रोगों का भय रहता है एवं अधिक भरने से रक्तचाप, हृत्पीड़ा इत्यादि रोगों का भय रहता है। ठीक ठीक प्रकार से करने से ऐसा लगता है मानो शरीर जमीन से ऊपर उठ रहा हो।

उठा हुआ का तात्पर्य निद्रा, तंद्रादि न होकर के चेतना की पूर्ण जागरूकता भी होती है। अथवा जाग्रत के व्यवहार काल में भी सावधानी पूर्वक श्रुत मत जीव-ब्रह्मैक्य का अनुसन्धान करते रहना भी इस का तात्पर्य है। वस्तुतः इन दोनों अर्थों में व्यवस्थित विकल्प समझना चाहिये। जो उत्तमाधिकारी ज्ञानसाधना में रत है उसके लिये बाह्य देह के उन्नत करने की आवश्यकता नहीं है। **नासनादिचिन्ता सम्यक् दर्शने वस्तुतंत्रत्वाद् विज्ञानस्य** कहकर भगवान् भाष्यकार ने स्पष्ट ही यह बताया है। **आसीनः संभवात्** इत्यादि सूत्रों से आसन की आवश्यकता ध्यानी के लिये भगवान् बादरायण ने बतलाई है। ठीक ठीक प्रकार से इस आसन को करने के प्रकारों से ही पद्मासनादि योग के सारे आसन गतार्थ हो जाते हैं। हंगरी के डाक्टर लोजानस आदि ने शरीर को भूमि से काफी ऊपर उठाये हुए कई योगियों का परीक्षण करके यह स्वीकार कर लिया है कि आसन विशेषों के प्रयोग से ऊर्ध्वगति संभव है।

४. फुलाने में अंगों में समता आनी चाहिये। ठोड़ी से सामने की तरफ, या शिरोर्ध्व से (medula oblangata) लम्ब डालने पर

उनकी सिधाई का पता लग जाता है। दण्ड की तरह टेढ़ापना नहीं आना चाहिये। सीध के द्वारा यह भी बतलाया कि वायु के प्रकोप होने के पहले अभ्यास समाप्त कर देना चाहिये। ज्ञानी के लिये तो समनाम ब्रह्म का ही है। अर्थात् सभी अनुभवों में बाधितानुवृत्ति के द्वारा अधिष्ठान ब्रह्म का स्थापन करता ही रहे।

५. स्पन्दन एवं गति या चाञ्चल्य का परित्याग इसके द्वारा बतलाया। यह केवलीकुम्भक में ही संभव है। यद्यपि रेचक और पूरक प्रारम्भ में कुम्भक सिद्ध करने के लिये आवश्यक हैं पर साध्य तो केवली कुम्भक ही है। इस अवस्था में ही गति और स्पन्दन अथवा चाञ्चल्य दोनों निरुद्ध हो जाते हैं। ज्ञानी की दृष्टि से तो आत्मा की निष्क्रियता का ज्ञान ही स्पन्दन और गति से रहितता है। मुझ शिवात्मा में सब चीजें वैसे ही उत्पन्न और लय होती हैं जैसे रस्सी में सांप, अतः सारी चञ्चलताओं के बावजूद मैं अचल ही हूँ।

६. पातञ्जल इसी को प्रत्याहार कहते हैं। वेदान्त में इसे दम कहते हैं।

७. इसको धारणा कहा जाता है। मन के संकल्प-विकल्प का त्याग या शम ही यहां इष्ट है।

८. यहां हृदय से हृदय-कमल जो पांच छिद्र वाला है ग्राह्य है। ऊपर शरीर में **शीर्यते इति शरीरम्** के द्वारा बाह्य शरीर में विनाशिता की प्रतीति कराई गई जिससे उससे आस्था निवृत्त हो जाय। अतः ज्ञानी की दृष्टि से शरीर, इन्द्रिय और मन अहं द्वारा भास्य होने से बाहर हैं, विनाशी हैं और आस्था के योग्य नहीं हैं। ज्ञान और कर्म के करण पहले मन रूपी लगाम के वश में होवें और मन बुद्धि रूपी सारथी के वश में होवे यह भाव है। इस प्रकार देह का नियन्त्रण एवं कर्मेन्द्रियों का नियन्त्रण करने में ही आसन का उपयोग है। शरीर के स्वस्थ और सुस्थित हो जाने पर इनका व्यापार स्वतः

उपरत हो जाता है। प्राण रूपी सर्पिणी का स्वेच्छा प्रचार निवृत्त करने में प्राणायाम का उपयोग है। प्राण और मन साथ साथ चलते हैं। प्राण और मन एक ही पदार्थ के दो नाम हैं। अतः प्राण रूपी अंकुश से मन के बहिर्गमन में स्वतः कमी आ जाती है। प्रत्याहार इन इन्द्रियों का आन्तरिक नियन्त्रण है, एवं संयम अर्थात् धारणा, ध्यान, समाधि के लिये अन्तरङ्ग रूप से उपकारी है। इस प्रकरण में यम और नियम को इसलिये छोड़ दिया कि वे संसार में वैराग्य होने के कारण स्वतः सिद्ध हो जाते हैं। यदि विषय स्मरण रूपी छेड़ खानी से पुनः विषयों में प्रवृत्ति हो तो दोष-दर्शन रूपी मन की लगाम से खींच कर पुनः अपने हृदय में समभाव से स्थित करे।

हृदय के पञ्चछिद्रों में एक एक महाभूत और तज्जन्य पञ्चेन्द्रियों का, पञ्चप्राणों का एवं पञ्चान्तःकरणों का प्रवेश पञ्च ब्रह्ममंत्रों के द्वारा सामवेद कौथुमी शाखा में प्रोक्त विधि से गुणोपसंहारन्याय से यहां समझ लेना चाहिये। परन्तु यह साधन जानकार गुरु की सन्निधि में ही करना योग्य है।

९. विष्ट का अर्थ होता है अन्दर घुसाना। वस्तुतः हृदय कमल में से पञ्च छिद्रों के द्वारा ज्ञान का प्रवाह बाहर आकर पक्व तेज एवं निसृत सोम दोनों को निरन्तर क्षरित करता रहता है। वर्तमान में रूस के कीलियन प्रभाव के द्वारा लिये गये देह से प्रसृत इस प्राणाग्नि का भाचित्र अनेक रहस्यों का प्रकाशन करता है। देहस्थ प्रायः ७०-७२ चक्र, जिनके द्वारा यह स्राव अत्यधिक प्रकट होता है एवं जो चीन के एक्यूपङ्चर के स्थलों से मिलता जुलता है, का पता वैज्ञानिक लगा चुके हैं। इस क्षरण की अभिवृद्धि बीमारियों को पैदा करती है। चेतन-शक्ति-क्षरण (psycho-kinesis) के चञ्चल भवन से (irregular dissipation) रोगों का अभिवर्धन भी वे सिद्ध कर चुके हैं। यहां भी बारहवें और तेरहवें मन्त्र में इन चीजों का वर्णन

विस्तार से आवेगा। यह सतत बाह्य चरण पहले बन्द किया जाय, और फिर बाहर फैले हुवे को पुनः अन्दर घुसाया जाय तब इसको विष्ट कहेंगे। नि अर्थात् नितरां, अतः निविष्ट का अर्थ है प्रमाद और असावधानी से भी उसका निरुद्देश्य बहिर्गमन न हो पाय। सं अर्थात् सम्यक्। अतः सन्निवेश्य का अर्थ हुआ कि निवेशन ऐसा हो कि उसमें किसी प्रकार का असम्यक् ज्ञान कारण न बने। केवल प्राणायाम, देर तक निद्रा-रहितता, हिम जल का प्रयोग, गुरु दत्त विशेष प्रयोग, भावाधिक्य (emotional upb heaval) निरन्तर जप, औषधि विशेष, चिन्तन गाम्भीर्य, तीक्ष्ण संगीत, आदि से निवेशन तो हो जाता है, परन्तु सम्यक् ज्ञान पूर्वक न होने से, वह स्थायी प्रभाव पैदा नहीं कर पाता, एवं कई बार तो साधक को आगे बढ़ने से अवरुद्ध भी कर देता है। यह संवेशन जब पूर्ण हो जाता है तब ज्ञान सुलभ हो जाता है।

कुछ प्राचीनों के मत में तो यहां णिजन्त प्रयोग मान करके गुरु का इन्द्रिय और मन के साथ शिष्य के इन्द्रिय और मन से एकीकरण करके फिर दोनों युक्त हुए इन्द्रिय और मन के साथ शिष्य के हृदय में गुरु का प्रवेश माना है। यजुर्वेद के **ते हृदये हृदयं दधामि** आदि मंत्र इसमें प्रमाण हैं।

१०. यहां ब्रह्म का अर्थ ओंकार है। कुछ प्राचीनों ने यहां काकाक्षी न्याय मानकर ब्रह्म अर्थात् वेद एवं तत् उपलक्षित श्रवण को सन्निवेशन में कारण मानकर एवं वेद सार रूप से ओंकार को नौका मान कर दोनों तरफ सम्बन्ध माना है। वस्तुतः यहां सुन्दर रूपकालंकार है। देश-काल-वस्तु परिच्छेद शून्य सदा ही अविषय होगा। ऐसे अविषय को विषयवत् प्रतीत कराने वाली ब्रह्माकार वृत्ति है। जिस प्रकार आंख दर्पण के सम्बन्ध से नित्य अविषय होने पर भी विषयवत् प्रतीत होती है वैसे ही नित्य अविषय ब्रह्म निर्मल अहंकार में विषयवत् प्रतीत होता है। अतः ज्ञानी की दृष्टि से ब्रह्म से ब्रह्म-ज्ञान लक्षित है।

उडुप अर्थात् नौका जल को पार करने के कारण रूप लकड़ियों का दृढ़ बन्धन के द्वारा समूहीकरण है। जिस प्रकार नहीं तैरने वाला लोहा ऐसी नाव में बैठकर तैरने वाला बन जाता है वैसे ही ब्रह्म ज्ञान को समझना चाहिये। प्लुत ओंकार के ऊपर मन को बैठाने से मन अतिशीघ्र तैरने लगता है। इसलिये उसका ग्रहण है।

११. प्रेत, तिर्यक्, आदि योनियों में गिरानेवाली होने से इन्हें भय देने वाली कहा। वस्तुतस्तु देवादि योनियां भी संसार दुःख समुद्र में डुबानेवाली होने से भयावह ही हैं। इहलोक, परलोक, सभी किसी काल में अत्यधिक सुख देने वाले प्रतीत होने पर भी वस्तुतः प्रौढी प्रसिद्धिमात्र से उन्हें सुखप्रद माना जाता है। प्राप्त होने पर तो वे भी दुःख रूप ही रह जाती हैं। सदा ही किसी देव या राजादि अन्य शरीर में अथवा अपने में ही किसी अन्य काल में, बहिर्मुख इन्द्रियों से सुख की प्राप्ति हुई थी या होगी, ऐसी प्रतीति होने पर भी, अत्यन्त सुख है, अथवा अत्यन्त सुखी हूँ, ऐसी प्रत्यक्ष उपलब्धि किसी को नहीं होती। क्षयादि जन्य भय, अर्थात् मेरा यह सुख कहीं नष्ट न हो जाय ऐसी भावना अतिमूढ़ में भी रहती है। इसी प्रकार ईर्ष्यादि की अनुवृत्ति भी इस अनुभव की प्रतिबन्धक बनी रहती है। स्व-प्रवृत्ति और स्व-प्रवृत्ति का फल भी प्रायशः सन्त्रास रूप होता है। इस प्रकार सभी शरीरों में वास्तविक सुख न होकर भय ही भय लगा रहता है।

१२. स्वाभाविक अविद्या काम कर्म ही संसार-नदी के स्रोत हैं। बिना इन स्रोतों के बन्द किये सफलता कठिन है। अतः इसके द्वारा आवरण भंग को कर्तव्य रूप से बताया जा रहा है।

प्राचीनों ने आशा से बने हुए वासना-समूह को यहां स्रोत माना है। अतः प्रत्याहार के द्वारा ग्वाले की तरह बल पूर्वक दुर्दान्तिसांडरूपी इन्द्रियों को हृदय-मार्ग में जिसने गले के द्वारा निरुद्ध कर भी लिया है, अर्थात् मन रूपी दंडे को गले से इस प्रकार लटका लिया है

कि इन्द्रियां यथेच्छ नहीं भाग सकती, तथापि अत्यन्त ताकतवर होने से किसी किसी साधक की इन्द्रियां उस मन को लिये-दिये भी भाग जाती हैं। यह वासनाओं की प्रबलता से होता है। इसे रोकने के लिये ही धारणा, ध्यान, समाधि रूपी चाबुक का प्रयोग आवश्यक हो जाता है। जिस प्रकार स्रोत से जल बाहर जबरदस्ती बह जाता है वैसे ही यहां इन्द्रियों के द्वारा बहिर्गमन होने के कारण इन्हें स्रोत कहा गया।

स्रोत विक्षेप मात्र को कहते हैं। एवं विक्षेप ही सब अनर्थों का हेतु होता है। अतः किसी भी वासना का यदि अवशेष रह गया तो वह बिना विक्षेप कराये नहीं रहेगा। अतः सभी विशेषण का प्रयोग करके प्रवृत्ति-निवृत्ति किसी भी चीज की वासना अनर्थ का ही कारण हैं, ऐसा कहा गया। ये वासनायें ही जगत्-प्रतीति और देहान्तर का कारण बनती हैं। स्वेच्छा, परेच्छा और अनिच्छा प्रारब्ध को ज्ञानी भी सौम्य, घोर और घोरतर वासनाओं के अविद्यालेश द्वारा उत्पन्न होने पर ही भोग सकता है।

१३. **प्रतरेत् इति केचित् पठन्ति।**

१४. इस प्रकार योग्य अधिकार को प्राप्त करके संसार समुद्र को पार कर जाय यह श्रुति का अनुशासन है। योग्यतानुसार यहां, पर और अपर दोनों ब्रह्मों का संग्रह कर लेना चाहिये। केवल तरेत के द्वारा उत्तरण करके सगुण ब्रह्म की प्राप्ति एवं प्रतरेत के द्वारा परब्रह्म की प्राप्ति इष्ट है। अथवा यहां क्रममुक्ति और सद्यःमुक्ति, अथवा विदेहकैवल्य और जीवन्मुक्ति को बताया गया है। विवेकी तो ऐसा मानते हैं कि योगियों को भी विक्षेप निवृत्ति होने से तरण की प्राप्ति हो जाती है। परन्तु आवरण निवृत्ति के बिना सर्वथा निवृत्त न होने से उसे प्रतरण नहीं कहा जा सकता। अतः अविद्या के आवरण और विक्षेप दोनों रूपों का अप्रतिबद्ध ब्रह्म साक्षात्कार से समाधि की पूर्णता में प्रतरण करे।

९

प्राणायाम का और प्रत्याहार का विस्तृत वर्णन करते हैं :—

प्राणान् प्रपीड्य इह सः युक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोः श्वसीत। दुष्टाश्वयुक्तम् इव वाहम् एनं विद्वान् मनः धारयेत अप्रमत्तः॥

सः = वह (अभ्यासी)[१]	**अप्रमत्तः** = प्रमाद रहित[१०]
युक्तचेष्टः[२] = सीमित चेष्टा (limited effort) करते हुवे[३]	**विद्वान्** = ब्रह्म ज्ञानी[११]
इह = इस शरीर में[४]	**दुष्टाश्वयुक्तम्** = दुष्ट घोड़ों से जुड़े हुवे[१२]
प्राणान् = प्राणों को[५]	**इव** = की तरह
प्रपीड्य = निरुद्ध करके[६]	**एनं** = इस (प्रत्यक्ष)
प्राणे = प्राणगति के	**वाहम्** = रथ या वाहन रूपी[१३]
क्षीणे = अत्यन्त मन्द हो जानेपर[७]	**मनः** = मनको[१४]
नासिकयोः[८] = नासापुटों में	**धारयेत** = (बुद्धि में) धारण करावे।
श्वसीत = श्वास करे[९]।	

१. जिस मध्यमाधिकारी का मन उपर्युक्त प्रकार से वश में नहीं आता है वह मन्दाधिकारी यहां इष्ट है। पाप को नष्ट करने वाले साधनों में प्राणायाम सर्वोत्तम साधन है। यद्यपि अश्वमेधादि कर्मों से भी पाप निवृत्त होते हैं परन्तु उनसे अन्दर की वासना का प्रक्षालन नहीं होता। प्राणायाम से यह मनोमल भी धुल जाता है। उसमें भी सर्व प्रथम नाड़ी-शोधन कर्तव्य है। बिना नाड़ी-शोधन के प्राणायाम न केवल असफल होता है वरन् हानिकर भी हो जाता है। दाहिने नाक को बन्द करके बायें से यथाशक्ति वायु को भरे। फिर बाहर निकाले। ऐसा ही दाहिने नाक से भी करे। यह अभ्यास स्थिर होने पर बांये से लेकर दाहिने से छोड़े और दाहिने से लेकर बांये से छोड़े। पूर्व-

रात्रि, अर्धरात्रि, अन्तिम रात्रि और मध्याह्न कालों में सवन-चतुष्टय का अभ्यास करे। प्रत्येक बार सौ आवृत्ति करे। इस प्रकार वर्ष भर तक अभ्यास करने से नाड़ी-शोधन हो जाता है। नाड़ी-शोधन का लक्षण शरीर में हल्कापन, मुख पर तेज, भूख का बढ़ जाना, कानों में नाद का सुनाई देना आदि हैं। नाड़ीशुद्धि हो जाने पर अन्तः और बहिः कुम्भक का अभ्यास करे। कमसे कम ६४ मात्राओं का कुम्भक सिद्ध हो जाने पर प्राणायाम सफल होता है। सबीज और निर्बीज भेद से प्राणायाम दो प्रकार का है। इनमें से जो सरल लगे उसका अभ्यास करे।

२. **इह संयुक्तचेष्टः इति पठन्ति केचित्।**

३. योग की सिद्धि के लिये बाह्य प्रवृत्तियों की यथाशक्य न्यूनता करना आवश्यक है। जीवन रखने मात्र को एवं योग के लिये अत्यावश्यक क्रियाओं को छोड़कर अन्य सब क्रियाओं का परित्याग आवश्यक है। इसी प्रकार अतिभोजन, उपवास, जागरण, अत्यधिक सोना ज्यादा घूमना, अथवा बिल्कुल न घूमना आदि दोषों से दूर रहे। यथा सम्भव कम से कम बोले, कम से कम लोगों से मिले, क्योंकि इन दोनों में प्राण-शक्ति का अत्यधिक क्षय होता है।

४. मानव देह में ही योगादि का अभ्यास सफल होता है। अतः कर्मभूमि रूपी इस क्षेत्र अर्थात् शरीर में प्राणायाम कर्तव्य है। मानव शरीर में ही सारे चक्र और ग्रन्थियों का भेदन किया जासकता है। यह तो प्रत्यक्ष सिद्ध ही है कि मनुष्य को छोड़ कर कोई भी मेरुदण्ड वाला प्राणी सीधी खड़ी (vertical) रीढ़ की हड्डी वाला नहीं है। अन्य सभी प्राणियों का मेरुदण्ड पड़ा (horizontal) होता है। अतः उनमें ऊर्ध्वगमन असम्भव है। देवादि शरीरों में पार्थिवांश अति न्यून होने के कारण नीची तरफ का खिंचाव (downward pull) ही नहीं है तो ऊर्ध्वगति कैसे की जाय। अतः वहां भी चक्र

और ग्रन्थि-भेदन असम्भव है। किन्च मानवेतर प्राणियों में सारे चक्र उद्दीप्त भी नहीं हैं। पशु आदियों में अनाहत और उसके ऊपर के चक्र प्रसुप्त रहते हैं। एवं देवादि योनियों में अनाहत के नीचे के चक्र प्रसुप्त होते हैं। अतः चक्रजय दोनों में संभव नहीं है। इसीलिये मानव देह को प्राप्त कर मौके को हाथ से नहीं खोना चाहिये। कुम्भक रूपी प्राण निरोध के स्थान रूप से प्रसिद्ध मूलाधारादि आगमोक्त स्थान 'इह' पद का वास्तविक तात्पर्य है।

५. नव द्वारों से बाहर जाने वाले वायु को अथवा यहां प्राणों से कर्मेन्द्रिय विशिष्ट प्राणों का भी ग्रहण किया जा सकता है, क्योंकि आगे दुर्दान्त अश्वरूप से कहा गया वायु रूपी प्राण और कर्मेन्द्रिय रूपी प्राण दोनों ही संगृहीत हैं। बहुवचन के द्वारा प्राण-अपानादि पञ्च प्रधान वायुओं का और कृकलादि गौण प्राणों का भी संग्रह है।

६. कुम्भक के द्वारा प्रकर्ष रूप से प्राणों का उत्पीड़न करना ही उसको निरुद्ध करने का उपाय है। योग में कुशल आत्मज्ञानी गुरु के द्वारा उपदिष्ट मार्ग से ही यह करना चाहिये अन्यथा पीडित प्राण कुपित होकर स्वास्थ्य और मन दोनों को नष्ट कर सकता है। प्राणों का आयाम मन की धारणा के द्वारा कुम्भक करने से होता है एवं यह पीडन क्रम से ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि, रुद्रग्रन्थि तीनों जगह करना चाहिये।

७. जैसे डलिया से निकला हुआ सर्प बड़ा जोशीला होता है परन्तु बीन के अनुसार नाचते-नाचते अत्यन्त थक करके शक्तिहीन हो जाता है उसी प्रकार अनादि काल से कामनाओं से दबा हुआ प्राण अत्यन्त जोशीला होता है पर आयाम कराते कराते अत्यन्त सूक्ष्म हो जाता है। इसके सूक्ष्म हो जाने पर इसके द्वारा नियन्त्रित मन भी अत्यन्त सूक्ष्म हो जाता है। फिर यह प्राण और मन किसी भी इन्द्रियद्वार से यहां तक कि मन के द्वार से भी बाहर नहीं जाते।

इस प्रकार का सूक्ष्म हुआ प्राण सारे द्वारों से उपरत होने के कारण बिना किसी हिलाव के सीधे दण्डे की तरह शरीर के अन्दर भी चलता है और शरीर के बाहर भी। प्राणों के क्षीण होजाने पर जिस जिस स्थान में प्राणों का निरोध किया गया है वे स्थान भी ऊर्ध्व-मुखी हो जाते हैं एवं तनु भाव को प्राप्त हो जाते हैं।

८. **नासिकयोच्छ्वसीत इति पठति विज्ञानः नारायणस्तु नासिकयाश्वसीत इति।**

९. दोनों नथुनों से धीरे धीरे मन्द हुई वायु को छोड़े। मुख से छोड़ने का निषेध है। प्रारम्भ में वायु को हृदय कमल में प्रतिष्ठित करके फिर कई टुकड़ों में बांट कर एक एक टुकड़े को मन्द गति से प्रश्वास करते हुए छोड़े। इसी प्रकार सारी वायु बाहर छोड़ देने पर कुछ देर उस वायु को बाहर रहने दे। तदनन्तर मन्द गति से ऊपर खींचे। अभ्यास होने के बाद भिन्न भिन्न चक्रों में वायु का निरोध करके इडा या पिङ्गला के अन्दर वायु को प्रवेश कराके पुनः नासिका पुट में लाकर धीरे से छोड़े। यह अभ्यास पक जाने पर प्रसुप्त सर्पिणी को धीरे धीरे टक्कर मार कर सुषुम्ना में प्रवेश करावे। सुषुम्ना पर अधिकार आना ही प्राणायाम का साध्य है।

१०. योगी को अपने साधन में असावधानी करते ही रोगादि की प्राप्ति हो जाती है। और यदि परमात्मा की तरफ वृत्ति को प्रणिहित करके नहीं रखता तो सिद्धि इत्यादि में प्रवृत्ति होकर पतन हो जाता है। उच्च कोटि के साधक को भी इन्द्रिय मनादि को जीत लिया है ऐसा समझकर असावधानी नहीं करनी चाहिये, क्यों कि यह कार्य-करण संघात योग का वैरी होने से कभी भी विश्वास के योग्य नहीं है। काम-क्रोध-मद एवं अज्ञानादि से रहित रहना भी अप्रमादी बनना ही है। अभ्यास के काल में चक्र, नाड़ी इत्यादि एवं प्राण की गति आदि पर भी पूरा ध्यान देकर करना चाहिये।

११. यहां ऐसा परोक्ष ज्ञानी इष्ट है जिसने अभी समाधि में पूर्णता प्राप्त नहीं की है। परन्तु बाह्यान्तःकरण-निरोध के प्रकार को वायु-निरोध प्रकार के साथ संगत करने का तरीका जान लिया है। अथवा इसको धारणादि युक्त ब्रह्म-ज्ञानी श्रुति ने **भविष्यत् दृष्टया** कह दिया है। अर्थात् इस साधन करने वाले का ऐसा बनना अवश्यम्भावी है।

१२. प्रबल किन्तु अशिक्षित घोड़ों को दुष्ट घोड़ा कहा जाता है। उनके द्वारा रथ गड्ढे में गिरादिया जाता है। यद्यपि घोड़ों की प्रबलता अनिष्ट नहीं है पर दुर्बल घोड़े अशिक्षित होने पर भी बहुत अधिक हानिकारक नहीं होते। वेदों में प्रायः घोड़ों को इन्द्रियों का उपमेय बनाया है। अश्वमेधादि प्रकरण में यह स्पष्ट है। इन्द्रियों की प्रबलता अनेक पौराणिक ऋषियों के चरित्र से प्रकट होती है। अनेक मजहब अन्न की कमी एवं समाज से दूर करने की विधियों से अथवा मानस या दैहिक घोर तपस्याओं से इन इन्द्रियों को दुर्बल बनाने में विश्वास करते हैं। परन्तु वेदान्ती ऐसा नहीं मानते। इन्द्रियां प्रबल रहते हुए ही इतनी शिक्षित होजांय कि हमारी प्रगति में सहायक बनें। इन्द्रियों की कमजोरी तो हमें लक्ष्य तक ही नहीं पहुचने देगी। इसीलिये सभी साधनों में इन्द्रियों की शुद्धि को प्रधान रखा गया है, दुर्बल बनाने को नहीं। स्मृतियों में इसीलिये अन्धे, लूले, लंगड़े, हिजड़े, आदियों को संन्यास का अधिकार नहीं माना है। जिस प्रकार उदात्त घोड़ों वाला रथ प्रशस्त होता है उसी प्रकार शिक्षित और प्रबल इन्द्रियों वाला कार्य-करण संघात ही ब्रह्म-प्राप्ति के योग्य होता है।

१३. मार्ग के परम पार को लेजाने वाला प्राण रूपी लगाम यहां इष्ट है जो रथ का नियन्त्रण करने में समर्थ है। कुशल सारथी ही जिस प्रकार लगाम का नियन्त्रण कर सकता है वैसे ही यहां मनन करने में समर्थ साधक का ग्रहण करना चाहिये।

१४. जहां जहां वायु का निरोध देखे वहां वहां मन को एकाग्र करे। जहां मन है वहीं वायु है यह तो प्रसिद्ध ही है। तात्पर्य है कि प्राण का धारण अर्थात् स्थिरीकरण करने के बाद उसी ग्रन्थिकेन्द्र या चक्र पर मन को रखना चाहिये। गति में रथ की प्रधानता होती है और यहां प्राण रथ की जगह पर है। मन की स्थिरता प्राण की स्थिरता के अधीन ही होती है। अन्यत्र तो मन को स्पष्ट ही इन्द्रिय-रूपी घोड़ों का लगाम कहा गया है। धारण का तात्पर्य है सारथी रूपी बुद्धि के द्वारा नियन्त्रण करना। धारयेत में णिजन्त मान कर गुरु शिष्य को इस प्रकार धारणा करावे यह विधि भी यहां लक्षित है।

१०

योगानुष्ठान के योग्य देश को बताते हैं :—

समे शुचौ शर्करा-वह्नि-वालुका-विवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः ।
मनोनुकूले न तु चक्षुपीड़ने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥

समे = ऊंचाई नीचाई से रहित[1]
शुचौ = शुद्ध[2]
शर्करा-वह्नि-वालुका-विवर्जिते = कंकड़, बालू, आग से रहित[3]
शब्दजलाश्रयादिभिः = ध्वनि, पानी, रहने की जगह आदियों से[4]
मनोनुकूले = मन के अनुकूल[5]
तु = पर
चक्षुपीड़ने[6] = आंखों को पीड़ा देने वाला[7]
न = न (हो) ऐसे
गुहानिवाताश्रयणे[8] = तीव्र वायु रहित गुफा के आश्रय में[9] (बैठ कर)
प्रयोजयेत् = भली प्रकार योग करे[10]।

१. ऊंचे नीचे स्थान में बैठने पर रीढ़ की हड्डी सीधी रखना मुश्किल है एवं अन्य अवयव-संस्थान भी टेढे मेढ़े हो जाते हैं। किञ्च

विषम स्थान में बैठने पर ध्यान की गंभीरता में साधक गिर भी सकता है।

२. यहां स्वास्थ्य की दृष्टि से सफाई और वातावरण की दृष्टि से पवित्रता दोनों ही लिये गये हैं। मन्दिर इत्यादि स्थल स्वभाव से ही शुद्ध होते हैं। परन्तु आजकल मन्दिरों की सफाई पर ध्यान न देने के कारण, एवं अनियमित भीड़ भड़क्के के कारण भी अनुकूल स्थल नहीं रह गये हैं। केश हड्डी इत्यादियों से दूषित होने के कारण मुसलमान और बौद्ध इत्यादियों के स्थान तो सर्वथा अपवित्र ही होते हैं। स्वभाव से पवित्र स्थल न मिलने पर अपने घर या बगीचे के किसी स्थल को जलादि से शुद्ध कर केवल अभ्यास करने के लिये नियत कर देने पर भी काम चल जाता है। अपवित्र स्थल में अथवा जिस स्थल में अपवित्र काम किया गया हो मन की निर्मलता असम्भव है।

३. कंकड़ बालू इत्यादि वाले स्थल में बैठना अस्थिर भी है और कठिन भी। कंकड़ गड़ भी सकते हैं। जहां बालू होगी वहां सूक्ष्म धूल भी होगी जो शरीर पर गिरकर रोम कूपों को रुद्ध करके प्राणों का ह्रास कर देती है। नासिका इत्यादि के द्वारा वह फुफ्फुस को भी खराब कर सकती है। आग पास में होने पर तापमान की अधिकता और तापभेद दोनों ही योगी को हानिकर हैं। आग से निकलने वाला धुंआ भी अनिष्ट है। चिनगारी भी शरीर या कपड़ों पर पड़ सकती है कभी तो असावधानी से आग में गिर भी सकता है।

४. जहां ध्यान की जगह होवे वहां पक्षियों का अथवा द्विरेफों का सुन्दर गान होता हो। नदी की कलकल ध्वनि आदि प्राकृतिक ध्वनियां चित्त की एकाग्रता के लिये उपादेय होती हैं, परन्तु जो ध्वनि जिसके मन को अनुकूल हो वही उसके लिये लाभप्रद होगी अन्यथा लड़ाई झगड़े की ध्वनि से तो व्यग्रता होकर मन को प्रतिकूलता ही

होगी यहां कोमल संगीत वादितृ अथवा वेदादि शब्द समूहों का भी अपने अपने मनके अनुकूल ग्रहण कर लेना चाहिये। परन्तु घोर भयंकर शब्द या धड़ाके से दूर होना चाहिये।

इसी प्रकार मनके अनुकूल ही जलाश्रय होना चाहिये। जल की कमी होने पर वातावरण में एक प्रकार की शुष्कता आती है जो अभ्यासी के लिये हानिकारक है। हर तरह का जल हर व्यक्ति के लिये अनुकूल नहीं पड़ता, इसलिये स्वास्थ्यानुकूल जल भी आवश्यक है। अत्यधिक जल होने पर शीतलता की अधिकता से हानिप्रद हो जाता हैं। कभी कभी जल के निकट होने से जल में गिरने का भी भय रहता है।

अथवा आश्रय को अलग पद गिन लेना चाहिये। रहने के लिये जो मंडप हो वह मनके अनुकूल होवे, प्रतिकूल मंडप में वृत्ति की चञ्चलता स्वाभाविक है। आदि से **सुराज्ये धार्मिके देशे सुभिक्षे निरुपद्रवे** इत्यादि के द्वारा बताये हुये वातावरण का ग्रहण करना है। अथवा जहां सिंह, सर्प, मगर, मक्खी, मच्छर, मेंढक, कुत्ते आदि न होवें।

कुछ लोगों ने अनिष्ट शब्द अनिष्ट जल, अनिष्ट आश्रयादि लेकर के पूर्व समस्त पद के विवर्जिते को यहां लगा लिया है। किसी भी तरह इष्ट शब्द जलादि होने चाहिये और अनिष्ट नहीं होने चाहिये। सामान्यत: प्रथम पद में हेय पदार्थों को गिना देने के कारण एवं समस्त पद के एकदेश से अन्वय करना वाक्यरचना के विरुद्ध होने के कारण प्रकृत पक्ष ही ठीक लगता है। वैसे भी शब्द जलाशयादि के द्वारा मन की अनुकूलता संगत है। न्यायनिर्णयकार ने तो **शब्दजलाशयादिभिः** पाठ को ही स्वीकार किया है। जिसमें यह अर्थ और भी संगत हो जाता है।

५. यद्यपि निर्देश मन की अनुकूलता के लिये किये गये हैं। पर मन जहां पर रम जाय वह स्थान ही मन को स्वास्थ्यकारी होता है।

इस प्रकार का दर्शनीय स्थान दृष्टार्थक है अदृष्टार्थक नहीं। परन्तु ऐसा स्थान न मिलने पर योग का अनुष्ठान असम्भव होता है। अत: मनोनुकूल स्थान को घूम फिर कर ढूंढना चाहिये। और जहां मन में प्रीति उत्पन्न हो जाय एवं लक्षण अनुकूल हों वहीं अपना प्रयोजन सिद्ध कर लेना चाहिये।

साधक को यह याद रखना चाहिये कि इस विश्व में कुछ भी सर्वगुणसम्पन्न और सर्वदोषरहित नहीं है। अत: यथा सम्भव मनके अनुकूल स्थान ढूंढ के फिर मन को भी स्थान के अनुकूल बनाना चाहिये।

६. **अत्र चक्षुशब्दः अप्रसिद्ध उकारान्तः, छान्दसो वा विसर्गलोपः।**

७. जहां दृश्य रमणीक होता है वहीं मन शान्त होता है। सौन्दर्य आत्मा का स्वरूप है। अत: सौन्दर्य की अभिव्यक्ति जहां भी प्रकृति में होगी वहां परमात्मा का विशेष आविर्भाव मानना पड़ेगा। वैदिक देवताओं में कोई भी ऐसा नहीं जो सुन्दर न हो। ध्यान हमेशा सुन्दर विग्रह का ही करना चाहिये। प्रतिवादियों के सामने आने पर भी दृश्य में प्रतिकूलता का भान हो जाता है। अत: ऐसे वातावरण में नहीं रहना चाहिये जहां प्रतिकूल लोग रहते हैं।

८. **गुहानिवाताश्रयेण दीपिकापाठः।**

९. गुफा का लक्षण कहीं बताया गया है-**अल्पद्वारम् अरन्ध्रगर्तपिटकं नात्युच्चनीचायतम्, एवं निश्शेषजन्तूज्झितम्।** अत: छोटे दरवाजे वाली, बिना छेदवाली गुफा ही लाभप्रद हैं। ऐसी गुफा न मिलने पर एकान्त तेज हवा से रहित प्रदेश को भी लिया जा सकता है। गुहा का एकान्त अर्थ प्रसिद्ध ही है। हर हालत में सर्वबाधाशून्य स्थान में ही आश्रय लेना चाहिये। योग के लिये बनाया हुआ भुहरा भी यहां लिया जा सकता है क्यों कि उस में भी गर्मी-सर्दी जल्दी घटती बढ़ती नहीं।

१०. चित्त का परमात्मा से एकीकरण ही योग है। सुन्दर स्थान

मिलने के बाद योग को उत्तरोत्तर बढ़ावे अर्थात् उसका प्रकर्ष करे। इस प्रकर्ष करने के लिये योग को नष्ट करने वाली चीजों से दूर रहे।

अत्याहारः प्रयासश्च प्रजल्पो नियमग्रहः।
जनसंगश्च लौल्यं च षड्भिर्योगो विनश्यति ॥

अर्थात् अधिक खाना, अधिक परिश्रम, अधिक बातचीत, नियमों को पकड़ बैठना, लोगों से प्रेम करना, एवं चंचलता योग-नाशक हैं।

उत्साहात् साहसात्, धैर्यात् तत्त्वज्ञानात् च निश्चयात्।
जनसंगपरित्यागात् षड्भिर्योगः प्रसिध्यति ॥

इसी प्रकार उत्साह से, साहस से, धैर्य से, तत्त्वज्ञान से, गुरुप्रोक्त योग-साधना की सफलता के निश्चय से, एवं लोगों के साथ अधिक उठने बैठने को छोड़ने से, योग शीघ्र सिद्ध होता है।

११

यम नियम आसन प्राणायाम के द्वारा केवली कुम्भक में पहुंच कर के प्राण को जीत लेने पर अगूठे से द्वादशान्त तक मन और प्राण की साथ साथ धारणा का अभ्यास करने से इन्द्रिय वृत्तियों का मनमें प्रत्याहरण हो जाने से, ब्रह्मानुभव के पूर्व अभ्यासी को जिन पदार्थों के स्फुरण से योग की सिद्धि का पता लगता है उन्हें बताते हैं:—

नीहारधूमार्कानिलानलानाम् खद्योतविद्युत्-स्फटिक-शशीनाम् ।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मणि अभिव्यक्तिकराणि योगे ॥

ब्रह्मणि=ब्रह्म[१]
योगे=योग में
पुरस्सराणि=पहले आकर[२]
अभिव्यक्तिकराणि=योग को प्रकट करने वाले[३]
एतानि=ये[४] (निम्नलिखित)
नीहारधूमार्कानिलानलानाम्[५]=तुषार[६] (snow) धुंवा[७] सूर्य[८] वायु[९] अग्नि[१०],
खद्योत-विद्युत्-स्फटिक-शशीनाम्[११]=जुगनू,[१२] बिजली[१३], स्फटिक[१४], और चन्द्रमा के[१५]
रूपाणि=रूप हैं।[१६]

१. पर या अपर ब्रह्म इस योग का विषय है। अर्थात् जिस योग की सिद्धि होने पर ब्रह्मानुभव या ब्रह्म दर्शन होता है। ब्रह्म के विषय में चित्तवृत्ति का निरोध ही जिस योग का विषय है। यहां साधना की अवस्था से सिद्धि की अवस्था में प्रवेश का तात्पर्य है। अथवा ब्रह्म के आविष्कार के लिये जो योग किया जाय वह ब्रह्म योग है। यही परम योग की सिद्धि है। स्त्री-पुत्रादि की प्राप्ति, भूत भविष्यादि का ज्ञान, अणिमादि की शक्ति, यश, धन, आदि आने पर भी वे वस्तुतः न ब्रह्मयोग हैं और न इन्हें ब्रह्म के प्रकट होने के पूर्वचिह्न ही समझना चाहिये। ब्रह्मयोग के द्वारा बौद्धों के शून्ययोग, जैनों का दुःखाभाव योग, वैष्णवों का वैकुण्ठ गोलोक योग, योगियों का निर्विकल्प योग आदि की निवृत्ति कर अस्पृश्य योग या सहज योग को ही यहां प्रतिपादित किया है, क्यों कि ब्रह्म स्वरूप होने से सहज है एवं असंग होने से अस्पर्श।

२. ये अग्रगामी चिह्न हैं जिनसे पता लगता है कि अब ब्रह्मसिद्धि दूर नहीं। ये मानो वे हलकारे (pilot-guard-van) हैं जिनसे राजा के आने का पता लगता है। जैसे प्रभास पाटन में जाने वाले को समुद्र का घोष सुनने से पता लग जाता है कि अब सोमनाथ महादेव दूर नहीं, अथवा हाथ फड़कने से पता लग जाता है कि प्रिय के दर्शन में विलम्ब नहीं। ऐसे ही इन चिह्नों के प्रकट होने से पता लग जाता है कि ब्रह्म साक्षात्कार अब दृष्टि का विषय होना ही चाहता है। यह मानो धूम की तरह वह्नि का पूर्वरूप लिंग है। इन लिंगों में क्रम से आविर्भाव होता है। जैसे जैसे आगे आगे के लिंग दर्शन होते जांय, वैसे वैसे सिद्धि सान्निध्य सिद्ध होता है।

३. व्यक्त का मतलब है जो चीज पहले ही विद्यमान हो परन्तु ढकी हुई हो एवं उसका ढक्कन दूर कर दिया जाय। सभी वैज्ञानिक सिद्धान्त भी इसी प्रकार पहले से मौजूद होते हैं परन्तु अज्ञान से ढके होते हैं एवं जब अज्ञान के आवरण को दूर किया जाता है तब उनके ज्ञान को आविष्कार कहा जाता है। इसी प्रकार ब्रह्म ने

अपनी स्वातंत्र्य शक्तिसे अपने आपको अविद्या-पर्दे से (stage curtain) ढांक रक्खा है। एवं इसके हटने पर जितना जितना हटता है उतना उतना उसका रूप अभिव्यक्त होता जाता है। सूचक होने से ही इनको अभिव्यक्ति करने वाले बताये हैं। वस्तुतस्तु ये अभिव्यक्ति के द्योतक मात्र हैं क्यों कि ब्रह्म नित्य अभिव्यक्त है। किञ्च ब्रह्म अखण्ड होने से उसकी अपनी अभिव्यक्ति के होने में थोड़ापना असम्भव है। सकृत् विभात के द्वारा यही कहा जाता है। फिर भी जैसे अज्ञान-जन्य सदंश, चिदंश, सुखांश आदि की कल्पना है वैसे ही आविद्यिक अविद्यापगम के विषय में भी अंशांश कल्पना संभव है।

४. प्रत्यक्ष अनुभव से सिद्ध।

५. नीहारधूमार्कानलानिलानाम् इति दीपिका-नारायण-विज्ञानानां पाठः समीचीनतरो भाति। उपलब्धकोशेषु प्राचीनतमेषु अनुपलब्धत्वात् रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकरेण (Dr. R. G. Bhandarkar) दक्षिणापथवर्तिविद्यालयग्रन्थसंग्रहालयेन (Poona Deccan college) प्रकाशिते अस्वीकृतत्वाच्च मूलपाठः स्वीकृतः अस्माभिः। **प्रमाणीभूतानन्दाश्रमसुद्रणालयेनापि अस्मत्पाठः स्वीकृतः** भाष्य-नाम्ना प्रकाशितटीकामूलत्वेन। **योगपरम्परया क्रियमाणे अर्थे पाठ-क्रमात् अर्थक्रमस्य गरीयस्त्वं स्वीकर्तव्यम्,** निराकर्तव्यश्च विरोधः।

६. शिशिर हेमन्त ऋतुओं में सफेद रंग का जो जमा हुवा जल-कण का समूह गिरता है उसे तुषार कहते हैं। ऐसे समय में एकाग्र दृष्टि से यदि गिरते हुए इन कणों को देखा जाय तो एक धुंधली चद्दर सी दीखती है। ध्यान काल में जब ऐसा दिखाई दे तब योग का प्रथम सोपान समझना चाहिये। वस्तुतः प्राणों के साथ ही चित्त की वृत्ति इसी प्रकार की प्रवृत्ति करती है। अर्थात् दृश्य का अभाव होने पर भी वृत्ति इस प्रकार का आकार धारण कर लेती है। इसके साथ ही विशिष्ट प्रकार का शब्द, स्पर्श, रस और गन्ध का भी अनुभव

होता है। पहले पहल क्षण मात्र के लिये ऐसी प्रतीतियां होती हैं फिर धीरे धीरे अभ्यास के बढ़ने पर स्थिर हो जाती हैं। शरीर के अंग-विशेषों में पुलकन जैसा सुखानुभव भी इसके साथ ही होता है। ये सब आगे के अनुभवों में भी यथा सम्भव समझ लेना चाहिये। इन अनुभवों से हृदय देश पर एक टक्कर या झटका सा लगता है जो कमजोर दिल वाले लोगों के लिये असह्य होता है। अतः उन्हें इन अभ्यासों को विना गुरु की सन्निधि के नहीं करना चाहिये।

७. शुद्ध मावे को जलाने पर जो एक सांवला सलोना धुवां निकलता है वही यहां समझना चाहिये। जब धुवां एक सार निकलेगा तब उसमें लच्छे (spiral) की जो प्रतीति होती है उस प्रकार की गति वाला अन्तः करण बन जाता है।

८. सूर्य की पिङ्गल किरण ही यहां लेनी चाहिये।

९. यहां अर्थ क्रम के अनुसार पाठक्रम समझ लेना चाहिये। यद्यपि वायु दिखाई नहीं देता तथापि उसके द्वारा हिलते हुए पत्ते दिखाई देते हैं। बाह्य वायु की तरह आन्तर वायु का तीव्र प्रक्षोभ होने से हृदय कमल के पत्ते जोरों से हिलने लगते हैं। इसी से वायु का नील वर्ण भी स्फुट हो जाता है।

१०. लाल रंग वाला प्रकाश और दहन में समर्थ यहां इष्ट है। यही वायु के क्षोभ का कारण होता है।

११. **खद्योतविद्युत्स्फटिकशशिनाम् इति** पाठान्तरः। **खद्योत-विद्युत्स्फटिकाशनिनाम् इति तु न्यायनिर्णयस्वीकृतपाठः।**

१२. अमावास्या की काली रात्रि को गाढ़ अन्धकार में अग्नि कणों की आभावाले प्रतीत होने वाले खेचर जन्तुओं से भरे हुए अन्तरिक्ष को देखने पर काली साड़ी पर हीरों की बौछार की तरह जो रूप देखने में आता है उस प्रकार का चित्रित अन्तरिक्ष यहां लक्ष्य है। यह जन्तु एक क्षण भी स्थिर न रहकर परिभ्रमण करता रहता है यह विशेषता भी समझ लेनी चाहिये।

१३ घनघोर बादलों में लपट की तरह फैलने वाली चिरकालतक प्रभा न देने पर भी सूर्य की तरह मेघ मण्डल से आक्रान्त नभस्थल को प्रतीत कराते हुवे आंखों को चकाचौंध करके मुंदवा देने वाली दीप्ति यहां समझनी चाहिये। इसका दर्शन होने पर प्रायः साधक अत्यन्त भयभीत होकर आंख खोल देता है और कभी २ तो चिल्ला कर दौड़ पड़ता है। परन्तु इसमें सुखानुभव इतना तीव्र होता है कि विश्व के सभी पदार्थ उसको फीके लगने लगते हैं।

१४. तीव्र चमक वाला श्वेत और स्निग्ध पाषाण खण्ड। इस प्रतीति में वृत्ति में इतनी अधिक पारदर्शिता आजाती है कि यदि किसी भी संस्कार का उदय बाहर से करा दिया जाय तो स्थिर हो जाते हैं। भूत, भविष्य आदि काल एवं सारे देश इसमें प्रतीत हो जाते हैं। पाश्चात्य सिद्धों में स्फटिक दर्शन (crystal gazing) का यही मूल है। अतः इस काल में केवल ऐसे लोगों के साथ रहना चाहिये जो परमात्मा के सिवाय और किसी चीज में रुचि न रखते हों।

१५. यहां शशी का दीर्घ ईकार छान्दस है। शरत् पूर्णिमा के चन्द्रमा से तात्पर्य है। इसका मक्खन जैसा रंग (cream colour) होता है एवं मण्डल आकार होता है। अब तक के दर्शनों में गरमी थी, इसमें ठंडक होती है। यह स्थिर है एवं इस मण्डल के मध्य में ही इष्ट दर्शन होता है।

१६. यद्यपि यहां चक्षुग्राह्य रूपों का ही वर्णन है तथापि शब्दादि की भी यहां उपलक्षणा कर लेनी चाहिये। यद्यपि प्रवृत्ति में और भी अनेक सिद्धियां आती हैं फिर भी उनमें आसक्ति न करते हुए इन सूचक चिह्नों (mile stones) के सहारे जो योगियों के अनुभवों से सिद्ध हैं एवं केवल बुद्धिमात्र से ग्राह्य हैं, आगे बढ़ते हुए अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेना चाहिये।

१२

इस प्रकार समाधिस्थ की सिद्धियों को बताया अब जो सिद्धियां व्युत्थान अवस्था में भी प्रकट होती हैं उस भूत-जय सिद्धि को बतलाते है :—

पृथ्व्याप्यतेजोनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते।
न तस्य रोगः न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥

पृथ्व्याप्यतेजोनिलखे[१] = पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश से[२]
समुत्थिते = बने हुए[३]
पञ्चात्मके = पांच कोश वाले शरीर में[४]
योगगुणे = योग के गुणों के[५]
प्रवृत्ते = प्रवृत्त हो जाने पर[६]
योगाग्निमयं = नये योगाग्नि से बने हुवे[७]
शरीरं = शरीर को
प्राप्तस्य = प्राप्तकर लिया है जिसने,
तस्य = उसको
रोगः = रोग[८]
न = नहीं (होता),
जरा = बुढ़ापा[९]
न = नहीं (आता) (एवं)
मृत्युः[१०] = मृत्यु[११]
न = नहीं (आती)

१. पृथ्व्यप्तेजोनिलखे पठन्ति केचित्।

२. आप्य का अर्थ जल अथवा पृथ्वी से जो आप्य है, इस प्रकार कार्य कारण की अनन्यता का ध्वनि करने वाला यह शब्द है। यहां एक एक भूत का क्रम से जय करना संकेतित किया गया है। पैर से जांघ तक, भूमण्डल रूपी पृथ्वी तत्त्व में लं बीज से चतुर्मुख ब्रह्मा का ध्यान करके निवृत्ति नाम की कला एवं उसकी शक्ति का अपनी आत्मा से अभेद दर्शन करते हुए मैं वही हूं, ऐसी धारणा के व्यवहार काल में भी दृढ़ हो जाने पर इस उपासना के फल स्वरूप पृथ्वी तत्त्व को वश में कर लेता है। इस प्रकार प्रथमतत्त्व की धारणा के जीत लेने पर अगला अभ्यास प्रारम्भ करे। जानु से पायु तक जल रूप जल मण्डल में वं बीज से विष्णु का ध्यान कर प्रतिष्ठा कला और

उसकी शक्ति में अहंग्रहोपासना करके उस भावना के दृढ़ हो जाने से जल तत्त्व का विजय करके आगे बढ़े। पायु से हृदय तक वह्नि-मण्डल रूप तेजस्तत्त्व में रं बीज से रुद्र का ध्यान कर विद्या कला एवं उस शक्ति के साथ अपने अभेद का चिन्तन करे। तब अग्नि तत्त्व पर अपना नियन्त्रण पूर्ण हो जाने से तेजो धारणा जीत ली जाती है। उसके बाद वायु तत्त्व को जीतने के लिये मध्य हृदय से भ्रूमध्य तक वायु रूप से वायु मण्डल में यं बीज के द्वारा ईश्वर का ध्यान करके वायु मण्डल शरीर वाली शान्ति कला एवं उसकी अभेदोपासना करे। वायु तत्त्व के वशीभूत हो जाने से वायु धारणा का जय हो जाता है। तब आकाश रूप भ्रूमध्य से मूर्धान्त तक आकाश मण्डल में हं इस प्रकार बीज से सदा शिव का ध्यान करके आकाश मण्डल को एवं उसकी शान्त्यतीता कला और उसकी शक्ति को अपने से एक करके आकाश धारणा को जीते। इससे आकाश तत्त्व अपने अधीन हो जाता है। इसके बाद पृथ्वी को जल में, जल को तेज में, तेज को वायु में और वायु को आकाश में पञ्चीकरण प्रक्रिया से अथवा दक्षिणा-मूर्ति परमहंस प्रक्रिया से उपसंहृत करे। इससे पांचों का आत्मा के साथ सदा शिव से ऐक्य हो जाता है इसके बाद **सदा शिवोऽहं** इस अनुभव के बल से सदा शिव की तरह ही रोग, जरा, मृत्यु, की निवृत्ति रूप ही आत्मानुभव होता है। देहादि के द्वारा दूसरों के अज्ञान से प्रतीयमान रोग जरादि का भान तो वैसा ही है जैसा अन्य अनन्त शरीरों में उनका भान होता रहता है। व्यवहार काल में भी ज्ञानी का यह भाव कभी हटता नहीं। **स एष संप्रसादो अस्मात् शरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेण अभिनिष्पद्यते** इत्यादि सामवेद एवं याज्ञवल्क्य इस में प्रमाण हैं।

३. सभी शरीर पञ्च भूतों के विकार से ही उत्पन्न होते हैं। परन्तु ध्यान के द्वारा तत् तत् महाभूतों से प्रयुक्त कार्य योग्यताओं के वश में कर लेने पर उनसे समुत्थान हो गया अर्थात् उनको छोड़कर उनके

पार चले गये इस प्रकार का अतिक्रमण कहना ठीक ही है। इसप्रकार पाञ्चभौतिक शरीर से समुत्थान होने पर ही आत्मा रूपी शरीर में स्थिति संभव है। जैसा कि पहले ही बता आये हैं यह साधना उन मन्दाधिकारियों के लिये है जो कि विवेक और विचार के बल से अपने को देह और उसके विकारों से अलग करके नहीं समझ पाते। या उन मध्यमाधिकारियों के लिये है जिनको इस अलगाव का ज्ञान होने पर भी प्रारब्ध के तीव्र विक्षेप से पुनः इन विकारों में अहन्ता की अनुवृत्ति हो जाती है। इन सारे ध्यानों का फल शरीर से समुत्थान ही है।

४. यहां शरीरों के पञ्च कोशों के निर्देश के द्वारा यजुर्वेद में कही हुई उपसंक्रमण प्रक्रिया से ब्रह्म प्रतिष्ठा बताई गई है। अर्थात् पञ्चकोशों के मण्डल कला और शक्तियों को क्रम से उत्तरोत्तर तीन से पूर्व पूर्व तीनों को लपेटते हुए बुद्धि में उन सब का शिव रूपी आत्मा से अभेद चिन्तन रूपी उपासना से कोश-पञ्चकों का यथेष्ट विनियोज्यत्व की योग्यता प्राप्त करना रूपी लक्षण इष्ट है। पक्षान्तर में पञ्चभूतों की एकता रूपी सबीज समाधि का फल रूप से लक्ष्य का स्थिर रूप से अवस्थान हो जाना भी यहां इष्ट है। इस पक्ष में—

ज्योतिष्मती, स्पर्शवती तथा रसवती परा।
गन्धवत्यपरा प्रोक्ता चतस्रस्तु प्रवृत्तयः॥
आसां योगप्रवृत्तीनां यद्येकापि प्रवर्तते।
प्रवृत्तयोगं तं प्राहुर्योगिनो योगचिन्तकाः॥

इत्यादि योगि वाक्य प्रमाण है। गन्ध वाली पृथ्वी के जय होनेपर मन चाही गन्ध को सूंघ सकता है, या दूसरे को सुंघा सकता है। एवं उसकी देह से सुगन्धि का प्रवाह होने लगता है। इसी प्रकार सब तत्त्वों के विषय में समझ लेना चाहिये। आकाश तत्त्व से तो असंगत्व की सिद्धि है। पञ्चात्मक के द्वारा शरीर मात्र ही एक या तीन तत्त्वों का न होकर पञ्चीकृत पञ्च महाभूतों का ही कार्य है यह सिद्ध किया गया।

५. जो योगी नहीं है उसको उन उन भूत और कोशों के विरोध उपस्थित करने पर दुःख होता है। यही देह विघात है। जब विरोध की सीमा सहन योग्यता की सीमा को पार कर जाती है तब पूर्ण विघात अर्थात् मृत्यु हो जाती है। जब उपर्युक्त भूतों में धारणा करके उससे तादात्म्य सम्बन्ध हो जाता है, तब वह भूत विरोध करने में समर्थ नहीं होता। जैसे अग्नि अग्नि को नहीं जला सकती और जल जल को गीला नहीं कर सकता।

वस्तुतस्तु किसी भी प्रकार से यह पाञ्चभौतिक शरीर मैं नहीं हूँ इस दृढ़ ज्ञान से इस प्राचीन देह का तादात्म्याध्यास छूट जाना ही योग अर्थात् परमात्मा से एकता का अनुभव, एवं तत्प्रयुक्त गुण अर्थात् विषयासक्ति का परित्याग ही वास्तविक योग गुण का प्रवृत्त हो जाना है।

६. योगियों में प्रवृत्ति शब्द विशिष्ट अर्थ में रूढ़ है, नाक के अग्र-भाग में, जीभ के अग्रभाग में, तालु में, जिह्वा मध्य में और जिह्वामूल में मन को एकाग्र करने से उत्पन्न होने वाला दिव्य गन्ध, दिव्य रस, दिव्य रूप, दिव्य स्पर्श, एवं दिव्य शब्द का जो ज्ञान, अर्थात् चित्त की जो वृत्ति बनती है उसमें संशय नष्ट हो जाते हैं एवं समाधि के अनुभव का द्वार खुल जाता है। इससे जो योग के अनुष्ठान का उत्साह बढ़ता है उसको भी प्रवृत्ति कहा जाता है। कुछ आचार्यों ने तो चन्द्र, सूर्य, ग्रह, मणि, प्रदीप, इत्यादियों के ध्यानस्थैर्य को भी प्रवृत्ति ही माना है। इस प्रवृत्ति के द्वारा प्राप्त ज्ञानालोक में सूक्ष्म और व्यवधान वाले दूर में होने वाले पदार्थ का भी ज्ञान हो जाता है। किञ्च कायव्यूह निर्माण में सारे चित्तों का प्रयोजक एक अखण्ड चित्त है इसका भी स्पष्ट ज्ञान हो जाता है।

७. योग रूपी तेजोमय देह की प्राप्ति तभी होती है जब पहले पाञ्च-कौशिक देह से अहंकार बुद्धि हट जाती है। किसी योगी से सुनकर ही ईसाई धर्म ग्रन्थों में यह लिखा गया है (Until you die and are reborn again youwill not attain the kingdom of God अर्थात् तुम्हें परमात्मा का राज्य तब तक नहीं मिलेगा जब तक तुम मर कर फिर से पैदा न होओ। वे लोग इस मृत्यु का अर्थ साधारण मौत समझकर मरने पर स्वर्ग की प्राप्ति मानते हैं। पर वास्तविक तात्पर्य पाञ्चकौशिक देह से अलग होकर अध्यास की निवृत्ति द्वारा शिव देह की प्राप्ति ही है। विनाशी शरीर को योगाग्नि में डालने पर जिस प्रकार सामान्य अग्नि में डाला सोना शुद्ध हो जाता है वैसे ही शुद्ध होकर दिव्य शरीर की प्राप्ति होती है जिसमें योगाग्नि की प्रचुरता बढ़ती जाती है। शनैः शनैः योगाग्नि के द्वारा दोष-समूह जलते जाते हैं एवं दिव्य भावों का शिवोऽहंभाव दृढ़तर होता जाता है।

वस्तुतः योग ध्यान ही है। अतः ध्यानाग्नि ही योगाग्नि है। ध्यान से जैसे जैसे अध्यास बदलते हैं वैसे वैसे प्रतीति में परिवर्तन होता जाता है। यह ध्यान चाहे स्वतः किया जाय अथवा किसी अन्य परिपक्व योगी द्वारा साधक के अन्तः करण में किया जाय, असर एक ही होता है। परन्तु साधक के करने पर उसका अपने त्रिविध शरीर पर नियन्त्रण बढ़ता जाता है, एवं आध्यात्मिक उन्नति का सोपान बन जाता है। दूसरे के द्वारा किये जाने पर आत्म शक्ति कमजोर होती जाती है। चित्त में नवीन अध्यास का पूर्ण रूप से स्थिर हो जाना ही पुनर्जन्म है। जब शिव से योग करके शिवोऽहं भाव दृढ होगया तो जीव का शिव रूप से पुनर्जन्म हो गया यही नवीन देह की प्राप्ति है। मास्को में डाक्टर राइकोव (Raikov) ने अनेक लोगों को अपनी ध्यान शक्ति के द्वारा पुनर्जन्म करवाने के प्रयोग (Artificial re-incarnation) किये हैं। एक प्रयोग में उन्होंने किसी को यह दृढ अध्यास करा दिया कि वह उरविनो नामक शहर का रैफल (Rap-hael) है। यह खीष्टीय सोलहवीं शताब्दी के प्रथम भाग का चित्र-कार था। जिस लड़की में इन्होंने यह धारणा करवाई थी कि वह

रैफल है उसकी चित्रकला अति उत्कृष्ट कोटि की होने लगी। जब उससे पूछा जाता था कि यह कौन सा साल है तो वह बड़े सामान्य ढंग से कहती थी १५०५। एवं हवाई जहाज इत्यादि की चर्चा चलाने पर बड़े जोरों से कहती थी कि इन सब मूर्खता भरी झूठी बातों से मुझे क्यों तंग कर रहे हो। काम्सोमोलोस्काया (Komsomolskaya pravda) प्रवदा १२ नवम्बर १९६६ के संस्करण में इन चीजों का प्रकाशन किया गया था। बाद में पता लगा कि जब ऐसे व्यक्ति के हृदय से इस प्रकार की धारणा हटा दी जाती थी, यद्यपि बाद में उतनी उन्नत चित्रकारी या गणना करने में असमर्थ होता था, परन्तु पहले से कुछ श्रेष्ठता तो बनी ही रहती थी। यद्यपि इसे कुछ लोग सम्मोहन (Hypnotism) मानेंगे पर राइकोव का कहना है कि मैं एक सम्मोहक के नाते यह विश्वास दिलाता हूं कि इन लोगों को ऊर्ध्व मानस में ले जाने मात्र का काम करके छोड़ देता हूँ, एवं उन पर फिर मैं किन्हीं भी विचारों का आधान नहीं करता। कुछ लोगों को उसने इस प्रकार की धारणा करवाई है जिन्हें तीन से सत्रह वर्ष तक के समय को भिन्न भिन्न देहों में प्रतीत करवा कर उसके चित्र भी लिये हैं। कई मृत आत्माओं का भी इस प्रकार पुनर्जन्म करवाया गया है। प्रायः पाया गया है कि सामान्य सम्मोहन में विद्युत् मस्तिष्क चित्र (Electro encephelograph) में अ-शक्ति चक्र (Alpha-rest rhythm) अत्यधिक बढ जाती है। परन्तु पुनर्जन्म में यह बिलकुल नहीं होती एवं सामान्य जाग्रत् अवस्था की E. E. G. पाई जाती है। सैचेनोव वैद्यशाला (Sechanov Medical Institute) के स्नायु रोग पत्रिका (Journal of neuro-pathology) के १९६८ के अंक में एडामेन्को (Adamenko) द्वारा चित्रित मार्ग तरण (Conductivity channel) के द्वारा भी इसको सिद्ध किया गया है। कुछ लोगों का तो ख्याल है कि इस प्रकार के प्रयोग

सम्भवतः शिक्षा में रूस में प्रयुक्त भी होने लगे हैं। यह सब प्रयोग योगाग्निमय शरीर के उत्पत्ति को व्यावहारिक प्रयोग में लाने का प्रयास है। फरक केवल इतना है कि वहां अविद्या चक्र में एक अध्यास की जगह दूसरे अध्यास का स्थापन है जब कि यहां सर्व-अध्यासों को हटा करके वास्तविक अधिष्ठान की प्राप्ति है। वैसे तो गारुड़ोपासना या सगुणोपासना में इसका प्रयोग कर्मकाण्डी लोग करते ही रहे हैं।

८. सिडनी जुरार्ड (Sydnoy Jourard) ने अपने ट्रान्सैन्डेन्टल सैल्फ (Transcendentel self) में यह सप्रमाण सिद्ध किया है कि मनुष्य जब अपने आपको छिपाने का प्रयत्न करता है तभी अधिकतर रोग पैदा होते हैं। Transactional analysis का भी यही सिद्धान्त है कि रोगों का प्रादुर्भाव परिस्थिति, जिनमें व्यक्ति भी सम्मिलित हैं, एवं मनुष्य को असामञ्जस्य होता है। इन दोनों चीजों का कारण मनुष्य का रागद्वेष आदि विकारों के द्वारा अभिभूत होकर यथार्थता का परित्याग करना ही है। योगी में इन विकारों की असम्भावना से रोग असम्भव है। यह बात दूसरी है कि पूर्व संस्कारों के वशीभूत होकर अथवा लोक संग्रह के निमित्त से आभासमात्र रागद्वेष प्रवृत्त हो जावें। परन्तु वे रोग प्रबल न होकर शीघ्र ही शान्त हो जाते हैं। यहां रोग से तात्पर्य न तो ऐसे रोगों से है जो कीटाणुओं द्वारा अथवा चोट आदि के द्वारा बाह्य कारणों से उत्पन्न होते हैं और न उनसे है जो प्रारब्ध के कारण जीवन की अनियमितताओं से अवश्यंभावी हैं।

९. शरीर को विरूप करने वाली पलितादि लिङ्ग वाली जरा कही जाती है। यद्यपि शरीर के विकार अवश्यम्भावी हैं तथापि अधिकतर विकार मानसिक तनावों के होते हैं। यदि किसी आदमी

को गहरी नींद में देखो तो उसके चेहरे में वास्तविक स्वाभाविकता होती है। परन्तु उठने के साथ ही मनः स्थिति में परिवर्तन आने से चेहरे पर एक नकाब चढ़ जाती है। यह नकाब कुछ अंशों तक व्यक्ति स्वयं चढ़ाता है, कुछ उसके सहयोगी एवं कुछ समाज। अच्छी भली सौम्य लड़की को कुछ देर के बाद अस्पताल में नर्स बने देखने पर यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है। हंसने वाला व्यक्ति कक्षा में अध्यापन करने के समय कठोर मुखाकृति बना लेता है। इसके पीछे एक प्रकार का अनुशिक्षण (Training) होता है कि अमुक प्रकार का शिक्षक या नर्स आदर्श है। आज कल छोकरों में एक्टर्स के नकल करने की ऐसी ही प्रवृत्ति काफी देखने में आती है। इस वास्तविक स्वाभाविकता को छिपा कर नकाब पहनने का प्रयास ही मनुष्य को शीघ्र बुड्ढा बना देता है। इस जरा से ही यहां तात्पर्य है।

१०. दुःखम् इति दीपिकापाठः।

११. यद्यपि पाञ्चभौतिक देह की मृत्यु अवश्यंभावी है पर जैसे शुक्र-शोणितानुक्षण (Zygot) से लेकर निरन्तर परिवर्तन होने पर भी देह का भौतिकत्व अक्षुण्ण है वैसे ही मरने के बाद भी भौतिकत्व अविशिष्ट रहने से भी देह का नाश नहीं। नित्य होने से आत्मा का भी नाश नहीं। सामान्यतः देह में आत्म बुद्धि का हट जाना ही मृत्यु है, जिसे योगाग्नि के द्वारा पहले ही छोड़ दिया गया है। अतः मृत्यु असम्भव है। शिव देह में अभिन्न सम्बन्ध होने से, शिव में रोग, जरा, मृत्यु का अभाव होने से योगी में इन भावों का अभाव तो स्पष्ट ही हैं।

इच्छा के विना उसकी मृत्यु नहीं होती यह भी यहां तात्पर्य हो सकता है। या अर्थ नाश आदि को अवान्तर मृत्यु कहा गया है जो योगी को नहीं होती।

१३

योगसिद्धि के सूचक पूर्व भावी लिङ्गों को बताकर सिद्धि काल के लिंगान्तरों को बतलाते हैं—

लघुत्वम् आरोग्यम् अलोलुपत्वं वर्णप्रसादं स्वर-सौष्ठवं च।
गन्धः शुभः मूत्रपुरीषम् अल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति॥

लघुत्वम्=हल्कापना[1]
आरोग्यम्=स्वास्थ्य(तन्दुरुस्ती)[2]
अलोलुपत्वम्=विषयों की तरफ लपकने का अभाव[3]
वर्ण-प्रसादम्=देह के रंग का निखार[4]
स्वर-सौष्ठवम्=मीठा और गंभीर स्वर[5]
शुभः=सुन्दर
गन्धः=सुगन्धि[6]
च=और
अल्पम्=बहुत थोड़ा
मूत्रपुरीषम्=पेशाब और टट्टी को[7]
प्रथमां=पहली[8]
योग-प्रवृत्तिं=योग के सिद्ध होने की प्रवृत्तियां
वदन्ति=कहते हैं।

१. देह और मन में ज्ञान और क्रिया के प्रति त्वरित प्रवृत्ति का हेतु हल्कापना कहा जाता है। योग-सिद्ध होने पर शरीर की भरकमता में एवं मानसिक तनाव में भी कमी आती है। परन्तु लघुत्वं उस भाव को कहते हैं जिसके कारण श्रान्ति व क्लान्ति आ जाने पर भी पुनः हल्कापना प्रकट हो जाता है।

२. यह वह भाव है जिसके कारण किसी भी कारण से रोग होने पर भी शरीर तुरन्त ठीक होने की शक्ति से सम्पन्न (recapitulating power) होता है।

३. यह वह भाव है जिसके कारण विषय सन्निधि या विषय के साथ रमण करने के काल में भी लपक इतनी तेज नहीं हो पाती कि विषय के हटने पर विशेष पीड़ा का अनुभव हो। उपर्युक्त तीनों गुण

एक भाव विशेष को बतलाते हैं. जो केवल बाहर के देखने से प्रतीत नहीं होते परन्तु साधक को स्पष्ट अनुभव में आते हैं। अग्रिम तीन गुण दूसरों को प्रत्यक्ष होते हैं।

४. देह की त्वचा के अन्दर अशुद्ध स्रावों से एक ऐसी झिल्ली बन जाती है जो मनुष्य के रंग को फीका (Dull) कर देती है। इन निस्रावों (Secretions) का कारण स्नायु एवं चक्रों का असामञ्जस्य है। देह विज्ञान की दृष्टि से इन असामञ्जस्यों के कारण मानस तनाव एवं अन्तर्ग्रन्थि (Endocrine glands) में विकार उत्पन्न हो जाते हैं। योग के द्वारा पहले तो आया हुआ फीकापन दूर हो जाता है और फिर दीप्ति के प्रवेश से निखार आ जाता है।

५. जिस प्रकार योगी के देह वर्ण से आंखों को आनन्द की प्राप्ति होकर प्रसन्नता होती है उसी प्रकार उसके कण्ठ से निकली हुई ध्वनि चाहे सवर्ण हो चाहे अवर्ण कानों को निनदित करते हुए सुख पहुँचाती है।

६. देह से भिन्न भिन्न योगाभ्यास के अनुसार कमल, चम्पक, केतकी आदि की हल्की हल्की गन्ध निकलती रहती है जो नाक को आनन्द देती है। सामान्यत: प्रत्येक प्राणी के देह से भिन्न २ प्रकार की गन्ध निकलती है एवं किन्हीं दो व्यक्तियों की गन्ध एक सी नहीं होती। इसी कारण से पुलिस के कुत्ते चोर को पकड़ लेते हैं। योगी के शरीर की गन्ध उसके वस्त्र आदि में भी प्रस्वेद के द्वारा प्रविष्ट हो जाती है।

७. पिये हुए पदार्थों का स्थविष्ठ भाग बाहर निकलने पर पेशाब कहा जाता है एवं खाये हुए पदार्थों का वही भाग टट्टी कही जाती है। आधुनिक देह विज्ञान में शरीर में प्रविष्ट पदार्थों की अपक्षया-वस्था में रक्त शोधन के द्वारा गुर्दा (Kidney) से बाहर निकले हुए विषयुक्त निस्राव को मूत्र एवं अजीर्ण, खाये हुए अंश के निस्राव को टट्टी कहते हैं। टट्टी के विषय में दोनों मतों में कोई विशेष भेद नहीं है। समग्र देह में प्राय: नब्बे प्रतिशत जल होने से देह प्रविष्टांश वाले समग्र पीत-भुक्त पदार्थों को अन्त्रकरों (intestinal villi) के द्वारा पानीय रूपसे ही ग्रहण करने के कारण पिया हुवा हिस्सा मान कर विरोध परिहार कर लेना चाहिये। योग सिद्धि हो जाने पर बहुत ज्यादा खा पी लेने से भी टट्टी और पेशाब बहुत कम होता है। सामान्य पुरुषों का शरीर खाना खाने और खाये पदार्थ को टट्टी बनाने में ही अपनी अधिकतर शक्ति क्षय कर देता हैं। योगियों को भुक्तान्न के पूर्णतया जीर्ण करने की सामर्थ्य होने से उनके यह दोनों ही अत्यन्त अल्प मात्रा में होते हैं।

८. यह सात प्रकार की आद्य योग सिद्धि हैं। इन्हीं को अन्यत्र योग शास्त्रों में आरम्भ, घट, परिचय, निष्पत्ति, मध्यग, एवं देवसम आदि नामों से कहा गया है।

१४

इस प्रकार योगाभ्यास के द्वारा शुद्धान्त:करण वाले को जिन अवान्तर सिद्धियों की प्राप्ति होती है उनको बताकर प्रत्यगात्मा में प्रेम वाले योग्य अधिकारी को स्वयं प्रकाश आत्मेन्दुवदना सिद्धि की प्राप्ति होती है। जिसके सामने संसार के प्राणि मात्र के मन को मोहने वाली धर्मार्थकाम त्रिवर्ग सिद्धि अंगनायें अपनी कुरूपता से हंसी और मजाक के द्वारा हेयमुखी होती हुई जमीन फोड़ के उसमें घुस जाना चाहती हैं, एवं जिस महालावण्यमयी के पाद-पल्लवों का नीराजन अणिमादि सिद्धि वधुएं अपने मुकुट-मणिदीपों से करती हैं, एवं जो अकृतात्म मतियों को दर्शन के लिये भी दुर्लभ है उस आद्या मुक्ति सिद्धि राजशेखरा का अब वर्णन किया जाता है :—

यथा एव बिम्बं मृदया उपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत् सुधान्तं ।
तत् वै आत्मतत्त्वम् प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थः भवते वीतशोकः॥

यथा = जैसे	**तत्**[४] = वैसे ही[५]
मृदया = मिट्टी से[१]	**एकः** = एक (कोई)[६]
उपलिप्तम् = लिपा हुआ	**देही** = जीव[७]
बिम्बम् = बिम्ब	**आत्मतत्त्वं** = आत्म तत्त्व का[८]
एव = ही	**प्रसमीक्ष्य** = भली प्रकार साक्षात्कार करके[९]
तत् = उस (मिट्टी) से	**वै** = निश्चय रूप से
सुधान्तम् = चूना मिलाकर धो लेने के बाद[२]	**कृतार्थः** = कृतार्थ[१०] (और)
तेजोमयं = तेजस्वी हुआ हुआ[३]	**वीतशोकः** = शोक रहित[११]
भ्राजते = चमकता है	**भवते**[१२] = हो जाता है ।

१. सोना, चांदी अथवा कांच के ऊपर स्वभाव से धूल पड़ने से मैलापन आजाता है, उसी को यहां कहा जा रहा है। पक्षान्तर में सामान्य कांच की शुद्धि का साधन मिट्टी अर्थात् साफ किया हुआ भस्मादि का लेप है। दार्ष्टान्त में तो मिट्टी की जगह प्रथमपक्ष में अविद्या और द्वितीय पक्ष में अविद्या के साधन कर्म और योग, अथवा बिम्ब से सूर्य या चन्द्र का ग्रहण किया जा सकता है। उस पक्ष में उड़ी हुई धूल या बादल के द्वारा आच्छन्न बिम्ब का ग्रहण करना चाहिये। इस पक्ष में जैसे मैल का बिम्ब के साथ दूर का रिश्ता भी नहीं है वैसे ही अज्ञान का ब्रह्म के साथ स्पर्श तक का अभाव भी स्पष्ट हो जाता है।

२. इस प्रकार धोने से पहले लगा हुआ मैल और यह चूना जो स्वयं मैल रूप है वह दोनों ही धुल जाते हैं। तात्पर्य है कि मैल मैल को काट देता है या चूना जो स्वयं मिट्टी रूप है धूल रूपी मिट्टी को काट देता है। इसी प्रकार विद्या अर्थात् ब्रह्माकार वृत्ति जो स्वयं

अविद्या का कार्य है अविद्या को नष्ट कर देती है। अथवा कर्म और योग जो स्वयं कर्म रूप हैं कर्म रूपी मल को नष्ट कर देते हैं। सूर्य चन्द्र पक्ष में तो सुधान्त का अर्थ सुधौत कर लेना चाहिये अथवा सुधा अर्थात् अमृत अथवा रोहित रूप वह जिस सूर्य या चन्द्र बिम्ब के अत्यन्त समीप है, वह बिम्ब ही सुधान्त कहा गया। तात्पर्य है कि बादल या धूलिपटल से आच्छन्न होने पर वह रोहित या सुधा उसके समीप रहते हुए भी हमारे लिये नहीं जैसी हो जाती है। एवं आवरण के दूर होते ही पुनः वैसा ही हो जाता है। इसी पक्ष में तो अग्नि के द्वारा सोने या चांदी के बिम्ब का विमलीकरण ही यहां इष्ट है।

३. यद्यपि मैल लगने के पूर्व भी दर्पणादि प्रचुर तेजवाले होते हैं फिर भी मैल निकल जाने के बाद पूर्वापेक्षया कुछ और अधिक तेजस्वी प्रतीत होते हैं। सूर्यादि भी मेल से अस्पृष्ट होने पर भी ज्येष्ठ के धूलि पटल और भाद्रपद्र के मेघपटल के बाद कार्तिकादि मासों में अधिक तेज वाले प्रतीत होते हैं। अथवा सुवर्ण आदि स्वरूप से ही तेजोमय हैं क्योंकि तेज के विकार हैं। यहां मय का अर्थ विकार समझना चाहिये। वस्तुतस्तु सूर्य चन्द्र भी तेज रूप होने से तेजोमय ही हैं। एवं उसका उपलेपन करने वाली मिट्टी के किसी निमित्त से दूर हो जाने पर दीप्त होकर प्रतीत होता है। सूर्यादि बिम्ब में मिट्टी का लेप तीनों कालों में नहीं होता। इसी प्रकार आत्मा में भी माया का सम्बन्ध तीनों कालों में नहीं होता।

४. **तद्वत् स तत्त्वम् इति दीपिकाकारः। एकः सः कृतार्थ इत्यन्वयः।**

५. यहां मतुप् का लोप समझना चाहिये। तत् अर्थात् तद्वत्।

६. यद्यपि बहुजीव वाद में एकः का तात्पर्य कोई विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न समझना चाहिये; तथापि वस्तुतः एकजीववाद ही मानकर 'मैं सर्वभेद शून्य ब्रह्म हूँ' इस प्रकार परमात्मा से ऐक्य प्राप्त करने के

कारण एकता इष्ट है। एकत्व अनुभव से जिस निरतिशय आनन्द का हृदय में आविर्भाव होता है वह अद्वितीयता ही आनन्द स्वभाव रूप से सदा रहकर एक पद का वाच्य है।

७. शरीर के साथ अध्यास करके 'मैं अज्ञ हूँ' इस प्रकार अभिमान करने वाला ही देही कहा जाता है। यहां देह से तात्पर्य स्थूल सूक्ष्म कारण तीनों देहों से है। इन तीनों का अर्थात् कार्य कारण का साक्षी ही वस्तुतः देही पद का लक्ष्य है। वस्तुतः दह धातु से निष्पन्न होने के कारण आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक तीनों तापों से अपने आपको दग्ध होने वाला मानने से ही इसे देही कहा गया है। इन तीनों की निवृत्ति ही प्राणिमात्र को इष्ट होने से यहां तुलना की तीव्रता को प्रतीत कराने के लिये देही पद का प्रयोग है।

८. अनन्त एवं आनन्द रूप ही अविद्या के द्वारा ढक कर परतंत्र बनाता है अतः उसकी निवृत्ति ही आत्मवस्तु को मानो पहले से भी अधिक तेजस्वी बना देती है। तत्त्व शब्द का प्रयोग करके त्वं पदार्थ भूत अद्वितीय सुख संवित् स्वरूप को तत् पदार्थ भूत निज रूप करके माया एवं मायिक मलों से त्रैकालिक अत्यन्त अछूतपने का बोध ही ध्वनित किया गया।

९. संशय और विप्रतिपत्ति भावना से रहित ही प्र-शब्द का अर्थ है। सम्यक् स्वयं प्रकाश मैं ही हूं, यह उस दर्शन अर्थात् साक्षात्कार का स्वरूप है।

१०. कृत याने कर लिया है; अर्थ याने पुरुषार्थ; अतः तात्पर्य हुआ कि परम पुरुषार्थ को जिसने सम्पादित कर लिया है वह कृतार्थ कहा जाता है। चूंकि इससे आगे और कोई प्राप्तव्य नहीं है अतः वही कृत-कृत्य कहा जाता है।

११. कृत-कृत्य होने के कारण ही दुःख रूपी विकार असम्भव हो जाता है। वस्तुतस्तु यहां शोक अज्ञान का उपलक्षण है। अतः

अविद्या से रहित हो जाता है, यह तात्पर्य है। कारण हट जाने पर कार्य संसार का नाश तो अर्थ-सिद्ध है।

१२. छान्दसः पदविपर्ययः।

१५

ध्यान और समाधि का फल बतलाकर तत् और त्वं पदार्थ शोधन के द्वारा जीव ब्रह्म की एकता के अपरोक्ष का परिचय कराते हैं :—

यदा आत्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेन इह युक्तः प्रपश्येत् ।
अजं ध्रुवम् सर्वतत्त्वैः विशुद्धम् ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥

यदा = जब[१]
इह = इस देह एवं संसार में[२]
दीपोपमेन[३] = दिये की उपमा से[४]
आत्मतत्त्वेन = आत्मतत्त्व से[५]
ब्रह्मतत्त्वं = ब्रह्मतत्त्व को[६]
युक्तः = एक हुआ हुआ[७]
प्रपश्येत् = जान लेता है,[८]
तु = तो[९]
सर्वतत्त्वैः = सभी (३६) तत्त्वों से
विशुद्धम् = रहित होकर शुद्ध हुआ हुआ[१०]
अजं = जन्म रहित[११]
ध्रुवम् = अपरिणामी
देवम् = महादेव को[१२]
ज्ञात्वा = अनुभव करके[१३]
सर्वपाशैः = सारे पाशों से[१४]
मुच्यते = मुक्त हो जाता है[१५]।

१. जिस काल या अवस्था में गुरु के समीप जाकर शुश्रूषा इत्यादि करते हुए चित्त की एकाग्रता प्राप्त करके वेदान्त श्रवण किया जाता है उस काल का ही यहां ग्रहण है। ऐसे काल की दुर्लभता बताना भी यहां इष्ट है। **आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनम्** आदि यजुर्वेद यहां प्रमाण है।

२. ज्ञान इस देह एवं संसार में ही सम्भव है। दोनों पदों का संग्रह व्यष्टि और समष्टि भावों के प्रतिपादनार्थ है। अध्यात्म विचार के द्वारा प्रत्यगात्मा एवं संसार विचार के द्वारा परमात्मा का

वाच्यार्थ समझ में आता है। वाच्यार्थ के विना लक्ष्यार्थ समझना असम्भव है। जीव का ज्ञान कार्य-करण संघात के साक्षी-रूप से होता है एवं ईश्वर का ज्ञान सृष्टि-संहार-नियमनादि से। स्वप्न में ईश्वर तत्त्व के अभाव के कारण ज्ञान असंभव है। सुषुप्ति में जीव तत्त्व के अभाव के कारण ज्ञान असंभव है। जाग्रत् में ही जीव और ईश्वर दोनों की स्थिति होने से ज्ञान संभव होता है। अतः यहां जाग्रत् काल का ग्रहण है।

३. सजातीय-प्रकाशेन अप्रकाश्यत्वे सति प्रकाशैकस्वभावेन दीपस्य आत्मनश्च स्वयंप्रकाशिता साधिता स्यात्।

४. हजार संख्या के विद्युत् कन्दुक (1000 kw bulb) में एवं अलाती (Torch) में कार्य-क्षमता का अत्यन्त भेद होने पर भी स्वरूप से किसी दूसरे से प्रकाश ग्रहण किये विना प्रकाशित होने की सामर्थ्य एक जैसी है। इसी प्रकार जीव और ईश्वर में भी अनन्त शक्तियों का भेद होने पर भी ज्ञान सामर्थ्य एक जैसी है। अतः दीप की उपमा से इसको समझने का संकेत किया गया है। मा से प्रमाण लिया जा सकता है। अतः दीपध्यान में चक्षु ज्योति एवं दीप ज्योति की एकता का ध्यान भी यहां संकेतित है। अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा आदि श्रुति इसमें प्रमाण हैं।

५. आत्म स्वरूप अर्थात् शोधित त्वं पदाथ से स्थूल सूक्ष्म शरीर से युक्त होकर ही मैं का ज्ञान सर्वप्राणि सुलभ है। मैं गोरा, मैं काना, मैं मूर्ख, इत्यादि अनुभवों में यह स्पष्ट है। विचार करने पर इन विशेषणों की अस्थिरता एवं अहं की स्थिरता का ज्ञान होता है। जिस प्रकार सुनार को भिन्न भिन्न गहनों की एवं पासा, बिस्कुट, गिन्नी आदि की भी शकलों की अस्थिरता का ज्ञान होकर उन सब में अनुस्यूत शुद्ध स्वर्ण का ज्ञान हो जाता है उसी प्रकार यहां भी शुद्ध अहं का ज्ञान हो जाता है। तब पता लगता है कि यह शुद्ध अहं

नित्य प्रेमास्पद साक्षी अव्यभिचारी संवित् सुख स्वरूप है। एवं जैसे दीपक घट, पट आदि प्रकाश्य पदार्थों से भिन्न होता है उसी प्रकार यह अहन्तत्त्व भी अपने द्वारा दृष्ट (प्रकाशित) देह, इन्द्रिय, मन आदि संघात से भिन्न है।

६. ब्रह्म स्वरूप को प्रत्यगात्मा से एक रूप से देखना है। जैसे पढ़ाते समय पुत्र को शिष्य रूप से देखा जाता है। आत्मा का माया-शबल निज स्वरूप ही ब्रह्म शब्द का वाच्य है। अनन्त, स्वतंत्र, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमत्त्व, ही उसका स्वरूप है।

७. कार्य करण संघात में दहराकाश में शम-दमादि साधन-सम्पन्न होने पर एकता की सिद्धि ही युक्त होना है। इसका उपाय वेद वाक्य के द्वारा जीव और ईश्वर के प्रतिपादक वाक्यों से उनकी एकता का 'ब्रह्म-ही मैं हूँ' इस प्रकार का एकत्व का अपरोक्ष करना ही यहां इष्ट है। यद्यपि कुछ लोग यहां युज धातु के द्वारा दो चीजों की एकता मान कर जीव का ईश्वर से एक हो जाना योग मानते हैं परन्तु अनेक श्रुति युक्ति अनुभवों से विरुद्ध जीव-ईश्वर के भेद को मानना अन्धविश्वास मात्र है। वस्तुतस्तु आत्मा में ही उपाधि भेद से ये दो कल्पनायें हैं एवं उपाधि निवृत्त हो जाने से दोनों कल्पनायें निवृत्त हो जाती हैं। इस निवृत्ति को ही युजिर् समाधौ धातु से बना हुआ युक्त शब्द बताता है। जैसा उपर्युक्त दृष्टान्त में बतलाया था, पुत्र को पढ़ाते समय शिष्य समझने से उसका पुत्रत्व खण्डित नहीं होता। परन्तु यदि शिष्य को पुत्र मान लिया जाय तो वह असत्य कल्पना ही रहेगी। ऐसे ही आत्मा को ईश्वर मान कर उपासना की जा सकती है परन्तु आत्मा से भिन्न किसी ईश्वर को मानना असत्य ही रहेगा।

८. यद्यपि वाक्यानुरोध से वर्तमान कालिक अनुवाद किया गया है परन्तु साक्षात् श्रुति तो योग्य अधिकारी के प्रति अनुशासन कर रही

है कि 'ज्ञानानन्दरूप' त्रिविध परिच्छेदशून्य ब्रह्म मैं ही हूँ, इस प्रकार अपरोक्ष अवगति करे।

९. पक्ष-व्यावृत्ति रूप ही यदा का अनुगामी तो शब्द यहाँ समझना चाहिये।

१०. पूर्व मन्त्र में बताई हुई काल्पनिक अशुद्धि की निवृत्ति रूप काल्पनिक शुद्धि ही यहां समझनी चाहिये। सारे भूत और भौतिक पदार्थ एवं अविद्या तथा अविद्या के स्वरूप से रहित हुआ हुआ ही शुद्ध स्वरूप कहा जा सकता है। अविद्या एवं तत्कार्य से परामृष्टत्व भी आविद्यिक ही है क्योंकि जो अविद्या कार्य की कल्पना कराती है वह स्वयं अपनी भी कल्पना कराने के कारण अविद्यान्तर की व्यर्थ कल्पना अनावश्यक है। इसीलिये मन्त्रोक्त तु से अवधारण का अर्थ भी संग्रह कर लेना चाहिये।

११. न यह किसी से उत्पन्न होता है और न यह किसी को उत्पन्न करता है। यही वास्तविक जन्म-रहितता है। अज्ञान के कारण जैसे जीव रूप से इसको जन्मने वाला मान लिया जाता है वैसे ही अज्ञान के कारण ईश्वर रूप से जन्म देनेवाला मान लिया जाता है।

१२. जो स्वयंप्रकाश होता है उसे ही देव कहते हैं। एकमात्र शिव ही स्वयंप्रकाश है। उसके प्रकाश से ही 'मैं' प्रकाशित होता है, 'मैं' के द्वारा ही इन्द्रियां, मन और देह क्रमसे प्रकाशित बनते हैं। अतः वही निश्चल कूटस्थ प्रत्यगात्मा से अभिन्न महादेव है।

१३. अजादि लक्षण चिन्मात्र को अपने से अभिन्न होकर समझना।

१४. मायिक, कर्मज एवं आणव पाशों को अथवा अविद्या के आवरण और विक्षेप तथा अहं, ममादि अभिमान बन्धन रूपी पाशों का यहां तात्पर्य है। विद्या से जैसे पाशों से छूटा व्यक्ति अपने भाव में स्थित हो जाता है, वैसे ही द्वैत, जो अविद्या का कार्य है, वह प्रविलीन हो जाता है।

१५. कुछ आचार्यों ने इसे परिचयावस्था मानी है, जिसका लक्षण है—

तृतीयायां ततो भूत्वा सिंहस्येव महाध्वनिः।
महाशून्यं तदाभाति सर्वसिद्धिसमाश्रयम्॥

अर्थात् इस तृतीय अवस्था में पहुंचने पर सिंह गर्जन के समान घोष होता है जिसमें महाशून्य का भान हो जाता है। यह महाशून्य ही सारी सिद्धियों का स्रोत है। इसका साधन द्वितीयावस्था है जिसे घटावस्था कहते हैं। इसमें बद्धासन होकर पेटमें वायु को नीचे से भरा जाता है।

द्वितीयायां घटीकृत्य वायुर्भवति मध्यगः।
दृढासनो भवेत् योगी ज्ञानी देवसमस्तदा॥

१६

जो दिक्कालादि से अनवच्छिन्न परम स्वतंत्र प्रेमास्पद नित्य आत्मा है वही विष्णु से चींटी तक एवं महत् से अणु पर्यन्त सबके अन्दर प्रत्यक् रूप से विद्यमान है। इस बात का अतिधन्य वेद हर्ष-निर्भर मनवाला होकर के अनुकम्पा पूर्वक ब्रह्मरूप से अभिन्न हम पुरुषों के प्रति उपदेश करता है :—

एषः ह देवः प्रदिशः नु सर्वाः पूर्वः ह जातः स उ गर्भे अन्तः।
सः एव जातः सः जनिष्यमाणः प्रत्यक् जनान् तिष्ठति सर्वतोमुखः॥

एषः[1] = यह[2]
ह = प्रसिद्ध[3]
देवः = महादेव
सर्वाः = सारी
प्रदिशः = दिशायें और अवान्तर दिशायें हैं[4]।
नु[5] = आश्चर्य है कि[6]
ह = वह प्रसिद्ध (परमात्मा)
पूर्वः = सबसे पहले
जातः = पैदा हुआ (काल पुरुष[7]) है।
उ = और भी
सः = वह (महादेव)

गर्भे=हिरण्यगर्भे[8]
अन्तः=के अन्दर (विद्यमान् है)।
सः=वह
एव=ही (स्थूल सूक्ष्म रूप से)
जातः=(जीव रूप से) उत्पन्न हुआ है[9]।
सः=वह (महादेव) जो
जनिष्यमाणः=आगे भी स्वभावतः उत्पन्न होता रहेगा[10]
सर्वतोमुखः=सब तरह से[11]
जनान्[12]=चेतन अचेतन उत्पन्न हुए पदार्थों को[13]
प्रत्यक्=प्रत्यगात्मा रूप से[14] (प्रतीत होता हुआ)
तिष्ठति=रहता है।

१. एष ह इति वा, एषोऽह इति वा, एष हि इति वा पाठभेदाः।

२. जीव की बुद्धि का द्रष्टा रूप ब्रह्मात्मा जिसका प्रकरण चला हुआ है उसी का यहां परामर्श है।

३. हि पाठ मानने पर 'ही' अर्थ कर लेना पड़ेगा। अन्य पाठ आर्ष सन्धि के कारण संगत है।

४. पूर्वादि दिशायें एवं नैऋत्यादि अवान्तर दिशायें हैं। अथवा ऊर्ध्व और अधः को संग्रह करके दशों दिशाओं को ले लेना चाहिये। तात्पर्य है कि सारा ही दिग्रूप आकाश (Space) परमात्म रूप ही है। 'ओं खं ब्रह्म' इत्यादि यजुर्वेद और 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' इत्यादि ब्रह्मसूत्र इसमें प्रमाण हैं।

अथवा 'प्र दिशः' ऐसा पदच्छेद करके प्र का सम्बन्ध वाक्यान्तके तिष्ठति के साथ करके 'प्रतिष्ठति' अर्थात् प्रतिष्ठित है ऐसा अन्वय कर लेना चाहिये। 'दिशः' का तो अर्थ उस हालत में भी 'सभी दिशाओं' का बन जायेगा।

५. 'प्रदिशोऽनु' पठ्यते।

६. अनु ऐसा पाठ मानने पर अनु के कारण कर्म प्रवचनीय योग में दिशः को द्वितीया समझ लेना चाहिये। तब तात्पर्य होगा कि वह देव सारी दिशाओं को अनुप्रवृत्त करता है। अर्थात् दिक् प्रतीति को

वही अन्तः करण में पहले प्रतिष्ठित कर देता है, जिससे खण्डाकाश (Limited space) का प्रथम भ्रम प्रारम्भ होकर अन्य भ्रमों का बीज पड़ जाता है। अथवा दिक् से अनवच्छिन्न हुआ हुआ ही वह अद्वितीय महादेव सभी दिशाओं के प्रति अनुगत अर्थात् व्याप्य हुआ हुआ प्रतीत होता है।

'नु' पाठ मानने पर तो जो देश है वही काल आदि सर्व रूपों से प्रतीत होता है, यही आश्चर्य है। यह क्या केवल दिशा रूप ही है? ऐसी शंका के जबाब में सर्वाः से सर्व रूप अव्याकृत का प्रतिपादन समझ लेना चाहिये।

७. किसी भी चीज के उत्पन्न होने के पूर्व अर्थात् प्रथम काल की सत्ता आवश्यक है। जो चीज पहले न हो और फिर हो उसको ही उत्पन्न कहते हैं। एवं न होने की अवस्था से होने की अवस्था काल के विना सम्भव नहीं। अतः कल्पादि में सारे शरीरियों से प्रथम काल ही शरीरी होकर प्रतीत होता है। केवल आकाश (Space) अपरिवर्तित अवस्था में काल की अपेक्षा नहीं रखता। नित्यकाल शरीरी काल (अर्थात् अनित्य काल) से तो भिन्न है ही। नित्यकाल और अखण्ड आकाश लक्षण और प्रमाण भेद से रहित होने के कारण अभिन्न ही हैं। यहां जैसे दिशा शब्द का प्रयोग करके खण्ड आकाश में परमात्मा को व्यापक बतलाया है वैसे ही अब खण्ड काल में व्यापक बताना इष्ट है। अतः आकाश के बाद ही खण्ड काल को बताया जा सकता है। जिस प्रकार दिक् से अव्याकृत को बतलाया था वैसे ही यहां सूत्रात्मा का प्रतिपादन इष्ट है। वेदों में संवत्सर ही सूत्रात्मा है। संवत्सर ही शरीरी काल है। अतः संवत्सरोपासना का विस्तृत वर्णन किया गया है।

८. भूत पञ्चक से समग्र हितकारी और रमणीय संसार उत्पन्न होने के कारण उसे हिरण्यगर्भ कहा जाता है। किञ्च 'उ' के द्वारा जो 'भी' अर्थ का प्रतीक है यह बताया जा रहा है कि उसमें वर्तमान

ब्रह्माण्ड रूप गर्भ अर्थात् विराट् रूप भी वही है। तात्पर्य है कि सारे कार्य और कारण रूपों से एकमात्र आत्मा ही प्रतीत हो रहा है।

किसी पक्ष में यहां गर्भ से गर्भाशय में प्रविष्ट भी लिया गया है। परन्तु समष्टि रूप के वर्णन के बीच में आने से समष्टि गर्भ का ग्रहण अधिक योग्य है। अथवा समष्टि और व्यष्टि को एक मानकर वही समष्टि और व्यष्टि दोनों गर्भों में विद्यमान है, ऐसा अर्थ समझ लेना चाहिये।

९. जो दिक् में और काल में स्थित है एवं हिरण्यगर्भ, विराट्, आदि रूपों से ब्रह्माण्ड के उदर में विद्यमान है वही सूक्ष्म समष्टि एवं स्थूल समष्टि कार्य-कारण की उपाधिवाला परमात्मा व्यष्टि रूप अनन्त कार्य-कारण उपाधिवाला होकर व्यष्टि रूप अनन्त जीवात्मभाव से उत्पन्न होता है। इससे आरोपित पुरुष अवयव का प्रतिपादन अनारोपित पुरुषावयव वाले विराट् रूप प्रजापति के वर्णन के बाद करके पुराणों की उस प्रसिद्धि के मूल रूप को ध्वनित किया जिसके अनुसार मेरू उल्ब है एवं पर्वत जरायु तथा जीव एवं संसार शिशु।

१०. अतीत एवं अनागत के ग्रहण से वर्तमान का ग्रहण भी अर्थ सिद्ध है। आत्मा सभी जीवों में अन्तर्यामी रूप से विद्यमान है यह तात्पर्य है। आने वाली कार्य-करण उपाधियों के द्वारा वही अद्वितीय आत्मा विद्यमान है। वस्तुतस्तु उपाधियों का उत्पादक होने से उपाधिरूप भी वही है एवं उपाधियों का जनक होने से दोनों का निमित्त भी वही है।

११. सब दिशाओं में मुख अर्थात् उपलब्धि के द्वार होने से सर्वतोमुख कहा जाता है। अथवा सब मुख अर्थात् इन्द्रियों से वह सर्वत्र उपलब्ध होता है इसलिये सर्वतोमुख है। विवेकियों का तो कथन है कि वह सर्वत्र सम्मुख ही रहता है अतः मानो बहुमुखी है। लिंग में यह सर्वतोमुखता स्पष्ट हो जाती है।

१२. प्रत्यग्जनास्तिष्ठति इति पठते दीपिकाकारः। प्रत्यङ्जनान् तिष्ठति इति वा। प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति इति वा पाठः।

१३. जनी प्रादुर्भावे धातु से निष्पन्न जन शब्द चेतन अचेतन सभी उत्पन्न होने वाले पदार्थों के अर्थ वाला है। अतः सारे पदार्थों के अन्दर हुआ हुआ वह उन सबके मुख अर्थात् चिन्ह वाला है। जैसे मुख से आदमी की पहचान होती है वैसे ही जड़ चेतन सबसे परमात्मा पहचाना जाता है। पाठान्तर से तो जनाः को सम्बोधन मानकर 'हे लोगो, प्रत्यक् रूप से अवस्थित रहता है' ऐसा अर्थ कर लेना चाहिये। एवं ऋषियों द्वारा शिष्यों के प्रति यह सम्बोधन है। अथवा शिष्यों का एक दूसरों के प्रति भी यह सम्बोधन हो सकता है। अथवा 'जनाः' इस शब्द के द्वारा बुलाया जाने वाला परमात्मा ही है। वस्तुतस्तु पाठान्तर में द्वितीया के लिये प्रथमा का प्रयोग मान कर प्रतिपादित अर्थ ही संगत हो जाता है।

१४. प्रत्यक् शब्द यहां अव्यय समझना चाहिये। प्रत्यङ् पाठ स्वीकार करने पर तो प्रसिद्ध प्रत्यक् शब्द से ही काम चल जाता है। बुद्ध्यादियों के प्रति प्रतिकूल होकर जो अन्दर ही अन्दर जाता जाता है वह प्रत्यक् है। मैं के भी अन्दर जो आत्मरूप से प्रतीत होता है एवं अनन्त समष्टि व्यष्टि रूप सभी कार्य-करण उपाधियों के भीतर ही प्रतीत होता है अतः वह परमात्मा प्रत्यक् कहा जाता है।

१७

आखिरी से पहले मंत्र में ब्रह्म आत्मा एवं देव शब्दों का अद्वितीय रूप से प्रतिपादन किया। सामान्यतः ब्रह्म तात्त्विक सत्य है (Metaphysical truth), आत्मा अनुभूत सत्य है (Existential truth), एवं देव मीमांसित सत्य है (Theological truth)। भिन्न भिन्न ध्वनियों के रहते हुए ही ये एक दूसरे के पर्याय रूप में प्रयुक्त होकर वेदान्त दर्शन को समझने में जहां एक तरफ धुंधलापन लाते हैं वहां दूसरी

तरफ एक उस अद्भुत वातावरण का निर्माण करते हैं जहां धर्म, दर्शन और विज्ञान आपस में घुल मिल जाते हैं। अध्यात्म और दर्शन, भक्ति और क्रिया का समन्वय (Mysticism, theology, philosophy, vitalenergy) एक अत्यन्त स्निग्ध रूप से हो जाता है जो औपनिषद् दर्शन की सबसे बड़ी देन हैं। अब इसी गहन तत्त्व को व्यापकेश्वर वाद के रूप में (pantheism) निर्देश करते हैं :—

यः देवः अग्नौ यः अप्सु यः विश्वं भुवनम् आविवेश ।
यः ओषधीषु यः वनस्पतिषु तस्मै देवायनमः नमः ॥

यः=जिस	**यः**=जिसने
देवः=महादेव ने[1]	**विश्वम्**=सारे
अग्नौ=अग्नि में,[2]	**भुवनम्**=भुवनों को[6]
यः=जिसने	**आविवेश**=प्रवेश कर लिया[7]
अप्सु=जल में,[3]	**तस्मै**=उस[8]
यः=जिसने	**देवाय**=देवता को
ओषधीषु=चावल आदि में,[4]	**नमः**=नमन है[9]
यः=जिसने	**नमः**=बार बार नमन है[10]।
वनस्पतिषु=पेड़ोंमें,[5]	

१. पूर्व मन्त्र में हिरण्यगर्भादि रूप से परमात्मा को उत्पन्न बताया गया। वह उत्पत्ति स्वरूपतः न होकर घटाकाश, या जल चन्द्र रूप से प्रातीतिक उत्पत्ति है। इसे बताने के लिये प्रवृत्त हुआ यह मन्त्र देव शब्द से स्वयं-प्रकाश-चिन्मात्र वपु को बताता है। तात्प है कि परमात्मा शब्दादि के कार्य में शब्दादि को व्याप्त करने वाली बुद्धि में जल में चन्द्र की तरह हिरण्यगर्भादि रूप से प्रवेश कर जाता है। अर्थात् घट में परमात्मा के प्रवेश का तात्पर्य है घट को विषय करने वाली घट के आकार वाली बुद्धि वृत्ति में उसका प्रतिफलित हो जाना।

सर्व रूप से आत्मा के प्रतिपादन के बाद विभूति रूप से वर्णन विषय को हृदयंगम कराने के लिये है।

२. अग्नि से भूत-तन्मात्राओं का ग्रहण करके अपञ्चीकृत सूक्ष्म सृष्टि का ग्रहण कर्तव्य है। अथवा अग्नि कर्म है।

३. जल से पञ्चीकृत पञ्चमहाभूत अर्थात् स्थूल शरीर का ग्रहण है। अथवा अप कर्मफल का प्रतीक होने से वह कर्म-फल प्रदाता रूप से व्यापक है यह बताना यहां इष्ट है।

४. अमरसिंह के अनुसार **'ओषध्यः फलपाकान्ताः'** अर्थात् फल पकते ही जिसका अन्त हो जाय उसे ओषधी कहते हैं।

५. **फली वनस्पतिर्ज्ञेयः** इस कोश के अनुसार जो बार बार फल देता है उसे वनस्पति कहते हैं। वस्तुतस्तु फलपाक में समाप्त होने का तात्पर्य है जो कर्मफल कार्य-करण उपाधियों में एक बार सुख-दुःखात्मक अनुभूति कराके समाप्त हो जाते हैं वे सकाम अनुष्ठान। एवं सत् चित् अनन्त सुख अपरोक्षस्वभाववाला बार बार प्रतिक्षण आनन्दघन रूप आत्मा का अनुभव कराने वाला निष्काम कर्मोपासना ही वनस्पति है। अर्थात् सकाम और निष्काम दोनों ही कर्मों में ज्ञेय परमात्मा तो एक जैसा ही है। सभी स्थावर जंगमों में परमात्म-शक्ति ही काम करती है यह अभिप्राय है।

६. अपने द्वारा निर्मित संसार मण्डल में स्वयं ही प्रविष्ट है। कर्म में ईप्सिततमत्व होने से भाव यह है कि भूरादि लोकों का निर्माण प्रवेश करने के लिये ही किया गया था। अथवा चतुर्दश भुवनों को सत्ता-स्फुरण देकर उनको अपने ज्ञान का विषय बनाना ही प्रवेश करना है। सामान्यतः तो सत्ता दान करके सत्ता रूप से भी उनमें प्रवेश है ही।

भुवन का अर्थ इन्द्रादि देवगण भी होता है। अतः व्यष्टि रूप जंगम कार्य-करण उपाधियों में अर्थात् अग्नि, वरुण, इन्द्रादि देवताओं

में वही प्रविष्ट होकर उन्हें शक्ति देता है जिससे वे अपना कार्य करने में सक्षम हो सकें। निरुक्त के अनुसार तो **भवतीति भुवनम्** अतः महदादि सारे कार्य ही भुवन शब्द के वाच्य हैं। इनका प्रवर्तक होना भी एक प्रकार से इनमें प्रवेश हो जाना है। जैसे प्रेतात्मा किसी के शरीर को जब प्रवृत्त करता है तो उस शरीर में प्रेतात्मा का प्रवेश माना जाता है। सम्मोहन (Hypnotism) में सम्मोहक सचमुच सम्मुग्ध में प्रवेश नहीं करता है, फिर भी सम्मुग्ध में सम्मोहक का प्रवेश माना जाता है। प्रवर्तक रूप से महेश्वर का प्रवेश भी ऐसा ही समझना चाहिये।

७. यहां काल अविवक्षित होने से नित्य आवेश समझना चाहिये।

८. विश्वरूप, सारे भुवनों के मूल, जो सारे विश्व और भुवनों में प्रविष्ट हैं।

९. सर्व उपद्रवों की उपशान्ति के लिये मन, वाणी और कर्म से अपने आपको परमात्मा के लिये बलि देता हूँ। नमः शब्द का वास्तविक अर्थ त्याग है। अतः अहन्ता ममता का त्याग ही वास्तविक और पूर्ण नमन है।

१०. योग की तरह ही नमन स्वतंत्र साधन है। इसको बतलाने के लिये इसका अलग प्रयोग किया गया है। प्रथम नमन के द्वारा योगादि साधनों के साथ भी इसका प्रयोग किया जा सकता है यह बताया। वस्तुतस्तु योगादि सभी साधन नमस्कार में पर्यवसित होते हैं। एवं जिसने ईश्वर, गुरु और वेद को नमस्कार कर लिया उसको सद्यः मुक्ति प्राप्त हो जाती है और अन्य साधन निरर्थक हो जाते हैं।

द्विरुक्ति को आदर के लिये माना जा सकता है। अतः नमस्कार के साधन को अधिक आदर दिया जा रहा है। नमन अतिशय आदर पूर्वक होना चाहिये अवज्ञा पूर्वक नहीं। बार बार नमन से परमात्मा

अत्यधिक आदर के योग्य हैं यह बताया जा रहा है। चूंकि यहां विश्वरूप का प्रतिपादन किया जा रहा है अतः व्यवहार्य सभी पदार्थ और पुरुषों के प्रति अत्यधिक आदर कर्तव्य है। वेदान्ती प्राणिमात्र को शिवरूप समझ कर सबका आदर करता है। कहा जा सकता है कि नमन और ज्ञान निष्ठा से ही यदि कृतार्थता सिद्ध हो जाय तो फिर अष्टांग योग निरर्थक हो जायेगा। परन्तु योग के द्वारा मन आदि को जिसने नहीं जीत लिया है वह शिव के लिये अपनी बलि कभी देने में समर्थ नहीं हो सकेगा। यदि इस जीवन में कोई गुरु, शास्त्र, एवं ईश्वर को नमस्कार कर सकता है तो मानना पड़ेगा कि पूर्व जन्म में वह योगाभ्यास कर चुका है।

हठं विना राजयोगो, राजयोगं विना हठः।
न सिध्यति द्वयं तस्मात् आनिष्पत्तेः समभ्यसेत् ॥

इत्यादि स्मृति वाक्य इसमें प्रमाण हैं।

अथवा मुक्त की भी अवस्था ईश्वर तुल्य होने से ईश्वरवत् ही वह नमस्कार्य है। प्रथम नमः से ईश्वर को नमस्कार करके द्वितीय नमः से शिवयोगी, जीवन्मुक्त, परमहंस गुरु को नमस्कार किया गया। इस प्रकार नमस्कार करके श्वेताश्वतर महर्षि शिष्यों को शिक्षा दे रहे हैं कि ब्रह्मविद्वरिष्ठ होने पर भी ईश्वर और गुरु सदा ही नमस्कार्य हैं।

अध्याय समाप्ति के लिये नमः पद का अभ्यास माना जा सकता है। या 'नमोनमः' एक निपात समुदाय है जिसका अर्थ नमः है।

इति द्वितीयोऽध्यायः।

अथ तृतीयोऽध्यायः

पूर्वाध्याय में वाक्य ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति एवं द्वितीयाध्याय से तत् उपयोगी योग का प्रतिपादन करके अब वाक्यार्थ ज्ञान के उपयोगी पद के अर्थों का ज्ञान कराते हुए सदाशिव के ध्यान रूपी लक्ष्य की सिद्धि के लिये स्वरूप और महिमा का वर्णन प्रारम्भ करते हैं :—

१

यः एकः जालवान् ईशते ईशनीभिः सर्वान् लोकान् ईशते ईशनीभिः । यः एव एकः उद्भवे सम्भवे च ये एतत् विदुः अमृताः ते भवन्ति ॥

यः = जो[१]
एकः = एक[२]
जालवान् = महा इन्द्रजाल वाला[३]
ईशनीभिः = अपनी ईश्वरी शक्तियों के द्वारा[४]
ईशते = ईश्वर की तरह आचरण करता प्रतीत होता है;
यः = जो
एकः = अकेला
एव[५] = ही
उद्भवे = सृष्टि[६]
च = और
सम्भवे = स्थिति और प्रलय काल में[७]
ईशनीभिः = अपनी व्यक्त शक्तियों से[८]
सर्वान् = सभी
लोकान् = अपने से बाहर प्रतीत होने वाले जड़ चेतन जगत् का[९]
ईशते = शासन करता है,
एतत् = उस सत्य तत्त्व को[१०]
ये = जिन्होंने[११]
विदुः = जान लिया
ते = वे
अमृताः = अमर[१२]
भवन्ति = हो जाते हैं।

१. जिसकी सिद्धि अन्य के अधीन नहीं है ऐसे स्वायत्त सिद्ध को ही अखिल भेदों के अस्त हो जाने पर अविकारी आत्मा का यहां संकेत किया जा रहा है।

२. द्वैत गन्ध शून्य परमात्मा त्रिविध परिच्छेद शून्य होते हुए भी सर्वनियन्ता एवं सर्वरूप होकर जगत् की उत्पत्ति स्थिति और लय का कारण वैसे ही प्रतीत होता है जैसे अविकृत रहते हुए मायावी अपनी माया से हाथी, राजा, अंकुशादि वाला अथवा स्वप्न में अविकृत रहते हुए ही जीव घोड़ा, गधा और चाण्डाल बन जाता है। यही उसकी एकता है।

३. **जालं गवाक्ष आनाये कोरके दम्भवृन्दयोः । जालो नीपद्रुमे जाली कोशातक्याम् उदाहृता ॥** इत्यादि कोशों से जाल शब्द अनेकार्थक है। तथापि इन सब अर्थों में जल सम्बन्ध होने से जो जल में हो (जले भवति) वह जाल है, यह अर्थ अक्षुण्ण ही है। मछली पकड़ने का जाल जल के अन्दर रहता है तो कोशातकी में जल भरा रहता है और गवाक्ष वर्षा में शाला को बचाकर स्वयं जल में भीजता रहता है। इसी प्रकार जल रूपी अविद्या में प्रतिबिम्ब रूप से ब्रह्म का प्रवेश भी है, पदार्थ रूप से माया में सत्ता देते हुए कल्पित रूप से रहता भी है, एवं जीव रूप से अविद्या के विक्षेपों को सहन भी करता है। यद्यपि जल का अधिकतर अर्थ कर्म ही है तथापि कर्म का मूल कारण होने से अविद्या भी जल सम्बन्धी होकर जाल पद का वाच्य बन जाती है। एवं अधिष्ठान रूप से ब्रह्म जालवान् कहा जाता है। किञ्च जैसे जाल को मछली काट नहीं सकती उसी प्रकार माया जाल को जीव काट नहीं सकता। वैसे भी बाजीगरी को इन्द्रजाल कहते हैं जिसमें सारे पदार्थ दीखते हैं परन्तु होते नहीं। अविद्या भी महेश का महेन्द्रजाल ही है। अथवा जिस प्रकार मकड़ी अपने में से ही जाल को निकालकर पुनः अपने में ही लीन कर लेती है वैसे ही महेश अविद्या महेन्द्र जाल को अपने से निकाल कर अपने में ही लीन कर लेते हैं। जैसे मकड़ी के जाल को फंसा हुआ मच्छर भेदने में असमर्थ होता है उसी प्रकार जीव अविद्या की शक्तियों को भिन्न नहीं कर पाता।

उपर्युक्त कोश वाक्य में यदि वृन्दार्थक जाल शब्द को यहां समझा जाय तो अर्थ होगा कि **एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा पुनः** इत्यादि यजुर्वेद के अनुसार वह परमात्मा ही अनेक रूपों वाला बनने वाला होने से समूह वाला या जालवाला कहा गया है।

४. ज्ञान, इच्छा और क्रिया अथवा आवरण, विक्षेप, मल, आणव आदि शक्तियों का यहां संग्रह है। यहां परमात्मा की स्वरूप शक्तियों का ग्रहण है, क्यों कि तटस्थ शक्तियों का वर्णन तो आगे ईशनी शब्द से कहना है। पुराणों में इसे पराशक्ति और अपरा शक्ति के भेद से कहा गया है। यद्यपि ज्ञान शक्ति, क्रियाशक्ति, इच्छा शक्ति स्वरूप से एक अखण्ड परमशक्ति ही है तथापि शुरू शुरू में साधक को अनेकता की प्रतीति होती है अतः ऐसा कहा गया है। स्मृति में भी कहा है **एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा।** कार्यभेद के नानात्व को देखकर ही सामान्य व्यक्ति को उसमें नानात्व को प्रतीति हो जाती है। वस्तुतः ब्रह्म भी एक ही है और उसकी शक्ति अविद्या भी एक ही है। परन्तु इस शक्ति का स्वरूप ही प्रतिक्षण में परिणत होते हुए ब्रह्म को अनन्त रूपों वाला प्रतीत कराना है। विवेकी इसी लिये **ईश्यत आभिः इति ईशन्यः** इनके द्वारा मानों अनेकाकार होकर प्रतीत होता है एवं ऐसा होने से इनके शासन में प्रतीत होता है इसी लिये इनको ईशन्यः कहते हैं। यहां ल्युट् करण अर्थ में भी हो सकता है एवं अधिकरण अर्थ में भी। ब्रह्म इन ईशनियों का अधिकरण है। टित्व होने से ङीप् कर लेना पड़ेगा। **अधिष्ठानत्वमात्रेण कारण ब्रह्म गीयते** इत्यादि वार्तिकामृत यहां गतार्थ है। यद्यपि कुछ लोग ब्रह्म स्वरूप में शक्तियों को मानने से द्वैत प्राप्ति समझते हैं परन्तु यह आक्षेप तो अत्यल्प है। **किन्न पश्यसि संसारं तत्रैवाज्ञानकल्पितम्** आदि के द्वारा विद्यारण्य स्वामी ने, **देवस्यैष स्वभावोऽयं** के द्वारा भगवान् गौड़पादाचार्यों ने अविद्या या स्वभाव को ही स्वीकार करके

इसका समाधान कर दिया है। स्वरूपदान, स्फुरणदान आदि की शक्ति व्यक्त हो या अव्यक्त, रहेगी तो अवश्य ही। अधिष्ठान होना ही इन शक्तियों का ईशन अर्थात् शासन करना है। माया के कार्य समष्टि हों या व्यष्टि माया के द्वारा ही चलते हैं क्यों कि ब्रह्म अविकारी और असंग है, परन्तु ये कार्य ब्रह्म के बिना चल नहीं सकते बस इतना ही उसका शासकत्व है।

५. य एवैक इहोद्भवे पठति दीपिकाकारः। इह प्रतीयमाने संसारे।

६. उत अर्थात् ऊपर ऊपर, भव अर्थात् होना। अनेक प्रकार का बनना ही उद्भव है जिसे सामान्यतः सृष्टि कहते हैं। अथवा भव अर्थात् होना जब उद्वृत्त अर्थात् प्रारम्भ हो जाय तब उसे उद्भव कहेंगे। उत्पत्ति में वह अकेला ही निमित्त और उपादान कारण है यह भाव है।

७. जिस प्रकार वह सबकी उत्पत्ति में कारण रूप से स्थित है क्यों कि सब कुछ उसी से सम्भव होता है उसी प्रकार स्थिति काल में वह इन सबको सम्यक्भवः भली प्रकार सत्तावान् बनाये रखने से संभव है तथा अन्त में सम्यक् माने अच्छी तरह से कार्य रहित कारण-मात्र रूप से स्थित हो जाता है, इस लिये भी वह सम्भव ही है। चूं कि लीनावस्था में पुनः सारी सृष्टि के उत्पत्ति की संभावना बनी रहती है अतः समग्र कार्यों की कारण रूप से एकता रूप से प्राप्ति हो जाने पर भी लय और उत्पत्ति का निमित्त बना हुआ चिन्मात्रवपु ब्रह्म सम्भव कहा जा रहा है।

लय दशा में आधार से अनतिरिक्त वह एक ही बना रहता है। इसलिये भी उसका सम्भव कहा जाना ठीक ही है। **सम्भवः कथितो हेतौ उत्पत्तौ मेलकेऽपि च। आधारानतिरिक्तत्वे आधेयस्य च सम्भवो।** इत्यादि कोश इसमें प्रमाण हैं। चूं कि कार्य आदि और

अन्त में नहीं रहते अतः **आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा** इत्यादि न्यायों से वे प्रतीति काल में भी असत्य ही हैं।

सम् अर्थात् सम्यक् स्वात्म रूप से भव अर्थात् हो जाना सम्भव कहा जा सकता है। तात्पर्य है कि स्थिति काल में विशिष्ट सत्ता रूप से वे पदार्थ वर्तमान हैं एवं प्रलय काल में शुद्ध सत्ता मात्र रूप से। इस शुद्ध भाव को अविवेकी संहार कहते हैं यह बात दूसरी है। शंकरानन्द स्वामी ने तो मन्त्रोक्त च से ही स्थिति का संग्रह कर लिया है। अर्थात् उद्भव में और संभव में तो वह एक है ही, प्रतीति वाले मध्य काल में भी उसकी अद्वितीयता अखण्डित ही है।

८. सृष्टि, स्थिति, संहार, अनुग्रह, तिरोभाव आदि मुख्य पराशक्तियों से विशिष्ट को परमेश्वर कहते हैं। सहज स्वरूप शक्तियों से वह विशिष्ट नहीं होता परन्तु इन तटस्थ पराशक्तियों से विशिष्ट हो जाता है। चूंकि इन शक्तियों से वह विशिष्ट बन जाता है इस लिये इन्हें ईशनियां कहा है। इन्द्र, वरुण, यमादि शक्तियों से वह ईश्वर, तथा प्रत्येक प्राणी में द्रष्टा, श्रोता, स्पृष्टा, इत्यादि शक्तियों से वह ईश कहा जाता है। इनमें कुछ शक्तियां समष्टि भावान्वित हैं कुछ व्यष्टि भावान्वित। लेकिन इन सभी शक्तियों से युक्त तो एक परमेश्वर ही है। ईशन में समर्थ उपाधियों के द्वारा माया रूप हुआ हुआ माया एवं उनकी शक्तियों का ईशन करता है एवं माया की शक्तियों से विशिष्ट हुआ हुआ तन्मात्राओं का ईशन करता है। तन्मात्राओं से विशिष्ट हुआ हुआ आकाशादि पदार्थों का ईशन करता है। आकाशादि से विशिष्ट हुआ हुआ पञ्चीकृत महाभूतों का ईशन करता है। पञ्चीकृत महाभूतों से विशिष्ट हुआ हुआ वर्षा, झंझा, ग्रहण आदि कार्यों का ईशन करता है, एवं इन समष्टि उपाधियों से विशिष्ट हुआ हुआ व्यक्त सारे पदार्थों का ईशन करता है। एवं उन पदार्थों से विशिष्ट हुआ हुआ बलभद्र देवभद्र आदि

शरीरों का ईशन करता है; बलभद्रादि शरीर विशिष्ट हुआ हुआ घट पटादि का ईशन करता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर परमेश्वर का ईशत्व अखण्ड ही रहता है। जिस प्रकार मायावी माया द्वारा दिखाये जाने वाले पर्वत समुद्रादि एवं बाग, हाथी, घोड़े, राजा, पंडित आदि का शासन करता है इस प्रकार परमेश्वर जैसे अपने द्वारा नियमन में लिये हुए सभी पदार्थों की उत्पत्ति और लय में हेतु है उसी प्रकार उनका नियन्ता भी है। ये सारी शक्तियां अविद्या काल में व्यक्त होने से व्यक्त कही गई हैं।

९. **लोक्यन्ते इति लोकाः** अर्थात् जो अनुभव में आवें ऐसे दृश्य पदार्थ, पृथिव्यादि तथा भिन्न प्राणि समुदाय सभी लोक शब्द से कहे जाते हैं। अपनी शक्तियों से अपने ही द्वारा बनाये हुए लोकों को अपने ही स्वायत्त में रखता है यह भाव है।

१०. उपर्युक्त ईश्वर स्वरूप को अपने से अभिन्न जानना ही सत्य तत्त्व को जानना है। भक्ति मार्गी ईश्वर के इस शासन करने वाले वृत्तान्त को जानना यद्यपि प्रतिपादन करते हैं परन्तु प्रकरण विरुद्ध होने से उसे असंगत ही मानना चाहिये। यद्यपि यहां एतम् पाठ होना चाहिये था क्यों कि पूर्व में यत् पद में पुंल्लिंग का निर्देश है तथापि श्रुति यहां पुंल्लिंग और नपुंसक लिंग का व्यत्यय करके उसके सर्वलिंग रूप का प्रतिपादन करके लिंगहीनता को लक्षित करती है।

११. जिन अधिकारियों ने एकत्व का श्रवण करके अपरोक्ष कर लिया उन श्री परमहंसों को ही यहां कहा जा रहा है।

१२. आत्म-ज्ञान के द्वारा मरणादि संसार की हेतु अविद्या को जलाकर नित्य सिद्ध ब्रह्म रूप पुरुषार्थ को प्राप्त करके आनन्दात्म रूप से मुक्त होना ही अमर पद का मुख्य अर्थ है।

२

जिस परब्रह्म परमात्मा का देवात्म शक्ति रूप से तात्विक

(Metaphysical) वर्णन किया था उस सृष्टि-स्थिति-लय करने वाले परब्रह्म परमात्मा का ब्रह्म लीन श्री परमहंसों के द्वारा साक्षात् अनुभूत सर्व वेद प्रतिपाद्य रुद्र रूप का प्रत्यक्ष निर्देश करके बुद्धि से दुःखग्राह्य तत्त्व को हस्तामलकवत् वात्सल्यातिरेक से अभिभूत श्रुति प्रतिपादन करती है :—

एकः हि रुद्रः न द्वितीयाय तस्थुः यः इमान् लोकान् ईशते ईशनीभिः । प्रत्यङ् जनान् तिष्ठति सञ्चुकोच अन्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः ॥

यः=जो
इमान्=इन प्रत्यक्ष
लोकान्=अनुभव में आने वाले लोकों को
ईशनीभिः=स्वशक्तियों के द्वारा
ईशते=शासित करता है[1];
जनान्=लोगों को
प्रत्यङ्=प्रत्यगात्मा रूप से प्रतीत होता
तिष्ठति=रहता है;[2]
विश्वा=सारे
भुवनानि=भुवनों को[4]

संसृज्य=बना करके,
गोपाः[5]=रक्षक होकर,[6]
अन्तकाले=अन्त समय में[7]
सञ्चुकोच[8]=उपसंहृत कर लेता है;[9]
हि=निश्चित रूप से (वह)
रुद्रः=रुद्र[10]
एकः=एक अकेला ही[11]
द्वितीयाय=किसी दूसरे की अपेक्षा के लिये[12]
न=नहीं
तस्थुः[12]=खड़ा हुआ (रुका)।

१. इस वाक्य के द्वारा पूर्व मंत्र में प्रतिपादित तत्त्व के साथ रुद्र की एकता का प्रतिपादन इष्ट है।

२. **प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति इति वा प्रत्यक् जनास्तिष्ठति इति वा पाठः** ।

३. इसके द्वारा पूर्वाध्याय में प्रतिपादित तत्त्व के साथ रुद्र की एकता का प्रतिपादन है।

४. महा सर्ग में चतुर्दश भुवनों को उनके कारण आकाशादि महा भूतों को एवं उनके विन्यास रूपों को सत्ता और स्फुरण देकर परमात्मा सन् अर्थात् भली प्रकार सृज अर्थात् सृष्टि करता है। कुम्हार की तरह वह केवल मिट्टी रूपी उपादान कारण को ग्रहण करता हो ऐसा नहीं है। वरन् अपनी शक्ति का बाहर प्रक्षेप करना ही उसका स्रष्टा या नियन्ता बन जाना है। अभिन्ननिमित्तोपादान कारणता का प्रतिपादन ही इष्ट है। यह बात अगले मन्त्र में विराट् रूप से अवस्थिति और विराट् रूप को बनाने का प्रतिपादन करके और भी स्पष्ट करेंगे। विश्वानि की जगह विश्वा छान्दस है।

५. **गोप्ता इति पठति दीपिकाकारः** ।

६. गो अर्थात् चराचर विश्व का पा- अर्थात् पालन करने वाला होने से रुद्र गोपा है। वह सारे जगत् का पालक एवं रक्षक है यह भाव है। गोप शब्द का प्रयोग वेदों में सृष्टि या इन्द्रियों के रक्षक के रूप में रुद्र के लिये बहुलता से है। गाः पाति गोपाः। परवर्ती साहित्य में प्रसिद्ध गोपाल भी लोक रक्षक हैं ही। वस्तुतस्तु स्थिति काल में आनन्द प्रद होने से वह गोप कहा जाता है। यदि इस संसार में सुख लवों की प्राप्ति न हो तो प्राणी इसमें लगे रहकर इसकी स्थिति बनाई न रखें।

७. महा प्रलय से तात्पर्य है। अथवा मरण से भी व्यष्टि दृष्टि से तात्पर्य हो सकता है।

८. **सञ्चुकोप इति क्वचित् पाठः** ।

९. फैलाये हुए जाल का पुनः संकोच करना अर्थात् समेटना ही उपसंहार है। यदि रुद्र तटस्थ रूप से असम्बद्ध होकर जगत् की सृष्टि करता तो संकोच अर्थात् सिमटने मात्र से प्रलय न हो सकता। असंगता उसकी इसलिये बनी रहती है कि उसका सृष्टि के साथ संसर्ग सम्बन्ध अध्यास से है। अपनी स्वतंत्र इच्छा से अपने में ही अध्यास

करके सृष्टि स्थिति करता है अतः संकोच और विकास उसके लिये अत्यन्त सुकर है। प्रकाश-विमर्श उभयात्मक ही शिव-शक्ति सामरस्य है।

१०. रुत् अर्थात् संसार दुःख को नष्ट करने वाला होने से रुद्र कहलाता है। अथवा रुत् अर्थात् प्रणव नाद। नाद के अन्त में पिघलने वाला होने से रुद्र है। अथवा नादान्त में सोम मण्डल को द्रवन कराने वाला होने से रुद्र है। शब्द रूप होने से वेद भी रुत् है। वेदों के ज्ञान को देने वाला होने से अथवा वेदोक्त धर्म का प्रतिपादन करने वाला होने से अथवा वेद प्रतिपाद्य ब्रह्म को प्राप्त कराने वाला होने से भी उसको रुद्र कहा जाता है। वाग् रूपी रुत् से वाच्य को जना देता है इसलिये भी रुद्र है। अर्थात् उसीने शब्दों के अर्थ निर्णीत किये हैं। अथवा रुत् अर्थात् प्राण को चलाने वाला होने से भी वह रुद्र है। अथवा प्राण रूप आत्मा को प्राप्त कराने वाला होने से वह रुद्र है। रोरूयमान होता हुआ अर्थात् जोर शोर से आवाज करता हुआ द्रव रूप से मर्त्यों में प्रवेश करने वाला होने से वह रुद्र है। रौति सत्ये अतः सत्य रूप होने से भी वह रुद्र है। सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ को सत्यवत् प्रतीत कराने वाला होने से भी वह रुद्र है। अन्त काल में सब को रुलाता है इस लिये भी वह रुद्र है। रुक् अर्थात् तेज। अतः तेजस्वी होने से भी वह रुद्र कहाता है। तेज का द्रवण अर्थात् फैलाव करने वाला होने से भी वह रुद्र कहाता है। यह रुद्र का सविता रूप है, जिससे पूर्व अध्यायों के साथ संगति हो जाती है। रोधिका अर्थात् बन्धिका मोहिका शक्ति का द्रावण अर्थात् नाश करने वाला होने से भी उसे रुद्र कहा जाता है। मनुष्य को रुत् अर्थात् शब्द को, राति अर्थात् ददाति। तात्पर्य है मनुष्य को वाणी देता है इसलिये भी रुद्र कहलाता है। रुत् अर्थात् शब्द को एवं शब्द से उपलक्षित आकाश को बनाने वाला होने से

भी वह रुद्र कहलाता है। रु का अर्थ भय भी होता है। अतः भय को नष्ट करने वाला होने से भी उसे रुद्र कहते हैं। रुत् अर्थात् रोग। सारे रोगों को नष्ट करने वाला होने से भी वह रुद्र है। धर्महीनों को रुत् अर्थात् भय के साथ द्रावण अर्थात् संयुक्त करने वाला होने से भी रुद्र कहलाता है।

११. सृष्टि के आदि में संकल्प करने वाला होने से वह चिदानन्द रस रूप से अकेला है, एवं प्रलय के बाद पुनः वैसा ही है। मध्य काल में भी सत् और चित् रूप से प्रतीत होता ही रहता है एवं उसकी सता से भिन्न और किसी भी सत्ता का अभाव होने से उस समय भी वह एक ही हैं। सर्व रूपे से अविद्या नाश के बिना दुःख की निवृत्ति संभव नहीं। अतः अविद्या का नाश करने के कारण रुद्र का स्वरूप सदा ही विद्यामय है। अनेकता सारी अविद्यानिमित्तक होने से रुद्र एक ही रहता है।

यद्यपि वेदों में अनेक प्रकार के देवताओं का वर्णन आता है परन्तु वे सभी रुद्र की भिन्न भिन्न शक्तियों के द्वारा ही अकेले रुद्र को ही विषय करते हैं। इन देवताओं की भिन्न सत्ता मीमांसा में स्वीकृत नहीं है एवं युक्ति अनुभव से भी विरुद्ध है। अनेक मंत्रों में अनेक देवताओं को एक मान कर ही सम्बोधित कर दिया गया है। अतः जैसे पाचक, पाठक, वाचक, कथक, याजक, आदि भेदों से देवदत्त का भेद नहीं माना जाता उसी प्रकार इन्द्र, वरुण, यम, रुद्रादि भेदों से महादेव का भेद नहीं माना जा सकता। पौराणिक देवता यद्यपि जीव होने से व्यावहारिक दृष्टि से एक दूसरे से भिन्न एवं अधिकार सम्पन्न हैं तथापि उनको अधिकार देने वाले भी रुद्र हैं तथा उनके अन्दर सत्ता चित्ता रूप से तो वे विद्यमान हैं ही। अतः उनसे भी रुद्र को एकता अक्षुण्ण ही रहती है। वस्तुतस्तु जब सारे ब्रह्माण्ड में एक ही चेतन सत्ता इन अनन्त भेदों के द्वारा अपने एकत्व

का परित्याग नहीं करती तो थोड़े से देवताओं के कारण उनमें भेद मानना तो सर्व प्रमाण विरुद्ध है।

१२. **द्वितीयाय अर्थात् द्वितीयार्थम्**। तात्पर्य है कि रुद्र सृष्ट्यादि कार्य के लिये किसी दूसरे के मुख का अवलोकन करने वाला नहीं बना। अथवा **द्वितीयाय अर्थात् द्वितीयभावाय**। अद्वितीय सच्चिदानन्द रूप उसके अधीन सत्ता ,स्फुरण वाले माया और उसके कार्य अनन्त प्रपञ्च समूह के रहते हुए ही रुद्र में सद्वितीयता का आपादन करने की स्थिति वाले नहीं हुए। तात्पर्य है कि जिस प्रकार राजा से सत्ता प्राप्त करने वाले मंत्री इत्यादि राजा के जोड़े नहीं बन पाते उसी प्रकार सारा ज़गत् मिलकर के भी ब्रह्म का जोड़ा नहीं बन पाता। अथवा रुद्र से अतिरिक्त किसी दूसरे के लिये प्रमाण स्थिर नहीं हुए। अर्थात् अविद्यात्मक होने से द्वैत प्रमाण के अयोग्य ही रहता है। द्वैत को अविचारित रमणीयता होने से प्रमाणसिद्धता नहीं हो पाती। सभी प्रमाणों से एक रुद्र की ही सिद्धि होती है और किसी दूसरी चीज की नहीं। पग पग पर रुद्र की अद्वितीयता का प्रतिपादन होने से उसकी पारमार्थिक सत्यता सिद्ध होती है। अनेक श्रुतियां साक्षात् ही अद्वितीय भाव का प्रतिपादन करती हैं एवं पग पग पर द्वैत के मिथ्यात्व और ज्ञान मात्र से निवर्त्यत्व का प्रतिपादन होने से वह तुच्छ द्वैत रुद्र का द्वितीय नहीं बन पाता। अतः रुद्र अद्वितीय ही बना रहता है। अथर्ववेद में तो **एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थौ** यह पाठ मिलता है। अथवा ब्रह्मवेत्ता किसी दूसरी वस्तु को सहन करने के लिये स्थित नहीं हुए क्यों कि रुद्र एक ही है।

१३. **तस्थे इति पठति दीपकाकारः**।

३

ब्रह्मा से घास पर्यन्त सभी प्राणियों के कार्य-करण ईश्वर के ही कार्य-करण हैं। एवं इसीलिये वह सबका नियन्त्रण वैसी ही स्वतन्त्रता

से करता है जैसी स्वतन्त्रता से जगत् की उत्पत्ति स्थिति और संहार। इस प्रकार विराट् रूप का प्रतिपादन कहते हैं:—

विश्वतः चक्षुः उत विश्वतः मुखः विश्वतः बाहुः उत विश्वतः पात्। सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैः द्यावाभूमी जनयन् देवः एकः॥

एकः एक[1]
देवः महादेव
विश्वतः सर्वत्र[1]
चक्षुः आंखों वाला,
उत और
विश्वतः सर्वत्र
मुखः मुंह वाला,
उत और
विश्वतः सर्वत्र
बाहुः हाथों वाला (और)
विश्वतः सर्वत्र
पात् पैरों वाला[३]
द्यावाभूमी द्युलोक और भूलोक को[४]
जनयन् उत्पन्न करते हुए,
सं भली प्रकार
पतत्रैः=पंखों के द्वारा[५] (तथा)
बाहुभ्याम्=भुजाओं के द्वारा
सं=अच्छी प्रकार
धमति=धमन करता है[६] (फूंकता है)।

१. अद्वितीय भेद शून्य।

२. सारे प्राणियों के आंख कान आदि ईश्वर के ही आंख कान हैं। चूंकि अपनी ही माया से शरीर इन्द्रियादियों को बना करके फिर खुद ही उनमें अनुप्रविष्ट हुआ जीव शब्द का वाच्य होता है अतः सभी जीवों की इन्द्रिय इत्यादि ईश्वर की ही इन्द्रियां हैं। यही उसकी सर्वात्मकता है। असंग उदासीन होने पर भी माया के कारण सभी इन्द्रिय और जीवों के सृष्टि, स्थिति, संहार की स्वतंत्रता भी उपपन्न हो जाती है। अथवा स्वेच्छा से सभी जगह सभी रूपों का दर्शन करने की सामर्थ्य होने से उसे सर्वत्र चक्षु आदि वाला कहा गया है।

३. यहां पाद के अकार का लोप अहस्त्यादिभ्यः से समझ लेना चाहिये।

४. वेदों में द्यावाभूमी को प्रायः करके एकसाथ ही प्रार्थना या उपासना के लिये बताया गया है। ब्रह्माण्ड के बीच से टुकड़े रूपी दो कटाहों को ही द्यावाभूमी कहा जाता है। अतः यह सारे जड़ चेतन लोकों का, एवं उनके अन्तर्वर्ती पदार्थ तथा जीवों का उपलक्षण हो जाता है। इस दृष्टि से सत्कर्मों के भोग के लिये द्यु को उत्पन्न करता है एवं असत् कर्मों के लिये नीचे के नरकादि लोकों को उत्पन्न करता है जिनकी ऊपरी छत भूलोक है। भूलोक यद्यपि असत् कर्मों की नींव में स्थित है तथापि द्यु लोक की ओर खुला हुआ है अतः इससे द्यु लोक में जाना संभव है इसीलिये इसको मिश्र कर्म वाला लोक कहा जाता है।

वास्तविकता तो यह है कि द्यावापृथिवी शिवलिंग और शिव-वेदी का स्वरूप है। अतः विश्वतश्चक्षुरित्यादि के द्वारा विराट् रू को धारण करने के बाद उपास्य रूप से माया विशिष्ट चेतन के मूर्तामूर्त रूप वेदिस्थ शिव का उस आद्य पुरुष ने मोक्ष मार्ग की सीढ़ी रूप से निर्माण किया। इसके प्रति कर्म-फल का अर्पण, भक्ति रूपी सेवा, एवं इसके लक्ष्य का ज्ञान मुक्ति का सहज साधन है। विराट् उपासना या विश्वरूप उपासना का यह प्रतीक स्वयं महादेव ने निर्माण किया अतः इसकी श्रेष्ठता स्वतः सिद्ध है। उत्तम साधक वृत्ति रूपी वेदी में चैतन्य रूपी लिंग की उपासना करते हैं। अधिका-रानुसार वेदी और लिंग में रूप भेद होने पर भी उपाधि और उपहित की अक्षुण्णता बनी ही रहती है।

५. बाहुभ्याम् अर्थात् बाहुओं से जैसे मनुष्यादि को संधमति अर्थात् संयुक्त करता है वैसे ही पतत्रैः अतः अर्थात् पतन के आधार रूपी पैरों से भी युक्त करता है। पक्षियों के पंख भी पतन के अर्थात्

उड़ने के साधन माने जाते हैं। पंखों को गिराने से ही पक्षी का उठान होता है यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। वस्तुतः स्तनन्धय प्राणियों में जो स्थान हाथों का है ठीक वही स्थान उड़ने वाले जानवरों में पंखों का है। आधुनिक जीवविज्ञान (Biology) भी इस बात को स्वीकारता है। अतः श्रुति ने यहां दोनों को साथ रख कर एक सूक्ष्म ध्वनि की है कि जैसे बाहुओं के द्वारा उड़ना पशु के लिये असम्भव होने पर भी विशिष्ट विकास के द्वारा पंख बनाकर उनसे उड़ना अत्यन्त सरल हो जाता है उसी प्रकार उपासना और कर्म के द्वारा सामान्यतः शिव प्राप्ति असम्भव होने पर भी फलत्याग एवं प्रेम रूपी साधनों से विकसित करके वे शिव प्राप्ति कराने में समर्थ हो जाते हैं। अतः इन विद्या कर्म रूपी साधनों से हम को युक्त किया गया है।

अथवा वह परमात्मा हमें विद्या कर्म से (बाहुभ्याम्) युक्त करता है (सन्धमति) एवं वासनाओं के द्वारा (पतत्रैः) दीप्त करता है (सन्धमति)। तात्पर्य है कि जीव निष्ठ विद्या-कर्म-वासनाओं से ईश्वर जगत् को प्रवृत्त करता है। विवेकी तो ऐसा मानते हैं कि सृष्टि के पूर्व शिवेच्छा से अतिरिक्त अदृष्ट या अपूर्व का अत्यन्त अभाव होने से पहले पूर्वोत्तर तट की तरह द्यावाभूमी की रचना करके संसार समुद्र में ज्ञान-क्रिया-शक्ति रूपी भुजाओं के द्वारा (बाहुभ्यां) स्व लीला विग्रह रूपी गिरने उड़ने वाले (पतत्रैः) जीवों का जो इच्छा स्वरूप है निर्माण करके उन सब रूपों में कर्णधार की तरह इस प्रवाह को चलाता है।

बाहु और पतत्र से अन्य सभी इन्द्रियों का उपलक्षण कर लेना चाहिये। अर्थात् वह परमात्मा ही सबको सब इन्द्रियों से संयुक्त करता है। अविद्या, काम, कर्म से पहले युक्त करता है एवं तब मन आदि से। अनादि प्रवाह स्वीकार करने पर भी सृष्टि के क्षण में उन

जीवों का व्यक्तीभवन एवं इन्द्रियों से युक्त करना मानना ही पड़ेगा। परन्तु ऐसा मानने पर असंगता की रक्षा के लिये उसे उत्पत्ति का प्रयोजक मात्र मानना चाहिये, उत्पत्ति करने वाला नहीं।

कुछ नैयायिकों ने पतन शील परमाणुओं को ही यहां पतत्र माना है। परन्तु तदनुकूल अर्थ करने पर भी पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों को ही पतत्र मानना चाहिये क्यों कि परमाणु श्रुतिप्रतिपादित नहीं हैं। यदि कहा जाय कि मन्त्रोक्त पतत्र ही परमाणु में प्रमाण है तो भी न्याय पक्ष में पृथ्वी और जल में ही गुरुत्व अंगीकार करने से उन्हीं का गिरना बनेगा, अग्नि, वायु के परमाणुओं का नहीं। वायु, अग्नि के परमाणुओं को मूर्त मान कर भी न्याय सिद्धान्त में गुरुत्व-हीन माना गया है। पतन के प्रति तो गुरुत्व ही कारण होता है। यदि इस प्रकार के तिनकों का सहारा लेकर परमाणुओं को श्रौत मान लिया जायेगा तब तो किसी भी प्रतिपक्ष का समर्थन श्रौत हो जाने के कारण शास्त्र का श्रवण मनन का व्यसन व्यर्थ सिद्ध होगा। अतः उस दृष्टि से भी यहां पञ्चीकृत पञ्चमहाभूत ही सिद्ध होगा।

६. यद्यपि धमन का मुख्य तात्पर्य होता है अग्नि को दीप्त करने के लिये मुख से वायु संयोग, तथापि धातुओं को अनेकार्थता के न्याय से यहां संयोग अर्थ माना जा सकता है। अथवा सन्तापकारी होने से जीवों को सुख दुःख की प्राप्ति अविद्या काम, कर्म द्वारा धमन करने से ही होती है। अर्थात् सुख दुःख की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करने वाला सुख-दुःखकारी परमात्मा है। इस पक्ष में बाहुभ्यां अर्थात् सुखदुःखाभ्यां। अथवा परमात्मा सर्वकर्महेतु होने से धर्म और अधर्म का भी यहां संग्रह हो सकता है। दोनों ही पक्षों में पतत्र का तात्पर्य तो वासना से ही है।

धमना मुख का व्यापार है। अतः धमति का अर्थ शब्द करना भी हो सकता है। अतः परमेश्वर जब अपने हाथों से विश्वोत्पत्ति

करता है तो अनेक शब्दों को पहले उत्पन्न करके फिर उन शब्दों के अनुरूप रूप-सृष्टि करता है। उस रूप-सृष्टि के पूर्व सम्पतत्र अर्थात् पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों को बनाता है। लोक में भी कहा जाता है कि परमात्मा ने जान फूंक दी अथवा किसी महापुरुष ने धर्म में जान फूंक दी इत्यादि। यहूदी और ईसाई धर्मग्रन्थों में भी (Breathed life into adam) इत्यादि प्रयोग प्रसिद्ध हैं। जीव में तो मानो प्रतिक्षण वायु रूप से परमात्मा प्राण फूंकता रहता है।

४

अन्य देवता भी जड़ सृष्टि के कर्ता माने गये हैं। फिर एक मात्र रुद्र ही क्यों यहां परमेश्वर माना गया? मानव से लेकर ब्रह्मा विष्णु आदि देवताओं तक सभी चेतनों की सृष्टि करने वाला होने के कारण रुद्र ही एक मात्र परमेश्वर है :—

यः देवानां प्रभवः च उद्भवः च विश्वाधिकः रुद्रः महर्षिः।
हिरण्यगर्भम् जनयामास पूर्वम् सः नः बुद्ध्या शुभया सं युनक्तु॥

यः = जो[1]	च = तथा (जिसने)
महर्षिः = महर्षि[2]	पूर्वम् = सबसे पहले[7]
रुद्रः = रुद्र	हिरण्यगर्भम् = हिरण्यगर्भ को[8]
विश्वाधिकः = सबसे परे रहता हुआ,[3]	जनयामास = उत्पन्न किया[9]
देवानां = देवों की[4]	सः = वह[10]
प्रभवः = उत्पत्ति[5]	शुभया = शुभ[11]
च = और	बुद्ध्या = बुद्धि से[12]
उद्भवः = महत्ता[6] (रूप है);	नः = हम लोगों को[13]
	संयुनक्तु = संयुक्त करे[14]।

१. स्वयं प्रकाश परमेश्वर ही पूर्वाध्यायों में व्यष्टि कार्य-करणों का अधिष्ठाता एवं समष्टि करणों के अभिमानी अग्नि, आदित्यादि

देवों की उत्पत्त्यादि का कारण बताया गया। उसी का 'जो' शब्द से परामर्श है।

२. महान् अर्थात् निरवग्रह महत्त्व सम्पन्न ऋषि अर्थात् सर्वज्ञ। जो किसी भी रुकावट के बिना सर्व ज्ञानों का महा द्रष्टा हो ऐसा सर्वज्ञ। ऋषि शब्द से अतीन्द्रिय ज्ञान वाले ज्ञानी का ही ग्रहण किया जाता हैं। अतः जिसकी महत्ता लोग स्वीकार करें ऐसा अतीन्द्रिय ज्ञानवान् सर्वज्ञ महर्षि पद वाच्य है। जिसके अनुग्रह को प्राप्त कर ऐसे महर्षि पद को प्राप्त किया जा सकता है उसके महर्षित्व में सन्देह की संभावना ही कहां है।

३. परमात्मा समग्र विश्वरूप को धारण करते हुए भी वस्तुतः उन सबसे अतीत रहता है। जिस प्रकार फणी सांप दर्दुरादि को विष के द्वारा नष्ट करने पर भी उस विषको अपने में रखते हुए उस विष से सर्वथा अस्पृष्ट रहता है उसी प्रकार रुद्र में अविद्या रहते हुए भी रुद्र को वह स्पर्श नहीं करती। अथवा समग्र विश्व के पदार्थों से भी वह अधिक अर्थात् उत्कृष्ट है क्योंकि निरतिशय आनन्द स्वभाव है। अथवा विश्व और अधिक ऐसा द्वन्द्व समास करके जो विश्व अर्थात् जगत् रूप धारण करके उसका नियन्ता भी बना रहता है।

विवेकी तो ऐसा मानते हैं कि अखिल भावों का, जो प्रतिबिम्ब स्वरूप है, मूल प्रकृतिरूप बिम्ब होने से वह उन सबसे अधिक है। इस प्रकार बिम्ब रूप से ज्ञान-स्वभाव वाले समग्र खण्ड-ज्ञानों के प्रति वह अखण्ड-ज्ञान वैसे ही उत्पत्ति स्थिति का कारण बनता है जैसे सूर्य समस्त अपने प्रतिबिम्बों के प्रति। इस प्रकार रुद्र की अपेक्षा अधिक ज्ञान और आनन्द स्वभावतः अन्यत्र नहीं है यह भाव है।

पाठानुक्रम के बल से विश्वाधिकः के द्वारा कोई कोई ज्ञान हीन की भी अधिकता की व्यावृत्ति के लिये महर्षि पद का ग्रहण मानते हैं। कहीं कहीं विश्वाधिकः की जगह विश्वाधिपः और रुद्रः की जगह पर देवः पाठ भी मिलता है।

४. इन्द्रादि वैदिक देव एवं गणेशादि पौराणिक देवताओं का संग्रह है। वस्तुतस्तु प्रकाशक होने से समष्टि-व्यष्टि करण संघात ही देव पद वाच्य है। एवं सूत्रात्मा की सृष्टि-प्रतिपादन में ही यहां वास्तविक गतार्थता है। चूंकि रुद्र ब्रह्मा-विष्णु, अग्नि-इन्द्र से लेकर कीट-पतंग तक का स्रष्टा, स्थाता एवं हर्ता है अतः वही एकमात्र देवाधिदेव महादेव कहा जाय यह स्वाभाविक है।

५. प्रकर्ष से भवन अर्थात् उत्पत्ति प्रभव कही जाती है। यद्यपि सभी पदार्थ कारण रूप से नित्य हैं परन्तु किसी एक कार्य रूप का प्रकट हो जाना उसका प्रकर्ष होने से उस कार्य का प्रभव कहा जाता है। रुद्र ही एक मात्र अभिन्न निमित्तोपादान कारण होने से सब कार्यों का उत्पत्तिस्थान या उत्पत्ति का कारण है।

उत्पत्ति-क्रम की अपेक्षा संहार-क्रम में व्याप्य कार्य का व्यापक कारण में लीन होना उसका प्रकर्ष भवन अर्थात् प्रकर्ष होना कहा जा सकता है। अथवा उत्पत्ति क्रम की अपेक्षा प्रतिलोमता से अर्थात् विपरीतता से जो भव अर्थात् होना है उसको प्रभव कहा जा सकता है। इन दोनों ही दृष्टियों से वह रुद्र सबका लय-स्थान भी है यह तात्पर्य है। चूंकि रुद्र अधिष्ठानमात्र होकर समग्र कार्यों का उत्पादक या संहर्ता कहा जाता है अतः असंगता अखण्डित रहती है। दर्पण के सामने खड़े होकर केवल अपनी दाढ़ी को काटने पर भी दर्पण के प्रतिबिम्ब वाले की दाढ़ी कट जाती है। यहां नाई बनकर दूसरे की दाढ़ी काटी नहीं गई है। इसी प्रकार रुद्र के स्वातंत्र्य-शक्ति-उन्मेष से पदार्थ उत्पन्न और लय होते दीखते हैं वह उनको उत्पन्न और लय करने वाला नहीं है। जैसे प्रतिबिम्ब की दाढ़ी कट जाने का न तो मेरी दाढ़ी काटने से अतिरिक्त कोई कारण है और न बिना मेरी दाढ़ी

काटे हुवे प्रतिबिम्ब की दाढी काटने का कोई रास्ता ही है। अतः अविद्याग्रस्त प्राणी स्वभावतः मुझे 'प्रतिबिम्ब की दाढी काटने वाला' इस प्रकार लाञ्छित करते हैं परन्तु उस लाञ्छन का मेरे से स्पर्श नहीं होता। उसी प्रकार रुद्र को स्रष्टा, संहर्ता कहने पर भी वह असंग ही बना रहता है।

६. उत् अर्थात् ऊर्ध्व, भव अर्थात् होना। जो चीज किसी में महत्ता का आपादन करती है वही उसको ऊर्ध्व बनाती है। वस्तुतः विभूति रूप से स्वयं रुद्र ही सब पदार्थों से युक्त होता है। जिन देवादियों में महत् उपाधि रूप से वह प्रवेश करता है वे महान् देवता बन जाते हैं एवं जिन कुत्ते आदि के अन्दर वह अल्प उपाधि रूप से प्रवेश कर जाता है वे अल्प कहे जाते हैं। इस प्रकार वही सबको ऐश्वर्य प्रदान करता है। सत्ता रूपी ऐश्वर्य प्रदान करके वह उन सबकी स्थिति रूप भी है ही। अथवा मन्त्र के च शब्द से स्थिति का संग्रह कर लेना चाहिये, एवं दूसरे च से संहार। चकारों की वीप्सा से वह रुद्र स्वयं भी उन उन देवताओं का रूप है एवं वे सभी देवता रुद्र स्वरूप हैं यह बतलाना भी इष्ट है।

७. जगत् की उत्पत्ति अर्थात् सृष्टि के पहले। चूंकि ईश्वर से सर्व प्रथम हिरण्यगर्भ उत्पन्न होता है अतः हिरण्यगर्भ से अन्य देवताओं की उत्पत्ति कई जगह बताई गई है। केवल देवताओं का उत्पादक कहने से कहीं भ्रम से हिरण्यगर्भ को न समझ लिया जाय अतः यहां पूर्वम् के द्वारा बताया गया कि उसने पहले हिरण्यगर्भ को उत्पन्न किया एवं फिर हिरण्यगर्भ में प्रवेश करके बाकी सब देवताओं को उत्पन्न किया। यद्यपि पुराणों में एवं संसार के सभी मजहबों में प्रायः विराट् या इससे नीचे के देवों को ही ईश्वर मान लिया गया है तथापि पुराणादि में कहीं कहीं नारायणादि रूप से हिरण्यगर्भ का भी संकेत मिल जाता है। परन्तु वेद सिद्धान्त से अतिरिक्त रुद्र तत्त्व अर्थात् ईश्वर तत्त्व का वर्णन और कहीं नहीं मिलता।

८. ज्ञान-क्रिया-शक्ति रूप चैतन्य से अधिष्ठित सूक्ष्मतम कार्य-कारण भाव के प्रारम्भ का आदि कार्य हिरण्यगर्भ कहा जाता है। यही शिव-शक्ति-सामरस्य का प्रथम आन्दोलन है जिसमें शिव बीज शक्ति में स्थापित होता है। बीज और गर्भ प्रायः एकार्थक शब्द हैं। जो हितकारी हो और रमणीय हो उसको हिरण्य कहते हैं। अत्युज्ज्वल होने से रमणीय एवं अविद्या नाशक होने से हितकारी आत्मज्ञान ही गर्भ अर्थात् अन्तस्सार है जिसका, उसे हिरण्यगर्भ कहेंगे। उज्ज्वल यहां आनन्द से सम्बन्धित है। अथवा विराट् पुरुष ब्रह्माण्ड शरीर वाला होने से हिरण्य है। ब्रह्माण्ड का प्रत्येक पदार्थ किसी न किसी के लिये हितकारी और रमणीय अवश्य है। यह विराट् पुरुष जिसके गर्भ में है वह हिरण्यगर्भ कहा जा सकता है। यही अपञ्चीकृत पञ्च महाभूतों की आरम्भावस्था है। सांख्य और पौराणिक दृष्टि से तो करण-समष्टि के अभिमानी को ही हिरण्यगर्भ कहते हैं। महत् तत्त्व में प्रतिफलित चैतन्य से उनका तात्पर्य होता है। क्यों कि वे प्रकृति के अधिष्ठाता विराट् को ही ईश्वर मानते हैं और प्रकृति से ऊर्ध्व तत्त्वों के विषय में उनका प्रवेश नहीं है।

९. यहां भी आविद्यिक उत्पत्ति ही समझनी चाहिये।

१०. हिरण्यगर्भ रूपी ब्रह्मज्ञान की उत्पत्ति का हेतु होने से वह अतिशय आनन्द विग्रह परमेश्वर ही मुमुक्षुओं के द्वारा ध्येय, उपास्य एवं योग, क्षेम, मोक्ष, ज्ञान आदि समग्र पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिये प्रार्थितव्य है।

११. समग्र शुभों का जो निधान वही आत्मा एक मात्र शुभ वस्तु है। उसकी प्राप्ति से समग्र अशुभों का मूल कारण अविद्या सर्वथा निवृत्त हो जाती है।

१२. ब्रह्म को विषय करने वाली बुद्धि ही वास्तविक बुद्धि है। क्यों कि बुद्धि का धर्म है निश्चय करना। निश्चय वह है जो कभी न बदले। ब्रह्म ज्ञान से अतिरिक्त सभी ज्ञानों का बाध हो जाने से वे वस्तुतः अनिश्चय स्वरूप ही हैं। उन्हें बुद्धि मानना एक भ्रम ही है। अतः यहां उस अपवर्ग की हेतु भूत बुद्धि की ही प्रार्थना है।

१३. बहुवचन के प्रयोग से सब जीवों में अपनत्व की दृष्टि का द्योतन है। अथवा शम, श्रद्धा सम्पन्न योग्य अधिकारी श्री परमहंसों का निर्देश है।

१४ हमें उस रुद्र की कृपा से परम पद की प्राप्ति हो। यह प्रार्थना हम पुत्र उस रुद्र को पिता मानकर करते हैं। रुद्र ही संयोग बना कर हमें अपने से संयुक्त कर सकता है, हमारी अपनी सामर्थ्य से यह बाहर है। इससे साधक को अहन्ता के त्याग का उपाय बताया। **यमेवैष वृणुते** इत्यादि श्रुतियां इसमें प्रमाण हैं।

५

इस प्रकार सर्व स्रष्टा रुद्र का प्रतिपादन करके प्रत्यगात्मा रूप से निर्मलात्म भाव का स्वरसता से आविर्भाव होने के लिये मुमुक्षुओं को प्रार्थना करने के मंत्र-द्वय बताते हैं :—

या ते रुद्र शिवा तनूः अघोरा अपापकाशिनी।
तया नः तनुवा शन्तमया गिरिशन्त अभि चाकशीः॥

रुद्र = हे रुद्र !
या = जो[1]
ते = आपका[2]
शिवा = शिवा से युक्त[3]
अघोरा = प्रसन्न[4]
अपापकाशिनी = पापों का नाशक[5]
तनूः = शरीर का रूप (है),
तया = उस
शन्तमया = अत्यधिक कल्याण कारी[6]
तनुवा = शरीर के रूप से[7]
गिरिशन्त = हे गिरि में रहकर कल्याण करने वाले[8]!
नः = हम लोगों को[9]
अभि = प्रत्यगात्मा रूप से
चाकशीः = प्रकाशित हो जावें[10] (दर्शन दे देवें)।

१. श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणों में प्रसिद्ध सकल निष्कल सब प्रकार के शरीर यद्यपि रुद्र के हैं तथापि यहां सर्व संसार ताप का उपशमन करने वाले निष्कल शरीर को ही लेना चाहिये क्यों कि पूर्व मन्त्रों में ज्ञान का ही प्रतिपादन किया गया है। रुद्र सम्बोधन से भी इसी को ध्वनि है कि निष्कल तनु में रुद्र शब्द स्वयं ही प्रमाण है। यत् पद से वैदिक प्रसिद्धि का द्योतन है, **या ते तनुवौ घोरान्या शिवान्या** कि रुद्र के घोर और शिव दो रूप हैं। पुराणादि में यद्यपि शिवा तनु के लिये अधिकतर शिव शब्द का ही प्रयोग है तथापि वैदिक वाङ्मय में उसको रुद्र का तनु ही कहा गया है।

२. युष्मत् अर्थात् मध्यम पुरुष का प्रयोग करके श्रुति निर्देश करती है कि परमात्मा से अतिघनिष्ठ सम्बन्ध रखना चाहिये। वस्तुतस्तु यह सारा विश्व ही रुद्र का अविद्या सम्पन्न होने से घोर रूप है। अतः हमें जो कुछ भी अनुभव में आता है वह सब अति सन्निकट रूप से रुद्र का ही दर्शन-स्पर्शन आदि है। इसको पहचानना ही ते के प्रयोग का वास्तविक तात्पर्य है।

३. शिव की शक्ति को शिवा कहते हैं। वैसे तनु पद स्त्रीलिंग है। अतः कल्याणकारी तनु अथवा अकल्याणकारी तनु दोनों ही शक्ति विशिष्ट ही हो सकते हैं। आगमों में काली को घोरा तनु एवं शिवा को अघोरा तनु माना गया है। अतः यहां प्रार्थना की जा रही है आपका जो कल्याणकारी शुद्ध जड़ और मल से रहित अतिशय आनन्द प्रद अविद्या और उसके कार्य से रहित सत् चित् अनन्त आनन्दाद्वय रूप है वह प्रकट हो।

शिवा शब्द कान्ति या तेज को बतलाता है। अतः शिव-शक्ति-सामरस्य वाला रूप न केवल परम मंगलमय है अपितु पूर्ण सौन्दर्य-तेजोमय एवं हृदय को चन्द्र की तरह अत्यधिक आकृष्ट करके चन्द्र

त्रिम्ब की तरह आह्लादकारी भी है। इसीलिये शिवा को **शिव-स्यापि शिवं** कहा गया है।

४. अविद्या तत् कार्य रूप जीव-दृष्ट भयंकर रुद्र रूप को घोरा कहते हैं। यद्यपि शिवा शब्द से ही इस भयंकर रूप की व्यावृत्ति होकर प्रसन्न रूप का प्रतिपादन हो गया तथापि घोर रूप से अत्य-धिक तप्त होने के कारण संसारताप के उपशमन रूप से उसका स्मरण फिर भी बना रह जाता है। जिस प्रकार बाहर की गर्मी से शीत-शाला (air conditiond room) में प्रवेश करने पर ये शाला तो बड़ी ठंडी है कहने के साथ ही आदमी पूर्वानुभव का स्मरण करके कहता है बाहर तो आज झुलस गये।

५. अपनी अभिव्यक्ति मात्र से सारे पापों को जला देने वाली होने से ब्रह्मानुभूति पापनाशक कही जाती है। अथवा अपाप अर्थात् पापरहित व्यक्तियों को ही काशिनी अर्थात् प्रकाशिनी ब्रह्म का प्रकाश करती है, इस लिये भी इसको अपापकाशिनी कहा जाता है। अपाप का अर्थ पुण्य लेकर पुण्यात्माओं को काशित अर्थात् प्रकाशित होती है। अथवा अपनी अभिव्यक्ति से सारे पुण्यों का फल दे देती है। अथवा पापों का अर्थात् अधर्मों का प्रकाशन करने वाली अविद्या पापकाशिका अर्थात् पाप प्रकाशिका है। इससे विप-रीत विद्या कभी भी पाप का प्रकाशन नहीं करती अतः अपाप-काशिका है। तात्पर्य है कि स्मरण मात्र से यह दिव्य देह पाप समूहों का नाश एवं पुण्यों को प्रकट कर देती है। विवेकियों की दृष्टि में तो धर्म भी अनित्य, जड़, सद्वितीय, परिच्छिन्न आदि फलों को उत्पन्न करने के कारण पाप ही है। अतः पाप पुण्य दोनों का विध्वंस करने वाली परम मंगलमयी यह मूर्ति है। **आत्मा अपहत-पाप्मा** इत्यादि यजुर्वेद इसमें प्रमाण हैं।

६. शं अर्थात् कल्याण, शन्तम अर्थात् कल्याणतम। अद्वितीय आनन्द ही निरवधिक कल्याण है। **अस्यैव आनन्दस्य मात्रामुप-जीवन्ति** इत्यादि यजुर्वेद इसमें प्रमाण हैं। अन्यत्र इसीलिये शिव-तमाय कहा गया है। यहां तमप् प्रत्यय दूसरों की अपेक्षा श्रेष्ठता में नहीं वरन् उन सब में भी उसके अंश की विद्यमानता से ही कल्याण कारिता है अतः पूर्णानन्द का प्रतिपादक है।

७. तन्वा के लिये तनुवा वैदिक है। तनु का अर्थ छोटा भी होता है। अतः व्यापक चीज को एक जगह देखना उसका तनूकरण है। सामान्यतः सब अन्तः करणों का नियामक और विषय होने पर भी एक अन्तःकरण में प्रतीत हो जाना हो उसका विलक्षण तनु भाव है। सर्वव्यापक परमात्मा का हमें दर्शन हो जाय यही उसका मूर्ति ग्रहण है। यह उसकी अहैतुकी कृपा ही है कि वह अपने को इस प्रकार मूर्त बनाकर दर्शन दे देता है।

८. प्रसिद्ध है कि शंकर कैलास के गिरिशिखर में रहते हैं एवं वहां सब से दूर रहते हुए भी सबका कल्याण करते रहते हैं। मानव देह में सहस्रार भी गिरिशिखर है जहां से सोमरस का स्राव करके वह प्राणियों का कल्याण करता है। गिरि शब्दे धातु से निष्पन्न गिरि शब्द का अर्थ वेदान्त रूपी शब्द भी होता है। **वेदान्ते च प्रतिष्ठितः** आदि यजुर्वेद इसमें प्रमाण हैं। वेदान्त में सभी प्राणियों का कल्याण करते हुए वेदान्तों के द्वारा ही प्राप्त होने के कारण रुद्र को गिरिशन्त कहा गया। भगवान् बादरायण ने ब्रह्म सूत्र में भी वेद को ही ब्रह्म की उपलब्धि का स्थान बतलाया है **शास्त्रयोनित्वात्**। ब्रह्मा, इन्द्र, आदि सभी देवताओं को सुख देने वाला होने से भी उसे गिरिशन्त कहा गया है।

शं में त प्रत्यय मतुप् अर्थ में हो सकता है। जो गिरि के समान विशाल सुख वाला हो ऐसे रुद्र को यहां गिरिशन्त कहा गया है।

गिरि प्रिय संन्यासी भी गिरि कहे जाते हैं। अतः गिरियों को जो शं माने सुख, तनोति माने बढ़ाता है ऐसा परम हंसों से प्रेम करने वाला रुद्र गिरिशन्त कहा गया है।

६. साधन चतुष्टय सम्पन्न श्री परमहंस यहां इष्ट हैं।

१०. आपका निष्कल रूप हमें दीप्त होकर सब तरफ सब समय अनुभव में आता रहे। अथवा आप हमें अच्छी तरह से देखें क्यों कि आपके देखने से ही हमारा कल्याण निश्चित हो जाता है। परमात्मा के दृष्टिपात होते ही जीव मोक्ष में नियुक्त हो जाता है।

६

याम् इषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्षि अस्तवे।
शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिंसीः पुरुषं जगत् ॥

गिरिशन्त = हे महादेव !	**शिवां** = कल्याण कारी[४]
यां = जिस	**कुरु** = करें[५]।
इषुं = बाण को[१]	**गिरित्र** = हे गिरिवासी[६] !
अस्तवे = छोड़ने के लिये[२]	**पुरुष** = पुरुषों को[७] (व)
हस्ते = हाथ में[३]	**जगत्** = प्राणियों को[८]
बिभर्षि = धारण कर रहे हैं,	**मा** = मत
तां = उस (बाण) को	**हिंसीः** = मारें।

१. विश्व के सभी पदार्थ और भाव रुद्र के बाण हैं। इसीलिये यजुर्वेद में **वर्षमिषवः वात इषवः अन्नमिषवः** इत्यादि कह कर वर्षा, हवा, अन्न आदि सभी को रुद्र के बाण ही बताया है। इन बाणों से हम रुद्र के स्वरूप को नहीं देख पाते इसीलिये रुद्र के बाण संहारक कहे जाते हैं। जब वह इन बाणों को कल्याणकारी कर देता है तब यही पदार्थ रुद्र के स्मारक होकर हमारा कल्याण करते हैं जिसकी यहां प्रार्थना की गई है।

२. कामना वाले प्राणियों को ये बाण ही प्रिय हैं। इसलिये उनके प्रति इन बाणों का छोड़ना भी उसकी कृपा ही है। अथवा **अस्तवे** अर्थात् जो अस्त होने वाले हैं अर्थात् उपसंहार के योग्य हैं, तब तात्पर्य होगा कि पापियों को दण्ड देने के लिये वे बाण छोड़ते हैं।

३. प्रारब्ध भोगानुसार निरन्तर कोई न कोई बाण उनके हाथ में ही रहता है। अथवा जो सञ्चित कर्म अभी तूणीर में हैं एवं हाथ में हैं वह तो रुद्र की प्रार्थना से निवृत्त हो सकते हैं, अतः उनके निवृत्त करने के लिये ही प्रार्थना की जा रही है। जो प्रारब्ध उनके हाथ से छोड़ा जा चुका है उसका तो भोग से ही क्षय होगा। इस अर्थ में आगे आने वाले शिवा का अर्थ उपशम कर लेना चाहिये।

४. जिस प्रकार रुद्र का तनु शिवा है उसी तरह उसका बाण भी शिवा हो जाय। अर्थात् सर्वत्र सभी अनुभवों में द्रष्टा और दृश्य का भेद मिट जाय एवं शिव-शक्ति-सामरस्य प्रतिक्षण प्रस्फुटित होता ही रहे।

५. रुद्र ही कृपा करके इस शिवा भाव को स्फुट करने में समर्थ हैं अतः आप अपने सगुण साकार रूप को प्रकट करें या दिखावें इसकी ही प्रार्थना है। एवं अधिकार प्राप्त होने पर निर्गुण निराकार रूप भी प्रकट करें।

६. पर्वत में उनका निवास स्थान होने से उन्हें गिरित्र कहा गया। अथवा गिरि में रहकर सब का त्राण करता है अतः वह गिरित्र है। हमारे समग्र अविद्यादि दोषों को नष्ट करके हमारी रक्षा करे, यह भाव है। चूंकि वे सर्व संहार में समर्थ हैं अतः वह यह करने में समर्थ हैं यह प्रसिद्ध ही है। गिरि का अर्थ समूह भी होता है। यह शरीर अस्थि-पञ्जर का समूह ही है। भाव है कि हम सर्वथा हड्डी मांस के पुतले केवल आपकी भक्ति के सहारे आपसे रक्षा की प्रार्थना करते हैं। अथवा **गिरिं**, गिरि को **त्रायते** रक्षित करते हैं इसलिये

विरित्र हैं। गिरि का ग्रहण सभी संन्यासियों की उपलक्षणा के लिये हैं।

७. आत्मज्ञान के साधकों को ही यहां पुरुष कहा गया है। अतः पूर्णत्वात् पुरुषः पूर्ण की अभिलाषा करने वालों की उस अभिलाषा को मत मार। तात्पर्य है कि जब तक सम्यक् ज्ञान होकर निर्मल आनन्द का आविर्भाव न हो जाय तब तक सम्यक् ज्ञान के योग्य कार्य-करण संघात, वेदान्त शास्त्र, आचार्य आदि सभी बने रहें।

८. स्थावर जंगमादि रूप जो परिच्छिन्न सुख में ही अपने को कृतार्थ मानते हैं उनपर भी दया कर। शनैः शनैः वे भी आत्म-ज्ञान के अधिकारी बनें और तब तक संशयादि के द्वारा वे इहलोक और परलोक दोनों से भ्रष्ट होकर नास्तिक भाव को प्राप्त न करें इसलिये उन्हें परिच्छिन्न सुख भी प्रदान करते रहें।

७

ईश्वर के स्वरूप का निर्णय करके एवं उससे कल्याण की प्रार्थना के बाद अब उसके निर्गुण स्वरूप का वर्णन और ज्ञान का फल बताते हैं :—

ततः परं ब्रह्मपरं बृहन्तं यथा निकायं सर्वभूतेषु गूढम्।
विश्वस्य एकं परिवेष्टितारम् ईशं तं ज्ञात्वा अमृताः भवन्ति॥

ततः = उसके
परं = बाद[१]
तं = उस
ब्रह्मपरं = परब्रह्म[२]
बृहन्तं = बड़े से बड़े,[३]
यथानिकायं = प्रति शरीर वाले,[४]
सर्वभूतेषु = सारे प्राणियों में
गूढं = छिप कर विद्यमान,[५]
(फिर भी)
विश्वस्य = समग्र विश्व के
एकं = एक ही
परिवेष्टितारं = लपेटनेवाले[६]
ईशं = ईश को,[७]
ज्ञात्वा = जान कर[८]
अमृताः = अमर
भवन्ति = हो जाते हैं।

१. योग एवं उपासना के सिद्ध होने के बाद, अथवा रुद्र को प्रसन्न करने के बाद। तात्पर्य है कि सगुण तत्त्व के साक्षात्कार हो जाने पर ही निर्गुण तत्त्व की प्राप्ति सम्भव है। यदि यहां ततः से हिरण्यगर्भ का ग्रहण किया जाय तो भी हिरण्यगर्भ की प्राप्ति के अनन्तर कहकर, हिरण्यगर्भ ही कारण रूप से अवस्थित होकर रुद्र कहे जाने की वजह से, हिरण्यगर्भ प्राप्ति के बाद ही उसकी प्राप्ति संभव है, यह ध्वनि होगी। जो जिसके परे होता है वह उसके बाद ही जाना जा सकता है। अतः हिरण्यगर्भ के ज्ञानानन्तर ही हिरण्यगर्भ से परे ब्रह्म को जाना जा सकता है।

२. निर्गुण, निष्कल, निर्मल, उत्कृष्ट, आनन्द ही परब्रह्म का वास्तविक स्वरूप है।

३. पुरुष सहित जगत् का परम-कारण होने से कार्यभूत प्रपञ्च का व्यापक ईश्वर सब बड़ों से बड़ा है, यह तो स्पष्ट ही है। परन्तु विराट् हिरण्यगर्भ आदि व्यापक तत्त्वों की अपेक्षा भी वह अत्यधिक व्यापक है, यह भाव है। देश-काल-वस्तु परिच्छेद-शून्यता बृंहण की पराकाष्ठा है।

४. वैसे तो कोश के अनुसार **निकायो नियमे लक्ष्ये संहतानाम् समुच्चये। एकार्थभाजि निलये निवहे परमात्मनि॥** इत्यादि से निकाय का साक्षात् अर्थ ही परमात्मा है। अतः **यथा निकाय** का अर्थ होगा जो कुछ भी, जहां भी, जिससे भी, जिस प्रकार भी, अनुभव में आता है वह सब निकाय अर्थात् परमात्मा ही है। अर्थात वे सब परमात्मा के रूप ही हैं। यत् में थसिल् प्रत्यय प्रकार अर्थ में करके ही यथा शब्द बनता है। अथवा यथा अर्थात् यथार्थ रूप निकाय अर्थात् परमात्मा। तात्पर्य हुआ यथार्थ रूप परमात्मा को जानकर अमर होते हैं। सारा जगत् यथार्थ रूप से परमात्मा ही है यह वेदान्तों का उद्-घोष है। निकाय शब्द के बाकी अर्थ भी परमात्मा का ही सारे

जगत् का यथार्थ रूप से नियामक होने से, लक्ष्य होने से, वासस्थान होने से, निभ जाते हैं।

५. प्रत्येक शरीर में कूटस्थ रूप से परमात्मा ही विद्यमान है। पूर्व विशेषण में कार्य-करण संघात का ईश्वर से अभेद बतलाया तो यहां कार्य-करण संघात लक्षण वाले जीव से अभेद बता रहे हैं। वह नित्य अद्वितीय निर्विशेष रहते हुए भी देह-रूप एवं देह रूप वाले रूप से अवगत होता है। जिस प्रकार त्रिकोण पञ्चकोण इत्यादि लकड़ियों में अग्नि भी त्रिकोण पञ्चकोणादि आकार वाली ही प्रतीत होती है उसी प्रकार विष्णु इन्द्र आदि देवताओं में, आकाशादि महाभूतों में, एवं नारी नरादि विकारों में छिपा हुआ वह उन उन आकारों का प्रतीत होता रहता है। अथवा जिस प्रकार मशाल को घुमाने से ऋजु-वक्रादिभाव प्रतीत होते हैं, जो यद्यपि मशाल से ही निकल कर उसमें लीन होते हैं ऐसा कहा जाता है, तथापि न वे निकलते हैं न लीन होते हैं, एवं न वस्तुतः मशाल ही उन आकारों को ग्रहण करती है। यही गूढ़ रहस्य होने से यहां गूढ़ शब्द का प्रयोग है।

अथवा गुहायां अर्थात् सब प्राणियों की हृदय-गुहा में रहने के कारण ही वह गूढ़ है। जीव अन्य सब चीजों को देखने पर भी अपनी ही हृदय-गुहा में देखने में असमर्थ है, इस कारण परमात्मा छिपा रह जाता है।

६. सारे प्राणियों में स्थित कहने पर मच्छर, कूटपाद (Amoeba) आदि सूक्ष्म शरीरों में रहने के कारण उसे अणु परिमाणी न समझ लिया जाय इसलिये उसकी व्यापकता का निर्देश है। अतः उसका रहना वैसे ही है जैसे घड़े में मिट्टी का रहना, न कि घड़े में जैसे जल का रहना। घड़े के कण कण में मिट्टी रहने पर भी मिट्टी घड़े की अपेक्षा व्यापक बनी रहती है। उसी प्रकार सब भूतों में रहने पर भी ईश्वर व्यापक बना रहता है। कारण सूक्ष्म और व्यापक

दोनों हुआ करता है। वेष्टन का अर्थ उपसंहार भी हो सकता है। सबको अपने आपमें चारों तरफ से घुसा लेने वाला होने से संहारक प्रक्रिया का अधिष्ठाता रुद्र **परिवेष्टितारं** कहा गया। अथवा जैसे किला राज्य का परिवेष्टन करके उसका रक्षक बनता है, उसी प्रकार भक्तों का दुर्ग की भांति काम क्रोधादि शत्रुओं से रुद्र रक्षक है। तात्पर्य है कि जब अन्तःकरण महेश्वर की भक्ति में लगा दिया जाता है तो प्रेमाकार वृत्ति विशिष्ट चैतन्य अन्य विकारों के प्रवेश को रोक कर साधक का रक्षण करता है। वस्तुतस्तु जैसे मायावी अपने बनाये हुए हाथी, राजा, दरबारी आदियों को परिवेष्टन करके स्थित होता है अथवा जिस प्रकार मिरगी के जल का परिवेष्टन करके रेगिस्तान या ऊषर रहता है वैसे ही विश्व का परिवेष्टन करके अन्दर बाहर सर्वत्र एक मात्र रुद्र ही रहता है। इसीलिये वह एक अद्वितीय कहा गया है। यहां उससे भिन्न सारी सत्ताओं का निराकरण करने से तात्पर्य है। सबको अपने अन्दर करके स्वसत्ता से सबको व्याप्त करके उसकी अवस्थिति है।

७. इस कारण से ही यह कार्य उत्पन्न होगा, इस पदार्थ का ही यह स्वभाव होगा, इस देश अथवा काल में ही इसकी स्थिति होगी, इन इन विषयों में जीव की स्वतंत्रता होगी, इन इन साधनों से ही ज्ञान होगा, आदि आदि सभी मर्यादा और धर्मों का निर्माण करने वाला होने से वह सबका नियामक ईश कहा जाता है। यद्यपि दूसरे नियामक भी ईश कहे गये हैं लेकिन वे सातिशय ईश हैं क्योंकि रुद्र के नियमों के परतंत्र रहकर ही वे ईश हैं। रुद्र स्वतंत्र है। अतः वही निरतिशय ईश है।

८. प्रत्यक् रूप से उपर्युक्त विशेषणों वाले ईश्वर का अपरोक्ष करके नित्यसिद्ध ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाते हैं। वस्तुतः तो जीव सर्वदा ही रुद्र है परन्तु, व्यवधायक अविद्या के कारण अपने को

भिन्न समझता है। इस अविद्या के नष्ट हो जाने पर मैं ही रुद्र हूं ऐसा अनुभव करके आनन्दात्मस्वरूप विज्ञान से अपनी मरणशून्यता को जान लेता है, इतने मात्र से 'अमर होता है' ऐसा औपचारिक प्रयोग बन जाता है।

८

किसी को यह अनुभव होता ही नहीं होगा, ऐसी आशंका को हटाने के लिये एवं जीव शिव की एकता को दृढ़ करने के लिये श्वेताश्वतर महर्षि अपना अनुभव कहते हैं :—

वेद अहं एतं पुरुषं महान्तम् आदित्यवर्णम् तमसः परस्तात्। तम् एव विदित्वा अतिमृत्युम् एति न अन्यः पन्था विद्यते अयनाय ॥

अह = मैं[1]
एतं = इस उपर्युक्त[2]
महान्तं = ब्रह्म रूप[3]
आदित्यवर्णं = आदित्य के रंग वाले[4]
तमसः = अज्ञान से
परस्तात् = परे[5]
पुरुषं = पुरुष को[6]
वेद = जानता हूँ[7]।
तं = उसको[8]
एव = ही
विदित्वा = जानकर
मृत्यु = मृत्यु को[9]
अति = पार
एति = करता है[10]।
अयनाय = (मोक्ष) गमन के लिये[11]
अन्यः = दूसरा
पन्था = रास्ता[12]
विद्यते = मौजूद
न = नहीं है।

१. यह मन्त्र ऋग्वेद में नारायण महर्षि द्वारा भी कहा गया है। एवं सामवेद और अथर्ववेद में भी मिलता है। अतः अनेक ऋषियों द्वारा अपने अनुभवों का वर्णन ज्ञान गम्यता को सुस्पष्ट करता है। अनुभव वाक्यों से सामान्य पुरुषों को भी प्रवृत्ति हो जाती है।

वस्तुतस्तु नित्य वेद में ये वाक्य आचार्य को अनुभव प्रकट करने का प्रकार बतलाने के लिये हैं कि आगम से प्रतिपादन करने के बाद अनुभव का पुट देने से साधकों का उत्साह वर्धन होता है। यह सदा याद रखना चाहिये कि अनुभव प्रमाण नहीं होता, परन्तु प्रमाण सिद्ध प्रमेय का उपोद्बलक और निश्चायक अवश्य होता है।

२. जिस रुद्र ब्रह्म का प्रकरण चला हुआ है उसी का परामर्श करना इष्ट है। एतत् के द्वारा प्रत्यक्ष निर्देश करके आत्मतत्त्व को हस्तामलकवत् बताया। तात्पर्य है कि ऋषि ने केवल शास्त्र या गुरुओं के वाक्य से नहीं जाना वरन् साक्षात् अनुभव करके जाना।

३. सर्व रूप होने से सबसे अधिक व्यापक होकर ब्रह्म कहा जाता है। अपने गुण, कर्म, ऐश्वर्य आदि से भी व्यवहार दृष्टि से वह सबसे महान् है ही।

४. सूर्य को आदित्य कहते हैं। सूर्य स्वयं प्रकाश है। इसी प्रकार आत्मा भी स्वयं प्रकाश है। सूर्य के प्रकाश के सामने अन्य सब प्रकाश लुप्त हो जाते हैं। इसी प्रकार आत्म प्रकाश के सामने अन्य प्रकाश लुप्त हो जाते हैं। आत्मज्ञान के सामने अनात्मज्ञान अति तुच्छ होने से नहीं की तरह हो जाते हैं। इन समानताओं के कारण ही चिन्मात्र को आदित्य के वर्ण वाला अर्थात् आदित्य की तरह बताया गया। इन्हीं समानताओं से रुद्र की आदित्य रूप से उपासनाओं का विधान किया गया है। इसलिये भी आदित्य के उपास्य रूप से वरण करने से जिसकी प्राप्ति होती है वह रुद्र भी आदित्य-वर्ण ही है। वस्तुतस्तु दिति अर्थात् खण्ड, एवं अदिति अर्थात् अखंड। जब जब मन की वृत्ति के द्वारा द्रष्टा और दृश्य एक अर्थात् अखण्ड याने अदिति हो जाते हैं तब तब जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह आदित्य है। परन्तु इन ज्ञानों के पूर्वापर एवं ज्ञान के भीतर भी द्रष्टा और दृश्य का किञ्चित् भेद अनुवृत्त रह ही जाता है। स्वयं द्रष्टा

में भी श्रोता, स्पृष्टा, विज्ञाता आदि भेद ही नहीं नरत्व भारतीयत्व आदि भेदों का भी अनुवर्तन बना ही रहता है। दृश्य में भी रूप, रस, गन्ध, घट, हाथी आदि भेद बने ही रहते हैं। ब्रह्म ज्ञान में ही आत्मा और ब्रह्म की वास्तविक एकता होने से प्रथम प्रकार का भेद नहीं है, एवं शोधित होने से आत्मा या ब्रह्म में भी दूसरे प्रकार के भेद नहीं हैं। अतः वास्तविक अद्वितीयता होने से वह ज्ञान ही आदित्य है। उस आदित्य के वरण करने से ही उसकी प्राप्ति संभव हो जाती है। इस प्रकार पूर्ण प्रेम की कारणता प्रतिपादन करने के लिये वर्ण शब्द है। पूर्ण प्रेम से पूर्णानन्द का भी प्रतिपादन हो जाता है। प्रेम ही आनन्द का साधक है। अथवा ब्रह्म ज्ञान की तरह विशिष्ट ज्ञान को भी उसी के रंग का मान कर ध्यानादि में अखण्डता लाने से उसकी प्राप्ति होती है। इसीलिये वह आदित्य वर्ण है।

५. यहां परत्व अविद्या से अतिरिक्त अर्थ में नहीं लेना चाहिये क्यों कि यह अज्ञान ब्रह्म में ही आश्रित होने के कारण उससे भिन्न नहीं है। फिर भी स्वयं प्रकाश ज्ञान रूप होने से अज्ञान से इसकी वास्तव मुख्य एकता रूपी तादात्म्य संबन्ध की असंभवता होने से उससे परे कहा गया। अथवा तम रूपी अज्ञान के नष्ट होने पर ही उसके प्रकाश का अनुभव होने से उसे तम के परे बताया।

६. पूर्ण होने से अथवा पुरु अर्थात् बहुत रूपों में शयन करने से उसे पुरुष कहा गया है। एक ईश्वर ही सर्व रूपों में विद्यमान है यह भाव है।

कुछ लोग तो **पुरि शयनात्** के द्वारा इस देह में रहने वाले जीव तत्त्व को **एवं** अनुभव सिद्ध होने से जीव को ही उद्देश्य करके **महान्तम्** आदि के द्वारा ईश्वरत्व का विधान मानते हैं। इस प्रकार मानने पर भी पूर्व दल से त्वं पदार्थ एवं अपर दल से तत् पदार्थ की एकता करके इस वाक्य की महावाक्यता सिद्ध हो जायेगी।

७. साक्षात् अपरोक्षानुभव से तात्पर्य है। असंभावना विपरीत भावना को मनन निदिध्यासन से दूर करके श्रवण द्वारा दृढ़ अप्रतिबद्ध आत्म-ज्ञान प्राप्त कर चुका हूँ यह भाव है। कर्तृ-कर्मादि विरोध तो तुच्छ हैं। यहां अनुभव वाक्य समाप्त हो गया। इसके आगे श्रुति स्वयं ही विधि कर रही है।

८. अत्यन्त कठिन आत्मज्ञान के लिये दुष्कर प्रयत्न क्यों किया जाय जब कि सुख प्राप्ति और दुःख परिहार के लिये हजारों लौकिक और शास्त्रीय उपाय उपलब्ध हैं, ऐसी शंका को समूल उखाड़कर श्रुति कहती है कि केवल आत्मा को जान करके ही संसार-दुःख-महोदधि को पार किया जा सकता है। परमात्मा को आत्मा से अन्य रूप से जानने से कभी भी दुःख नहीं हट सकता। कृतकृत्यता की प्राप्ति रुद्र को आत्मा जानने से ही संभव है। रुद्र का यह रूप प्रकृति और प्राकृत सब भावों से अनास्कन्दित ही है। इसके अतिरिक्त और कोई सम्यक् ज्ञान के योग्य दूसरा तत्त्व नहीं है। तात्पर्य है कि न ब्रह्म में अन्य दृष्टि और न ब्रह्म से अन्य दृष्टि रह जाने पर ही साधना की पूर्णता है।

९. अज्ञान ही मृत्यु है। इसके आवरण शक्ति और विक्षेप शक्ति के द्वारा दुःख वृक्ष बीज का प्रारम्भ होकर मरणादि प्रबन्ध मिलते हैं। अतः जब तक मूलाज्ञान नष्ट नहीं हो जाता तब तक दुःख निवृत्ति सर्वथा असंभव है। लौकिक और शास्त्रीय उपाय दुःख निवृत्त करने में वैसे ही असमर्थ हैं जैसे प्रतिदिन सिञ्चित होने वाली भूमि में स्थित तृण समुदाय के ऊपर से पत्तों को काटने पर तृणनाश की संभावना।

१०. परम पुरुषार्थ रूप को आत्म रूप से जान जाता है। सारे लयों का अर्थात् कारण भाव में लीन होने का अन्तिम स्थान अज्ञान रूप मृत्यु ही है। सम्यक् ज्ञान के फलक (धार) पर चढ़ा हुआ वह

मृत्यु स्वरूप से जल जाता है। यही मृत्यु को अतीत कर जाना है। प्ति में जाता है और जानता है दोनों ही भाव निहित हैं।

११. एक स्थिति से दूसरी स्थिति में जाना अयन का मुख्य अर्थ है, जैसे दक्षिणायन, उत्तरायण आदि। इसी प्रकार ब्रह्म का अज्ञान में अयन और ज्ञान में अयन मानकर बन्धन और मोक्ष की व्यवस्था होने से यहां उसी शब्द का प्रयोग किया गया। चूंकि अज्ञान से ही बन्धन सर्व शास्त्रविदों ने माना है, अतः ज्ञान से अतिरिक्त और कोई मोक्ष का अयन नहीं हो सकता। योगी भी आत्मा के स्वरूप अज्ञान से ही प्रकृति में बन्धन मानते हैं एवं वैष्णवादि द्वैती भी भगवान् से अपने सम्बन्ध के अज्ञान को ही बन्धन का कारण स्वीकारते हैं। बौद्ध भी आत्मा की शून्य या क्षणिकरूपता के अज्ञान से, एवं ईसाई-मुसलमान भी गॉड या अल्लाह के नियमों के अज्ञान से या ईसा मुहम्मद के एक मात्र पुत्र या पैगम्बर होने के अज्ञान से बन्धन मानते हैं। आज का साम्यवाद भी ऐतिहासिक द्वन्द्ववाद के ऐतिहासिक निश्चिति के अज्ञान से ही बन्धन स्वीकारता है। इस प्रकार संसार के सभी वादी एक मत से जब अज्ञान को ही कारण मानते हैं तो उसकी निवृत्ति के लिये ज्ञान से अतिरिक्त साधनों को मानना उपहासास्पद ही सिद्ध होता है। भोजन बनाने या पैसा कमाने के तरीकों की अज्ञान निवृत्ति के लिये जब कोई पूजा, पाठ, तीर्थ, भक्ति, योग, ध्यान, तप आदि साधनों को नहीं मानता, तब केवल इस अज्ञान की निवृत्ति के लिये इस प्रकार के साधनों को स्वीकारना सर्व-प्रमाण विरुद्ध है यह तो स्पष्ट ही है। अयन पद से श्रुति ने यही निर्देश दिया है कि बाकी सभी साधन अज्ञान के अन्दर ही रखते हैं, अज्ञान से दूर नहीं करते।

१२. ब्रह्मात्म-ज्ञान से ही कैवल्य संभव है न कि उपासना, योग, कर्मादि साधनान्तरों से और न ज्ञान के साथ इन साधनों का समुच्चय करने से ही। श्रुति, स्मृति, पुराण, न्याय, आगम आदि में बताये हुए तीर्थ स्नान, महादान, निर्विकल्प समाधि, भक्ति आदि सभी का यहां

संग्रह है। इनकी परम्परा से कारणता का निषेध करना इष्ट नहीं है। वरन् साक्षात् कारणता का ही निषेध है।

किञ्च यद्यपि कई वादी ज्ञान से मोक्ष को मानते हैं तथापि किसके ज्ञान से मोक्ष होगा इस विषय में उनमें भी मत भेद है। अतः यहां **अन्यः पन्था** का तात्पर्य जिस ज्ञान में किसी भी प्रकार की अन्यता न रह जाय उसका निर्देश है। इस शंका का भी निषेध यहां इष्ट है कि ज्ञातव्य पदार्थों में ब्रह्म ही ज्ञेय रूप मानने पर भी मोक्ष के उपायान्तरों को मानने में क्या निषेध हो सकता है। तात्पर्य है कि जीव, ईश्वर, जगत् आदि सर्व भेद निवृत्ति रूप जो ब्रह्म-ज्ञान उससे भिन्न कोई मार्ग निरतिशय सुख-प्राप्ति रूप निःशेष अनर्थ निवृत्ति का नहीं है। संसार समुद्र से पार जाने के लिये अविद्या निवृत्ति से भिन्न उपायों का सहारा लेना वैसे ही है जैसे आकाश में उड़ने लिये पेड़ से लिपटना।

९

जिस ब्रह्म के ज्ञान से मुक्ति होती है उसी ब्रह्म का प्रतिपादन अब अध्याय की परिसमाप्ति तक किया जायेगा :—

यस्मात् परं न अपरम् अस्ति किञ्चित् यस्मात् न अणीयः न ज्यायः अस्ति कश्चित्। वृक्षः इव स्तब्धः दिवि तिष्ठति एकः तेन इदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥

यस्मात् = जिससे[1]	**न** = नहीं है;
परं = परे (उत्कृष्ट)	**ज्यायः** = बड़ा[4]
किञ्चित् = कुछ भी	**कश्चित्**[5] = कोई[6]
अपरं = दूसरा[2]	**न** = नहीं
न = नहीं	**अस्ति** = है;
अस्ति = है;	**स्तब्धः** = स्तब्ध[7]
यस्मात् = जिससे	**वृक्षः** = वृक्ष[8]
अणीयः = छोटा[3]	**इव** = की तरह

दिवि=द्युलोक में[९]	पुरुषेण = पुरुष से
एक: = अकेला[१०]	इदं = यह (प्रतीयमान विश्व)[१२]
तिष्ठति=खड़ा है;[११]	सर्वं = सारा
तेन = उस	पूर्णम् = भरा हुआ है[१३] ।

१. जिस पुरुष का श्वेताश्वतर महर्षि ने अनुभव किया उस पुरुष का ही यहां निर्देश है। ब्रह्म और आत्मा की एकता के अज्ञान से ही क्रिया कारकादि रूप द्वैत प्रपञ्च का विलास होता है। अत: उसकी एकता के ज्ञान से ही उसका बाध होकर वह ज्ञान मोक्ष का साधन बन जाता है। इस प्रकार समस्त श्रतिशयों का अपास्त करना ही उसका रूप होने से उससे उत्कृष्ट और कुछ हो ही नहीं सकता यह स्पष्ट है।

२. वस्तुत: उससे अपर अर्थात् भिन्न कुछ है ही नहीं क्यों कि आत्मा से भिन्न सभी कुछ निरात्म अर्थात् असद् रूप है। उससे अन्य उसकी ही अविद्या से विस्तार प्राप्त करता है अतः वेदान्तों में जगत् का कारण अविद्या को माना जाता है। अथवा सत्ता चित्ता और आनन्द रूपता उसी की होने के कारण उससे अपर और कोई हो ही नहीं सकता। विवेकी तो नकार का देहली दीपक न्याय से पर और अपर उभय पदों में समावेश करके उस आत्मा से न कोई पर अर्थात् श्रेष्ठ है और न अपर=कनिष्ठ, ऐसा मानकर पर-अपर भावों से रहित निर्मल आत्मतत्त्व का ही दर्शन करते हैं।

३. अणु अर्थात् अल्प। अणीय अर्थात् अणुतर। जो जिससे अणु होता है वह उसमें प्रवेश कर सकता है। चूं कि विज्ञानघन आत्मा में अनात्मा का प्रवेश असम्भव है अत: आत्मा से अणुतर किसी को मानना समीचीन नहीं हो सकता। किञ्च अणु का अर्थ सूक्ष्म भी होता है। आत्मा सबका कारण होने से सूक्ष्मतम है एवं अनात्मा कार्य होने से जड़ और स्थूल है।

४. ज्याय: अर्थात् महत्तर। अथवा वृद्धतर। आयु की महत्ता को ही वृद्धता कहते हैं। चूं कि महाप्रलय काल में वही अकेला था अतः वह सबसे वृद्ध है इस में संशय ही नहीं। गुण ऐश्वर्यादि से भी उससे महत्तर और कोई नहीं है।

५. किञ्चित् इति पाठान्तरम्।

६. पूर्व में जड़ पदार्थों का संकेत था। इसमें चेतन पदार्थों का। अर्थात् विष्णु इन्द्र आदि कोई भी देवगण उससे श्रेष्ठ नहीं है। फिर दानवों की तो बात ही क्या?

७. जो पदार्थ बिना बाह्य कारण के निश्चल रहता है उसको स्तब्ध कहते हैं। अविद्या के बिना ब्रह्म में स्पन्दन की असंभवता होने से यहां उसे स्तब्ध कहा गया है। अथवा परमेश्वर के सगुण रुद्र रूप का आसन ऐसा दृढ़ होता है कि वे अतिदीर्घ कालतक सर्वथा निश्चल दीखते हैं। इसलिये उन्हें स्तब्ध कहा जा सकता है।

किसी अद्‌भुत घटना को देख सुनकर जो मन का निश्चल भवन है उसे भी स्तब्धभवन कहते हैं। ईश्वर ही जीव रूप से अपनी माया के विस्तार को देखकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है इसलिये भी उसको स्तब्ध की उपमा दी गई है।

जिस प्रकार वातरहित देश में वृक्ष अविकारी भाव से रहने के कारण ही स्तब्ध कहा जाता है उसी प्रकार सारे विकारों से रहित होने के कारण शिव को भी स्तब्ध कहा जायेगा। चूं कि शिव से भिन्न सभी कुछ उसके अधीन सत्ता स्फुरण वाला है अतः उसे कौन विकृत कर सकता है?

८. वृश्चि धातु से निष्पन्न वृक्ष शब्द का अर्थ होता है काटने योग्य। जिस प्रकार वृक्ष में डाल, फूल, पत्ते, फल, बीज आदि उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार अविद्या से अनन्त नाम रूपों की सृष्टि होती है। अविद्या से उत्पन्न होने के कारण विद्या से उसका बाध करके नाश होना ही

उद्देश्य होने के कारण उसको वृक्ष कहा गया। वृक्ष की तरह स्तब्ध से भाव है ब्रह्म नाम रूप की तरह प्रतीत होता है।

९. स्वर्ग को द्यु लोक कहते हैं क्यों कि देवता स्वयं प्रकाश होने से सूर्यादि परप्रकाश की अभिलाषा नहीं करते। अथवा स्वर्ग से उपलक्षित यहां सगुण ब्रह्म का लोक ले लेना चाहिये। जैसे उस लोक में निश्चल भाव से ब्रह्म ही आश्रय और विषय दोनों रूप से प्रतीत होता है वैसे ही यहां भी प्रतीत होता है। अथवा द्योतन स्वभाव वाले ज्ञान रूप ब्रह्म में पूर्णानन्द अभिव्यक्त होने के कारण ब्रह्म ज्ञान ही द्यु है। मैं ब्रह्म हूँ इस वृत्ति में प्रमेय रूप से क्रीड़ा करते हुए रहता है, यही उसका द्यु में रहना है। अथवा द्यु अर्थात् ज्ञान सबका प्रकाशक होने से द्यु ज्ञान है। स्वय प्रकाश रूपी अपनी महिमा में रहता है। इस ज्ञान महिमा को ही यहां द्यु में रहना कहा गया है। उपासक दृष्टि से तो प्रकाश स्वभाव वाले आदित्य मण्डल में उपास्य रूप से रुद्र रहता है इसलिये उसको द्युलोक में रहने वाला कह दिया।

१०. सर्व भेद शून्य अद्वितीय सर्वप्रधान रूप हुआ हुआ रहता है। जिस प्रकार स्वर्ण के सारे विकारों में स्वर्ण अकेला रहता है उसी प्रकार उपाधि के सारे विकारों में रुद्र अकेला रहता है। द्यु लोक में वृक्ष के दृष्टान्त से ब्रह्म में परिच्छिन्नता की भ्रान्ति हो सकती थी उसको हटाने के लिये यह पद दिया गया।

११. भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों का निर्देश समझना चाहिये। प्रायः खड़ा का अर्थ होता है गति क्रिया का प्रध्वंसाभाव, या प्रागभाव का अन्तिम क्षण। परन्तु यहां दोनों ही अर्थ इष्ट नहीं हैं, वरन् क्रिया का अत्यन्त अभाव ही इष्ट है।

१२. विविध प्रत्ययों से गम्य होने के कारण ही उसमें विविधता है, स्वरूप से नहीं। जिस प्रकार यह रस्सी है, एवं यह सांप है, इन दो ज्ञानों में रस्सी का ज्ञान सर्प को बाधित करता है, परन्तु यह पता

अक्षुण्ण रहता है। इसी प्रकार 'देश, काल, वस्तु के द्वारा अवच्छिन्न यह दृश्य वर्ग है और प्रतीत होता है इसका बाध 'देश, काल, वस्तु से यह अपरिच्छिन्न है, और प्रतीत होता है' के द्वारा हो जाता है। सत्ता और प्रतीति में कोई भेद नहीं आता। अतः न दृश्य प्रतीतिकाल में और न दृश्य के बाध काल में ईश्वर से भिन्न कुछ भी है। अतः उसके ज्ञान से ही मोक्ष सुस्थ हो जाता है।

१३. निरन्तर पुरुष से व्याप्त है, यह तात्पर्य है। अथवा नाम रूप असत् होने के कारण ब्रह्म के द्वारा सत्ता प्रदान करके ही इनको पूरित किया गया है।

१०

ब्रह्म-ज्ञान से पुरुषार्थ की प्राप्ति एवं उस ज्ञान से रहित अन्य साधनाओं का अवलम्बन करने वालों को केवल दुःख ही हाथ में आयेगा इसका प्रतिपादन करते हैं :—

ततः यत् उत्तरतरं तत् अरूपम् अनामयम्। ये एतत् विदुः अमृताः ते भवन्ति अथ इतरे दुःखम् एव अपियन्ति ॥

यत्=जो[1]	**ते**=वे[7]
तत=उस (हिरण्यगर्भ से[2])	**अमृताः**=अमर
उत्तरतरं=श्रेष्ठतर है[3]	**भवन्ति**=हो जाते हैं।
तत्=वह	**अथ**=इसके विपरीत[8]
अरूपम्=रूप रहित[4] (और)	**इतरे**=दूसरे (अज्ञानी)[9]
अनामयम्=अविद्यारहित है[5]।	**दुःखं**=दुःख को[10]
ये=जो	**एव**=ही
एतत्=इसको[6]	**अपियन्ति**=जाते हैं (नरक में डूबते हैं।)[11]
विदुः=जानते हैं।	

१. ब्रह्म जो परि पूर्ण रूप से प्रसिद्ध है।

२. कार्य और कारण का अभेद होने से हिरण्यगर्भ को भी ब्रह्म

क्यों न मान लिया जाय इस शंका को दूर करने के लिये उससे श्रेष्ठ रूप से ब्रह्म प्रतिपादन है। अथवा मूर्त ब्रह्म की अपेक्षा अमूर्त ब्रह्म की श्रेष्ठता का प्रतिपादन इष्ट है।

३. चूंकि ईश्वर की एकता के ज्ञान से कैवल्य प्राप्ति हो जाती है अतः ईश्वर को सब श्रेष्ठों की अपेक्षा श्रेष्ठतर कहा गया। अथवा सर्प को व्याप्त करके रहने वाली रस्सी सर्प के बाधित हो जाने पर भी रह जाती है अतः उसे उत्तरतर कह सकते हैं। या गहनों में व्यापक स्वर्ण गहनों के लय हो जाने पर भी रह जाता है अतः उसे उत्तर कह सकते हैं। इसी प्रकार भौतिक पदार्थों के बाध या लय हो जाने पर भी भूत बने रहते हैं अतः वे उत्तर हैं। परन्तु भूतों के बाध या लय के अनन्तर भी बना रहने से वह उत्तरतर कहा गया है। व्याप्य-व्यापक भाव से विद्यमान प्रकृति व प्राकृत सभी हेयोपादेय पदार्थों को सत्ता स्फुरण देने के कारण सर्व व्यापक रुद्र ही प्रकृति प्राकृत सर्वोपाधिलय होने पर भी स्थित रहता है अतः उत्तरतर है। अथवा सबका अधिष्ठान होने से उसकी श्रेष्ठतरता है।

उत्तर का अर्थ पहले भी होता है। अतः वह सारे पूर्वजों की अपेक्षा भी पूर्व ही रहता है अतः उसे उत्तरतर कहा गया है। उत्तर का अर्थ कारण भी होता है। अतः जगत् का कारण हिरण्यगर्भ उत्तर कहा जायगा। इस पक्ष में मन्त्र के ततः शब्द का अर्थ इदन्ता से प्रतीयमान जगत् लिया जायेगा। जगत् रूपी कार्य और हिरण्यगर्भ रूपी कारण, इन दोनों भावों से विनिर्मुक्त होने के कारण कार्य-कारण रहित ब्रह्म का प्रतिपादन इष्ट है। आगमिक तो उत्तर दिशा में जल प्रवाह होने के कारण लिङ्ग को ही उत्तरतर मानते हैं।

४. शुक्ल-कृष्णादि रूपों से रहित अथवा हाथ पैर आदि रूपों से रहित। अथवा रूप से उपलक्षित रस गन्धादि सभी गुणों से रहित।

५. रूपादि शून्य कहने से कारणावस्था अर्थात् माया रूपता की

प्राप्ति हो सकती है अतः **अनामयम्** कहा गया। आमय अर्थात् रोग। रोग दुःख का कारण होता है। अविद्या भी दुःख का कारण है अतः कारण विद्या से रहित है यह तात्पर्य है। अथवा आमय अर्थात् आध्यात्मिकादि ताप। इनसे रहित होने से अनामय है। दुःख, संसार, रोग आदि विकारों को आमय कहा जा सकता है। अतः निर्विकार अर्थ भी यहां इष्ट है।

६. अनामय परिपूर्ण रूप तत्पदार्थभूत ईश्वर तत्त्व को त्वं पदार्थ-भूत प्रत्यगात्मा से अभिन्न करके जो श्री परमहंस साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म को जान लेते हैं।

७. जीव-शिवैकता के अपरोक्ष ज्ञान से स्वरूप का व्यवधान करने वाला जो अज्ञान और उसका कार्य द्वैत-भ्रम उसको स्वरूप मात्र से प्रविलापन करने वाले।

८. आत्म-ज्ञान से क्या लाभ जब कि ज्ञानी और अज्ञानियों का व्यवहार एक जैसा ही देखने में आता है, ऐसी शंका होने पर पक्षान्तर बतलाते हैं।

९. **अद्वैत** ज्ञान का सहारा न लेकर जो तीर्थ, जप, पूजा, योग, यज्ञ, आदि साधनान्तरों का अवलम्बन करते हैं ये सभी पूर्व-ज्ञानियों की अपेक्षा दूसरे प्रयोजनों वाले अज्ञानी साधक हैं।

१०. अधिक अधिक बार बार दुःख को ही प्राप्त करते हैं एवं सुख के लवलेश की भी इनको प्राप्ति नहीं हो सकती। तात्पर्य है कि बाह्य व्यवहार एक जैसा होने पर भी अहन्ता ममता से अज्ञानी दुःख को पाता रहता है एवं ज्ञानी इन अभिमानों से रहित होने के कारण दुःख को नहीं भोगता।

११. **अपियन्ति** अर्थात् लय होते हैं। तात्पर्य है कि वे दुःख में ऐसे लीन होते हैं कि अपने आपको किसी भी समय दुःख रहित रूप से नहीं देखते। जो बीच बीच में उनको सुखाभास की प्रतीति है वह

भी मलमूत्र विशिष्ट देह में, जो एक तरह से कुम्भीपाक नरक हैं, अभिमान रखते हुए ही होने से दुःख रूप ही हैं।

११

इस ब्रह्म तत्त्व को शिव से अभिन्न बताते हैं :—

सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः ।
सर्वव्यापी सः भगवान् तस्मात् सर्वगतः शिवः ॥

सः[1] = वह
भगवान् = भगवान्[2]
सर्वाननशिरोग्रीवः = सब जगह मुख, सिर और गर्दन वाला,[3]
सर्वभूतगुहाशयः = सारे प्राणियों के बुद्धि गुहा में रहने वाला,[4]
सर्वव्यापी = सर्वव्यापी,[5]
सर्वगतः = सर्वगत है,[6]
तस्मात् = इसलिये[7]
शिवः = शिव है[8]।

१. च इति दीपिकापाठः।

२. ऐश्वर्य, धर्म, यश, लक्ष्मी, ज्ञान, वैराग्य की समग्रता ही भग शब्द का अर्थ होता है। यह जिसमें विद्यमान हो वह भगवान् कहा जाता है। जिसके कारण ये भग अंशों मात्र से ब्रह्मा, विष्णु, देव, दानव, गन्धर्व, किन्नर इत्यादि में आते हैं उसके भगवान् होने में सन्देह ही क्या है।

३. पूर्व मंत्र में उत्तरतर शब्द के प्रयोग से कार्य और कारण में अथवा कारण और कारणोत्तर में भेद की प्रतीति हो सकती है, जिसको दूर करने के लिये उसकी सर्वात्मता का प्रतिपादन किया जा रहा है। सभी के मुख सिर आदि उसके हैं, अथवा सभी मुख आदि उसके हैं, अथवा सब जगह मुख सिर आदि उसके हैं। तात्पर्य है कि सारे कार्य-कारणों को अपनी माया से बनाकर जल में चन्द्र की तरह जीवरूप से उनमें प्रवेश करके नाम भेद होने पर भी ईश्वर ही वहां स्थित है। ब्रह्मा से लेकर कूट पाद तक सभी के आनन उसी के हैं। यहां अन्य सभी अवयवों की उपलक्षणा समझनी चाहिये।

४. शरीररूपता के निवारणार्थ यह पद दिया गया। गुहा का अर्थ हृदय पुण्डरीक है। एवं उसमें प्रत्यगात्मा रूप से वह स्थित है।

५. सर्वभूतगुहाशयता से प्राप्त परिच्छिन्नता की निवृत्ति के लिये यह पद है। चेतन अचेतन सभी को व्याप्त करके रहता है। समष्टि रूप से स्थित सभी उपाधियों को सब तरफ से लपेटकर रहने का शील अर्थात् स्वभाव है।

६. व्याप्य-व्यापक रूप से भेद की प्राप्ति होने पर सर्वत्र प्राप्त है कह कर उसका निराकरण किया। सर्वत्र-सर्वरूप से गया हुआ ही है अर्थात् अद्वितीय है, यह भाव है। वस्तुतस्तु अखण्ड ब्रह्म ज्ञान में सर्व रूप से ज्ञात होने पर ही सर्वगत कहा गया।

७. उपर्युक्त प्रत्येक विशेषण ही एक एक कारण है।

८. अविद्या तत्कार्य मलों से रहित, परिपूर्ण आनन्द स्वभाव वाला होने से परम मंगलमय, सौन्दर्यघन, प्रेम मूर्ति रुद्र को ही शिव कहते हैं।

१२

मंगलों की परमावधि रूप शिव ही अन्तः करण की शुद्धि, ज्ञान, मोक्ष, इत्यादि देता है :—

महान् प्रभुः वै पुरुषः सत्त्वस्य एषः प्रवर्तकः ।
सुनिर्मलां इमां प्राप्तिं ईशानः ज्योतिः अव्ययः ॥

एषः = यह[1]
सत्त्वस्य = ज्ञान, क्रिया शक्ति का[2]
प्रवर्तकः = प्रेरक,
महान् = महान्[3],
प्रभुः = समर्थ[4],
पुरुषः = पुरुष,[5]
ईशानः = शासन करने वाला[6],
अव्ययः = अविनाशी,[7]
ज्योतिः = प्रकाश रूप[8]
इमां = इस[9]
वै = निश्चित रूप से[10]
सुनिर्मलां = अत्यन्त निर्मल[11]
प्राप्तिम्[12] = प्राप्ति रूप है

१. स्वयं प्रकाश, चिदानन्द रूप ईश्वर जिसका पूर्व मन्त्रों में प्रतिपादन किया गया है।

२. व्यष्टि और समष्टि दोनों प्राण और मन यहां संग्रहीत हैं। अथवा समग्र प्राणि जातों का वह प्रेरक है। सत् अर्थात् ब्रह्म अतः सत्त्व अर्थात् ब्रह्म-भाव। निर्मलता प्राप्त कराकर प्रत्यगात्मा में प्रवण साधक को अपनी एकता के ज्ञान की ओर प्रवृत्त करने वाला होने से भी उसे सत्त्व का प्रवर्तक कहा गया है। किञ्च सत् अर्थात् कार्य-रूप जगत्। कारण रूप में स्थित जगत् को कार्य रूप में ढकेलने वाला होने से भी वह सत्त्व का प्रवर्तक है।

३. प्रथम शब्द होने से पूर्व मंत्रोक्त मंगलवाची शिव शब्द से संयुक्त होकर सबसे अधिक मंगल का प्रतिपादन इष्ट है। जैसे छोटे छोटे मंगल अभीप्सित अनिष्टनिवृत्ति में एवं इष्ट प्राप्ति में सर्वदा कार्यकारी नहीं होते वैसे ही ईश्वर की मंगलता न समझ ली जाय। उसके स्मरण चिन्तन मात्र से अवश्य ही मंगल हो जाता है। अथवा देश कालादि से अनवच्छिन्न होने के कारण ही वह महान् है। सामान्य मंगल किसी विशिष्ट देश कालादि में मंगल करते पर भी अन्यत्र अमांगलिक हो जाते हैं, वैसा यह शिव नहीं है।

४. विश्वोत्पत्ति, स्थिति, लय, जीव भाव से प्रवेश, आविर्भाव, तिरोभाव, नियमन आदि सभी में उसकी सामर्थ्य अप्रतिहत है।

५. पूर्ण होने से ही वह पुरुष है। अथवा शरीर रूपी पुर में शयन करने से वह पुरुष है। जैसे शयन करने पर सामर्थ्य और ज्ञान नहीं रह जाता वैसे ही जीव रूप से शयन करने पर शरीरादि के अध्यास के कारण इसको भी अपने स्वरूप का ज्ञान भी नहीं रहता और सामर्थ्य का भी लोप हो जाता है।

वस्तुतः जीव को ही पुरुष मानकर पुरुष रूप से अर्थात् जीव के अहं साक्षी रूप से ही इसका दर्शन होता है, इस लिये ही इसे पुरुष

कहा गया। किंच उत्तम साधकों को पुरुष रूप से ही इसके दर्शन होते हैं एवं पुरुष रूप की उपासना ही सर्व श्रेष्ठ शिव प्राप्ति का मार्ग है। इन हेतुओं से भी इसे पुरुष कहा गया है।

६. मुमुक्षु को अपने स्वरूप का दर्शन देकर सम्यक् ज्ञान को देता है, जिससे इसके साथ एकता का जो तिरोधान हो गया था वह नष्ट होकर, सारे संसार और उसके कारण, अज्ञान को दहन करके मुक्ति मार्ग का शासक होने से इसे सब का नियन्ता कहा गया।

७. शासक में धीरे धीरे कमजोरी आती जाती है, परन्तु शिव में ऐसा नहीं है। अतः वह कूटस्थ नित्य है।

८. परिशुद्ध विज्ञान प्रकाश से तात्पर्य है। मनके साक्षी रूपता से वह ध्येय है क्यों कि वहीं उसका प्रकाश स्फुटतर होता है।

९. ऋषि अपने विद्वत् अनुभव से सिद्ध शिव प्राप्ति का निर्देश करने के लिये अपरोक्ष रूप से निर्देश करते हैं।

१० स्वानुभूति, श्रुति, न्याय और अन्य ब्रह्मनिष्ठों के अनुभव से भी सिद्ध है।

११. अविद्यादि मलों से सर्वथा रहित, सकारण, प्रपञ्चोपशम रूप निरतिशय आनन्दाविर्भाव लक्षण वाली शिव की नित्या का यहां निर्देश है। तंत्रों में द्वादश, षोडश, एवं चतुःषष्टि निर्मलाओं का प्रतिपादन किया गया है। यद्यपि श्री एवं आद्या, ब्रह्मोपासकों के लिए, अन्तःकरण की शुद्धि के लिये, प्रधान साधन है, तथापि साक्षात् मोक्ष रूपिणी होने से निर्मला की प्राप्ति ही अन्तिम लक्ष्य है। निर्मला का दर्शन हो जाने पर न केवल अविद्या का बाध हो जाता है वरन् उसकी स्मृति या वासना भी नष्ट हो जाती है। यही ब्रह्म-प्राप्ति है।

१२. शान्तिं पठतः दीपिका विवरणकारौ। तत्र आश्रितः इति शेषः। अथवा यतः प्राप्नोति तस्य इति शेषः। अथवा शान्तिं प्रति ईशानः इत्यन्वयः।

१३

उपासनाओं में श्रेष्ठ हृदयोपासना को बताते हैं :—

अंगुष्ठमात्रः पुरुषः अन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः । हृदा मनीषा मनसा अभिक्लृप्तः ये एतत् विदुः अमृताः ते भवन्ति ॥

अंगुष्ठमात्रः=अंगूठे के जितना[1]	**मनसा**=संकल्प रूप से
अन्तरात्मा=अन्तरात्मा[2]	**अभिक्लृप्तः**=प्रकाशित[5]
पुरुषः=पुरुष	**एतद्**=इसको
जनानां=लोगों के[3]	**ये**=जो[6]
हृदये=हृदय कमल में	**विदुः**=जान गये[7]
सदा=सदा	**ते**=वे
सन्निविष्टः=घुसा हुआ है[4] ।	**अमृताः**=अमर
हृदा=हृदय में स्थित	**भवन्ति**=हो गये ।
मनीषा=बुद्धि से	

१. हृदय-कमल अंगुष्ठ परिमाण का होता है। उसमें रहने से लिङ्गाभिमानी जीव को भी अंगुष्ठ मात्र कहा गया। '**अंगुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात्**' सत्यवान् को जब यम ले गया था तब अंगुष्ठ मात्र ही उसका स्वरूप था, इत्यादि प्रमाण हैं। हृदय सुषिर परिमाण की अपेक्षा से अनुभव काल में वहीं अभिव्यक्ति स्थान होने से अंगुष्ठमात्र की प्रतीति को लेकर यह प्रयोग है। सभी प्राणियों के हृदय का परिमाण अपने अपने अंगूठे से अंगुष्ठ परिमाण ही होता है, ऐसा पुराणादि में प्रतिपादित है। कुछ विवेकियों की तो यह मान्यता है कि गत्यर्थक अंक धातु से निष्पन्न होने के कारण अङ्गुष्ठ शब्द का तात्पर्य सभी ज्ञान और क्रियाओं में स्थित होना ही है। मात्र के द्वारा बताया गया कि ज्ञान और क्रिया से अतिरिक्त उसकी प्राप्ति का उपाय नहीं है। उपनिषदों में प्रायः करके बुद्धि में ही ईश्वर को प्रकाशित माना है। अपञ्चीकृत पञ्च महाभूत से बनी होने के कारण

बुद्धि तो अणु से भी अणीयान् है। फिर भी हृदय पुण्डरीक में सर्वत्र प्रकाश देने के कारण उसे हृदय, अर्थात् अंगुष्ठ परिमाणी, कहा जा सकता है। एवं बुद्धि में स्थित आत्मा को भी अंगुष्ठ परिमाणी माना जा सकेगा। इस दृष्टि से पुराण-वाक्य उपासना में प्रयुक्त अंगुष्ठ परिमाण के उपबृंहण रह जायेंगे। अपञ्चीकृत अणुतर बुद्धि उपास्य नहीं हो सकती यह तो स्पष्ट ही है। अतः उपासना के लिये हृदय के अंगुष्ठमात्र में ही ध्यान करना पड़ेगा। अंगुष्ठ शिव का उत्कृष्ट प्रतीक है क्यों कि प्रायः यह लिङ्गाकार होता है। शिवागमों में लिंग अनुपलब्ध होने पर अंगुष्ठ के ही अभिषेक का विधान किया है। ब्राह्मण, गुरु, आदि के अंगुष्ठ पूजन का भी यही तात्पर्य है। हृदय में स्थित पुरुष का प्रतीक मानकर अंगुष्ठ पूजन से पुरुष पूजन मान लिया जाता है।

मात्र का अर्थ **मीयते** भी होता है। अर्थात् अंगुष्ठ के ध्यान के द्वारा सर्वोपाधियों में प्रविष्ट पुरुष दर्शन शीघ्र होता है। यह एक आश्चर्य ही है कि पाश्चात्य देशों में पुरुष का चिह्न अंगुष्ठ (Thumb impression) ही माना है। संभवतः वैदिक अंगुष्ठ पुरुष का यह विरोचन की परम्परा से प्राप्त देहात्मवादी आसुर मत है।

२. अन्दर अन्दर जाने से इसकी प्राप्ति होती है इसलिये इसे अन्तरात्मा कहते हैं। अथवा आत्मा माने बुद्धि। परमेश्वर ही बुद्धि उपाधि के अन्दर अनुप्रविष्ट होकर जीवरूपता को प्राप्त करता है। अतः वह अन्तरात्मा कहा जाता है। अन्दर रहकर के शासन करने वाला होने से भी वह अन्तरात्मा है। अन्तः करण को वृत्ति के द्वारा विषय देश में जाकर विषय को व्याप्त करता हुआ प्रतीत होने के कारण भी वह अन्तरात्मा है। सर्प में रस्सी की तरह सभी उपाधियों में स्थित होकर उनका स्वरूप होने से भी उसे अन्तरात्मा कहा जा सकता है। सबके अन्दर आत्म रूप से प्रकाशित होने के कारण ही वह अन्तरात्मा है।

३. जनन आदि धर्म वाली उपाधियों से तात्पर्य हैं।

४. हृदय नाम के लिंग देह में सत्ता, ज्ञान देते हुए भली प्रकार छिपा हुआ रहता है। यद्यपि आत्मा सारे शरीर में रहता है, परन्तु शान्तावस्था में अच्छी प्रकार से हृदय में ही घुसा रहने से उसे हृदय में सन्निविष्ट कहा गया। किंच जब साधक सारी इन्द्रियों को सब जगह से हटा कर हृदय में स्थित करता है तभी आत्म-ज्ञान होता है। शिव ध्यान के लिये हृदय ही श्रेष्ठ स्थल है। इन्हीं सब कारणों से उसे सन्निविष्ट कहा गया।

५. हृदय में स्थित बुद्धि के द्वारा एवं मनको ईशन करने वाले संकल्प से रहित मनीषा से एवं मनन रूप मन के द्वारा सम्यक् दर्शन होकर वह अभिक्लृप्त अर्थात् ज्ञात हो जाता है। इस प्रकार हृदा से श्रवण, मनीषा से निदिध्यासन एवं मन से मनन का निर्देश है। अथवा हृदा अर्थात् हृदयस्थ बुद्धि से जो बुद्धि मन का शासन करने वाली होने से **मन इष्टे** मनीषा भी है उस बुद्धि के द्वारा (मनसा) संकल्प करके आत्मा अभिक्लृप्त अर्थात् प्रकाशित होता है। अथवा मन से संकल्पित, एव बुद्धि से निश्चित इस प्रकार मन और बुद्धि दोनों से अभिक्लृप्त होता है। मन से न्याय प्रकाश को और बुद्धि से श्रुति प्रकाश को लेना चहिये। विवेकी तो ऐसा मानते हैं कि ह्रिञ्. हरणे से निष्पन्न हृत् शब्द का मतलब है नेति नेति वाक्यों से सब का प्रतिषेध रूपी हरण। हृदा अर्थात् इस हरण के द्वारा सारी उपाधियों को निवृत्त करके मन के शास्ता रूप से (मनीषा) आत्म तत्त्व को जान कर फिर मन के विषय रूप से **सर्वं खलु इदं ब्रह्म** का प्रकाश शरीरों के वर्तमान रहते हुए ही हो जाता है। उपासना दृष्टि से ता संकल्प विकल्प के नियन्त्रण करने वाले मनीषा, अन्तःकरण व्यापार से, हृदा हृदय की उपाधि के द्वारा, उपासना के लिये सारे देह में एवं विश्व में व्यापक परमात्मा की, मनसा, मन के द्वारा अंगुष्ठ मात्र से कल्पना (अभिक्लृप्तः) उसका साक्षात्कार कराती है। **मनीषा, मनसा,**

हृदा=हृदय रूपेण अभिक्लृप्तः, ऐसा सरल अन्वय भी संभव है। मन्वीश पाठ कहीं कहीं मिलता है। तब तात्पर्य होगा मनु अर्थात् मंत्र का ईश। आगमों के अनुसार हृदय में मन्त्रेश्वर और विद्येश्वर का ध्यान ऐश्वर्य का प्रापक है। अथवा मन्वीश का अर्थ ज्ञानेश मानकर, एवं **ज्ञानमिच्छेन्महेश्वरात्** इत्यादि पुराणों की प्रसिद्धि से हार्दाकाश में मन से शिव का निर्माण कर, मानसिक पूजादि भी यहां विहित मानी जा सकती है।

६. जो उपाधि से अलग करके सरकण्डे से मूंज की तरह आत्म तत्त्व को निकाल लेते हैं वे तो तत्त्वज्ञान से मुक्त हो जाते हैं। परन्तु जो शमादि साधन सम्पन्न आत्मानात्म का विवेक करने के बाद भी सम्यक् ज्ञान के द्वारा अविद्या का विलय नहीं कर सकते वे भी इस उपासना से आपेक्षिक मोक्ष या सगुण ब्रह्म लोक की प्राप्ति तो कर ही लेते हैं।

७. अधिकारी भेद से यहां ज्ञान और उपासना दोनों अर्थ कर लेना चाहिये।

१४

रुद्र को जीव जगत् रूपता की प्राप्ति होने पर भी वह स्वरूप से उनसे अछूता ही रहता है :—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
सः भूमिं विश्वतः वृत्वा अति अतिष्ठत् दश अङ्गुलम् ॥

सः=वह[1]	विश्वतः=चारों तरफ से[4]
सहस्रशीर्षा=अनन्त सिर वाला	वृत्वा=लपेट कर (भी)
सहस्राक्षः=अनन्त इन्द्रियों वाला	दश=दस
सहस्रपात्=अनन्त पादों वाला[2]	अंगुलम्=अंगुल[5]
पुरुषः=पुरुष	अति=ऊपर
भूमिं=ब्रह्माण्ड को[3]	अतिष्ठत्=बना रहा।

१. पूर्व मन्त्र में जिसको अन्तरात्मा कहा उसी को यहां सर्वात्मा कहा जा रहा है। अंगुष्ठ मात्रता इत्यादि बताने से रुद्र को अल्पता की प्राप्ति न हो जाय अतः माया काल में भी कार्य करण संघातों में प्रवेश किये हुए भी वह उनसे व्यापक एवं विशुद्ध रहता है यह बताना इष्ट है। कभी अणु उपाधि और कभी विभु उपाधियों का प्रतिपादन करके अध्यारोप करना, एवं पुनः उनके निषेध से अपवाद करना, यही वेदान्त ज्ञान की औपनिषद् प्रक्रिया है, जो ब्रह्मनिष्ठ श्रीपरमहंसों में अक्षुण्ण रूप से आज भी विद्यमान है। यह प्रकृत मन्त्र ऋग्वेद में नारायण ऋषि द्वारा भी दृष्ट है।

२. शीर्ष के द्वारा देह उपाधि को बतलाया। अक्ष के द्वारा ज्ञानेन्द्रिय की उपाधियों को बतलाया। पाद के द्वारा कर्मेन्द्रियों को बताया। इन्द्रिय द्वय से मन का भी संग्रह है। अथवा शीर्ष से स्थूल शरीर एवं अक्ष से सूक्ष्म शरीर का ग्रहण करके पाद से कारण शरीर का ग्रहण है यद्यपि कहीं कहीं कारण शरीरों का एक ही माना है परन्तु वहां भी अंश भेद की कल्पना तो कारण शरीर में करनी ही पड़ेगी। स्थूल-सूक्ष्म देह कारण में से चल के आते हैं इसलिये कारण को पाद कह दिया गया।

३. यद्यपि भूमि का अर्थ पृथ्वी प्रसिद्ध है परन्तु यहां पृथ्वी से उपलक्षित समग्र ब्रह्माण्ड उपादेय है। अथवा समग्र व्यवहार जहां हो, वह जाग्रत् और स्वप्न ही, भूमि का वाच्य है। अध्यात्म अधिदैव, व्यष्टि समष्टि दोनों यहां संग्रहीत हैं।

४. अन्दर बाहर दोनों तरफ की व्यापकता से तात्पर्य है। यह व्याप्ति वैसी ही है जैसी कल्पित सर्प में रज्जु की।

५. समग्र भुवन को निर्माण करने के बाद भी वह अनन्तगुना फिर भी बच ही रहता है। दशांगुल से यहां तात्पर्य गिनती न करके अनन्त अपार बताने से है। अथवा यदि दस की संख्या का ग्रहण ही इष्ट हो तो पञ्चीकृत पञ्चमहाभूत विराट् के पांच, एवं अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूत हिरण्यगर्भ के पांच, इन दश समष्टियों से भी अधिक या ऊपर वह है। अति का अर्थ अतीत्य अर्थात् इनसे अतीत, असंग अनन्त आनन्द ज्ञान मात्र, एक रस रूपसे अपनी महिमा में अतिष्ठत् अर्थात् स्थित हुआ रहता है। विवरणकर्ता तो ऐसा मानते हैं कि माया (१) भूत पञ्चक (५) एवं अन्तःकरण (४) ये दस अध्यात्म दश अंगुल हैं, एवं वह इन सबसे परे है। अथवा दसेन्द्रिय या दस दिशाओं से अतीत होने पर भी ऐसा कहा जा सकता है। वस्तुतः अंगुल परिमाण से उपलक्षित सभी परिच्छिन्न उपाधियों को यथा तथा दस भागों में बांट करके व्यवस्था बनाई जा सकती है। तात्पर्य सर्वत्र व्यष्टि-समष्टि सब से अतीत तत्त्व के प्रतिपादन में ही है।

अंगुल का अर्थ गुणा भी होता है अतः सर्व प्रपञ्च की अपेक्षा दस गुने से भी (अति=अतिरिच्य) बड़ा हुआ हुआ (अतिष्ठत्) स्थित रहा। अर्थात् वह निस्सीम महत्ता से सम्पन्न है। व्याप्य पदार्थों से अधिक व्याप्त है, अत एव असंग है, यह भाव है।

उपासक की दृष्टि से तो ९६ अंगुल के शरीर में नाभि से ऊपर दश अंगुल से आगे हृदय में उसकी उपलब्धि होने से ऐसा कहा गया। नाभि देह का मध्य भाग है, यह तो प्रसिद्ध ही है।

१५

यदि अतीत होकर स्थित है तो नदी के तट की तरह भिन्न होगा; इस दोष की निवृत्ति करते हैं :—

पुरुषः एव इदं सर्वं यत् भूतं यत् च भव्यम् ।
उत अमृतत्वस्य ईशानः यत् अन्नेन अतिरोहति ॥

यत् = जो[1]	भव्यम् = भव्य है[3]
भूतं = भूत है[2]	उत = और
च = और	यत् = जो
यत् = जो	अन्नेन = अन्न से[4]

अतिरोहति = खूब बढ़ता है।	ईशानः = मालिक
इदं = यह	पुरुषः = पुरुष
सर्वं = सब[५]	एव = ही है।
अमृतत्वस्य = अमरता का[६]	

१. विश्व व्यापकता एवं विश्वातीतता जिस पुरुष के बारे में कही गई वह पुरुष ही, इस सारी अविद्या विलासिता का विचार करके निरूपण करने पर, अधिष्ठान मात्र सिद्ध होता है। यही परामर्श वाची जो पद का तात्पर्य है।

२. भू अर्थात् सत्ता वाला जो भी है वह सभी यहां इष्ट है। जो भी सत्ता वाला होता है वह पूर्व-सिद्ध ही होता है। अतः सभी भूत और वर्तमान कालिक पदार्थों का यहां संग्रह है।

३. जो होना (भवन) का कर्ता होता है उसे भव्य कहते हैं। तात्पर्य है सब भूतों को सत्ता देने वाला भी वही है। सुन्दर को भी भव्य कहते हैं। अतः जहां कहीं अतिशय सौन्दर्यादि होता है वहां वह ही है। माध्यन्दिन शाखा के अनुरोध से यदि भाव्य पाठ माना जाय तब तो भविष्य काल में होने वाले पदार्थ अर्थ मानना पड़ेगा। इस पक्ष में च शब्द से वर्तमान का समुच्चय कर लेना चाहिये।

४. अन्न अर्थात् जो अदन (खाने) के योग्य हो। ईश्वर की सब से बड़ी ईश्वरता यही है कि अनादि काल से अनन्त जीव इसका भोग करते रहते हैं, परन्तु ऐसा लगता है कि यह अधिकाधिक बढ़ता ही जाता है (अतिरोहति)। अथवा ईश्वर के द्वारा ही नियम बनाया गया है कि किस प्राणी का कौन सा अंग किस अन्न को खाने के योग्य है। अपनी अपनी योनि के भक्षण से सभी अधिक वृद्धि को प्राप्त करते हैं (अतिरोहिति)। अथवा जो कुछ भी अन्न से बढ़ता है उस सबका वह मालिक है।

विवेकी तो ऐसा मानते हैं कि जो कुछ भी दृश्यजात है वह आत्म ज्ञान से खाया जाता है, अर्थात् बाधित होता है, अतः वह सब अन्न ही

है। बाधित होने से माया नाम के अन्न से (अति) अतीत होकर, अर्थात् अपने वास्तविक स्वभाव का अतिलङ्घन किये बिना ही, अद्वितीय ब्रह्म नामरूपाकार से बढ़ता है (रोहति)। अथवा माया नाम के अन्न से अति अर्थात् अपने से विपरीत आकाशादि कार्य रूप से अपने अधिष्ठान रूप पर चढ़ जाता है (रोहति)। हर हालत में तात्पर्य है कि माया, ब्रह्म रूपी अधिष्ठान के ऊपर चढ़कर, ब्रह्म के अद्वितीय भाव से भी अधिक नाम रूप का दर्शन करा देती है। उपासकों की दृष्टि में यही काली का शिव के ऊपर खड़े होकर नृत्य करना है।

वस्तुतस्तु अ तिरोहति, ऐसा छेद करने पर माया एवं तत्कार्य नाम रूपों के द्वारा (अन्नेन) वह तिरोहित नहीं होता। अर्थात् सत्ता स्फुरत्ता रूप से प्रतीत होता ही रहता है। अन्न का अर्थ देवादियों का अन्न भी संग्रहीत होने से अमृत की अपेक्षा भी जो अधिक है, अर्थात् उससे भी ऊर्ध्व और उत्कृष्ट वह पुरुष है, ऐसा तात्पर्य है।

५. सप्रपञ्च-ब्रह्म से अतिरिक्त यह परिदृश्य वर्तमान जगत्-नहीं है। विविध प्रत्ययों से ज्ञात होने पर भी वस्तुतः वह सद् भिन्न नहीं होता। तात्पर्य है कि विभक्त, परिच्छिन्न और संघात रूप होने से, पुरुष से व्यतिरिक्त जो भी है, वह अविद्यात्मक ही है। दृश्य होने के कारण, रज्जु सर्प की तरह, मिथ्या है। भूत, भविष्य, वर्तमान कालों में प्रतीत होने के कारण, स्वप्न प्रपञ्च की तरह, अज्ञान मात्र से प्रतीत होता है। अतः सभी कुछ अविद्या रूप ही है। अतः यहां पर बाध समानाधिकरण समझना चाहिये।

६. प्रतिभास मात्र संसार, जीवन्मुक्त का महावाक्य जनित अहं ब्रह्म इस ज्ञान रूपी अमृत का पान करके भी, रह जाता है। अतः ऐसे जीवन्मुक्त का भी वही ईशान अर्थात् शासन करने वाला है। तात्पर्य है कि प्रारब्ध शेष पर्यन्त अमृत, अर्थात् जीवन्मुक्त का योग क्षेम रूपी फल, देता है। एवं अविद्या लेश की निवृत्ति का भी वही कारण है। अथवा सच्चिदानन्द ब्रह्म, वृत्ति में आरूढ़ होकर, मोक्ष का नियामक

है। जो मोक्ष का भी प्रभु है उसका अन्य के ऊपर शासन होवे इसमें कहना ही क्या है।

१६

अपनी अतिरोहित क्रियाशक्ति के द्वारा चिदात्मा सारे इन्द्रिय व्यापारों को हमेशा करता है :—

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतः अक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमत् लोके सर्वम् आवृत्य तिष्ठति॥

सर्वतः = सब तरफ[१]	**श्रुतिमत्** = कानों वाले[२]
पाणिपादम् = हाथ पैर वाला,	**सर्वम्** = सबको
सर्वतः = सब तरफ	**आवृत्य** = ढक करके
अक्षिशिरोमुखम् = आंख-सिर-मुख वाला,	**लोके** = संसार में[३]
सर्वतः = सब तरफ	**तत्** = वह (पुरुष)
	तिष्ठति = रहता है[४]।

१. यदि पुरुष भगवान् अन्न से वृद्धि को प्राप्त करते हैं तो शरीर वाले एवं नियत हाथ पैरों से परिच्छिन्न होंगे, इस शंका की निवृत्ति करने के लिये, निर्विशेष रूप से सभी शरीरों में वही क्रिया करता है, यह कहा जा रहा है। वस्तुतः ब्रह्मा से लेकर घास तक सभी में ईश्वर प्रत्यगात्मा रूप से स्थित है यह तात्पर्य है।

२. श्रुति से यदि वेद का तात्पर्य लिया जाय तो वेद के सब मंत्रों से प्रतिपाद्य होने के कारण ऐसा कहा गया।

३. कर्म के फल रूपी इस संसार में सभी प्राणी देहों में अविद्या वश से वह स्थित है।

४. अपनी माया से बने हुए संसार में अपने बाह्य रूप का आवरण करके (आवृत्य) रहता है, यह भी तात्पर्य ध्वनित है। सर्व रूप होने से अन्न के द्वारा अतिरोह है, देह वाले की तरह नहीं, यह भाव

है। जैसे स्वप्न के पदार्थों से जीव का अतिरोह एवं जीव की उनमें व्यापकता है, वैसा ही यहां समझना चाहिये।

१७

इन्द्रियरूपता बताकर इन्द्रिय-ज्ञान की विषयरूपता कहते हैं :—

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
सर्वस्य प्रभुम् ईशानं सर्वस्य शरणं सुहृत्॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं = सारी इन्द्रियों के ज्ञान का फल,[१]	**प्रभुं** = मालिक,[२]
सर्वेन्द्रियविवर्जितम् = सारी इन्द्रियों से रहित[३]	**ईशानं** = नियन्त्रण करने वाला
सर्वस्य = सारे जड़ चेतन जगत् का	**सर्वस्य** = सबका
	शरणं = शरण[४]
	सुहृत्[५] = मित्र है[६]।

१. इन्द्रियों का गुण अर्थात् उनकी वृत्तियां। उनका आभास अर्थात् फल अर्थात् विषयों का स्फुरण। स्फुरण के आश्रित ही विषय प्रतीत होते हैं। अतः तात्पर्य हुआ कि सारी इन्द्रियां, उनकी वृत्तियां और स्फुरण जिस महादेव में तादात्म्य रूप से स्थित रहते हैं उसे सर्वेन्द्रियगुणाभास कहा गया। अथवा कान रूपी, या वाणी रूपी इन्द्रिय का गुण सुनना या बोलना है। सुनने या बोलने का विषय शब्द है। इन्हें भी परम्परा से गुण समझ लेना चाहिये। ये इन्द्रियां और गुण आभास रूप से चेतन में ही स्थित हैं। अर्थात् चेतन को भान हैं यही उनकी स्थिति है। इसीलिये उसे सर्वेन्द्रियगुणाभास कहा गया। अथवा इन्द्रियों के गुण अर्थात् विषय, रूपादि। उनका आभासक अर्थात् प्रकाशक होने से आत्मा को सर्वेन्द्रियगुणाभास कहा गया। किञ्च इन्द्रियों से यहां अन्तःकरण का भी ग्रहण करना उचित है। अतः अन्तःकरण और बहिष्करण उपाधि रूप सारी इन्द्रियों के गुणों से अर्थात् संकल्प श्रवणादियों से गुण वाला हुआ हुआ प्रतीत होता है

(आभासते) अतः सर्वेन्द्रियगुणाभास है। सारी इन्द्रियों से व्यापार करते हुए उसे जानना चाहिये। गुण में मतुप् का लोप इष्ट है।

२. पूर्व दल में क्यों न उसको सचमुच ही इन्द्रियों से व्यापार करने वाला मान लिया जाय, इस शंका की निवृत्ति के लिये यह दल है। उपाधि रूप इन्द्रियों के अध्यारोप से ज्ञेय ब्रह्म को भी ध्येय ब्रह्म की तरह विशिष्टता की प्राप्ति सारी इन्द्रियों से रहित कह के बता दी। इन्द्रियादि से विशिष्ट ध्येय रूप ही ब्रह्म का नहीं वरन् इन्द्रियादि से रहित, निस्सङ्ग, कूटस्थ, चिदानन्द रस ही पारमार्थिक रूप है। यहां इन्द्रियों से उनकी वृत्तियां, विषय, अविद्यादि भाव सभी का संग्रह है। अर्थात् इनके साथ सभी प्रकार के संसर्ग से शून्य है। तात्पर्य है कि सब करणों से व्यापार करते हुए भी वह वस्तुतः व्यापार हीन हो रहता है, एवं उनके साथ तादात्म्य रूप से एक हुआ हुआ भी पारमार्थिक रूप से उनसे अलग ही रहता है।

३. अध्यात्म, अधिदैव, अधिभौत, अधिज्योतिष, अधिलोक, अधियज्ञ आदि सभी का संग्रह है। यद्यपि शासन करने वाला (ईशान) होने से प्रभु शब्द पुनरुक्ति प्रतीत होता है, परन्तु प्रभु में सामर्थ्य का भाव है। अनेक लोग शासक बनने पर भी सामर्थ्य हीनता के कारण नियम पालन नहीं करा पाते। जैसे वर्तमान काल के मंत्रीगण। ईश्वर वैसा नहीं है। यह बताने में प्रभु शब्द सार्थक है।

४. आर्तादि स्थितियों में रक्षक एवं सबका अन्तिम घर होने से शरणं कहा गया है। **शरणं गृहरक्षित्रोः** इत्यादि कोश इसमें प्रमाण हैं। केवल प्रभु कहने से आर्तों का रक्षक नहीं होगा। इस शंका की निवृत्ति के लिये, जो भक्त उसके परायण हो जाते हैं उनका वह शरण बन जाता है एवं उनकी रक्षा करता है, यह भाव है।

५. **बृहत् पठति कश्चित्। तत्र कारणमित्यर्थः।**

६. पूर्व पद में कारुणिक ईश्वर का प्रतिपादन होने पर विषमता की प्राप्ति न हो जाय, इसलिये यह पद है। प्रत्युपकार से निरपेक्ष होकर उपकार का कर्ता सुहृत् कहा जाता है। तात्पर्य है कि सभी अवस्थाओं में वह हित ही करता है। जब तक जीव कर्म फल को चाहता है तब तक उसे कर्म फल से युक्त करता है, एवं जब ज्ञान चाहता है तब ज्ञान के साधनों से युक्त करता है। इस प्रकार पहले भोग के द्वारा हमारे मल को पकाता है, फिर त्याग के द्वारा उसको काट देता है। जिस प्रकार चक्षु वैद्य (optician) मोतिया को पहले पकने देकर फिर काटता है वैसा ही यहां समझना चाहिये।

१८

यद्यपि अर्ध मात्रा लाघव से पुत्रोत्सव सुख का अनुभव वैयाकरण करते हैं परन्तु वेद रहस्य निष्णात ग्रन्थलाघव की अपेक्षा बुद्धि-लाघव को अधिक आवश्यक मानते हैं। तात्पर्य है कि कठिन विषय का अनेक प्रकार से उपदेश करने से शिष्य की बुद्धि पर कम जोर पड़ता है। जीवेश्वर की एकता से अधिक और कोई दुःख ग्राह्य तत्त्व नहीं है। अतः उपनिषदों में पुनरुक्ति दोष नहीं मानी जा सकती। किञ्च मीमांसा शास्त्र के अनुसार षड्-विध लिंग तात्पर्य निर्णायकों में अभ्यास अन्यतम है। इस दृष्टि से भी अनेक प्रकार से तत्त्व प्रतिपादन आवश्यक है। अतः अब तत् पदके त्वं रूप से प्रवेश के अनन्तर त्वं रूप का प्रतिपादन करके उसे तत् रूप बताते हैं:—

नवद्वारे पुरे देही हंसः लेलायते बहिः।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च॥

सर्वस्य=सारे	**हंसः**=हंस[3]
स्थावरस्य=जड़[1]	**देही**=शरीर धारी[4] (होकर)
च=और	**नवद्वारे**=नव दरवाजे वाले[5]
चरस्य=चेतन	**पुरे**=शहर में[6] (रहता हुआ)
लोकस्य=लोकों का	**बहिः**=बाहर[7]
वशी=नियन्ता[2]	**लेलायते**=लपलपाता है[8]।

१. यहां पेड़ आदि स्थिर प्राणिभेदों का भी संग्रह किया जा सकता ह।

२. इसके वश में रहता है क्यों कि अखण्ड मायोपाधिक रूप से अथवा बिम्ब रूप से परमेश्वर की स्थिति है। सभी प्रतिबिम्ब बिम्ब के वशवर्ती होते हैं। अथवा परिच्छिन्न आकाश महाकाश के वशवर्ती होता है।

३. ब्रह्माकार वृत्ति रूपी बुद्धि से अविद्या का हनन करने वाला होने से इसे हंस कहा गया। अथवा जाग्रत् से स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय में पूर्व पूर्व का हनन कर जाने के कारण हंस कहा गया।

४. देहाभिमान से तात्पर्य है।

५. दो आंख, दो कान, दो नाक, मुख, उपस्थ और पायु ही नौ छिद्र हैं जिनके द्वारा अन्तरात्मा बाहर जाता है। वस्तुत: इनके न होने से जीव का जगत् से सम्बन्ध ही नहीं हो सकता। कुछ लोग ज्ञान की पांच इन्द्रियां एवं क्रिया की पांच इन्द्रियां इस प्रकार दश ज्ञान-क्रिया शक्ति सम्पन्न शरीर को ही यहां लेते हैं। चूंकि जीभ रसनेन्द्रिय एवं वागिन्द्रिय दोनों का स्थल है अतः यहां नव द्वार कहा गया। अथवा कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, प्राण, भूत, अन्त: करण, अविद्या, काम, कर्म और इनका अभिमानी जीव, इन नौ का ग्रहण किया जा सकता है। कुछ लोग पांच ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा पांच प्रकार के प्रत्यक्ष एवं अनुमान, आप्त वाक्य, उपमान, अर्थापत्ति इनके द्वारा ही सभी प्रकार के ज्ञान होने के कारण इन्हीं नौ को मानते हैं। योग वासिष्ठ में जाग्रत्-स्वप्न, जाग्रत्-सुषुप्ति, महा-जाग्रत्, स्वप्न-जाग्रत्, स्वप्न-सुषुप्ति, महा-स्वप्न, सुषुप्ति-जाग्रत्, सुषुप्ति-स्वप्न, महा-सुषुप्ति इस प्रकार जीव की नव अवस्थाओं द्वारा जीव का बहिर्गमन होने से इन्हें ही नव द्वार माना है। विवेक दृष्टि से तो इन्द्रिय आदि सभी अनिर्वच-

नीय होने से यहां नव शब्द संख्या वाचक न होकर नवीन वाचक है। अर्थात् प्रतिक्षण प्रतिवृत्ति ही एक नवीन दरवाजा है जिससे जीव विषय के साथ सम्बन्ध करता है।

६. धातुओं के द्वारा भरा हुआ है **धातुभिः पूर्यते** अतः यह शरीर पुर कहा जाता है। अथवा ब्रह्म का उपभोग स्थान होने से यह पुर है। अथवा एकाधिपति होने के कारण यह पुर है। विज्ञानात्मा ही पुरुष है।

७. विषय ग्रहण के लिये जीवात्मा तत् तत् रूपादि के योग्य तत् तत् चक्षुरादि दरवाजों से बाहर जाता है। चूंकि यह स्वरूप से इन विषय और द्वारों से असंग है अत: जितना भी इन विषयों को ग्रहण करे ये विषय सदा बाहर ही रहते हैं; विषयों का एक अंश भी कभी इसके अन्दर नहीं आ पाता। यही कारण है कि ज्ञानोत्पत्ति होते ही क्षणमात्र में मुक्ति हो जाती है।

८. जैसे कुत्ता हड्डी को देख करके जीभ लपलपाता है वैसे ही विषय पर अपने भोगाधिकार आदि के लिये जीव भी इन्द्रियों के द्वारा चल देता है। अथवा लेलायते का अर्थ लीला करता है भी हो सकता है। तात्पर्य है, परमात्मा ज्ञान-क्रिया-शक्ति से पुण्य-पाप करके उसके परतंत्र होकर भिन्न भिन्न योनियों में संसरण करने की लीला करता है। वस्तुतस्तु इन अनेक देहों में लीला करते हुए भी वह इन सबका वशी बना रहता है, यह पूर्वार्ध से संकेतित है। जीव रूप से भी कार्य-करण संघात का वह नियामक है ही। उसको परिच्छिन्न करने वाला होने से देह भाव में तादात्म्य हेय है, यह संकेत है। यहां पूर्वार्ध से त्वं पदार्थ बताकर उत्तरार्ध से वाक्यार्थ का प्रतिपादन समझना चाहिये।

१९

विरोधालंकार से महादेव का वर्णन करते हैं :—

अपाणिपादः जवनः ग्रहीता पश्यति अचक्षुः सः शृणोति अकर्णः। सः वेत्ति वेद्यं न च तस्य अस्ति वेत्ता तम् आहुः अग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥

सः = वह[1]
अपाणिपादः = बिना हाथ पैर का होते हुए[2]
जवनः = धावक[3] (एवं)
ग्रहीता = पकड़ने वाला है
अचक्षुः = अन्धा होकर
पश्यति = देखता है[4];
अकर्णः = बहरा होकर
शृणोति = सुनता है;
सः = वह[5]
वेद्यं = ज्ञातव्य को[7]
वेत्ति = जानता है;
च = पर
तस्य = उसका (पुरुष का)
वेत्ता = जानने वाला[8]
न = नहीं
अस्ति = है;
तम् = उसको
अग्र्यं = सर्व प्रथम[9]
महान्तं = महा[10]
पुरुषं = पुरुष
आहुः = कहा गया है[11]।

१. स्वरूप से सर्व कारण शून्य रहते हुए ही पुरुष को अविद्या के कारण इन्द्रिय एवं इन्द्रिय व्यापारवत्ता की प्राप्ति हो जाती है। अतएव हंस अपने स्वरूप से ही एकता प्राप्त करता है क्यों कि जो हंस है वही वस्तुतः मुक्त गम्य है। निर्विकार आनन्द स्वरूप से इसका ज्ञान उदय अस्त से रहित है, यही प्रतिपाद्य है।

२. सभी कर्मेन्द्रियों की उपलक्षणा है।

३. जु धातु से निष्पन्न जवन का अर्थ वेग से चलने वाला अथवा दूर जाने वाला होता है। तात्पर्य है कि ज्ञात एवं अज्ञात पदार्थों का साक्षी होने से यह सर्वत्र ही पहले मौजूद है। केवल वृत्ति के चलने से इसमें चलने की प्रतीति हो जाती है। जैसे सर्व व्यापक आकाश में घट उपाधि के चलने से घटाकाश रूप से चलने की भ्रान्ति हो जाती

है। चूंकि जहां कहीं वृत्ति जाती है वहां ब्रह्म पहले से ही विद्यमान होता है अतः लगता है कि ब्रह्म वहां पहले ही तेजी से पहुँच गया है।

४ उसकी सत्ता के बिना सभी में सत्ता का अभाव है अतः अपनी अविद्या से कल्पित पदार्थों को सत्ता देकर मानो वह पकड़ लेता है।

५. सभी पदार्थों को ज्ञान से अभिन्न करके उन्हें प्रकाशित करता है यह भाव है। अथवा अन्तःकरण की वृत्ति को साक्षी रूप से बिना किसी चक्षु के ही देखता है। यहां भी सभी ज्ञानेन्द्रियों की उपलक्षणा इष्ट है।

६. अखण्ड स्वयं प्रकाश चिदेकरूप परमात्मा ज्ञात, अज्ञात, सभी पदार्थों में विद्यमान रहते हुए ही फिर उनको विषय भी कर लेता है। यह उसकी अद्भुत विलक्षणता है। यद्यपि वह सर्वज्ञ है तथापि अपने में तत् तत् पदार्थों के अज्ञान आश्रयत्व की कल्पना करके पुनः ज्ञान आश्रय की कल्पना करता रहता है। जिस प्रकार अविद्या ब्रह्म के ही आश्रय में रहती है एवं ब्रह्म में रहते हुए ही ब्रह्म को ही विषय करती है, ब्रह्म से अतिरिक्त अन्यत्र न रहने के कारण उसे ब्रह्म से अभिन्न भी कहा जाता है, एवं ब्रह्म को विषय करने के कारण उसे ब्रह्म से भिन्न भी कहा जाता है, ठीक इसी प्रकार अविद्या विशिष्ट हुआ हुआ ब्रह्म अविद्या के ही आश्रित रहते हुए पुनः अविद्या को ही विषय करता है। इस प्रकार विशिष्ट ब्रह्म अविद्या से भिन्न और अभिन्न दोनों ही बन जाता है। यह बात दूसरी है कि अविद्या स्वरूप से मिथ्या होने से उसका संसर्ग, स्वरूप, ज्ञान और वह स्वयं सभी अध्यस्त हैं, जब कि ब्रह्म केवल संसर्ग मात्र से अध्यस्त है।

७. जानने के योग्य सभी वस्तुओं से तात्पर्य है। वस्तुतः ज्ञान का विषय हो तब वेद्य कहा जायेगा। यदि योग्यता में भी प्रत्यय को मान कर जानने के योग्य को भी वेद्य कहा जाय तब भी उसकी ज्ञान की

योग्यता ज्ञान होने के पहले कैसे सिद्ध होगी ? विशारद परीक्षा उत्तीर्ण होने के पूर्व किसी में उत्तीर्ण होने की योग्यता कैसे मानी जाय ? अतः जो वेद्य है वह सब ज्ञान स्वरूप परमात्मा का विषय अवश्य है। यही सर्वज्ञता सिद्धि का बीज है। किञ्च समग्र अन्तः करण की वृत्तियों में वह साक्षी रूप से अपनी सन्निधि मात्र से ज्ञात भाव को पैदा कर देता है अर्थात् अंतःकरण की वृत्ति में घट जान लिया गया, यह भाव आत्म सन्निधि के कारण ही आता है। जिस अग्नि की सन्निधि से जल गरम हो जाता हैं उस अग्नि की गरमी तो स्वतः सिद्ध है। इसी प्रकार जिस साक्षी की सन्निधि मात्र से वृत्ति में ज्ञाता भाव आ जाता है वह स्वयं उसकी ज्ञाता हो इसमें कहना ही क्या है। इसीलिये साक्षी को सर्वज्ञ मानना पड़ता है। जो जानने के साधन रूप से प्रसिद्ध हैं यदि उन चक्षुरादि इन्द्रियों को जानने के लिये दूसरे साधन को (ज्ञान-ग्राहक) माना जाय तो फिर उसके लिये तीसरा इत्यादि मानकर अन्योन्याश्रय या चक्रिका या अनवस्था आदि दोषों को हटाना असंभव हो जायेगा। फिर तो घट का ज्ञान ही असंभव हो जायेगा एवं कुछ भी सिद्ध नहीं हो पायेगा। अतः मन, चक्षु आदि इन्द्रियां जानने के साधन रूप होने से दूसरे साधनों की अपेक्षा नहीं रखतीं। परन्तु दृश्य होने से ईश्वर की सन्निधि मात्र से जान ली जाती हैं। इस प्रकार बिना ही किसी करण के ईश्वर सब कुछ जान लेता है यही उसकी सर्वज्ञता है।

८. बिना मन आदि करणों के सर्वज्ञता की सिद्धि की गई। प्रश्न होता है कि क्या यह परमात्मा भी किसी के द्वारा जाना जा सकता है ? उत्तर है कि वह किसी के द्वारा नहीं जाना जा सकता। वह ज्ञान स्वरूप है। अतः यदि उसका ज्ञान किसी को हो सकता है तो इसका अर्थ होगा कि दूसरे के ज्ञान से वह ज्ञान वाला बना। जो दूसरे के ज्ञान से ज्ञान वाला बनता है वह ज्ञान रूप नहीं हो सकता।

जैसे घड़े को सूर्य प्रकाशित करता है क्यों कि घड़ा प्रकाश रूप नहीं है। परन्तु सूर्य को कोई प्रकाशित नहीं कर सकता क्यों कि वह प्रकाश रूप है। यदि ज्ञान स्वरूप आत्मा को दूसरा ज्ञान प्रकाशित करेगा तो वह दूसरा ज्ञान भी ज्ञान-स्वरूप होने से तीसरे ज्ञान की अपेक्षा करने लगेगा। एवं इस प्रकार अन्योन्याश्रय, चक्रिका, या अनवस्था प्राप्त हो जायेगी। फिर तो किसी भी ज्ञान की सिद्धि न होने के कारण जगत् में कहीं, किसी को, किसी का ज्ञान संभव न रह पायेगा। अतः ज्ञान स्वरूप परमात्मा का ज्ञान मानना सर्व प्रमाण विरुद्ध है। वैसे तो वेद्यत्व ही जड़त्व का लक्षण होने से ईश्वर में उसका निषेध स्वतः सिद्ध है। लौकिक व्यवहार में जिसे दूसरे का चेतन कहते हैं वह तो केवल देह, मन आदि संघात की क्रियाओं से केवल कल्पित चेतनत्व का अनुमान है, अनुभव नहीं। अतः चेतनान्तर का ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भी सिद्ध नहीं है। **नान्योतोस्ति द्रष्टा** इत्यादि यजुर्वेद इसमें प्रमाण है। जिसे सामान्यतः भगवान् का ज्ञान माना जाता है वह तो विराट् या हिरण्यगर्भ के स्थूल या सूक्ष्म कार्य-करण संघात के उत्कृष्ट व्यवहार से कल्पित भगवत् रूपता का अनुभव है। वस्तुतस्तु जिस प्रकार घट पटादि ज्ञात होकर के आत्मा की ज्ञान शक्ति को प्रकट करते हैं, एवं व्यवहार्य होकर के क्रिया शक्ति को, उसी प्रकार हिरण्यगर्भादि आत्मा की दिव्य विभूति का प्रतिपादन करते हैं। अतः ध्यानादि के द्वारा उनका दर्शन होकर जैसे घट ज्ञान से आत्मा की घट प्रकाश सामर्थ्य का बोध होता है वैसे ही आत्मा क दिव्य विभूतित्व का बोध होता है। यही भगवत् दर्शन माना जाता है।

९. सब का कारण होने से सबसे प्रथम **अग्रे भवं**। अथवा सब से प्रधान, क्यों कि सबका अधिष्ठान, सबका कारण और सबका नियन्ता है **अग्र्यं**। काल देश वस्तु से अनवच्छिन्न होने से भी

वह अग्र कहा जाता है। विवेक दृष्टि से सभी ज्ञानों के पूर्व आत्मा अवश्य रहेगा। अतः सबसे पहले वही होता है। इसीलिये सबका पूज्य है। इसके पीछे सब चलते हैं इसलिये अग्रगामी होने से भी अग्रय है। इसी दृष्टि से वेदों में इसे अग्नि भी कहा गया है।

१०. वस्तुतः अनवच्छिन्न।

११. वेदान्तों में तथा ब्रह्मनिष्ठों के द्वारा।

२०

नवम मंत्र से यहां तक जिस आत्मतत्त्व का प्रतिपादन किया उसकी प्राप्ति के लिये अमोघ परन्तु दुर्लभ और अगम्य रुद्र कृपा कटाक्ष रूपी कारण का प्रतिपादन करते हैं :—

अणोः अणीयान् महतः महीयान् आत्मा गुहायां निहितः अस्य जन्तोः। तम् अक्रतुं पश्यति वीतशोकः धातुप्रसादात् महिमानम् ईशम् ॥

अणोः=परमाणु से भी
अणीयान्=सूक्ष्मतर[१],
महतः=महत् तत्त्व से भी
महीयान्=बड़ा
आत्मा=आत्मा[२]
अस्य=इस
जन्तोः=विष्णु से तृण तक प्राणि के[३]
गुहायाम्=हृदय कमल में
निहितः=छिपा हुआ (आत्म रूप से स्थित है)[४]।
धातुप्रसादात्[५]=विधाता (रुद्र) की कृपा से (प्रसन्नता से)[६]
अक्रतु[७]=संकल्प रहित[८]
महिमानं=महिमा रूप (कर्मोद्भूत वृद्धिक्षय रहितता रूपी[९])
तं=उस[१०]
ईशं=ईश्वर से अभिन्न आत्मा को[११]
वीतशोकः=शोक रहित होकर[१२]
पश्यति=देखता है (अनुभव करता है)।

१. जो भी पदार्थ संसार में है वह अपने नित्य स्वरूप से ही अपने भाव वाला होता है, एवं उस स्वभाव से रहित हो जाने पर नहीं रह सकता। तात्पर्य है कि नित्य आत्म स्वरूप से सद्रूपता एवं नित्यात्म-रहित होकर असद्रूपता होने से सब वस्तुओं की उपाधिवाला आत्मा ही सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल पदार्थों में उनके स्वभाव-रूप (आत्म रूप) से स्थित है। यही परमात्मा का अद्वितीय रूप एवं प्रत्यगात्म रूप से अवस्थान है, जिसके ज्ञान से मोक्ष हो जाता है।

२. 'मैं' इस प्रतीति का साक्षी आत्मा कहा जाता है। **यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह** अर्थात् स्वप्न काल में जो सारे स्वप्नस्थ पदार्थों को **आप्नोति** प्राप्त अर्थात् व्याप्त करके रहता है; सुषुप्ति में सबको अपने अन्दर **आदत्ते** ग्रहण अर्थात् लीन करके रहता है; एवं जाग्रत् में विषयों का भोग करता है **अत्ति** वही आत्मा है। इन तीनों अवस्थाओं में भ्रमण करने पर भी वह निरन्तर बना ही रहता है। इस सतत भाव रूपता के कारण ही उसे आत्मा कहा जाता है। यद्यपि अहं प्रतीति केवल जाग्रत् और स्वप्न में ही रहती है तथापि सुषुप्ति काल का जाग्रत् और स्वप्न में मैं था इस प्रकार परामर्श होने से मैं प्रत्यय की साक्षिता कही जा सकती है। स्मरण हमेशा अनुभव पूर्वक होता है। यह सतत भाव अत् धातु के व्यापक भाव से संकेतित है। सातत्य के साक्षी रूप से जिस की **मा** अर्थात् प्रमा हो वही आत्मा है। तात्पर्य है कि समग्र विश्वके पदार्थों में क्षणिकता सिद्ध हो जाने पर उनकी क्षणिकता का ज्ञान जिसे होगा उसे स्वयं क्षणिक नहीं माना जा सकता। उसकी क्षणिकता को जानने के लिये अन्य क्षणिकता को मानने पर तो समस्या का समाधान कभी संभव ही नहीं होगा। वस्तुतस्तु किसी भी नदी आदि के प्रवाह में एक अखण्ड स्रोत अवश्य स्वीकार करना पड़ता है। इसी प्रकार विज्ञान-संततियों के प्रवाह के लिये जब तक एक नित्य-विज्ञान

नहीं स्वीकार किया जायेगा तब तक संतति प्रवाह अप्रामाणिक हो जायेगा। किञ्च क्षणिकत्व प्रत्यभिज्ञा सापेक्ष है एवं प्रत्यभिज्ञा अक्षणिक वस्तु होने पर ही संभव है। पुरुषान्तर को पुरुष दृष्ट अनुभूति का स्मरण कहीं देखने में नहीं आता। कभी किसी अनुभव करने वाले को 'मैं नहीं था' ऐसा अनुभव भी देखने में नहीं आता। अतः आत्मा को क्षणिक मानना बौद्धों का साहस मात्र है। यह आत्मा शब्द से ही स्पष्ट हो जाता है।

अत् धातु का अर्थ फैलना भी है। अतः जो अपने को फैलाकर के (manifest) अपना ही मा अर्थात् ज्ञान करे उसे आत्मा कहते हैं। वृत्ति के द्वारा स्वयं ही घटाकार बनकर ज्ञान करता है यह तो स्पष्ट ही है।

३. जनन धर्म से युक्त स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर का संग्रह है। इसमें स्थूल शरीर चक्षुरादि करणों के द्वारा ग्राह्य, पञ्चीकृत पञ्चमहाभूत का कार्य होकर सन्निहित है, एवं सूक्ष्म शरीर साक्षि-ग्राह्य एवं अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों का कार्य होकर अति सन्निहित है। कुछ लोग तो प्रत्यक्ष-जनन धर्म वाले स्थूल शरीर मात्र का यहां संग्रह करते हैं। ऐसा करने पर समष्टि अभिमानी उपास्य देवताओं का निराकरण हो जाने से योगाभ्यास रूपी स्वदेह विशिष्ट उपाधि को छोड़कर अथवा माता, पिता, गुरु आदि प्रत्यक्ष देवताओं को छोड़कर अन्य सभी उपासनाओं का निषेध प्राप्त हो जायेगा जो किसी भी आस्तिक को इष्ट नहीं हो सकता। वरन् पुराणादि के अनुरोध से तो यह मानना पड़ेगा कि हिरण्यगर्भ, विराट्, विष्णु, गणेश आदि समष्टि तत्त्वों की उपासना अधिक ग्राह्य है।

४. **नितरां** अर्थात् अत्यधिक **हितः** अर्थात् हितकारी होने से परमात्मा को निहित कहा जाता है। हृदय में रहकर जीव को स्वरूप प्रदान करने से अधिक हित और क्या हो सकता है। निहित का

छिपा हुआ अर्थ तो प्रसिद्ध ही है। यद्यपि आत्मा सर्वत्र है परन्तु विषय रूप से उपलब्ध होता है अतः विषयता रूपी घूंघट से ढका रहता है। बुद्धि गुहा सदा ही निर्विषय है। अतः वहां इसका निर्विषय ज्ञान होता है जो उसका साक्षात् ज्ञान है। आगे अक्रतु पद से इसी बात को कहेंगे।

५. धातुः प्रसादात्, इति पठन्ति विज्ञान भगवन्नारायण शंकरानन्दाः।

६. जगत् एवं जीव को धारण करने वाला होने से ब्रह्म धाता कहा जाता है। उसका प्रसाद अर्थात् करुणा कटाक्ष। प्रसन्नता से ही उपलब्ध होने के कारण इसको प्रसाद कहा गया। वस्तुतः ज्ञान प्राप्ति का अमोघ उपाय केवल शिव-कृपा ही है। तप-यज्ञ दान-व्रत तीर्थ-जप-योग आदि सभी साधन केवल ईश्वर प्रसन्नता की प्राप्ति के लिये हैं। वह सकारण या अकारण किसी भी तरह प्रसन्न हो गया तो ये सभी साधन निरर्थक रह जाते हैं। एवं जब तक वह प्रसन्न नहीं होता तब तक ये सारे साधन मिलकर भी ज्ञानोत्पत्ति में असमर्थ रह जाते हैं। ईश्वर के प्रसन्न होने तक जीव के साधनों की स्थिति है। आगे वे अहेतुक दया सिन्धु स्वयं ही अपने स्वरूप का ज्ञान देकर मुक्ति वधू के लावण्य देह की प्राप्ति करा देते हैं। विचक्षण पुरुष तो यह मानते हैं कि ईश्वर की प्रसन्नता सदा हेतु रहित ही होती है।

चूंकि बिम्ब ही प्रतिबिम्ब का नियामक होता है अतः ईश्वर के प्रसन्न होने पर ही जीव भी प्रसन्न हो सकता है। जिस प्रकार तालाब के मट्टी के हिस्से के नीचे बैठ जाने पर (प्रसन्न) निर्मल जल का दर्शन होता है उसी प्रकार विकार के नष्ट हो जाने पर निर्मल आत्मा का दर्शन होता है। हृदय की अतृप्त वासनायें ही मल हैं। जीव वासनामय ही है। ये वासनायें जीवोत्पत्ति काल में उसमें निहित कर दी गईं। एवं जब वे शान्त हो जायेंगी तब ईश्वर की प्रसन्नता रूपी

कृपा से जीव पुनः स्वरूप में स्थित हो जायेगा। प्रत्येक जीव को मानो एक अभिनय का पात्र (Role) दे दिया गया है। एवं जब तक वह अदा न कर लिया जायेगा तब तक रंगमञ्च से हटा नहीं जा सकता। व्यावहारिक काल में यह माना जा सकता है कि पात्र पूर्ण रूप से अभिनय में पूर्णता प्राप्त कर लेने पर मञ्च को छोड़ने में स्वतंत्र है। इस पूर्णता को धीमे या द्रुत प्राप्त करे यह जीव को स्वतंत्रता है। वस्तुतस्तु अभिनय सर्व अभिनेतृ सापेक्ष होकर ही पूर्णता को प्राप्त करता है। अतः मञ्च से व्यक्तिशः निवृत्ति असंभव है। यह बात दूसरी है कि व्यक्तिशः पूर्णता प्राप्त करने पर प्रयास का बोझ हट जाता है एवं दूसरे अभिनेताओं की सहायता करके उनमें भी पूर्णता लाने की तीव्रता लाकर मञ्चनिवृत्ति में सहायक बन जाता है। इस प्रकार मुक्त को ईश्वर भाव की (director) प्राप्ति तो सद्यः हो जाती है जिसमें उसे किसी तारतंत्र्य अथवा द्वैतभाव की प्रतीति नहीं रह जाती, परन्तु बिम्ब और प्रतिबिम्ब भाव दोनों की निवृत्ति तो साथ साथ ही संभव है। यह स्ववासनाओं की निवृत्ति ही यहां ईश्वर का प्रसाद समझना चाहिये जिससे ईश्वर सम्बन्धी यथार्थ ज्ञान हो जाता है।

अथवा जीव को धारण करने वाला अन्तः करण ही है। सुषुप्ति में अंतःकरण के अभाव से उपनिषदों ने ईश्वर भाव की प्राप्ति मानी है अतः जीव का धारण करने वाला होने से अन्तः करण ही धाता है। मल विक्षेप और आवरण दोषों से रहित होना ही उसका प्रसाद है। जैसे **सरः प्रसीदति** अर्थात् तालाब निर्मल हो रहा है। अन्तः करण के प्रसन्न होने पर ही आत्म-ज्ञान संभव होता है। अथवा इन शरीरों को धारण करने वाली इन्द्रियों को धातु कहा जा सकता है। अतः इन्द्रियों के प्रसाद से अर्थात् उनके विषय रूपी दोष दर्शन के बल को हटाने पर ही आत्म-प्राप्ति संभव है। कामना ग्रस्त प्राकृत

पुरुषों के लिये आत्मा दुर्विज्ञेय है, यह भाव है। सत्त्व-शुद्ध व्यक्ति की ही आत्म-विचार में प्रवृत्ति होती है। अथवा इन्द्रियों का मन के सहित प्रत्यगात्मा के विषय में प्रवीण बनने से नैर्मल्य (प्रसाद) भाव को प्राप्ति हो जाती है, एवं वे विषय रूप पापों के द्वारा आकृष्ट नहीं होतीं। इस प्रकार उनका प्रसाद ज्ञान साधक बन जाता है।

उपनिषद् के अन्त में देव भक्ति एवं गुरु भक्ति को साथ साथ बताया गया है, अतः ज्ञान को धारण कराने वाला होने से गुरु भी धाता पद का वाच्य है। शुश्रूषादि के द्वारा गुरु की प्रसन्नता आत्म-ज्ञान का साक्षात् कारण है यह तो निर्विवाद है। ब्रह्म-निष्ठ होने से गुरु की ईश्वर रूपता एवं उसकी प्रसन्नता ईश्वर की प्रत्यक्ष प्रसन्नता है। किञ्च धाता का अर्थ समग्र जगत् को धारण करने वाला होने से आत्मा भी हो सकता है। जब जीव का अपने स्वरूप से अत्यधिक प्रेम हो जाता है तो यही उसकी खुद अपने ऊपर प्रसन्नता (प्रसाद) है। ऐसी कृपा होने पर ही अन्य बाह्य विषयों का परित्याग करके वह प्रत्यगात्मा की तरफ जिज्ञासा एवं प्रेम पूर्वक प्रवृत्त होता है। इस कृपा से जीव-भाव की निवृत्ति होकर स्वरूप स्थिति सहज हो जाती है।

विश्व के समग्र नियमों का विधान करने के कारण वेद को भी धाता कहा जाता है। अतः बार बार वेदाध्ययन से वेद अपने गुह्य रहस्यों को जब प्रकट करने लगता है तभी वेद के लक्ष्यार्थ ब्रह्म का ज्ञान संभव है। बार बार अध्ययन ही वेद की सेवा है जो उसकी प्रसन्नता का साधन है। प्रमाणगत संशय की निवृत्ति इसी से होती है।

उपर्युक्त सभी का सन्निवेशात्मक अर्थ ही श्रुति को इष्ट है, क्यों कि कुछ अर्थ प्रमाणगत दोष की निवृत्ति के लिये हैं तो कुछ प्रमेय और प्रमातृ गत। सभी दोषों की निवृत्ति होने पर प्रज्ञप्ति-मात्रता की सिद्धि संभव है।

७. अक्रतुरितिपाठे अधिकारोविशेषणम् ।

८. क्रतु का मूल अर्थ निश्चय पूर्वक संकल्प है। सामान्य व्यक्ति निरन्तर विषय भोग का संकल्प करता रहता है। एवं उसके लिये लौकिक साधनों को अपनाता है। इनसे निवृत्त करने के लिये श्रुति ने दिव्य भोगों का निरूपण करके उसके लिये श्रौत कर्मों का विधान किया। चूंकि दिव्य भोग लौकिक भोगों की अपेक्षा अत्यधिक श्रेष्ठ होते हैं अतः मनुष्य यह निश्चय कर लेता है कि मैं वैदिक कर्मों के सहारे दिव्य भोग ही प्राप्त करूँगा। इस दृढ़ निश्चय को करने वाला क्रतु कहा गया एवं उसको जीवन पद्धति भी क्रतु कही गई। इन दोनों क्रतुओं का जिसने त्याग कर दिया वह अक्रतु है, अर्थात् लौकिक एवं दिव्य विषय भोगों के संकल्प से रहित है। आत्मा का विषय से किसी भी प्रकार सम्बन्ध बनता नहीं। अतः यह केवल संकल्प मात्र से कल्पित है। यह उसकी नित्य संकल्प रहितता ही यहां कही जा रही है। यद्यपि मैं एक हूँ बहुत हो जाऊं इत्यादि संकल्प क्रतु कहे जा सकते हैं परन्तु ये संकल्प भी अविद्याद्वारा अविद्याग्रस्त शुद्ध में कल्पित करता है। वस्तुतः वे वहां नहीं। अक्रतुत्व पारमार्थिक है और जीव जगत् की अन्यथा अनुपपत्ति से क्रतुत्व कल्पित है यह हृदय है।

९. सामान्यतः पदार्थों में गौणत्व और प्रधानत्व गुण क्रिया निमित्तक हुआ करता है। परन्तु ब्रह्म की महिमा निरवग्रह होने से इनसे वृद्धि ह्रास को प्राप्त नहीं होती। वस्तुतस्तु जहां कहीं गुण कर्म अर्थात् महिमा है वहां उसी की महिमा है या वह स्वयं ही महिमा रूप है। अतः पारमार्थिक दृष्टि से वही महिमा है, एवं व्यावहारिक दृष्टि से उसकी ही महिमा है, तथा प्रातिभासिक बुद्धि से जो भी महिमा है उसकी अन्तिम सीमा वही है।

१० अणोरणीयान् इत्यादि धर्मों के द्वारा जिसका दर्शन अतिदुर्गम बताया उसी प्रत्यगात्मा को अब उपाय के द्वारा सुलभ रूप से निर्देश करना है। श्रुतियों में कहीं कहीं ब्रह्म को वाणी और मन से अगम्य बताया है और कहीं कहीं मन और वाणी का विषय। यद्यपि स्थूल दृष्टि वालों को यह विरुद्ध लगता है परन्तु श्रुति का भाव स्पष्ट है। लौकिक वाणी और असंस्कृत मन के द्वारा असम्भव होने पर भी गुरु की विज्ञान से भावित वेद वाणी व शास्त्र न्याय साधनादि से संस्कृत अन्तः करण के द्वारा वह अत्यन्त सुलभता से ही अपरोक्ष रूप से जान लिया जाता है।

११. सब प्रकार से निरपेक्ष त्वं पदार्थ रूप प्रत्यगात्मा को तत् पदार्थ भूत अद्वितीय ईश्वर रूप से यहां तात्पर्य है। त्वं पद से भिन्न होने पर वह अचेतन होकर अस्वतंत्र होने से ईश पद का वाच्य नहीं रह पायेगा। इसी प्रकार तत् पद से भिन्न होने पर परिच्छिन्न होकर देश-काल-वस्तु के परतंत्र होने से भी ईश नहीं रह जायेगा। इस प्रकार निर्विशेष ईशता की सिद्धि जीव और ईश्वर की एकता से ही हो सकती है।

१२. शोक से यहां अविद्या समझ लेना चाहिये। अर्थात् अविद्या की निवृत्ति होने पर ही ईश दर्शन संभव है। अथवा जब ईश को देखता है तब शोक अर्थात् तद्रूप संसार निवृत्त हो जाता है। दोनों अर्थों का समन्वय करके ऐक्य ज्ञान और शोक निवृत्ति को समकालिक कहा गया।

२१

शिव कृपा से आत्म-ज्ञान की सिद्धि में मन्त्र द्रष्टा श्वेताश्वतर महर्षि स्वानुभव से दृढ़ प्रत्यय उत्पन्न करते हैं :—

वेद अहम् एतम् अजरं पुराणं सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात् ।
जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य ब्रह्मवादिनः हि प्रवदन्ति नित्यम् ॥

अहं = मैंने
एतं = इस[1]
अजरं = जरा से रहित[2]
पुराणम् = उत्पत्ति से रहित[3]
विभुत्वात् = विविध रूप से बनने के कारण[4]

सर्वात्मानं=सबके प्रत्यगात्मा रूप,[४]

सर्वगतं=सर्व व्यापी को[६]

वेद=जान लिया हं।

यस्य=जिस (आत्मा) के

जन्मनिरोधं=जन्म और मरणको

प्रवदन्ति[७]=बकते हैं;[८]

हि=निश्चय रूप से

ब्रह्मवादिनः=ब्रह्म वेता लोग

नित्यं=(उसको) जन्म मरण रहित[१]

प्रवदन्ति=अनुभव और युक्ति से सिद्ध करते हैं।

१. पूर्व अध्यायों में प्रतिपादित तत्त्व का प्रत्यक्ष रूप से निर्देश कर के आचार्यपदारूढ़ श्वेताश्वतर महर्षि उस तत्त्व की अपने हाथ में रखी गोली की तरह स्वानुभूति बतलाते हैं।

२. जीर्ण होने से अर्थात् अपक्षय होने से बुढ़ापे को जरा कहा जाता है। आत्मा अपक्षय से रहित होने के कारण अजर कहा गया, अथवा **अजरा निर्जरा देवाः** इत्यादि कोशों के आधार पर अजर का अर्थ देव अर्थात् अप्राकृत पदार्थ। तात्पर्य है कि शिव प्रकृति और प्राकृत दोनों भावो से रहित है। क्यों कि उसमें किसी भी प्रकार की विपरिणामधर्मिता नहीं है।

३. सारी उत्पत्तियों को प्रारम्भ करने वाला होने से वह स्वयं उत्पत्ति से रहित है। तात्पर्य है कि कितने भी पुराने काल में चले जाओ उस समय भी वह पुराना ही था। जरा रहित कहने से यह सन्देह हो सकता था कि वह नया होने से पहले नहीं था अतः उत्पत्ति वाला हुवा। उसके निराकरणार्थ पुराण कहना आवश्यक हो गया। किञ्च **पुरापि नव एव** इस व्युत्पत्ति से वह सर्वदा एक रूप है यह भाव भी आ जाता है। गीता के **कविं पुराणं** का भी यही अर्थ है।

४. विपूर्वक भू धातु का अर्थ यह बताने के लिये है कि सद् रूप से एक होने से भी वह अविद्यास्पन्द से आकाश, जल, देव, मनुष्य, कुत्ता, चाण्डाल, आदि अनेक रूपों से वैसे ही प्रतीत होता है जैसे

एक ही मशाल चक्र, अण्ड, आदि अनेक रूपों से प्रतीत होती है। हेतुत्वेन इसको बताने का तात्पर्य यह है कि वह कूटस्थ रहते हुए भी सर्व रूप सर्वाश्वासी आत्मा व सब का प्रत्यगात्मा रूप **सर्वेषाम् आत्मा स्वरूपं इति** वा होकर के सब में व्यापक है।

५. सब के 'मैं' इस ज्ञान का साक्षी होने से वह सर्वात्मा है। घट पटादि पदार्थों का सत्ता रूप से वह आत्मा है।

६. आकाश की तरह उसकी व्यापकता है। जैसे आकाश घट के भीतर घुसता नहीं, फिर भी घट में गया हुआ प्रतीत होता है, वैसे ही आत्मा बिना किसी उपाधि में घुसे हुए उन सब में घुसा हुआ प्रतीत होता है। देश, काल, वस्तु सभी दृष्टियों से व्यापक होने के कारण वह सर्व परिच्छेद से रहित है एवं इसीलिये सब वस्तुओं में प्राप्त है। व्यापी से व्याप्य स्वतंत्र नहीं होता वरन् उसका कार्य ही होता है। अतः सर्वगतम् का तात्पर्य सब कुछ उसका कार्य है। अथवा सर्व-व्यापक होने से उसको सब कुछ (सर्व) ज्ञात (गत-अवगत) है। इस प्रकार सर्वज्ञता भी इसके द्वारा निर्दिष्ट है।

७. **न वदन्ति इति तु युक्तः पाठः इति नारायणः।**

८. जिसका जगत् जन्म और जगन्निरोध अर्थात् जगत् संहार कर्म है ऐसा ब्रह्मवादी कहते हैं। यह अर्थ भी सरलता से लग जाता है। अथवा प्रथम प्रवदन्ति का कर्ता अज्ञानी मूढ़ बकने वालों को समझ लेना चाहिये। अथवा यस्य=जिस ब्रह्म का जन्म अर्थात् उत्पत्ति का निरोध अर्थात् अभाव ब्रह्म वादी कहते हैं, अर्थात् ब्रह्म की उत्पत्ति नहीं है ऐसा प्रतिपादन करते हैं।

विवेक दृष्टि से तो यह दोनों वाक्य पूर्व पक्ष एवं उत्तर पक्ष से संगततर हो जाते हैं। तात्पर्य है कि पहले अज्ञान दशा में ब्रह्मवादी अर्थात् वेद के कर्म काण्ड को जानने वाले (यस्य) परमात्मा से उत्पत्ति और नाश प्रतिपादन करते हुए जन्मान्तर, स्वर्ग, आदि व्यवस्थाओं

से आपेक्षिक नित्यत्व की व्यवस्था करते हैं, उसी से ब्रह्म-ज्ञान से अज्ञान नाश करने के बाद ज्ञान दशा में (ब्रह्मविदः) ब्रह्मविद् वरिष्ठ लोग जन्म का निरोध अर्थात् उत्पत्ति की असंभवता का प्रतिपादन करते हुए निश्चित, असन्दिग्ध, निरपेक्ष, नित्यता का प्रतिपादन करते हैं। इस अवस्था में न केवल जन्म का प्रध्वंसाभाव है वरन् प्रागभाव भी है। ज्ञान दृष्टि से आज तक जन्म और मरण आदि विकार उत्पन्न हुए ही नहीं। अथवा (यस्य) जिन (ब्रह्मवादिनः) ब्रह्मवादियों का (नित्यं) ब्रह्म जन्मनाशक (जन्म निरोधं) या जन्म नाश रूप है, यह भाव है।

९. धर्म और धर्मी के भेद को निवारण करने के लिये यह दल दिया गया है। भाव है कि जन्म-मरण-शून्य रूप अविनाशी आत्म तत्त्व है न कि जन्म-मरण रहित वाला आत्म तत्त्व है। अथवा महा प्रलय, महा सर्ग, सुषुप्ति, प्रबोध एवं इनकी अन्तरालावस्थाओं में उसकी एक रूपता है। जिस ब्रह्म तत्त्व को ब्रह्मवादी ऐसा बताते हैं (तम् अहं वेद) उसको मैंने जान लिया, इस प्रकार पूर्व से अन्वय बना कर, वह ब्रह्म ही मैंने प्रतिपादित किया है, यह तात्पर्य सिद्ध हो जाता है।

इति तृतीयोऽध्यायः।

—०—

अथ चतुर्थोऽध्यायः

विधाता की कृपा से ईश दर्शन बताया। परन्तु उसकी कृपा का उपाय नहीं बताया। अब इस अध्याय में विविध विभूति रूप से विद्यमान रुद्र की प्रार्थना ही एकमात्र प्रसन्नता का उपाय है, यह बताना इष्ट है। यद्यपि उसकी प्रसन्नता अकारण ही होती है, पर जब तक वह प्रसन्नता नहीं होती तब तक साधक के लिये प्रार्थना करते हुए ही काल यापन सम्भव है। यह प्रार्थना किसी पदार्थ की भिक्षा नहीं है। परन्तु जीव और ईश्वर के स्वरूप का भिन्न भिन्न प्रकारों से निर्णय करते हुए, ईश्वर ही माया बल से जगत् का कारण है, जीव ही मायाधीन होकर बद्ध है, एवं स्वरूप से दोनों एक हैं, तथा द्वैत अज्ञान की प्रकृति का है, अतः मिथ्या है, एवं बाध के योग्य है, एवं एक अद्वितीय शिव ही वरणीय है, इस प्रकार का चिन्तन सम्यक् ज्ञान की प्रार्थना है। इदानीं काल का ज्ञान हो जाय, ज्ञान हो जाय, मोक्ष हो जाय, मोक्ष हो जाय, ऐसा रटना नहीं।

सर्व प्रथम मुमुक्षु ईश्वर स्वरूप प्रतिपादन के द्वारा सम्यक् ज्ञान की प्रार्थना करता है:—

यः एकः अवर्णः बहुधा शक्तियोगात् वर्णान् अनेकान् निहितार्थः दधाति। वि च एति च अन्ते विश्वम् आदौ सः देवः सः नः बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥

बहुधा=बहुत प्रकार की[१]
शक्तियोगात्=शक्तियों के संयोग से[२]
यः=जो
एकः=भेद शून्य
अवर्णः[३]=वर्ण रहित[४] (महादेव)
अनेकान्=भिन्न भिन्न प्रकार के
वर्णान्=वर्णों को[५]
निहितार्थः=[६]बिना प्रयोजन के[७]
दधाति[८]=धारण करता है,
च=एवं
अन्ते=प्रलय में

क्षिति=लीन
पति=कर लेता है,[१]
च=तथा
आदौ=सृष्टि के पहले
सः=वह
देवः=स्वयं प्रकाश महादेव
विश्वम्=विश्व को (अपने से अभिन्न करके रखता है[१०]);
सः=वह महादेव
नः=हम लोगों को
शुभया=कल्याण कारी[११]
बुद्ध्या=बुद्धि से
संयुनक्तु=संयुक्त कर दे[१२]।

१. यद्यपि महादेव की वास्तविक शक्ति तो एक ही है परन्तु अनेक प्रकार के कार्य करने की वजह से उसके नाम, रूप, गुण आदि बहुत प्रतीत होकर उसे बहुत प्रकार की कहा और समझा जाता है। ज्ञान, इच्छा और क्रिया रूप से इसका भेद सुप्रसिद्ध है। ज्ञान में पुनः देखना, सुनना, देखने में पुनः रंग, आकार, रंग में पुनः सफेद काला, सफेद में पुनः मलाई, बगुला आदि आदि अनन्त शाखायें प्रशाखायें होकर ज्ञान शक्ति अनन्त प्रकार की हो जाती है। इसी प्रकार इच्छा और क्रिया-शक्ति को समझ लेना चाहिये। (यह शक्ति के चेतन प्रकार के भेद का विस्तार समझा जा सकता है। जड़ शक्ति पुनः आकाश, पृथ्वी आदि अनन्त विषय भेद वाली बन जाती है। इस प्रकार शक्ति की अनन्तता के कारण ही आगमों में अनन्त शक्ति का, एवं प्रत्येक शक्ति से विशिष्ट शिव का अनन्त उपासना साम्राज्य विस्तृत होता जाता है। वैदिक देवता वाद का भी यही रहस्य है। यह शक्ति और शक्तिमान् का सिद्धान्त विश्व के किसी भी मजहब या दर्शन में नहीं पाया जाता। इसमें ब्रह्म की अद्वितीयता अक्षुण्ण रह कर विश्व नियामकता एवं विश्व कर्तृता संगततर हो जाती है। इसीलिये हमारे सभी देवता शक्ति सम्पन्न एवं सभी शक्तियां देव सम्पन्न हैं। अनन्त शक्तियां, एवं प्रति शक्ति से विशिष्ट हुवा हुवा अनन्त शिव महादेव और महादेवी के रूप से वैसा ही अखण्ड बना रहता है जैसे आकाश

और उसकी जगह देने की शक्ति। घड़े, कमरे, किले, सूचिच्छिद्र आदि से अनन्त रूपों में प्रतीत हुआ हुआ आकाश अनन्त तरह के जगह देने के कारण अनन्त क्रियाओं का साधक बनकर के भी उन उन रूपों से भिन्न रहते हुए अखण्ड आकाश से अभिन्न ही बना रहता है। अतः जब तक उस अखण्ड आकाश की प्राप्ति नहीं हो जाती तभी तक यह खण्ड आकाश अलग अलग लगते हैं। वैसे ही निर्विशेष परमात्म तत्त्व की प्राप्ति के पूर्व ही देवतागण अलग अलग लगते हैं। प्रत्येक जीव जिस प्रकार ब्रह्म से अभिन्न है उसी प्रकार उसकी शक्ति भी ब्रह्म शक्ति से अभिन्न है। जिस प्रकार ब्रह्म शक्ति का ब्रह्म से दृष्ट होना ही उसका ब्रह्म में लीन हो जाना है उसी प्रकार जब जीव अपनी शक्ति का दर्शन कर लेता है तो वह शक्ति उसमें लीन हो जाती है। शक्ति के कार्यों के दर्शन से शक्ति लीन नहीं होती वरन् और दूर होती जाती है। सारी साधनाओं का रहस्य प्रत्येक जीव का अपनी शक्ति का पता लगाकर उसको अपने में लीन करके यामल भाव को प्राप्त करना है। दो को पिघला कर एक बना देना (welding) यामल भाव है। जिस प्रकार घटादि उपाधि के आकाश रूप से एक हो जाने पर घटाकाश और महाकाश का भेद नहीं रह जाता उसी प्रकार यामल भाव ही महादेव से एक हो जाना है।

कुछ लोग यहां तत्त्व से ओंकार को लेकर मन्त्रार्थ करते हैं। तब 'बहुधा' का अर्थ हो जायेगा अ, क, च आदि अनेक अक्षर अथवा शाखा, अंग, उपाङ्ग, उपवेद, आदि अनेक प्रकार से ओंकार का विस्तार।

२. शक्ति अर्थात् माया, अविद्या, अव्यक्त आदि नामों से कही जाने वाली। यद्यपि योग शब्द से दो के जुड़ने का बोध होता है परन्तु शक्ति और शक्तिमान् दो नहीं हुआ करते। अतः यहां लाक्षणिक योग शब्द समझना चाहिये। जिस प्रकार चैत्र और चैत्र की

शक्ति का न भेद ही है और न अत्यन्त अभेद। भिन्न मानने पर सत् से भिन्न होने से उसे असत् मानना पड़ेगा और असत् मानने पर वह जगत् कार्य को उत्पन्न करने में असमर्थ हो जायेगी। सद्असद् उभय रूप मानना तो सर्वथा न्याय विरुद्ध है। अतः सदसत् से विलक्षण ही मानना पड़ेगा। कुछ लोग कार्याधिक्य को देखकर शक्ति का बढ़ना भी मानते हैं परन्तु यह न्याय संगत नहीं है। शक्ति का अधिक अभिव्यक्त होना ही कार्य की अधिकता के प्रति कारण है।

३. **वर्ण इति वाच्छेदः।**

४. **वर्णो द्विजादौ, शुक्लादौ, स्तुतौ, रूप यशोक्षरे, विलेपने कथायां च वर्णस्यात् गणभेदयोः** इत्यादि कोश के आधार पर वर्ण के कई अर्थ होते हैं। उस अखंड आत्म तत्त्व में ब्राह्मणादि जाति, शुक्लादि रंग, रूप, यश आदि का भी निषेध है, एवं अद्वितीय असंग होने के कारण उस पर किसी चीज का विलेप या किसी अन्य गणादि से भेद भी असंभव है। अतः इन सभी का निषेध करने में उसकी भेद रहितता का प्रतिपादन करना ही श्रुति का वास्तविक तात्पर्य है। उसकी निर्विशेषता समग्र है। जिससे उसका वर्णन किया जाय ऐसे किसी भी नाम रूप से शून्य बताना भी तात्पर्य है।

अथवा **वर्णः** पाठ समझना चाहिये। **वर्ण्यते इति वर्णः।** अर्थात् संसार के सभी पदार्थ और अनुभूतियों में उसी का वर्णन होने से उसे वर्ण कहा गया। विश्व में सभी कुछ सत्ता का ही विलास है यह तात्पर्य है। अथवा **एकः वर्णः** अर्थात् सजातीय, विजातीय, स्वगत भेद रहितता से भी उसका वर्णन किया जा सकता है।

वर्ण से ओंकार का तात्पर्य भी होता है। चूंकि ओंकार ही अपने अकार, उकार, मकार के द्वारा ब्रह्म का वर्णन कर देता है, अथवा एक रहते हुए ही वह ओंकार रूप वर्णता को प्राप्त हो जाता है। **वर्णकः स्तुतिविस्तारे शुक्लाद्यत्युक्तिदीपने** इत्यादि कोशों के आधार पर ब्रह्म का ही विस्तार करने से इसे वर्ण कहा गया। ओंकार में निहित अकारादि ही पद वाक्य रूपों को धारण करते हैं। तब शक्ति योग का अर्थ होगा पद और वाक्यों में जिन अर्थों का ज्ञान कराने की शक्ति है। वस्तुतः अक्षरों का समुदाय पद है, पदों का समुदाय वाक्य है। वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो केवल वाक्य में ही अर्थावबोधन सामर्थ्य होने से शक्ति माननी चाहिये। प्राकृत रूप से भाषा ज्ञान के काल में वाक्य के द्वारा किसी क्रिया को प्रतिफलित होते देख कर वाक्य का क्रिया में शक्ति बोध उत्पन्न होता है। पुनः किञ्चित् क्रिया भेद एवं वाक्य भेद से अवापोद्धार के द्वारा समझने की सरलता के लिये पदों में शक्ति की कल्पना की जाती है। जैसे, गौ को लाओ, ऐसा दादा के कहे जाने पर बाप को गाय लाता देखता है, एवं गौ को खोलो, ऐसा कहने पर गाय को खोलते देखता है। दोनों वाक्यों में गौ को समान देख कर एवं क्रिया में भी उसको समान देख कर 'गौ को' पदका ज्ञान हो जाता है। फिर 'बकरी को लाओ', और 'बकरी को खोलो' एवं तत्प्रयुक्त क्रियाओं को देखकर 'लाओ' और 'खोलो' का भी ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार धीरे धीरे पदों में शक्ति बोध होने लगता है। फिर धीरे धीरे 'गाय से' 'गायको' 'गाय के लिये' इत्यादि वाक्य और तत्प्रसूत क्रियाओं को देखकर प्रातिपदिक और प्रत्यय में शक्ति बोध होने लगता है। संस्कृत को छोड़ कर विश्व की सभी भाषायें एवं भाषाविद् यहीं रुक जाते हैं। संस्कृत इसी लिये देव भाषा है कि वह उससे आगे जाती है। एवं प्रातिपदिकों में भी धातु, उपसर्ग, उणादि प्रत्ययों के द्वारा आधार भूत शब्दों में शक्ति का बोध करने की सामर्थ्य देती है। यद्यपि भाषा विज्ञान (Philology) ने आधुनिक युग में अन्य भाषाओं में भी धातु इत्यादि देखने का प्रयास किया है परन्तु मैक्समूलर, ह्विटनी, मोनियर विलियम्स, रॉथ, आदि इस विज्ञान के संस्थापकों ने स्पष्टतः स्वीकार

किया है कि संस्कृत अध्ययन से ही उन्हें यह सूत्र हाथ लगा। इतना ही नहीं संस्कृतेतर किसी भाषा में ऐसी नियम बद्धता नहीं मिलती क्यों कि वे भाषायें वस्तुतः भाषा विज्ञान के आधार पर बनी ही नहीं। यह स्पष्ट होने पर भी संस्कृत का अन्य भाषाओं की तरह भाषा मानना वैसा ही अन्धविश्वास है जैसा वैदिक धर्म को अन्य मजहबों की तरह एक मजहब मानना। वस्तुतः धातु आदि तक भी न ठहर कर तांत्रिकों ने एवं कुछ अंशों तक महाभाष्यकार पतञ्जलि तथा एकाक्षरी कोशकारों ने प्रत्येक अक्षर में ही शक्ति को स्वीकारा है। इस प्रकार की शक्ति का आधान ईश्वर की इच्छा से ही होता है। इसीलिये निहितार्थ कहकर शक्य रूप से अर्थों का जिसने समर्पण किया वह महादेव ही निहितार्थ है। **निहितार्थान्** पाठ में तो वर्ण समर्पित अर्थों को पद वाक्य रूप से धारण करता है यह तात्पर्य हो जायेगा।

५. चित् अचित् रूप अनेक जाति, रंग, रूप, यश, विलेपनादि को धारण करता है। यद्यपि स्वतः अवर्ण बना रहता है तथापि अविद्या के द्वारा अनेक नाम रूपों वाला प्रतीत होता है। अथवा शब्दों का वर्णन अर्थात् निरूपण करने के कारण पदार्थ वर्ण कहे गये हैं। **शब्दान् वर्ण्यन्ते इति वर्णाः।** एवं **वर्ण्यन्ते अनेन इति** इस प्रकार के विग्रह से अर्थों का निरूपण करने के कारण शब्द भी वर्ण कहे गये हैं। तात्पर्य है कि अनेक प्रकार के शब्दों को और अनेक प्रकार के अर्थों को वह धारण करता है। ब्रह्म रूप एवं ओंकार शब्द इन अनेक रूपों में एकसा ही बना रहता है। ऋगादि भेदों से भिन्न प्रतीत होने पर भी उनकी ओंकार रूप से भिन्नता वैसे ही नहीं हो पाती जैसे इन्दिरा, जगजीवन आदि नाम और रूपों के भेद होने पर भी वे सब चाण्डाल से अभिन्न ही बने रहते हैं।

६. **निहितार्थान् पठति नारायणः।**

७. निहित अर्थात् अगृहीत एवं अर्थ अर्थात् प्रयोजन। अतः भाव हुआ कि किसी भी प्रयोजन को न ग्रहण करके अर्थात् प्रयोजन के बिना वह इन रूपों को धारण करता है। इसीलिये भगवान् गौड़पाद सृष्टि को उस देव का स्वभाव मानते हैं। लीला रूपी प्रयोजन भी ऊबने को हटाने वाला प्रतीत होने से खटकता है। जहां केवल आनन्दोल्लास रूपी लीला हो वहां तो स्वभाव ही मानना पड़ जावेगा। अथवा निहित अर्थात् निक्षिप्त अर्थात् फेंक दिया गया है अर्थ याने प्रयोजन जिसमें से वह निहितार्थ कहा जा सकता है। तात्पर्य है कि परमात्मा में सब प्रयोजन परिपूर्ण होने से न कुछ अनवाप्त है, न कुछ अवाप्तव्य है। जैसे पत्ते में नाडियां (veins) या शंकु फैले हुए होते हैं उसी प्रकार परमात्मा में अपनी व्याप्ति शक्ति के सम्बन्ध से अनन्त पदपदार्थ विद्यमान रहते हैं। वह अनन्त पद पदार्थ स्वयं अपने आप ही कभी व्यक्त होते हैं कभी अव्यक्त। जिसका जब व्यक्तीभवन हो गया उसको तब सृष्ट कहते हैं एवं ऐसा न होने पर प्रलय कहते हैं। परन्तु किसी भी समय उनका अत्यन्त विनाश नहीं है और न अत्यन्त उत्पत्ति ही। स्रष्टव्य विषय के ईक्षण में यह सब (अर्थ) पद-पदार्थ (निहित) छिपे रहते है इसलिये भी इसको निहितार्थ कहा गया। **अर्थ्यते अनेन इति अर्थः।** इस प्रकार शब्द को भी अर्थ कहते हैं, एवं **अर्थ्यते इति अर्थः** इस प्रकार रूप को भी अर्थ कहते हैं। अतः आन्तरिक अभिप्राय यही है कि वह पहले अपने ईक्षण रूपी क्रिया में नाम रूप का व्याकरण करता है एवं उसके बाद बाहर। अपने में छिपे हुए शब्दार्थों का प्रकट करना ही सृष्टि है।

८. **केचित् तु वि दधाति इति स्वीकुर्वन्ति। विचैति शास्त्रदीपिका पाठः।**

९. पक्षान्तर में वि अर्थात् विविधता को एति अर्थात् जाता है। तात्पर्य है कि विविध भाव को प्राप्त हो जाता है। अथवा वह सब

चीजों के विशेष भाव को अपने अन्दर ले जाता है अर्थात् लीन करता है। यहां अन्तर्भावित णिच् समझना चाहिये। **वि एति गमयति विश्लेषयति सर्वम्**। सब चीजों को कारण रूप में विश्लिष्ट कर देता है यह तात्पर्य है।

अथवा आदि में विश्वं अर्थात् विश्व-रूप हुआ हुआ अन्ते अर्थात् अवसान में व्येति अर्थात् व्यय भाव को प्राप्त होता है अर्थात् कार्य भाव को छोड़ के कारण भाव को प्राप्त होता है। इस अर्थ में द्वितीय च शब्द से मध्य काल में भी वह रहता है, यह तात्पर्य है।

अथवा ओंकार रूप आदित्य की तरह सारे अर्थों को प्रकाश करने वाला देव रूप-सृष्टि के पहले (आदौ) विद्यमान होकर अन्त में अर्थात् नाम रूप से रहित होकर स्थित हो जाता है। तात्पर्य है कि विविध अभिधेय रूप से और अभिधान रूप से वही बन जाता है। अथवा एक अकार ही ह्रस्व, दीर्घादि अनेक भेदों से अपनी सामर्थ्य से उकारादि वर्णों को भी प्राप्त कर लेता है एवं अपने ऊपर अध्यस्त ककारादि से विविधता को प्राप्त हो जाता है। चूंकि अकार में यह सब होने की सामर्थ्य है इसीलिये उसे निहितार्थ कह दिया गया। आगमिक तो ऐसा मानते हैं कि एक वर्ण अर्थात् शब्द तत्त्व कुण्डलिनी शक्ति के सम्बन्ध से एक दो तीन आदि वेष्टनों से वेष्टित हुआ हुआ स्वर एवं व्यञ्जनों को निश्चित प्रयोजनों के अनुसार करके पुनः प्रयोजन का अन्त होने पर सर्व-भेदशून्य शब्द तत्त्व में पुनः लीन हो जाता है। इस पक्ष में अर्थ और शब्द का अभेद होने से अर्थ भी शब्द के साथ ही लीन हो जाता है।

योगियों की दृष्टि से तो प्रथम योग सिद्धि आने पर वह एक निर्विकल्प प्रतीति का विषय अवर्ण होते हुए भी हार्दपिण्ड, नीहार आदि अनेक प्रकार का मन और पवन के विधारण और आयास शक्तियों के सम्बन्ध से भेद वाला होकर प्रतीत होता है, यही उसका निहित अर्थ अर्थात् योग सिद्धि का प्रयोजन है। योग सिद्धि रूपी विघ्न के निवृत्त हो जाने पर यह भेद सारे समाप्त हो कर पुनः निर्विकल्प ही रह जाता है।

१०. यद्यपि पदार्थ रूप से विश्व भिन्न भिन्न नाम रूपों वाला है परन्तु सत्ता से उनमें कोई भेद न होने से सत्ता से वे अभिन्न कहे जाते है। अन्त में व्यय हो जाता है, ऐसा कहने से समूल नाश की प्राप्ति हो जाती, अतः व्यय धर्म से अस्पृष्टता बताने के लिये विश्व कहा गया। अर्थात् जगत्-उत्पत्ति-स्थिति आदि के कारणत्व धर्म से उपलक्षित ही वह स्वयं प्रकाश देव है।

११. ब्रह्म विषयक मोक्ष हेतु रूप बुद्धि से। जिससे संसार का कारण निवृत्त होकर छिपा हुआ आनन्द अभिव्यक्त हो जाय।

१२. यहां प्रार्थना में लोट् है। अथवा देव अर्थात् दीप्तिमान् श्वास लेने वाला प्राण की उपाधिवाला जीव अपवर्ग साधन अहं ब्रह्मास्मि इत्याकारक बुद्धि से संयुक्त होवे।

२

अनिर्वचनीय माया से आधिदैविक समष्टि उपाधियों की सृष्टि करके विभूति वाले बने हुए देव का प्रतिपादन करते हुए इन उपाधियों में ब्रह्म चिन्तन का प्रकार बताते हैं :—

तत् एव अग्निः तत् आदित्यः तत् वायुः तत् उ चन्द्रमा ।
तत् एव शुक्रं तत् ब्रह्म तत् आपः तत् प्रजापतिः ॥

तत्=वह[1]
एव=ही[2]
अग्नि=अग्नि (समष्टि वाक्) है;
तत् = वह
आदित्यः = आदित्य(समष्टि चक्षु) है;
तत्=वह
वायुः=वायु (समष्टि प्राण) है;
तत्=वह
चन्द्रमा = चन्द्रमा[3] (समष्टि मन) है;

तत्=वह
एव=ही
शुक्रं[४]=शुक्र[५] (स्थूल समष्टि याने-विराट्) है;
तत्=वह
ब्रह्म=ब्रह्म[६] (समष्टि जीव) है;

तत्=वह
आपः=जल (समष्टि जीभ) है;
उ=एवं
तत्=वह
प्रजापतिः=प्रजापति (समष्टि उपस्थ) है।

१. चूंकि ईश्वर से ही सृष्टि स्थिति लय है अतः वही सर्व रूप है। सर्व रूप से वह कभी भी विभक्त नहीं होता। ब्रह्म सूत्रों के अनुसार अग्नि आदित्यादि में ब्रह्म दृष्टि कर्तव्य है, ब्रह्म में अग्न्यादि दृष्टि नहीं। अर्थात् महादेव ही अग्नि-सूर्यादि रूप से स्थित है ऐसा समझना चाहिये।

२. अन्य भाव की व्यावृत्ति कराने वाले इस शब्द को आदित्य वायु आदि के साथ भी लगा लेना चाहिये। तात्पर्य है कि नाम रूप विशिष्ट चिन्मात्र से अतिरिक्त और कोई भी तत्त्व कहीं भी नहीं है।

३. यहां चन्द्र से सोम भी ले लेना चाहिये।

४. शुक्लम् इति वा पाठः।

५. शुद्ध जो कुछ भी तेजस्वी होता है वह सभी शुक्र कहा जाता है। अतः नक्षत्र आदि सभी का संग्रह है। अथवा ब्रह्म की स्व प्रकाशता भी यहां ध्वनित है। सृष्टि उत्पन्न करने वाले चरम धातु का भी यहां संग्रह है। शुक्र ग्रह भी यहां लिया जा सकता है।

६. वेद का संग्रह भी किया जा सकता है। कोई कोई तो चतुर्मुखी का भी यहां ग्रहण मानते हैं।

३

व्यष्टि भूत उपाधियों की सृष्टि करके उनमें जल चन्द्र की तरह प्रवेश किया हुआ ही महादेव है :—

त्वं स्त्री त्वं पुमान् असि त्वं कुमारः उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णः दण्डेन वञ्चसि त्वं जातः भवसि विश्वतः मुखः॥

त्वं=तुम[१]
स्त्री=औरत (और)
त्वं=तुम
पुमान्=मर्द
असि=हो।
उत=और[२]
त्वं=तुम
कुमारः=क्वांरे
वा=या
कुमारी=क्वांरी हो।

त्वं=तुम
जीर्णः=बुड्ढे होकर[३]
दण्डेन=दण्डे से[४]
वञ्चसि=चलते हो[५]।
त्वं=तुम
जातः=पैदा होकर
विश्वतः=अनन्त[६]
मुखः=मुख वाले
भवसि=बनते हो।

१. स्तुति और चिन्तन के द्वारा ब्रह्म स्वरूप के भान होने पर यह मंत्र द्रष्टा का वचन होने से मध्यम पुरुष के द्वारा प्रतिपादित किया जा रहा है।

२. इससे नपुंसक का संग्रह है। तात्पर्य है कि इन इन रूपों में स्थित होकर इन इन नामों को प्राप्त करता है। स्त्री-पुरुषादि भेद सभी आत्मा में कल्पित हैं।

३. कुछ लोग जीर्ण से पुराण पुरुष का संग्रह करते हैं। तब तात्पर्य होगा दण्ड से अर्थात् पापियों को दण्ड देकर के उनका दमन करने के हेतु उनको छलते हैं।

४. बुढ़ापे में तीसरे पैर रूपी दण्डे से।

५. इन सब रूपों से उपाधियों के द्वारा अपने स्वरूप को छिपा कर छलते हो यह भी भाव हो सकता है। तात्पर्य है कि स्वकीया स्वतंत्र इच्छा शक्ति के द्वारा अनेक विध नाम रूपों को धारण करके माया से उत्पन्न हुए प्रतीत होते हो।

६. परिमित गणन व्यर्थ मान कर यह पद दिया गया।

४

अब तिर्यगादि रूप से सर्व रूपता का प्रतिपादन करते हैं :—

नीलः पतङ्गः हरितः लोहिताक्षः तडिद्गर्भः ऋतवः समुद्राः। अनादिमत् त्वं विभुत्वेन वर्तसे यतः जातानि भुवनानि विश्वा ॥

नीलः = नीला[१]
पतङ्गः = पतङ्गा[२]
हरितः = हरा[३]
लोहिताक्षः = लाल आंखों वाला[४]
तडिद्गर्भः = बिजली के गर्भवाला[५]
ऋतवः = मौसम[६]
समुद्राः = समुद्र रूप हैं[७]।
अनादिमत् = कारण रहित[८]
त्वं[९] = तुम
विभुत्वेन = व्यापक होकर[१०]
वर्तसे = रहते हो;
यतः = जिससे[११]
विश्वा = सारे
भुवनानि = भुवन
जातानि = उत्पन्न हुए हैं।

१. गहरे दूर्वा दल के रंग का भौंरा। समग्र हरियाली (ptants) का उपलक्षण है।

२. पतनाय गच्छति, इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो कीट लपट की तरफ मरकर गिरने के लिये जाता है। इससे कीट मात्र की उपलक्षणा कर लेनी चाहिये।

३. लोगों को हर के ले जाने का साधन होने से घोड़े को हरित कहते हैं। यहां घोड़े से सभी ग्राम्य पशुओं की उपलक्षणा है।

४. सिंह लाल आंखों का होता है। इससे सभी आरण्य पशुओं को उपलक्षणा है।

५. बादल के पेट में बिजली रहती है अतः उसे तडिद्गर्भ कहते हैं। अथवा सभी जलों से बिजली निकलने के कारण यहां बिजली के

सभी साधनों का संग्रह समझना चाहिये। वस्तुतस्तु विद्युत् शक्ति की उपलक्षणा के लिये है। अतः सभी शक्तियों के स्रोतों का संग्रह कर लेना चाहिये। कुण्डलिनी शक्ति भी एक तड़ित् ही है। विवेकी जन तो ऐसा मानते हैं कि बिजली चमकने की तरह चंचल दृष्ट नष्ट स्वभाव वाला होने से यह जगत् ही तड़ित् का वास्तविक अर्थ है। मन में ही जगत् का गर्भ रहने से इसे तड़ित्गर्भ कहा गया है।

६. वसन्त, निदाघ, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर ये छै प्रसिद्ध ऋतुएँ हैं। कहीं कहीं वेदों में हेमन्त और शिशिर को एक करके पांच भी कहा गया है। इससे काल की उपलक्षणा कर लेनी चाहिये। कुछ प्राचीन आचार्यों ने ऋतवः को समुद्राः का विशेषण मानकर छै समुद्र बताये हैं। एवं पुराणोक्त सप्त समुद्र के मधुर समुद्र को सर्वत्र अनुस्यूत मान कर छै की सिद्धि की है।

७. सारे जलों का एकायतन होने से समुद्र से जल की उपलक्षणा है। जल में ही कललादि के द्वारा ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति होती है यह भारतीय एवं आधुनिक विज्ञान दोनों पौराणिकों को मान्य है। मानवादि प्राणियों में भी अधिकतर जलीय अंश ही होता है एवं उसकी अम्लता (pH) प्रायः समुद्र जलवत् ही है।

८. आदि से यहां आदि, मध्य और अन्त सबकी उपलक्षणा कर लेनी चाहिये। महादेव को कारण बताने पर कहीं उसके भी कारणत्व की जिज्ञासा न रह जाय इसलिये उसे कारण रहित बताया। अथवा कारण वाले रूप में वह स्थित रहते हुए अश्वमेध यज्ञ करने वालों को ब्रह्माण्ड के भीतर से ब्रह्माण्ड के बाहर ले जाने की वायु को प्रेरणा करने वाला होने से उन्हें ऐसा कहा गया। इससे कालगत अपरिच्छिन्नता भी प्रतिपादित कर दी गई।

९. अनादि सत्त्वम् इति वा पाठः।

१०. देश के द्वारा अपरिच्छिन्नता बताना इष्ट है।

११. जिससे जगत् उत्पन्न, लय, और स्थित होता है वही ब्रह्म है। यह ब्रह्म सूत्र के द्वितीयाधिकरण में प्रतिपादित है।

५

पूर्वोक्त तीन मंत्रों के द्वारा परमेश्वर की प्रार्थना करके अब रूपक की सहायता से जगत् कारणत्व का एवं बन्ध-मोक्ष व्यवस्था का वर्णन करते हैं :—

अजाम् एकां लोहित-शुक्ल-कृष्णाम् बह्वीः प्रजाः सृजमानाम् सरूपाः। अजः हि एकः जुषमाणः अनुशेते जहाति एनां भुक्तभोगाम् अजः अन्यः॥

एकः = एक[1]
हि = हो[2]
अजः = बकरा[3]
बह्वीः = बहुत सी[4]
सरूपाः = अपनी जैसी[5]
प्रजाः = सन्तति को
सृजमानां = पैदा करने वाली
लोहितशुक्लकृष्णाम् = लाल, सफेद और काली[6]
एकां = एक[7]
अजाम् = बकरी को[8]
जुषमाणः = (उससे) प्रसन्न हुआ हुआ[9]
अनुशेते = साथ सोता है[10]।
अन्यः = दूसरा[11]
अजः = बकरा
भुक्तभोगाम् = जिसका भोग कर लिया है[12]
एनां = उस बकरी को[13]
जहाति = छोड़ देता है[14]।

१. अविद्या रूपी उपाधि की एकता से यहां एक कहा गया। अन्तःकरण स्वयं कार्य होने की वजह से स्वयं बकरी की सन्तान होगी। अतः उसे पति रूप कहना बनता नहीं। सुषुप्ति में या महाप्रलय में अन्तःकरण के नाश से जीव नाश मानना पड़ेगा, एवं कृत हानि और अकृत अभ्यागम प्राप्त हो जायेगा। अविद्या से अतिरिक्त कुछ भी ऐसा नहीं है जो कार्य न हो। अतः और किसी उपाधि से जीव

का जीवस्वरूप प्रतिपादन सम्भव नहीं। अनेक अविद्याओं में शास्त्र विरोध होने से आस्था बनती नहीं। यद्यपि भामतीकार वाचस्पति ने अनेक अविद्याओं के प्रतिपादन में कुछ श्रुति न्याय के प्रमाण दिखाये हैं परन्तु वे विचार की कसौटी पर कसने से एक जीववाद की ओर अधिक संगत हो जाते हैं। उनके मत से अनेकेश्वर और अनेक जगत् वाद भी प्रसक्त हो जाता है जो सर्वथा अनुभव विरुद्ध है। अनेक अविद्याओं को एक दूसरे से सर्वथा स्वतंत्र मानने से कल्पना गौरवादि दोष प्राप्त हो जाते हैं। प्रश्न हो सकता है कि एक अविद्या मानने पर भिन्न भिन्न जीवों के सुख दुःख की व्यवस्था कैसे बनेगी? उत्तर है कि एक ही अविद्या के आवरण और विक्षेप दो पहलू हैं, एवं विक्षेप के अनन्त रूप होने से अनन्त जीवों की व्यवस्था हो जायेगी। ब्रह्म-ज्ञान पर्यन्त इस प्रकार जीव भेद की प्रतीति संगत होती रहेगी। जैसे बेर के बीज के न जलने तक बेर की परम्परा चलती रहती है। ब्रह्म-ज्ञान के पश्चात् तो अविद्या की निवृत्ति हो जाने से कल्पित बन्ध और मोक्ष दोनों निवृत्त हो जाते हैं। वास्तविकता तो यह है कि किसी भी प्रकार से बन्ध मोक्षादि, सुखादि की व्यवस्था बन ही नहीं सकती। क्योंकि सभी कल्पित हैं। अविचार दृष्टि से व्यवहार चलाने के लिये जितना कुछ मन को सन्तोष करने वाला मानना पड़े उतना ही मानना चाहिये।

एक जीव वाद की दृष्टि से भी यहां व्यवस्था बन सकती है। अथवा हिरण्यगर्भ को ही यहां संसारी एक जीव मान लेना चाहिये। भगवान् सर्वज्ञात्म की दृष्टि से तो ब्रह्म ही अविद्या से संसरण और विद्या से मोक्ष का भागी बनता है अतः उसका ग्रहण करना भी असंगत नहीं है। तात्पर्य है कि एक ही अनादि काल से प्रवृत्त, अविद्या-काम-कर्म रूपी पाश से फंसा हुआ क्षेत्रज्ञ प्रकृति के विवर्तों से तादात्म्य सम्बन्ध वाला बनकर अपने को प्रकृति रूप मानते हुए अनेक भावों को प्राप्त होकर शब्दादि का विषय हो जाता है।

२. 'मैं' इस प्रतीति के आलम्बन रूप से प्रसिद्ध।

३. अज्ञान हमेशा ही उत्पत्ति रहित हुआ करता है, यद्यपि ज्ञान से नष्ट हो जाता है। यद्यपि लोग बार बार प्रश्न करते हैं कि अज्ञान कहां से और कैसे आया परन्तु यदि उन से पूछा जाय कि तुम्हें इस बात का ज्ञान है तो तुरन्त कहेंगे 'नहीं हमें इस विषय का अज्ञान है'। फिर यदि उनसे पूछा जाय कि यह अज्ञान कहाँ से और कैसे आया तो वे इसे नैसर्गिक ही बतायेंगे। जो बात सर्ववादि सम्मत हो उसके विषय में किसी एक सिद्धान्त वाले पर दोष या बोझ डालना अन्याय है, अतः ब्रह्म विषयक अज्ञान को जब वेदान्ती नैसर्गिक कहता है तो उसे सिद्ध करना आवश्यक नहीं। यद्यपि बौद्ध भी इसी बात को प्रकारान्तर से कहना चाहते हैं परन्तु वे असत् वादी होने के कारण अज्ञान के मूल की जिज्ञासा को अनुपादेय बतलाते हुए कहते हैं कि लगे हुए कांटे को कहां से कांटा लगा इसकी जिज्ञासा से कोई लाभ नहीं। वेदान्त अनुपादेयता को हेतु न मान कर अज्ञान के स्वरूप को ही अज्ञान रूप मानकर तात्त्विक व्यवस्था बनाता है। अनुपादेयता मानने पर मानना पड़ेगा कि वस्तुतः उसका आदि तो है, परन्तु हमें उसका अज्ञान है। आत्मा ज्ञान स्वरूप है अतः किसी भी अज्ञान को नष्ट करना ही उसका स्वभाव है। एवं यदि किसी विषय का अज्ञान रह गया तो पूर्ण ज्ञान का उदय न होने के कारण पूर्ण स्वतंत्रता रूपी मोक्ष का उदय न हो सकेगा। अज्ञान को अज्ञान स्वरूप जानना ही उसका ज्ञान है। बन्धन काल में इस स्वरूप को न जान करके उसमें ज्ञान की कल्पना से बन्धन बढ़ता रहता है। इस अनादि अज्ञान का आश्रय होने के कारण जीव रूप से भी ब्रह्म अनादि ही है। यह बात दूसरी है कि अज्ञान की तरह ही अज्ञानाश्रयत्व भी अज्ञान के कारण होने से वास्तविक नहीं है।

संस्कृत में बकरे को अज कहते हैं जिसका दूसरा अर्थ जन्म रहित भी हो जाता है। इसी शब्द साम्य के आधार पर यह रूपक कल्पना की गई है। वैसे जिस प्रकार बकरा घास को चरता रहता है वैसे ही जीव विषय भोगों को चरता रहता है। **संगीतरत्नप्रमदासुसक्तः गन्धर्वजातिः कथितोऽजलिङ्गः** इत्यादि अभियुक्तों (विशेषज्ञों) के वचन से संगीतादि कलाएं, रत्नादिधन एवं कामिनियों में विशेष आसक्ति करने वाला भोगासक्त पुरुष अज (बकरे) की जाति वाला माना गया है। आज भी अधिक कामुक युवा लोग अपनी कामुकता के चिन्ह रूप से बकरे की तरह दाढ़ी (goaty) धारण करते हैं। इन्हीं सब कारणों से आसक्ति के बन्धन में फंसे हुए जीव को यहां अज नाम से कहा है।

४. प्रसिद्ध है कि बकरी के एक साथ कई बच्चे पैदा होते हैं, इसी प्रकार माया से भी युगपत् अनेक पदार्थों की सृष्टि होती है।

५. जिस प्रकार बकरी और बकरे के रूप रंग वाली ही उसकी सन्तति होती है वैसे ही दुःख, जड़, असत् आदि जाति वाले बकरे बकरी से भी वैसी ही सन्तति उत्पन्न होगी यह स्वाभाविक ही है।

६. अग्नि का लाल रूप है, जल का शुक्ल, और पृथ्वी का कृष्ण। यद्यपि सृष्टि में आकाश और वायु का भी प्रवेश है परन्तु वे अमूर्त हैं अतः उनको यहां ग्रहण नहीं किया गया। किञ्च सामवेद ने इन तीन का ही त्रिवृत् करण करके सृष्टि बताई है। यद्यपि आकाश और वायु का गुणोपसंहार न्याय से पञ्चीकरण ही सम्प्रदाय सिद्ध है परन्तु भामतीकार का यह आक्षेप कि इसमें श्रुत का त्याग होता है सर्वथा निराधार नहीं है। यहां भी उसी दृष्टि से तेज की सृष्टि करके तेज स्वरूप में स्थित अंश को लोहित, जल की सृष्टि करके जल की अवस्थापन्न को शुक्ल एवं अन्न की सृष्टि करके अन्न के अवस्थापन्न को कृष्ण कहा गया है। यद्यपि सांख्यवादियों ने लोहित से रज, शुक्ल

से सत्त्व और कृष्ण से तम अर्थ लगाने का प्रयास किया है परन्तु जब तक श्रुति में इन तीन गुणों का प्रतिपादन सिद्ध न हो जाय, एवं इन तीन गुणों के यही रंग भी श्रौत सिद्ध न हो जायें, तब तक यहां पर त्रिगुणात्मकता का प्रतिपादन स्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि कहा जाय कि इसी श्रुति को गुण प्रतिपादक मान लिया जाय तो इन शब्दों का गुणार्थकत्व न रूढ़ि से सिद्ध है न योग से। प्रकरण भी यहां सृष्टि का नहीं वरन् जीव के बन्ध मोक्ष की व्यवस्था का है। इसीलिये वेद व्यास ने ब्रह्म सूत्रों में त्रिगुणात्मकता का खण्डन किया है। गीता में यद्यपि त्रिगुणात्मकता को स्वीकार कर लिया है परन्तु वह सांख्य के समन्वयार्थ है। त्रिगुणात्मकता के स्वीकारार्थ नहीं। गीताकार का तात्पर्य है कि यदि सांख्य की मीमांसा को स्वीकार भी कर लिया जाय तो भी वेदान्त पक्ष में कोई विरोध नहीं आता। विवेकी तो ऐसा मानते हैं कि गीता के अन्तिम दो अध्यायों में त्रिगुणात्मकता का वर्णन उस खिल की (appendix) तरह है जो ग्रन्थ के बहिर्भूत हैं। सत्रहवें के प्रारम्भ में अर्जुन का प्रश्न है कि शास्त्र को न मानने वाले अर्थात् अवैदिक लोग श्रद्धा पूर्वक जो करते हैं उसका क्या स्वरूप है। उसके उत्तर में ही त्रिगुण का विस्तृत वर्णन आता है। इससे सिद्ध होता है कि उस काल में सांख्य ही प्रधान अवैदिक सिद्धान्त था। यह बात निर्विवाद है कि बौद्ध, जैन, वैष्णव, आगमिक, पाञ्चरात्र, नारायणीय, आदि सभी अवैदिक सिद्धान्त सांख्य से ही निकले हैं एवं समधिक रूप से सांख्य सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। स्वयं शंकर भगवत्पाद ने भी सांख्य को प्रधान मल्ल बताया है। अतः सांख्यों का त्रिगुणात्मवाद गीताकार ने केवल दुर्जन तोष न्याय से ही स्वीकारा है। पृथ्वी जल तेज तो इन रंगों से छान्दोग्य आदि उपनिषदों में प्रसिद्ध है ही।

७. यद्यपि आचार्य विद्यारण्य स्वामी ने माया एवं अविद्या का

भेद प्रतिपादित किया है, परन्तु वह केवल सामान्य बुद्धि वाले को अद्वैत पर आरूढ़ करने के लिये उपयोगी है। वस्तुतस्तु एक ही अविद्या के कार्य भेद मानकर के जीवों की व्यवस्था बन जाती है। इसीलिये वार्तिककार, विवरणकार, संक्षेप शारीरककार, न्याय निर्णयकार आदि किसी भी शंकर हृदयवेत्ता ने अनेक अविद्याओं को नहीं स्वीकारा है। कार्य की उपाधि से जीव और कारण की उपाधि से ईश्वर आत्मा बनता है, यही वास्तविकता है।

८. अविद्या ही कारण रहित होने से यहां अजा कही गई। अथवा अज अर्थात् नित्य सिद्ध ब्रह्म की शक्ति होने से भी उसे अजा कहा गया। यद्यपि सत् ब्रह्म से भिन्न होकर वह सर्वथा असत् तुच्छ हो जाती है, एवं इस कारण से उसका अलग वर्णन अनुचित है तथापि बुद्धि के द्वारा अविद्या में से चिद्रूप को हटाकर समझने मात्र के लिये श्रुति ऐसा प्रतिपादन करती है वस्तुगति बताने के लिये नहीं। जैसे कह दिया जाता है मन बिना लगाये सोचना व्यर्थ है। वस्तुतः बिना मन को लगाये सोचना असम्भव है। तात्पर्य हुआ करता है कि तुम्हारी बात ऐसी है मानो किसी जड़ पदार्थ के द्वारा करी गई है। यह प्रकृति रूप बकरी ही तीन रंगों वाली है। अथवा तीन रंगों से सभी रंगों की उपलक्षणा कर लेनी चाहिये। इसकी विविधता ही जगत् वैचित्र्य के प्रति कारण है। तात्पर्य है कि आत्मा असंग उदासीन है। अतः सृष्टि वैचित्र्य के प्रति कारण नहीं बन सकता। यदि अविद्या, जो एक है (एकां), अर्थात् सजातीय भेद रहित हैं, वह भी यदि सचमुच (एकां) स्वगत भेद से रहित हो जायेगी तो जगत् वैचित्र्य का किसी अन्य कारण को हेतुत्व प्राप्त हो जायेगा। चूंकि वेदों में शिव और शक्ति के सिवाय किसी अन्य कारण का प्रतिपादन नहीं है अतः या तो समग्र चराचर को अत्यन्त असत् रूपता की प्राप्ति हो जायेगी अथवा न्यायादिशास्त्रान्तर की अपेक्षा की प्राप्ति होकर वेद

का स्वतः प्रमाणत्व खण्डित हो जायेगा। तीर्थान्तरों में मतभेद के कारण प्रधान को, परमाणु को, कर्म को, या महाभूतों आदि की विनिगमना प्राप्त न होने से सृष्टि-वैचित्र्य असंगत हो जायेगा। ऐसी कल्पना अत्यन्त न्याय-सम्प्रदाय विरुद्ध होने से अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा जैसा कार्य है वैसा ही कारण की कल्पना करके उससे अभिन्न अविद्या को स्वीकरना ही श्रेयः पन्था है। अतः पृथ्वी जल तेज के जो रूप कार्य में मिलते हैं वही कारण में भी मान लेने चाहिये। अथवा अनन्त कार्यों के प्रतीत होने से कारण में भी अनन्तरूपता मान लेनी चाहिये। इतना भेद याद रखना चाहिये कि जीव अज के साथ अनन्त भी है। परन्तु प्रकृति अज होने पर भी अनन्त नहीं है।

९. बकरी को निमित्त बनाकर प्राप्त होने वाले भोग में प्रीति रखना ही उससे प्रसन्न होना है। तात्पर्य है कि कारण रूप से भी जो अविद्यमान हो उसका जन्म असंभव है। अतः कारण रूप से विद्यमान का ही कार्य रूप से प्रविभाजन होकर व्यक्त होना ही उत्पन्न होना है। बकरा निमित्त है जिससे बकरी प्रविभक्त होती है। यह निमित्त बनना ही उससे प्रसन्न होना है। जब तक उसमें अनुराग नहीं होगा तब तक निमित्तत्व नहीं आ सकता। अनुराग के कारण ही मैं दुःखी, ये मेरे अनुकूल है, इत्यादि ज्ञान उत्पन्न होते रहते हैं। तात्पर्य है कि जैसे बकरा बकरी से अनुराग होने पर ही उसकी बनाई हुई प्रजाओं में आत्मीयता का अध्यास करता है, वैसे ही जीव अन्तःकरण के बनाये हुवे वृत्तियों में अध्यास करता है। अनादि अज्ञान-काम-कर्म के वश में अपने स्वरूपानन्द को खोया हुआ विज्ञानात्मा अज्ञान के कार्य को अपना स्वरूप समझ लेता है यही उसकी जुषमाणता है।

१०. अनु अर्थात् पीछे शेते अर्थात् सोता है। उसके अनुसार ही आचरण करता है अर्थात् उसका सेवन या भजन करता है। उसके अनुसरण करके सोने में अपने को स्वस्थ और सुखी मानता है यह

भाव है। तात्पर्य है कि स्वयं अविकारी चिन्मात्र एवं संसार के सभी धर्मों से अस्पृष्ट होने पर भी प्रकृति और उसके विवर्त पांच कोशों में जल में चन्द्र की तरह घुसकर के प्रकृति के धर्मों को अपने धर्म रूप से स्वीकार करके प्रकृति और प्राकृत विकारों का अनुसरण करके सोता रहता है। जैसे लोक में कोई धनी वैश्य किसी कुम्हारिन से आसक्त होकर उसके साथ रहते रहते अपने आप को भी कुम्हार समझने लगता है वैसे ही यहां समझना चाहिये। वस्तुतस्तु अविद्या निद्रा में सोया हुवा ही जीव विक्षेप के विकारों से मानो और ज्यादा सो जाता है। अर्थात् दुःख जड़ रूपी प्रकृति जो स्वयं ही अज्ञान रूप होने से सो रही है उससे तादात्म्य रूप मानकर खुद भी जड़ और दुःख रूप अपने आप को मानने लगता है। इसीलिए स्वयं प्रकाश हुआ हुआ भी अपनी आनन्दात्म स्वरूपता को न जानकर प्रकृति की जड़ता से अपने आपको अज्ञानी और जड़ मानता है, यही बन्धन है।

११. आचार्य एवं वेदान्तों के उपदेश से उत्पन्न ज्ञान के द्वारा जिसने अविद्यान्धकार का नाश कर दिया। चित्त के द्वारा ही भेद की कल्पना होती है। अतः मैं बद्ध से अतिरिक्त स्वयं प्रकाशमान् चिदानन्द मात्र हूँ इस ज्ञान वाला ही यहां अन्य पद का वाच्य है। अथवा प्रकृति और उसके विकारों से उनका साक्षी रूप होने से मैं अन्य हूँ, इस विवेक के द्वारा उत्पन्न वैराग्य वाला। अथवा मैं ब्रह्म हूं, इस प्रकार अपरोक्ष कर लेने के कारण प्रकृति और उसके विकारों में अभिमान करने वाले अज्ञानियों से भिन्न होने के कारण अन्य। अथवा अज्ञान से कभी भी स्पृष्ट न होने के कारण ईश्वर ही यहां कहा जा रहा है। उपर्युक्त अनुभव वाला अपने को ईश्वर से अभिन्न ही अनुभव करता है। कुछ लोग तो **भुक्तभोगां जहाति** से मुक्त को लेकर अजः अन्यः से बद्ध और मुक्त दोनों से भिन्न एक तीसरे ईश्वर का प्रतिपादन करते हैं। परन्तु इस प्रकार का ईश्वर केवल भावना मात्र होने से अविचारित रमणीय ही है।

१२. (भुक्तः) भोग लिया है (भोगः) भोग जिसके साथ उसको भुक्तभोगा कहते हैं। अर्थात् उसके सर्वाङ्गों को जान लिया है। तात्पर्य है सर्व-रूप ब्रह्म के ज्ञान-रूप अग्नि से उसका सारा अंग-प्रत्यङ्ग प्रदीप्त करके जला दिया है। विकारी होने से यही संसार भोग को कराने वाली है। इसके बिना निःसंग आत्मा भोग कर्ता नहीं बनता है। जिस प्रकार जल के बूंद से भी रहित सूर्य रश्मि में हिलने डुलने वाले जल का आरोप करके मृग तृष्णा दीखती है उसी प्रकार संसार धर्म से रहित आत्मा में दुःख जड़ आदि धर्मों के आरोप के निमित्त से ही अनर्थ प्राप्ति है। सम्यक् ज्ञान से इसका नाश ही भोग समाप्ति के प्रति कारण है।

१३. माया रूपी प्रकृति से तात्पर्य है जो सब का मूल कारण है। यहां आवरण और विक्षेप दोनों रूपों का संग्रह है।

१४. चिन्मात्र रूप से बाध कर देता है। ईश्वर तो नित्य अबद्ध होने के कारण नित्य अमुक्त भी है ही, अतः वह न भोग भोगता है न छोड़ता ही है।

६

चूंकि संसार दशा में बद्ध और मुक्त को एक साथ देखा जाता है अतः बद्ध और मुक्त की व्यवस्था माया से नहीं मानी जा सकती, ऐसी शंका न हो जाय इसलिये अविदैवादि रूप में दो शरीर वाली अविद्या का वर्णन वृक्ष रूप से परिकल्पित करके जीव और ईश्वर को पक्षी रूप से बतलाते हुए अब दूसरा रूपक उपन्यस्त होता है :—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोः अन्यः पिप्पलं स्वादु अत्ति अनश्नन् अन्यः अभिचाकशीति॥

द्वा = दो[1]	अन्यः = जीव[9]
सयुजा = साथ साथ रहने वाले[2]	पिप्पलं = पीपल रूपी फल को[10]
सखाया = दोस्त[3]	स्वादु = स्वाद से[11]
सुपर्णा = सुन्दर पंख वाले[4] (पक्षी)	अत्ति = खाता है,[12]
समानं = समान[5]	अनश्नन् = नहीं खाते हुए,[13]
वृक्षं = वृक्ष पर[6]	अन्यः = दूसरा (मुक्त या ईश्वर)[14]
परिषस्वजाते = अच्छी तरह से आलिंगन करते हुए[7] रहते हैं।	अभिचाकशीति = केवल प्रकाशित होता रहता है[15] (देखता रहता है)।
तयोः = उनमें से[8]	

१. द्वौ सुपर्णौ सयुजौ सखायौ के स्थान में द्वा इत्यादि छान्दस् हैं। द्वौ अर्थात् दोनों, विज्ञानात्मा और परमात्मा। तात्पर्य है कि स्वयं सारे भेदों से रहित होने पर भी अखण्ड अविद्योपाधि में प्रवेश करके उस उपाधि के द्वारा परिकल्पित बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव को प्राप्त हुआ आत्मा बिम्ब रूप से परमात्मा कहा जाता है और प्रतिबिम्ब रूप से विज्ञानात्मा। जिस प्रकार आकाश में स्थित बिम्बरूप सूर्य चलनादि धर्म से शून्य हुआ हुआ निर्मल प्रकाश रूप से सबका प्रकाशक हुआ हुआ स्थित है, उसी प्रकार परमात्मा संसार दोषों से रहित, अनवच्छिन्न स्वरूप-ज्ञान से सब को जानता हुआ सर्वज्ञ रूप से रहता है। जल में प्रतीत होता हुआ सूर्य का प्रतिबिम्ब जल के हिलने वाली उपाधियों का पक्ष लेकर उनधर्मों को अनुभव करके जलकी मलिनता से मलिन हो जाता है, उसी प्रकार उपाधि रूप अविद्या का पक्षपाती होकर जीव उपाधि के दोषों से एक होकर उनका अनुभव करते हुए पापादि मलों से कलुषित एवं उपाधि की क्रियाओं के फल से भोग वाला होकर विज्ञानात्मा संसारी की तरह आचरण करता है। यही दोनों यहां इष्ट हैं।

२. युक् अर्थात् सम्बन्ध। विज्ञानात्मा और परमात्मा का तादात्म्य ही सम्बन्ध है। सदा ही तादात्म्य सम्बन्ध से रहने से उन्हें सयुजौ कहा। बिम्ब और प्रतिबिम्ब कभी भी अलग अलग नहीं रह सकते यह स्पष्ट है।

३. नित्य उपकार्य और उपकारक रूप से विज्ञानात्मा और परमात्मा के रहने से उनकी मित्रता प्रसिद्ध ही है। अथवा समान आख्यान अर्थात् अभिव्यक्ति-कारण होने से वे सखा हैं। अविद्या ही दोनों की अभिव्यक्ति का कारण है। अथवा चेतन रूप से दोनों की समान आख्या अर्थात् प्रसिद्धि होने से वे सखा हैं।

यद्यपि साथ साथ रहने वाले प्रायः मित्र भी हुआ करते हैं अतः दोनों विशेषणों में पुनरुक्ति लगती है, परन्तु कहीं कहीं साथ साथ रहने पर भी मित्रता नहीं होती। जैसे बृहस्पति और शुक्र में। प्रसिद्ध है कि **राहुरव्योः परं वैरम् गुरुभार्गवयोरपि**। इसी प्रकार कहीं कहीं मित्रता होने पर भी साथ साथ रहना नहीं होता। जैसे शिव और विष्णु। इसलिये दोनों ही विशेषण सार्थक हैं। जीव ईश्वर से प्रसिद्ध है और ईश्वर जीव से। अथवा जीव नित्य पालित है एवं ईश्वर पालक।

४ जीव के दो पंख धर्म और अधर्म हैं या कर्म और उपासना। एवं ईश्वर के कर्म फल दातृत्व और अनुग्राहकत्व। कोई कोई ईश्वर के अविद्या और अविद्या के सम्बन्ध रूपी पंखों को मानते हैं। यही पक्षी से समानता यहां संकेतित है। विज्ञानात्मा और परमात्मा दोनों ही चेतन होने से पक्षी कहे गये। तात्पर्य है कि जैसे पक्षी अच्छी प्रकार से उड़ते हैं जिससे उनके पदचिन्ह कहीं नहीं मिलते उसी प्रकार जीव और ईश्वर के पद चिन्ह कहीं नहीं मिलते। इसीलिये संसार में अज्ञेयवाद, नास्तिकवाद, सन्दिग्धवाद, लोकायतवाद अनात्मवाद आदि अनेक वाद प्रचालित होते हैं। जीव जहां से आया है वहां से यहां तक के भी पद चिन्ह नहीं मिलते एवं यहां से जाने के बाद भी उसके पदचिन्ह नहीं मिलेंगे। ईश्वर के पदचिन्हों की प्राप्ति के लिये तो अनादि काल से साधना करने पर भी आज तक की अनुपलब्धि प्रत्यक्ष सिद्ध है। यही इनके शोभन पतन या शोभन गमन में प्रमाण है।

५. एक ही तात्पर्य है कि दोनों विज्ञानात्मा और परमात्मा अविद्या दृष्टि के द्वारा उत्पन्न हुए देह में विद्यमान रहते हैं। अथवा अविद्या दृष्टि से अर्जित देह में रहते है। यह बात दूसरी है कि परमात्मा भुगाते हुए रहता है एवं जीव भोगते हुए। यद्यपि आत्मा अनन्त सुख स्वरूप है परन्तु बिम्ब प्रतिबिम्व भेद से किञ्चित् ज्ञत्व और सर्वज्ञत्व उपाधि के द्वारा नियम्य और नियन्ता भाव को प्राप्त हो जाता है। यही शुद्धि और अशुद्धि अविद्या के खण्ड भेद से सम्पन्न होती है।

६. ओवृश्चु छेदने धातु से निष्पन्न होने वाला वृक्ष छेदन धर्म वाले शरीर को विषय करता है। अथवा अविद्या और उसका कार्य अन्नमयादि पञ्चकोश रूप आध्यात्मिक, एवं आकाशादि पञ्चमहाभूत आधिभौतिक, तथा इन दोनों के अभिमानी आधिदैविक प्रपञ्च ज्ञान से छिन्न होने के कारण वृक्ष कहे जाते हैं। जिस प्रकार वृक्ष आदि और अन्त में बीज रूप होने पर भी मध्य में बहुत सी शाखाओं, बीजों और फलों वाला हो जाता है, उसी प्रकार अनेक विज्ञानात्माओं की शाखा वाला, पुण्य पापादि रूप बहुत से बीज वाला, सुख दुःखादि फल वाला होने से भी इसे वृक्ष कहा जाता है।

यहां स्थूल सूक्ष्म कारण तीनों शरीरों को ग्रहण कर लेना चाहिये। अथवा कार्योपाधि एवं कारणोपाधि इन दो उपाधियों से अग्रहण एवं अन्यथा ग्रहण रूपी उपाधियों का संग्रह है। यह दोनों या तीनों काटने रूपी विनाश अर्थात् बाध के योग्य होने से वृक्ष कहे गये।

७. परि अर्थात् सब तरह से ष्वञ्ज परिष्वङ्ग धातु से निष्पन्न होने के कारण इसका अर्थ लिपटना या आलिङ्गन है। एक के बिना दूसरे की प्रतीति न होना ही यहां पर परिष्वङ्ग है। अर्थात् यह एक दूसरे के आश्रित हैं। अथवा नियम्यत्व उपाधि रूप से एवं नियामकत्व उपाधि रूप से इस शरीर रूपी वृक्ष का परिग्रह करके रहने के कारण इन्हें लिपटा हुआ कहा गया। सर्वथा तात्पर्य है कि न केवल एक ही शरीर रूपी वृक्ष पर यह रहते हैं वरन् प्रतिक्षण एक दूसरे से अभिन्न हैं। विवेक दृष्टि से कहा जा सकता है कि प्रत्येक अन्तःकरण की वृत्ति में प्रतिबिम्ब रूप से जीव को ज्ञान होता है, एवं उस ज्ञान के साक्षी रूप से ईश्वर को ज्ञान होता है। चूंकि बिम्बरूप साक्षी के प्रतिफलित हुए बिना अन्तःकरण में जीव ज्ञान असम्भव है, एवं बिना उस वृत्ति-विशिष्ट ज्ञान के साक्षी-ज्ञान असम्भव है अतः सर्वथा दोनों परस्पर लिपटे हुए हैं।

८. कार्य और कारण उपाधि वाले विज्ञानात्मा और परमात्मा में से।

९. अविद्या के कार्य अहंकार के द्वारा लिङ्ग शरीर में अभिमान करने वाला। अहंकार के कारण ही अविद्या और उसके सम्बन्ध का पक्षपात करके धर्म और अधर्म के फलभोक्ता रूप से अपने को मानने वाला होने से धर्म और अधर्म रूपी पक्ष वाला अविद्या, काम, वासना आदि का आश्रय उपाधि विशिष्ट विज्ञानात्मा ही यहां जीव पद वाच्य है।

१०. सुख दुःख लक्षण वाला कर्म-फल जो धर्म और अधर्म से उत्पन्न होता है। कृष्ण यजुर्वेद की काठकोपनिषद् में संसार वृक्ष को पीपल की उपमा दी गई है। उसी से अतिदेश करके शरीर रूपी वृक्ष को यहां पीपल मानकर फल का नाम पीपल कहा गया है।

११. विविध विषय सेवन की वासना को निमित्त बनाकर विचित्र विषय का आस्वादन रस सहित करना ही उसमें स्वादुता है। उपभुज्यमान होकर आसक्ति को उत्पन्न करना एवं आसक्ति से पुनः उपभोग की तरफ प्रवृत्त होना यही स्वादुता का लक्षण है। इस चक्र के द्वारा कभी भी वैराग्य की उत्पत्ति नहीं हो पाती।

१२. अविवेक के द्वारा ही उपभोग करता है, विवेक से नहीं। तात्पर्य है कि विचित्र वेदनाओं का अन्तःकरण की वृत्ति में जो अनुभव है वह वृत्तियों से अपने को भिन्न जानने से निवृत्त हो जाता है। सुख दुःखाकार वृत्ति से अपने को सुखी दुःखी मानना वैसा ही है जैसे जल की तरंगो से चञ्चल होने पर सूर्य का अपने को चञ्चल मानना।

१३. बिम्ब स्थानीय ईश्वर कर्म-फल का भोग न करते हुए स्वयं अविकृत रहते हुए ही अभि अर्थात् सब तरफ देखते हुए अर्थात् सबको सत्ता चित्ता देते हुए भी सर्व-संसार धर्म शून्य हुआ हुआ स्वयं-प्रकाश अखण्ड ज्ञप्ति मात्र रूप से प्रकाशित होता है। जिस प्रकार आकाश में स्थित बिम्ब रूप सूर्य जल धर्मों से रहित रहते हुए ही अपने प्रकाश से जल और उसकी तरङ्ग आदियों को प्रकाशित करते हुए रहता है उसी प्रकार ईश्वर भी अन्तःकरण की वृत्तियों को प्रकाशित करते हुए भी भोग न करते हुए ही बना रहता है। तात्पर्य है कि अहन्ता, ममता, अभिमान से रहित होने से ही नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव आत्मा की स्थिति मुक्त या ईश्वर में होती है।

१४. धर्म अधर्म पक्षपातता से रहित। अर्थात् कर्म-फल-भोक्तृत्व के प्रति निरपेक्ष। कार्योपाधिक अपने ही प्रतिबिम्ब रूप जीव से यहां भेद इष्ट है। यद्यपि वास्तविक भेद नहीं है परन्तु व्यवहार निर्वाहार्थ कल्पित भेद का प्रतिपादन है।

१५. अच्छी तरह से प्रकाश करता है। परन्तु भोग नहीं करता है। काशृ दीप्तौ धातु से निष्पन्न होने से सर्वत्र दीप्तिमान् है, यह भाव है। तात्पर्य है कि साक्षी रूप से सभी प्रमाता के ज्ञानों को प्रकाशित करते हुए भी उनसे अस्पृष्ट रहता है।

७

विरुद्ध धर्म वाले होने से इनमें सखित्व कैसे होगा? ऐसी शंका न हो जाय इसलिये विरुद्ध धर्मता अज्ञान निमित्तक है एवं ज्ञान होने पर विरुद्ध धर्मता की निवृत्ति हो जाती है इसका प्रतिपादन करते हुए जीव और परमात्मा के स्वरूप का अनुवाद करके जीव की परमात्मा के साथ एकता के ज्ञान से मोक्ष को बतलाते हैं :—

समाने वृक्षे पुरुषः निमग्नः अनीशया शोचति मुह्यमानः ।
जुष्टं यदा पश्यति अन्यं ईशं अस्य महिमानं इति वीतशोकः ॥

समाने=एक ही[1]
वृक्षे=वृक्ष पर
अनीशया=सामर्थ्य रहितता से
निमग्नः=फंसा हुआ
पुरुषः=जीव[2]
मुह्यमानः=मोह में पड़ा हुआ[3]
शोचति=शोक करता है,[4]
यदा=जब[5]
अन्यं=दूसरे (मित्र को)[6]
ईशं=ईश्वर को[7]
जुष्टं=भजता है[8] (तब)
अस्य=इसकी
महिमानं=महिमा को[9]
पश्यति=देखता है (साक्षात् करता है);
इति=इतने मात्र से ही[10]
वीतशोकः=शोक रहित[11] (हो जाता है)।

१. विज्ञानात्मा और परमात्मा दोनों के लिये एक ही होने से उसे समान कहा गया। पुण्य पाप फल भोग का आयतन शरीर एक के लिये भोग का आश्रय है और दूसरे के लिये भुगवाने का।

२. अविद्या काम कर्म एवं उसके फल और रागादि भारी भारों से आक्रान्त हुआ हुआ भोक्ता, एवं पूर्ण होकर पुरी में शयन करने वाला परमात्मा। इनमें से जीव ही अनीश होने से यहां ग्राह्य है। तात्पर्य है कि विज्ञानात्मा और परमात्मा दोनों पुरुष रूप होने पर भी

विज्ञानात्मा परतंत्र होने से अनीश है एवं परमात्मा स्वतंत्र होने से ईश। स्वरूप से यद्यपि विज्ञानात्मा भी स्वतंत्र ही है पर अविद्या से वह अपने को कर्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी, संसारी इत्यादि भावों से अस्वतंत्र मान लेता है। जिस प्रकार जल के चलने या मैले होने पर चन्द्र प्रतिबिम्ब मैला या चलने वाला बन जाता है क्योंकि उसी में निमग्न अर्थात् डूबा हुआ है, उसी प्रकार अविद्या के कार्य अन्नमयादि कोश और उनके धर्मों में अहन्ता और ममता के अभिमान से डूबा हुआ अपने अद्वितीय ईश्वर निज रूप को तिरस्कृत कर देता है। इस प्रकार परमार्थतः सर्व संसार धर्मों से अस्पृष्ट रहते हुए ही ईश्वर ही अविद्या से अपने ईश्वर भाव को ढक कर के अपने को जीव मान लेता है। उपाधि के धर्मों से तादात्म्य कर लेना ही उसमें निमग्न हो जाना है। जिस प्रकार जल में पत्थर डूब जाने पर वह पत्थर देखने में नहीं आता उसी प्रकार आत्मा उपाधि में डूब जाने पर देखने में नहीं आता। पुनः जल को निर्मल और अचल कर लेने से जल में पड़ा हुआ पत्थर दीख जाता है, उसी प्रकार उपाधि को निर्मल और अचल कर लेने से पुरुष तत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है। कर्ता-भोक्ता के अध्यास से ही अपने स्वतंत्र आनन्द रूप का तिरस्कार होकर मैं सुखी, मैं दुःखी ऐसी प्रतीति हो जाती है। अथवा ऐसे समझ लें कि जैसे तुम्बी या उद्धारक (lifebuoy) के ऊपर अधिक वजन रखने से वह समुद्र जल में डूबे हुवे की तरह हो जाता है परन्तु फिर भी ऊपर आने के लिये अपना दबाव ऊपर की तरफ फेंकता ही रहता है एवं वजन के कम होते ही तुरन्त ऊपर आ जाता है। इसी प्रकार जीव देहात्म भाव को प्राप्त कर मैं यह देह ही हूं एवं अमुक का पुत्र दुबला, गोरा, विद्यादिगुण वाला, अमुक देश का, अमुक काल का, आदि ही हूं, एवं इन सब उपाधियों से भिन्न कुछ नहीं हूं, इन भारों की अधिकता से आज यह करूंगा, कल उसे करना पड़ेगा, आज पुत्र

की रक्षा करूंगा, कल भाई को नौकरी दिलाऊंगा, आदि कर्तव्य भारों से आक्रान्त होकर यद्यपि बीच बीच में इन सबसे छूट कर स्वतन्त्र हो आनन्द की प्रेरणा अन्दर से उठती रहती है परन्तु उसे पूर्ण नहीं कर पाता। अन्त में मर जाता है, एवं इन कर्तव्य के संस्कारों से पुनः उत्पन्न होकर के वैसे ही अन्य सम्बन्धी और बान्धवों के साथ सम्बन्ध वाला पैदा हो जाता है। उसमें ईश्वर भाव स्फुट नहीं हो पाता एवं मैं किसी चीज की सामर्थ्य से रहित हूँ, मेरा बेटा मर गया, मेरी पत्नी भाग गई, मेरा भाई मेरे से विरुद्ध हो गया, मेरा जीना ही निरर्थक है, इस प्रकार के दीन भावों को प्राप्त होकर अपने आप को अनीश्वर समझता है। यही पुरुष का व्यावहारिक रूप है।

३. अनेक अनर्थों से अविवेक के द्वारा विचित्र भावों को अनादि अविद्या की वासना के विलासों से अनेक चिन्ताओं का प्रवाह उठाकर, फिर उनसे पार न पाकर, विपरीत ज्ञान, मिथ्या ज्ञान, अज्ञान, या स्तब्ध भावों को प्राप्त होता रहता है। विषयों में रक्ति ही इसका मूल कारण है।

४. संसार रूपी शोक का अनुभव करता है अर्थात् शरीर की स्वस्थता, मन की बुद्धि या स्मृति, धन, घर, खेत, पत्नी, पुत्रादि के बिना कैसे रहूँगा और कैसे काम चलेगा इत्यादि रूप से सन्ताप करके दुःख भोगता रहता है। एवं कर्म फलों के अनुसार प्रेत, पशु, पक्षी, देव, गन्धर्व, ब्राह्मण, म्लेच्छ आदि भिन्न भिन्न योनियों में गिरता रहता है।

५. अनेक जन्मों के शुद्ध धर्मों के एकत्रित हो जाने पर किसी परम कारुणिक श्री परमहंस के द्वारा उपदिष्ट प्रकार से सत्य, तप, दम, शम, अप्रमाद, वेदाध्ययन, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान से युक्त होकर उपनिषद् विचार में प्रवृत्त होता है। तब अपने स्वतंत्र आनन्दात्मक प्रकाश को समझकर परितुष्ट हुआ हुआ ब्रह्म-रूप बन जाता है।

६. अविद्या से कल्पित अन्य भाव समझना चाहिये। वह ईश्वर हिरण्यगर्भादियों के द्वारा सेवित है। अतः उसे जुष्टम् कहा गया। अथवा सनकादि योगियों के द्वारा ज्ञात होने से जुष्ट कहा गया। इस प्रकार कुछ लोगों ने जुष्ट को अन्य का विशेषण माना है। वस्तुतस्तु प्रकृति एवं प्राकृत पदार्थों से अन्य होने के कारण ही उसे यहां अन्य कहा है।

७. अविद्या और उसके कार्य तथा सम्बन्धों का नियन्त्रण करने वाला, अविद्या उपाधि वाले विज्ञानात्मा का अपना ही आत्मा। वृक्ष-रूपी उपाधि में रहते हुए भी उपाधि विशिष्ट न होते हुए असंसारी, भूख-प्यासादि से असंस्पृष्ट सर्वान्तर परमात्मा।

८. अखण्ड सुख रूप होने से उसे अपना प्रियतम समझना ही वास्त-विक भजना है। जैसे सेवा के द्वारा जिसकी सेवा की जाती है उसके दुःख पीड़ादि दूर होते हैं, उसी प्रकार मैं ब्रह्म हूं, इस भावना से द्वैत भावना द्वारा उत्पन्न खण्ड रूपता एवं परोक्षरूपता रूपी पीड़ा ईश्वर से हट जाती है। यह भजन श्रवण मनन उभय रूप है। इस सेवा से ईश्वर प्रसन्न होकर आनन्दात्म रूप में स्थिर कर देता है।

९. मैं ब्रह्म हूं, इस प्रकार सब में एक जैसा, सब प्राणियों के अन्तर में स्थित, अविद्या जनित उपाधि परिच्छिन्न भाव से रहित ही इसकी महिमा है। इसके द्वारा जगत् रूप भी अविद्या के द्वारा मेरी ही महिमा है, इस प्रकार का ज्ञान हो जाता है। अथवा स्वयं प्रकाशमान आन-न्दात्मा का आविर्भाव होना ही महिमा है। अथवा मुझ प्रत्यगात्मा की महिमा अनवच्छिन्न स्वरूप ईश्वर ही है। इस प्रकार की महिमा को जानता है।

१०. पूर्व में यदा आने से यहां इति से तदा का परामर्श है। अथवा इति अर्थात् एति, गच्छति, महिमा को जाता है। अथवा इति एवं पश्यन् सर्वत्र, इस प्रकार अपने को सर्व व्यापक समझ लेता है।

११. श्रवण मनन के अभ्यास से ईश्वर के साथ एकता के अपरोक्ष के द्वारा संसार-कारण अविद्या के ध्वंस हो जाने पर उसके कार्य शोक मोहादि से रहित होकर भवसागर से पार हुवा कृतकृत्य हो जाता है।

८

सारे ही वेद इस एकता के ज्ञान में ही गतार्थ हैं। यदि इस एकता का ज्ञान कराने में कर्म, उपासना, श्रवण, यजन, देवता, आदि उपाय न होवें तो ये सभी व्यर्थ हो जायेंगे। अतः वे सभी क्रम से जीव के अविद्या से छिपे हुए ईश्वरत्व भाव को ही उद्घाटित करते हुए सफल होते हैं। किञ्च ब्रह्म रूप ईश्वर ही वेद है। वह वेद मूल रूप से ऋचायें हैं। ऋचाओं की व्याख्या ही यजु है। ऋचाओं का गान ही साम है। विशिष्ट ऋचाओं को ही अथर्व कहते हैं। इस प्रकार वेद ही अंगी है। एवं ऋक् शब्द का अर्थ ब्रह्म ही होने से समग्र वेद ब्रह्म रूप ही है। अतः न केवल उपाय रूप से वरन् उपेय रूप से भी वेद की सार्थकता है। इस प्रकार समग्र विद्या कर्मादि का अन्तिम लक्ष्य जीवेश्वर ऐक्य ज्ञान ही है :—

ऋचः अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवाः अधि विश्वे निषेदुः। यः तं न वेद किं ऋचा करिष्यति ये इत् तत् विदुः ते इमे समासते॥

यस्मिन् = जिस[1]
परमे = पर[2]
व्योमन् = ब्रह्म रूपी[3]
ऋचः = ऋचाओं के[4]
अक्षरे = अक्षरों में[5]
विश्वे = सारे
देवाः = देवता[6]
अधि = अच्छी प्रकार से
निषेदुः = अवस्थित हुए हैं,[7]
तं = उसको[8]
यः = जो[9]
न = नहीं
वेद = जानता है
ऋचा = (वह) ऋचाओं से[10]
किं = क्या[11]
करिष्यति = करेगा?

ये = जो[12]
इत्[13] = इस प्रकार
तत् = उस ब्रह्म को
विदुः = जानते हैं (अपरोक्ष रूपसे)
ते = वे
इमे = (जीवन्मुक्त) ये[14]
समासते = बैठे हुए हैं[15]।

१. ऋचाओं का अधिष्ठान परब्रह्म यहां परामृष्ट है। यहां ऋचा से सारे ही वेद उपलक्षित हैं।

२. देश, काल, वस्तु सब तरह से उत्कृष्ट। तात्पर्य है कि आगे बताये जाने वाले अक्षर ब्रह्म का अधिष्ठान होने से, एवं रूप सृष्टि और नाम सृष्टि दोनों का अधिष्ठान होने से वह सर्वाधिक उत्कृष्ट है।

३. यद्यपि व्योम का अर्थ आकाश होता है परन्तु श्रुतियों में प्रायशः व्योम शब्द से ब्रह्म का ही ग्रहण किया जाता है। आकाशस्तल्लिंगात् इत्यादि ब्रह्म सूत्रों में इसका स्पष्ट निर्देश है। वैसे आकाश में बादलादि के बरसने एवं धूलादि के द्वारा मलिन होने पर भी असंगता का बना रहना एवं सबके अन्दर व्यापक रहते हुए भी अखण्ड बना रहना, आदि की ब्रह्म से समान धर्मता होने से लाक्षणिक प्रयोगता समझनी चाहिये। सप्तमी में व्योमन् का प्रयोग तो वैदिक है।

४. ऋचाओं से पाद बद्ध वर्ण लिये जाते हैं। यहां सब वेद उपलक्षित हैं। यद्यपि **नित्यात्मना एकत्वं ब्रुवन्ति ऋगादीनां** कह कर तैत्तिरीय भाष्य में स्पष्ट ही सर्वज्ञ शंकर ने आत्मा एवं वेदों की एकता का प्रतिपादन किया है तथापि यह स्पष्ट है कि प्रसिद्ध वेदों की शब्द राशि केवल इस आत्म तत्त्व की भिन्न भिन्न शक्तियों को व्यक्त करने के कारण ही वेद कही जाती है। यदि यहां ऋचः से यह शब्द राशि इष्ट हो तो भी जिस परम व्योम रूपी अक्षर में **ऋचः** और **देवाः निषेदुः** ऐसा अन्वय बन ही जायेगा, फिर भी ऋचः का मुख्यार्थ लेने में अधिक स्वारस्य प्रतीत होता है, क्योंकि ईश्वर की प्रत्यक्ष मूर्ति वेद

की शब्द राशि ही है। एवं जिस प्रकार मूर्ति से मूर्तिमान् का ज्ञान होता है उसी प्रकार वेद से ईश्वर का ज्ञान होता है। व्यवहार में मूर्तिमान् और मूर्ति को अथवा देवदत्त और उसके शरीर को जैसे एक मानकर मूर्ति या शरीर की पूजा से मूर्तिमान् या देवदत्त की पूजा मान ली जाती है ठीक उसी प्रकार वेद की पूजा से ईश्वर की पूजा हो जाती है। शम दमादि से युक्त होकर गुरु मुख से वेद का श्रवण और उसके अर्थ का मनन ही उसकी पूजा है। आजकल कुछ लोग वेद की कल्पित पत्थर की मूर्ति एवं कुछ दूसरे लोग वेद की पुस्तक को बढ़िया सुनहरे जिल्द में मढ़ा कर घंटे आरती से पूजा करते हैं। यह सब वेद की पूजा नहीं वरन् मखौल है।

५. तैत्तिरीय उपनिषद् की शिक्षावल्ली के द्वारा यह प्रतिपादित किया गया है कि अर्थ की प्रधानता स्वीकार करने पर भी अक्षर ग्रहण में प्रमाद अनुचित है। बहुत बार वेद के तात्पर्य को प्रधान मानकर लोग मंत्र संहिता को गौण मान लेते हैं। परन्तु बिना अक्षर ग्रहण के तात्पर्य-ज्ञान असम्भव होता है एवं मिथ्याज्ञान जनक भी हो जाता है। अतः वेदाक्षरों को पूर्ण संयम के साथ सुरक्षित रखने की परम्परा के बिना उसका अर्थज्ञान वैसा ही है जैसा किसी की आत्मा को सुख देने के नाम पर शरीर की उपेक्षा करना।

जिस पक्ष में अक्षरे को परमे के साथ अन्वित किया गया है वहां तो जिसका क्षरण नहीं होता एवं जो सर्वव्यापक है उस नित्य ऋचाओं से प्रतिपाद्य अक्षर का ही ग्रहण है। केवल अक्षरे कहने से अव्याकृत की प्राप्ति हो सकती थी उसको हटाने के लिये व्योमन् पद का प्रयोग है।

६. वेदों में न केवल समग्र ज्ञान को देने वाली शब्द राशि की अधिष्ठानता है वरन् अर्थ प्रपञ्च की भी है। यहां विष्णु, अग्नि, इन्द्र, आदि देवता, अथवा चक्षुरादि इन्द्रियां, अथवा पञ्चमहाभूत रूप विराट् एवं सूक्ष्म प्रपञ्चरूप हिरण्यगर्भ आदि सभी का संग्रह है।

७. जिस ब्रह्म रूपी वेद में ये सभी आश्रित हुए हुए रहते हैं, अथवा उस परमेश्वर के स्वामित्व में अवस्थित हुए हुए देव गण रहते हैं। अथवा अधिकता से समष्टि रूप होने के कारण सब प्रकार से अवस्थित रहते हैं, अर्थात् व्यवहार जगत् के अधिपति बने हुए रहते हैं क्योंकि इन्हीं के द्वारा जगत् का सञ्चालन परमेश्वर करते हैं।

८. उस वेदत्रय वेद्य, शब्द और अर्थ के अधिष्ठान रूप, चिन्मात्र तत्त्व को आत्म रूप से जानना ही यहां संकेतित है।

९. ऋगादि के स्वाध्याय एवं तत्प्रतिपादित कर्म, उपासना, शमादि, श्रवण, मनन आदि का अनुष्ठान करके शुद्ध हुआ साधक।

१०. परमात्मा से दूर करके मीमांसकादिकों की तरह केवल वेदाध्ययन, कर्म और उपासना से अथवा बिना अर्थ जाने केवल वेद का अध्यापन कराने से। तात्पर्य है कि जीवेश्वर की एकता के ज्ञान के बिना शब्द-ब्रह्म का ज्ञान निष्फल है।

११. यहां प्रश्नार्थक न होकर आक्षेपार्थक है। अर्थात् पाठ मात्र सार होने के कारण प्रयोजन की असम्भवता है।

१२. जीव-शिव की एकता करने वालों का कृतार्थत्व बताते है।

१३. इत् इत्थं वा छन्दार्थे निरर्थको वा।

१४. अहं ब्रह्म इस प्रकार का अपरोक्ष करने वाले यहां उपस्थित पदार्थ के लिये प्रयुक्त होने वाले इमं पद के द्वारा संकेतित हैं। अर्थात् जिन ब्रह्मविद्वरिष्ठों का शरीर हमको प्रत्यक्ष सिद्ध होवे उनका संकेत है।

१५. कृतार्थ होकर सं अर्थात् भली प्रकार से आसते आनन्द स्वरूप से बैठे हुए हैं। यद्यपि स्वरूप से वे सर्वव्यापी हैं तथापि यावत्-प्रारब्ध लोकों का उपकार करते हुए शरीर में आसन रखते हैं। भगवान् गौडपाद ने भी ज्ञानी के चल और अचल दो बैठने की जगहें बताई हैं। अथवा स्वरूप से निरतिशय आनन्दभाव में जो

स्थिति है उसको ही सम्यक् आसन कहा गया है। अथवा जो आज (इमे) जीवन्मुक्त हैं वे ही फिर (समासते) विदेह मुक्त होकर भली प्रकार ब्रह्म में स्थित हो जायेंगे। यहां भली प्रकार से तात्पर्य लेशाविद्या की निवृत्ति से है।

६

शब्द और अर्थ का अविष्ठान होने पर भी जगत् का कारण प्रकृति या परमाणु अथवा और कोई हो ऐसी संभावना होने पर कहते हैं :—

छन्दांसि यज्ञाः क्रतवः व्रतानि भूतम् भव्यं यत् च वेदाः वदन्ति। अस्मान् मायी सृजते विश्वं एतत् तस्मिन् च अन्यः मायया सन्निरुद्धः ॥

मायी = मायावान् महेश्वर[१]
छन्दांसि = गायत्र्यादि छन्द,[२]
यज्ञाः = यज्ञ,[३]
क्रतवः = क्रतु,[४]
व्रतानि = व्रत,[५]
भूतं = अतीत,
भव्यं = भविष्य,
च = और
यत् = जो (कुछ और भी)
वेदाः = वेद
वदन्ति = बताते हैं[६],
अस्मान्[७] = (तथा) हमको[८],
एतत् = इस
विश्वं = विश्व को
सृजते = प्रकट करता है।
च = और
तस्मिन् = उस जगत् जाल में[९]
अन्यः = दूसरा (जीव)[१०]
मायया = माया से
सन्निरुद्धः = भली प्रकार बन्धनों से जकड़ा हुआ है।

१. कूटस्थ होने पर भी माया की उपाधि से उसमें सर्व स्रष्टृत्व उपपन्न होने से उसे मायी कहा गया। यदि ऐसा न किया जाता तो साक्षात् ईश्वर में ही जगत्-कारणता आ जाती। अज्ञात ब्रह्म ही मायी पद का वाच्य है। ज्ञात होने पर वह मायी नहीं कहलायेगा।

२. नियत अक्षरों से ढांकने के कारण ही ये छन्द कहे जाते हैं। इनसे सभी वेदों की उपलक्षणा कर लेनी चाहिये।

३. ज्योतिष्टोमादि सभी यज्ञों का संग्रह अथवा यूप सम्बन्ध से रहित विहित क्रियाओं को यज्ञ एवं यूप सम्बन्ध वालों को क्रतु माना जा सकता है। वस्तुतस्तु पाक संस्थ असोमक सपशवक यज्ञ कहे जाते हैं, एवं तद् भिन्न ससोमक अपशवक क्रतु।

४. सभी यज्ञों को पूर्व पद से लेने पर क्रतु अर्थात् संकल्प से उपासनाओं का संग्रह करना होगा। अथवा यज्ञ सम्बन्धी क्रियाओं को करने में जो मानसिक संकल्प करना पड़ता है वह क्रतु पद वाच्य है।

५. अन्न की निन्दा न करना, सत्य बोलना, ब्रह्मचर्य, कामनात्याग आदि वैदिक व्रतों का संग्रह है। अथवा किसी किसी यज्ञ में जो विशिष्ट नियम बताये गये हैं, जैसे भोजन काल को छोड़कर पानी न पीना, केवल दूध ही पीना, आदि आदि व्रत।

६. वेद में प्रतिपादित पशु, दही, घृत, आदि पदार्थ। तात्पर्य है कि उपर्युक्त चीजें भी वेद प्रतिपादित हैं जो मुख्य होने से गिना दी गई हैं। परन्तु जो नहीं गिनाई गई हैं वे सब भी यहां संग्रह कर लेनी चाहिये। अतीत और भविष्य भी वेद प्रतिपाद्य इसलिये है कि यज्ञादि के द्वारा ही यह प्रपञ्च स्थित रहता है। यहां विहित और निषिद्ध दोनों कर्मों का संग्रह है।

७. **अस्मात् मायीत्यपिच्छेदः। प्रकृतात् ब्रह्मणः इत्यर्थः।**

८. हम यजमान रूप जीवों को। अथवा श्वेताश्वतर महर्षि का वचन होने से वेद सम्प्रदाय-प्रवर्तक ऋषियों को।

९. समष्टि-व्यष्टि कार्य-कारण रूप विश्व जाल में। तात्पर्य है कि ईश्वर ही इस सृष्टि को बनाकर उसमें बंधा हुवा अन्यवत् प्रतीत होता है। ऐसा वेद बताते हैं यह पूर्व से अन्वय कर लेना चाहिये। अथवा अविद्या से अन्य हुवा हुवा उसमें जकड़ जाता है।

१०. अविद्या के वश होकर अपने को अन्य मानने से संसार समुद्र में घूमता है। आत्मा और ईश्वर के तादात्म्य-ज्ञान से रहित होना ही अन्य बन जाना है। पूर्व मन्त्र से धर्म और अधर्म रूपी पक्ष वाला विज्ञानात्मा यहां इष्ट है।

१०

माया और मायावी को बताते हैं :—

मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्।
अस्य अवयवभूतैः तु व्याप्तं सर्वं इदं जगत्॥

मायां = माया को	**अस्य**[३] = इसके[४]
तु = ही	**तु** = ही
प्रकृतिं = प्रकृति;[१]	**अवयवभूतैः** = अंग रूपों के द्वारा[५]
मायिनं = मायावीको	**इदं** = यह
तु = ही	**सर्वं** = सारा
महेश्वरं = महेश्वर[२]	**जगत्** = जगत्
विद्यात् = जानो;	**व्याप्तम्** = भरा है।

१. जगत् के उपादान कारण रूप से जिस किसी भी नाम से वेदान्तों में प्रतिपादित किया जाय वह वस्तुतः माया ही है। अथवा प्रकृति स्वभाव को कहते हैं। माया ही ईश्वर का स्वभाव है। माया अर्थात् जो न हो उस रूप से प्रतीत होना। विश्व में कोई भी पदार्थ अपने शुद्ध स्वरूप से प्रतीत नहीं होता। सोना मिट्टी आदि सभी किसी न किसी आकार में ही मिलते हैं। इससे पता चलता है कि इसका मूल कारण भी इसी प्रकार का होगा। एक होते हुए अनेक, चेतन होते हुए जड़, द्रष्टा होते हुए दृश्य आदि सभी उसके स्वभाव प्रत्यक्ष सिद्ध हैं।

२. जिन किसी भी शब्दों से सृष्टिकर्ता, नियामक, संहारक, अनुग्राहक का वर्णन वेदों में मिलता है उन सब नामों से महेश्वर का ही प्रतिपादन है। अद्वितीय आनन्दघन रूपी देह वाला स्वरूप और स्फुरण देकर माया का अधिष्ठान रूप से उपकारक है। अग्नि, इन्द्र, वरुण, विष्णु, ब्रह्मा आदि ईश्वरों की अपेक्षा भी महान् होने से इसे महेश्वर कहा गया। यही इन देवताओं का एवं समग्र विश्व प्रपञ्च का एक मात्र प्रेरयिता है।

३. तस्येति वा पाठः।

४. माया के वश से ही परमेश्वर में प्रत्यक्षता की प्रतीति होती है।

५. जिस प्रकार महाकाश का घटाकाश अंग है अथवा सूर्य का दर्पणस्थ प्रतिबिम्ब अंग है उसी प्रकार यहां समझना चाहिये। हाथ पैर आदि की तरह अंशत्व की कल्पना तो सर्वथा असंगत है। इस प्रकार के जीवों से यह सारा जगत् व्याप्त है यह तो प्रत्यक्ष सिद्ध ही है। किञ्च रस्सी में सर्प कल्पित होने से सर्प को भी रस्सी का अवयव कहा जा सकता है। इस प्रकार द्रष्टा और दृश्य उभयविध जगत् में महेश्वर की व्याप्ति अध्यास के द्वारा बन जाती है। अथवा अखण्ड ब्रह्म के एक देश मात्र में (इदं) विविध ज्ञानों से जाने वाला चेतन अचेतन रूप जगत् विद्यमान है। यहां अवयवत्व को गौण कल्पना समझना चाहिये। तात्पर्य है कि एक देश का कार्य रूप से परिणत होने पर भी दूसरे देश में कारण रूप से महेश्वर अधिष्ठाता ही बना रहता है। यह देश भेद कल्पना भी माया से होने के कारण उसकी अखण्डता को निवृत्त नहीं करती। इस प्रकार यहां विवर्तवाद से ही संगति करनी चाहिये परिणामवाद से नहीं। सारे प्रपञ्च को माया का विवर्त बता कर सम्यक् दर्शन के द्वारा बाध्य बताने का यही तात्पर्य है कि मुमुक्षु को एकात्म ज्ञान के लिये ही यत्न करना चाहिये।

११

जगत् के सहस्रों कारण प्रत्यक्ष से भी सिद्ध हैं एवं अन्य तीर्थकरों ने भी सिद्ध किये हैं। फिर एक मात्र मायी को ही कारण रूप से जानने का क्या लाभ? इस शंका को हटाते हैं :—

यः योनिम् योनिम् अधितिष्ठति एकः यस्मिन् इदं सम् च वि च एति सर्वम्। तं ईशानं वरदं देवं ईड्यं निचाय्य इमां शान्तिम् अत्यन्तम् एति ॥

यः = जो[1]
एकः = एक महेश्वर
योनिं = कारण[2]
योनिं = कारण में
अधितिष्ठति = अधिष्ठित रहता है,
च = और
यस्मिन् = जिसमें[3]
इदं = यह[4]
सर्वं = सारा
सम् (एति) = संहृत होता है[5]
च = और
वि = विविध भाव को
एति = प्राप्त होता है;
तं = उस[6]
वरदं = वर देने वाले[7]
ईड्यं = स्तुति के योग्य[8]
ईशानं = नियामक
देवं = महादेव को
निचाय्य = अपरोक्ष रूप से देख कर[9]
इमां = जीवन्मुक्तों में प्रत्यक्ष रूप से देखी जाने वाली[10]
शान्तिम् = शान्ति को
अत्यन्तम् = पूरी तरह से[11]
एति = पा लेता है।

१. माया विनिर्मुक्त आनन्दैकघन।

२. वीप्सा से प्रत्येक कारण का भाव है। तात्पर्य है कि वह न केवल महा सर्ग में मूल प्रकृति का भी अधिष्ठाता है वरन् अवान्तर सर्गों में आकाश वायु आदि के द्वारा भी वही सृष्टि करता है। अतः उसके सिवाय और किसी में भी वास्तविक कारणता नहीं है। विवेक दृष्टि से तो कुम्हार इत्यादि में भी उस कार्य-करण उपाधि के द्वारा वास्तविक कारणता तो चेतन आत्मा की ही है। इसीलिये यद्यपि

सामान्य दृष्टि से आकाश से वायु उत्पन्न हुआ आदि श्रुतियां हैं परन्तु वहां भी श्रौत मत तो यही है कि आकाश उपाधिवाला होकर वायु को, एवं वायु उपाधि वाला होकर अग्नि को बनाता है। काल संवत्सर, प्रजापति, नारायण आदि जो कारण वेदों में यत्र तत्र आये हैं वे सब भी इसी न्याय से महेश्वर की ही कारणता का प्रतिपादन करते हैं। प्रथमाध्याय के तृतीय मंत्र में इसे बताया जा चुका है।

अथवा प्रथम योनि से कारण एवं द्वितीय योनि से कार्य-रूप उपाधि का संग्रह किया जा सकता है, अर्थात् कारण और कार्य दोनों उपाधियों में स्थित हुवा वही वास्तविक कारण है। अथवा इन्द्रादि कारणों को भी ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति देने वाला होने के कारण वही वास्तविक कारण है। किसी किसी ने तो यः **अयोनिं योनिं**, ऐसा पदच्छेद करके योनि रहित अर्थात् कारण रहित योनि अर्थात् मूल प्रकृति को ग्रहण किया है। अथवा योनि अर्थात् स्थान। अन्तर्यामी रूप से अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूत आदि स्थानों में अधिष्ठित होकर उनका नियमन करता है। अथवा देव, पशु, मनुष्य, स्थावर, जंगम, आदि योनियों में अधिष्ठित होते हुए भी हिरण्यगर्भादि योनियों में एक अद्वितीय रूप से अधिष्ठित बना ही रहता है।

३. अधिष्ठान कारण के प्रतिपादन से यद्यपि वह भेद शून्य सर्व कारण कारण सिद्ध हो गया तथापि यह निमित्त-कारणवाद से भी संगत हो सकता है। अतः अभिन्न निमित्तोपादन कारणता के प्रतिपादन के लिये श्रुति प्रवृत्त होती है। जगत् कारण रूपी अधिष्ठान में ही उसका संहार बताने से उपादान कारणता सिद्ध हो जाती है।

४. विविध प्रतीतियों से जाना जाने वाला।

५. सम् और वि दोनों उपसर्गों के साथ एति क्रिया पद का सम्बन्ध है। आनन्दघन वपु में उपसंहार काल में यह सारा जगत् **सम् एति संगच्छते ऐक्यं याति**, लीन हो जाता है। सुषुप्ति में आनन्द रूप से एकता अनुभव सिद्ध है एवं प्रलय में शास्त्र सिद्ध।

अथवा समेति अर्थात् जाना जाता है। एवं वि एति का अर्थ व्यय हो जाता है, नष्ट हो जाता है। अथवा सम् एति अर्थात् सम्यक् गच्छति, स्थिति करता है और वि याने विविध भाव को प्राप्त होकर नष्ट हो जाता है अर्थात् टुकड़े टुकड़े होकर नष्ट हो जाता है। चकार के द्वारा एति का सम्बन्ध दोनों तरफ लग जाता है। इस प्रकार सृष्टि, स्थिति, प्रलय तीनों का वह कारण है यह बता दिया।

६. ऊपर कहे हुए कारण रूप को।

७. भोग और मोक्ष रूपी सभी वरों को देने वाले। भक्तों की अभिलाषा पूर्ण करना उनका स्वभाव है यह भाव है।

८. वेद, पुराण, इतिहास, सभी एकमात्र साक्षात् या परम्परा से उसी की स्तुति करते हैं अतः साधकों के लिये उसे छोड़ कर और किसी की स्तुति करना अवाञ्छनीय है।

९. बुद्धि के द्वारा निश्चय होने से यहां दृढ़ ज्ञान का संकेत करने की इच्छा से निश्चय करके (निचाय्य) शब्द का प्रयोग किया है। अर्थात् असंभावना और विपरीत भावना को हटाकर निश्चय रूप से मैं ब्रह्म हूँ, ऐसा साक्षात्कार से दर्शन करके।

१०. स्थितप्रज्ञादि लक्षणों को सुनने से जिस शान्ति का परोक्ष-ज्ञान होता है जीवन्मुक्त के व्यवहार को देखकर वही प्रत्यक्ष सिद्ध हो जाती है। यहां श्वेताश्वतर महर्षि मानो अपने को ही विषय करके बतलाते हैं कि इस शान्ति को तुम प्रत्यक्षवत् देख लो। अथवा सुषुप्ति समाधि में इसका प्रत्यक्ष होता है। सुषुप्ति में तो सर्वोपरम लक्षण यह शान्ति सार्वजनिक प्रत्यक्ष का विषय है।

११. तत्त्व ज्ञान से अविद्या एवं उसके कार्य की निवृत्ति से पुनरावृत्ति रहित आनन्दघन एक रसता की प्राप्ति ही आनन्द की अतिशय प्राप्ति है। यही मोक्षनाम की शान्ति आगे निरूपित की जायेगी। कुछ लोग भविष्य में निरूप्यमाण होने से इसे इमां कहा गया ऐसा भी मानते हैं।

१२

सूत्रात्मा को अविरत अपने सामने देखते हुए उसका प्रसाद प्राप्त करके अखण्ड तत्त्वज्ञान की सिद्धि के लिये प्रार्थना करते हैं :—

यः देवानां प्रभवः च उद्भवः च विश्वाधिकः रुद्रः महर्षिः। हिरण्यगर्भम् पश्यत जायमानं स नः बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥

इस मंत्र में **पश्यत जायमानं** को छोड़ कर अवशिष्ट सब तृतीयाध्याय के चतुर्थ मन्त्र से समझ लेना चाहिये। वहां धातु प्रसाद के लिये यह मन्त्र पठित था। वह रुद्र ही हिरण्यगर्भ को जायमान उत्पन्न होते हुए **पश्यत** देखता है या देखा। यहां आत्मनेपद वैदिक प्रयोग है। पश्यत अर्थात् अपश्यत्। तात्पर्य है अवान्तर सर्ग स्थिति प्रलय कर्ता रूप से एवं वेद प्रवर्तक रूप से वह हिरण्यगर्भ को देखता रहता है।

१३

यः देवानां अधिपः यस्मिन् लोकाः अधिश्रिताः। यः ईशे अस्य द्विपदः चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

यः = जो (महेश्वर)
देवानाम् = समष्टि देवताओं का[1]
अधिपः = अधिपति[2] (है),
यस्मिन् = जिसमें
लोकाः = परिदृश्यमान जगत्[3]
अधिश्रिताः = अध्यस्त हैं,[4]
यः = (एवं) जो
अस्य = इन[5]
द्विपदः = दो पैर वालों[6] (व)
चतुष्पदः = चार पैर वालों का[7]
ईशे[8] = शासन करता है।
कस्मै = उस आनन्द रूप ब्रह्म[9]
देवाय = महादेव के लिये
हविषा = हवि से[10]
विधेम = परिचर्या करते हैं[11]।

१. ब्रह्मा, विष्णु, अग्नि आदि समष्टि कार्य उपाधि वालों का संग्रह है। इसी प्रकार मूल प्रकृति रूपी कारणोपाधि वाले हिरण्यगर्भ का भी यहां संग्रह है। व्यष्टि देव इन्द्रियादियों को भी यहां ले लेना चाहिये। लेकिन तत् तत् देहस्थ इन्द्रियों को न लेकर समष्टि चक्षु, समष्टि श्रोत्र इत्यादि का संग्रह करना है। बृहदारण्यक भाष्य में यह स्पष्ट किया गया है कि आकाश की तरह इन्द्रियां भी व्यापक ही हैं एवं जो देह में चक्षुरादि इन्द्रियां प्रतीत होती हैं वह केवल उनकी अभिव्यक्ति का स्थल है।

२. उनको अधिष्ठित करके उनका पालन करने वाला होने से ही उसको अधिपति कहा गया।

३. भूरादि लोक भी यहां लिये जा सकते हैं। वे भी कर्म के फल रूप से ही उत्पन्न होते हैं। अतः लोक्यन्ते इस व्युत्पत्ति से दृश्यभूत सारे पदार्थों का संग्रह उचित है।

४. ओत-प्रोत रूप से अधि अर्थात् ऊपर आश्रित हैं। अर्थात् वे इसमें ओतप्रोत हैं और वह इनमें ओतप्रोत है। अथवा यह सारा परिदृश्यमान जगत् उसी की अभिव्यक्ति होने से उसी का (अधि) अधिक रूप से आश्रित रूप है। ये सभी पारमार्थिक न होने से अध्यस्त हैं।

५. देवताओं के द्वारा परोक्षों को नियन्त्रित करता है, यह बताया था। अब प्रत्यक्ष जो व्यष्टि उपाधियां उसका भी वह नियामक है यह बताते हैं।

६. दो पैरों से चलने वाले मनुष्य पक्षी आदि। विवेकी की दृष्टि में तो अर्थ और काम इन दो से ही गति करने वाले को द्विपद कहा जाता है। अर्थात् जीवन में अपने समग्र कार्यों के प्रति जिसका दृष्टिकोण केवल अर्थ और काम का हो वे सभी द्विपद हैं।

७. गाय, हाथी आदि व्यष्टि उपाधि का अभिमान करने वाले। विवेक दृष्टि से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, इन चारों के द्वारा जीवन चलाने वाले। अर्थात् जो अपने कार्यों एवं उनके फलों में इन चारों दृष्टियों को सामने रखते हैं। यदि ये अर्थ इष्ट न हों तो षट्पद (Insects), अपद (Amoeba), शतपद (Centipede) आदि का संग्रह नहीं हो पायेगा।

८. **ईश ईष्टे इत्यत्र छान्दसस् तकारलोपेन ईश इति सिद्धः।**

९. क का अर्थ सुख प्रसिद्ध है। ओं कं ब्रह्म इत्यादि श्रौत प्रसिद्धि से 'क' का अर्थ ब्रह्म भी होता है। काय की जगह कस्मै तो वैदिक प्रयोग है। भगवान् सायणाचार्य तो यहां वैदिक ए का लोप मानकर एकस्मै अर्थात् उस भेदशून्य परमात्मा को ग्रहण करते हैं। किसी किसी ग्रन्थ में तस्मै पाठ भी मिलता है। इस पक्ष में तो यः के साथ सीधा ही अर्थ लग जाता है।

१०. महेश्वर के आराधनभूत द्रव्यों के द्वारा। ये द्रव्य श्रौत चरु पुरोडाशादि भी हो सकते हैं अथवा औपनिषद् मन, प्राण आदि भी हो सकते हैं। उपलक्षण से तान्त्रिक फूल, चन्दन आदि का भी ग्रहण कर लेना चाहिये। वस्तुतस्तु अपने व्यक्तित्व की ही हवि इष्ट होती है। पदार्थ त्याग भी ममता त्याग को पुष्ट करने के लिये है।

११. हम परिचर्या कर सकें, यह प्रार्थना है। तात्पर्य है कि कर्म रूप से तो हम विधि का पालन करते हैं, परन्तु उसे ईश्वरार्पण बुद्धि से अनुष्ठित नहीं कर पाते। ईश्वर की कृपा से ही ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करने की योग्यता आती है। शनैः शनैः सारे ही कर्मों को जब साधक ईश्वरार्पण बुद्धि से अनुष्ठित कर सकता है तब ज्ञान मार्ग का सिंह द्वार खुल जाता है। प्रार्थना के द्वारा यह ध्वनित किया कि महेश्वर वृद्ध पितामहादि की तरह अप्रयोजक नहीं है। पूर्व मंत्र के द्वारा यह ध्वनि हो सकती थी कि उसने हिरण्यगर्भादियों को उत्पन्न किया परन्तु अब कुछ भी करने में असमर्थ है। उसकी व्यावृत्ति इस

मन्त्र से कर दी गई। मुमुक्षुओं के द्वारा सम्यक् ज्ञान के अधिकार की सिद्धि के लिये महेश्वर की प्रार्थना करनी चाहिये यह तात्पर्य है।

१४

सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारम् अनेकरूपम्। विश्वस्य एकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा शिवं शान्तिम् अत्यन्तम् एति ॥

कलिलस्य = कलिल के[1]	विश्वस्य = जगत् के[5]
मध्ये = मध्य में[2]	एकं = एक ही
सूक्ष्मातिसूक्ष्मम् = बारीक से बारीक[3]	परिवेष्टितारं = व्याप्त करने वाले
	शिवं = शिव को
विश्वस्य = जगत् के	ज्ञात्वा = जान कर
स्रष्टारं = बनाने वाले को	शान्तिं = शान्ति को
अनेकरूपम् = अनेक रूप वाला[4]	अत्यन्तम् = पूर्ण तरह से
(एवं)	एति = जाता है।

१. अविद्या एवं उसके कार्य रूप दुर्ग को गहन होने के कारण कलिल कहा जाता है। अथवा सृष्टि के पूर्वक्षण में शिव का ईक्षण के द्वारा शक्ति की तरफ उन्मुख होने का भाव भी कलिल कहा गया है। अथवा जगत् के आरम्भ काल में जल के बुद बुद की पूर्वावस्था फेनिल उदक को भी कलिल कहा जाता है। अथवा शोणित एवं शुक्र के संगत होने पर जो क्षण भर के लिये अभिन्न स्थिति (Zygote) बनती है उसे कलिल कहा है। इस क्षण में ही आत्मा का आध्यात्मिक बन्धन प्रारम्भ होता है जो समग्र सृष्टि का कारण है। विवेक दृष्टि से तो जब जब द्रष्टा का दृश्य से संयोग होता है तब तब ज्ञानकलिल की स्थिति हो जाती है एवं वासनादि के द्वारा आगामी सृष्टि का कारण बन जाती है। अतः स्वरूप का अज्ञान ही वास्तविक कलिल है।

२. अन्तरसाक्षी रूप से स्थित है अर्थात् विचार के बिना छिपा रहता है।

३. यद्यपि परमात्मा की जगत् चक्र में सूक्ष्मता स्पष्ट है फिर भी पृथ्वी से अव्याकृत पर्यन्त उत्तरोत्तर सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम रूप से महाकारण महामाया से भी चित् तत्त्व की सूक्ष्मता बताना यहां अभीष्ट है।

४. उपादान, उपादेय, निमित्त, नैमित्तिकादि भेदों से अनेक रूप वाला। वस्तुतः प्रत्येक योनिकलल में स्थित हुआ हुआ ही वह जगत् वैचित्र्य का हेतु बनता है। उन उन कार्य करण संघातों के द्वारा वह अनेक कारण रूपों वाला एवं अनेक कार्य रूपों वाला भी प्रतीत होता रहता है। परन्तु इन अनन्त रूपों को धारण करने पर भी इन उपाधियों के मायिक होने के कारण उनसे असंग ही बना रहता है। अर्थात् अनेक उपाधियों से उसमें अनेकत्व है, स्वरूप से नहीं।

५. पहले **विश्वस्य** का यहां फिर से ग्रहण विश्व के गौणार्थ की निवृत्ति के लिये है। परमात्मा विश्व को अन्दर और बाहर दोनों तरफ से स्वरूप और स्फुरण देकर प्रविष्ट और आविष्ट होता है, यह भाव है।

१५

सृष्टि का बनाने वाला एवं परिवेष्टा व प्रविष्ट होने पर भी विश्व की स्थिति का कर्ता विष्णु, मनु या अन्य राजा होंगे इस शंका की निवृत्ति करते हैं :—

सः एव काले भुवनस्य गोप्ता विश्वाधिपः सर्वभूतेषु गूढः। यस्मिन् युक्ताः ब्रह्मर्षयः देवताः च तम् एवं ज्ञात्वा मृत्युपाशान् छिनत्ति ॥

सः=वह (महेश्वर)
विश्वाधिपः=संसार का अधिपति (एवं)
सर्वभूतेषु=सारे प्राणियों में
गूढः=(अन्तर्यामी रूप से) छिपा हुआ
एव=ही[1]
काले=स्थिति काल में[2]
भुवनस्य=जगत् का
गोप्ता=पालक है[3]।

यस्मिन्=जिसमें[4]
युक्ताः=(योग करके) जुड़े हुवे[5]
ब्रह्मर्षयः=ब्रह्मर्षि[6]
च=व
देवताः=देवता[7]
एवम्=इस प्रकार
तम्=उस (शिव को)
ज्ञात्वा=जान कर[8]
मृत्युपाशान्=मृत्यु के पाशों को[9]
छिनत्ति=काट देते हैं[10]।

१. अध्यात्मादि भेद भिन्न जगत् का स्वामी एव ब्रह्मा से स्तम्ब पर्यन्त समष्टि-व्यष्टि रूप सब भूतों में साक्षी रूप से प्रविष्ट हुआ भी अद्वितीयानन्द रूप से छिपा रहता है। इस रूप को बिना छोड़े हुए ही वह इसका रक्षक बन जाता है। यह बतलाने के लिये ही एव पद है। अर्थात् जगत् से हजारों गुना बड़ा होने से एक अंश से इस सब आकार वाला बनकर भी वह पालक बन सकता है।

२. जीव के कर्मों के परिपाक का समय ही स्थितिकाल है। अतीत कल्पों में भी जब जब जीवों के कर्मों का परिपाक समय था तब तब वही गोप्ता था, यह भाव है।

३. कर्म के अनुसार सुख दुःख देने वाला होने से ही वह इसका पालक या रक्षक कहा जाता है। तात्पर्य है कि कर्म का फल उत्पन्न न हो तो कर्म-फल रूप लोक का नाश हो जाय, एवं बिना कर्म के कर्म-फल रूप लोकों की उत्पत्ति हो तो अकृत, अभ्यागम, वैषम्य, नैर्घृण्य आदि अनेक दोष प्राप्त हो जांय। अतः इन दोषों की प्राप्ति न हो यही विश्व का रक्षण है।

४. चिद्घनानन्दघन शिव ही यहां इष्ट है जिसमें से अशेष विशेष नष्ट हो गये हैं। **यस्मिन् ब्रह्मर्षयः देवताश्च युक्ताः तं ज्ञात्वा**, ऐसा अन्वय भी सम्भव है। तब तात्पर्य होगा कि जिस महेश्वर में ब्रह्मर्षि व देवता भी ऐक्य भाव से जुड़े हुए हैं उस परमात्मा को अपना स्वरूप जानकर तर जाता है।

५. ब्रह्मा आदि भी उपाधियों के द्वारा रहित होकर अपने शिव स्वरूप को अपने से एक करके जानते हैं। अथवा **यस्मिन् सति** उस परमात्मा के कृपारूप से स्थित होने के कारण ही योग का आश्रयण करके ब्रह्मादि प्रवृत्त होते हैं, अर्थात् ऐक्य ज्ञान के लिये सर्व कर्म संन्यास आवश्यक है, एवं साधक के ज्ञान प्राप्त होने के पूर्व ही देह-पातादि विघ्न आनेपर सर्वनाश की प्राप्ति हो सकती है। परन्तु महेश्वर उसका पुनः उत्थान ही करते हैं, कभी गिरने नहीं देते, इस निश्चय के कारण ही योग में प्रवृत्ति सम्भव है।

६. जो ब्राह्मण अतीन्द्रिय द्रष्टा हों उन्हें ब्रह्मर्षि कहा जाता है जैसे सनक, सनन्दन, सनत्कुमार, शुक, वामदेवादि। इनसे देवर्षि और राजर्षियों की भी उपलक्षणा कर लेनी चाहिये। अथवा **ब्रह्म च ऋषयश्च** ऐसा पदच्छेद है। ब्रह्म अर्थात् ब्राह्मण एवं ऋषि अर्थात् वशिष्ठ, गृत्समद् आदि जो वेद के मंत्र द्रष्टा हैं। ऋषि गोत्र प्रवर्तक होने से गोत्रहीन हैं एवं इसीलिये उनका ब्राह्मणादि कोई वर्ण नहीं माना जा सकता।

७. हिरण्यगर्भ आदि आधिकारिक पुरुष। यहां देवताओं से आगे आने वाले चकार से दैत्य, गन्धर्व आदि का भी संग्रह कर लेना चाहिये।

८. अपरोक्ष साक्षात्कार करके।

९. **मृत्युर्वै तमः** इत्यादि श्रुतियों से अविद्या ही मृत्यु है। एवं काम, क्रोध, कर्म आदि ही पाश हैं। वस्तुतः यदि मृत्यु का अर्थ प्रसिद्ध प्राण-वियोग भी लिया जाय तो उसके भी पाश अविद्या, काम, कर्म ही हैं क्यों कि अविद्या, काम, कर्म के द्वारा ही मृत्यु मारती है।

१०. जीव और शिव की एकता रूपी अग्नि वासना एवं उसका कारण अज्ञान रूपी गांठ को जला देता है।

१६

यद्यपि सप्रपञ्चता की प्रतीति है तथापि उपाय से निष्प्रपञ्चता की प्राप्ति करनी चाहिये :—

घृतात् परं मण्डम् इव अति सूक्ष्मम् ज्ञात्वा शिवम् सर्व-भूतेषु गूढम्। विश्वस्य एकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवम् मुच्यते सर्वपाशैः॥

घृतात्=घी से	**विश्वस्य**=विश्व के
परं=ऊपर	**एकं**=एक मात्र
मण्डम्=मण्ड[1]	**परिवेष्टितारं**=व्याप्त करने वाले को
इव=की तरह	
अतिसूक्ष्मम्=अत्यन्त सूक्ष्म रूप को[2]	**देवं**=देव रूप वाले
	शिवं=शिव को
ज्ञात्वा=जानकर	**ज्ञात्वा**=साक्षात् जान कर[4]
सर्वभूतेषु=सारे प्राणियों में	**सर्वपाशैः**=सब पाशों से
गूढम्=छिपे हुए रूप को[3] (तथा)	**मुच्यते**=मुक्त हो जाता है[5]।

१. जैसे दही के ऊपर जमी हुई मलाई दही का सार होती है उसी प्रकार घी अर्थात् द्रवीभूत आज्य के उबाल कर बरफ आदि से अति शीघ्र ठंडा करने पर जो ऊपर मलाई की तरह जम जाता है वह उसका उत्कृष्ट सार मण्ड कहा जाता है। जिस प्रकार यह अत्यन्त सार होने से खाने वाले की परम प्रीति का विषय होता है उसी प्रकार शिव भी समग्र साधनाओं का सारभूत होने से मुमुक्षुओं की परम प्रीति का विषय है, यह भाव है। जिस प्रकार गाय से सीधा इस मण्ड को प्राप्त नहीं किया जा सकता वरन् गाय से दूध, दूध को उबाल कर जामन डाल कर दही, दही को मथ कर मक्खन, मक्खन को

उबाल के घी एवं घी को उबाल के मण्ड प्राप्त किया जाता है। जैसे यह युक्ति केवल अनुभवी आप्त पुरुषों से जाननी पड़ती है वैसे ही शिव प्राप्ति के क्रमिक साधनों को गुरु के द्वारा ही जानना पड़ता है।

जैसे गाय के शरीर से लेकर घृत पर्यन्त मण्ड जब तक अलग नहीं हो जाता तब तक उन सभी चीजों में ओत प्रोत रूप से भरा रहता है वैसे ही आनन्द स्वरूप शिव बन्धनावस्था से लेकर जब तक ब्रह्मनिष्ठता नहीं होती तब तक सभी अवस्थाओं में निरतिशय प्रीति का विषय बना रहता है।

२. अतिशय अणु रूप सारे प्रपञ्च का सार। महाकारण होने से एवं समग्र पुरुषार्थों का अन्तिम लक्ष्य होने से भी इसे अति सूक्ष्म कहा गया। अथवा अथर्ववेदीय प्रक्रिया के अनुसार विश्व-विराट् से तैजस्-हिरण्यगर्भ तदपेक्षया प्राज्ञ ईश्वर सूक्ष्म है। इसकी भी अपेक्षा समग्र विशेषों से रहित शिव सूक्ष्मतम है। इस रूप से ही वह सारे चराचर जगत् में विद्यमान है।

३. देव, मानव, दानव सभी जन्तुओं में कर्म-फल-भोग-साक्षी रूप से प्रत्यक्ष विद्यमान होने पर भी उनके द्वारा तिरस्कृत हुआ हुआ होने से ईश्वर गूढ़ है। तात्पर्य है कि सब देहों में रहते हुए भी वह देह वाला न रह कर अन्तर्यामी रूप से ही बुद्धि का साक्षी होने से बिना श्रवण मनन के पकड़ में नहीं आता।

४. ज्ञात्वा का दो बार कहना अन्य किसी साधन की व्यावृत्ति के लिये है। अथवा श्रवण के द्वारा अदृढ़-ज्ञान एवं मनन निदिध्यासन के द्वारा दृढ़-ज्ञान इन दोनों ज्ञानों को बताने के लिये है। विवेक दृष्टि से प्रथम ज्ञात्वा से त्वं पदार्थ से लक्षित आत्मा का ज्ञान एवं द्वितीय ज्ञात्वा से उस शोधित त्वं पदार्थ को शोधित तत् पदार्थ से एक करके जानने को लिया गया है।

५. अविद्या और उसके कार्य रूपी संसारपाश बाधित हो जाते हैं।

१७

ईश्वर की जीव भाव प्राप्ति को बताते हैं :—

एषः देवः विश्वकर्मा महात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः। हृदा मनीषा मनसा अभिक्लृप्तः ये एतत् विदुः अमृताः ते भवन्ति ॥

एषः = यह
देवः = महादेव
विश्वकर्मा = सब कर्मों को करने वाला[१]
महात्मा = महात्मा[२]
सदा = हमेशा
जनानां = लोगों के
हृदये = हृदय में[३]
सन्निविष्टः = घुसा हुवा बैठा है[४]।
ये = जो
एतत् = इसको
हृदा = प्रेम से[५]
मनीषा = बुद्धि से,[६] (एवं)
मनसा = मन से[७]
अभिक्लृप्त = जान कर[८]
विदुः = भजते हैं
ते = वे
अमृताः = अमर
भवन्ति = हो जाते हैं।

१. सभी विश्व रूपी कर्म को करने के कारण वह विश्वकर्मा है अर्थात् सब को उत्पन्न करने वाला है। अथवा विश्व अर्थात् सर्व। भिन्न भिन्न उपाधियों से जहां जहां जो कुछ भी हो रहा है वहां वही कर रहा है। अथवा माया के सहारे से विश्व इसका कार्य है अतः यह विश्वकर्मा कहा जाता है।

२. जो महान् हो अर्थात् व्यापक हो एवं आत्मा हो उसे महात्मा अर्थात् सर्व व्यापी कहते हैं। इससे उसकी प्रजापति आदि से व्यतिरेकता प्रतिपादित कर दी। अर्थात् महाकाश स्थानीय हुआ हुआ वह रहता है। महात्मा मानने पर वह किसी देशान्तर में रहता होगा,

अतः यहां आकर के भी कभी कभी बुद्धि का विषय बनता होगा, इस शंका को हटाने के लिये आगे आने वाला हृदय पद है।

३. हार्दाकाश में जो जल पात्र की तरह है।

४. जल में चन्द्र की तरह उसका प्रवेश है। हृदय अर्थात् लिंग शरीर के तादात्म्याभिमान के साथ, एवं उसका साक्षी बनकर दोनों प्रकार से वह विद्यमान है।

५. हृञ् हरणे धातु से निष्पन्न होने के कारण नेति नेति इत्यादि निषेध उपायों से जिसका हरण कर लिया गया है।

६. यह पुरुषार्थ है और यह अपुरुषार्थ; यह आत्मा है और यह अनात्मा, इस प्रकार की विवेक बुद्धि से।

७. विचार-साध्य सर्व-साक्षी रूप एकत्व ज्ञान से। अथवा हृदा अर्थात् हृत्पुण्डरीक के सहारे से मनीषा अर्थात् जिस बुद्धि के संकल्प जीत लिये गये हैं उसके द्वारा। मनसा अर्थात् मनन के द्वारा अहं ब्रह्मास्मि ऐसा अनुभव करके।

८. अद्वितीय आत्मरूप से अभि प्रकाशित अर्थात् अभिव्यक्त करके।

यद्यपि महाप्रकरण के अनुसार पूर्वोक्त अर्थ ही अधिक समीचीन है फिर भी शंकरानन्द स्वामी ने यहां हृदा के पूर्व सर्वगत की हृदय सन्निविष्टता कैसे, ऐसी आशंका करके हृदा आदि अर्धाली को उत्तर माना है। संभवतः उनका तात्पर्य यह है वह विश्वकर्मा और महात्मा होने पर भी हृदा अर्थात् भावनाओं से मनीषा अर्थात् बुद्धि से एवं मनसा अर्थात् संकल्प विकल्पों से जीव रूप बनकर अभिक्लृप्त अर्थात् कल्पित हो जाता है। तब तात्पर्य होगा कि परमेश्वर ही जीव रूप से कल्पित हुआ है इसको जानकर जो प्रत्येक भाव, संकल्प और बुद्धि वृत्तियों में उसी परमात्मा को उन वृत्तियों से विशिष्ट हुआ हुआ मानकर भजता है वह मुक्त हो जाता है। वस्तुतस्तु एक उत्तरार्ध

प्रक्रिया है और दूसरी अवतरण प्रक्रिया। हर हालत में जब तक प्रेम, बुद्धि, मनके संकल्प विकल्पों का एकमात्र विषय शिव नहीं बन जाता तब तक कृतार्थता असंभव है।

१८

पारमार्थिक दृष्टि से सब कालों में द्वैतशून्यता ही है :—

यदा अतमः तत् न दिवा न रात्रिः न सत् न च असत् शिव : एव केवलः। तत् अक्षरम् तत् सवितुः वरेण्यम् प्रज्ञा च तस्मात् प्रसृता पुराणी ॥

यदा[1]=जब या जिस अवस्था में[2]
अतमः=अविद्यान्धकार[3] नहीं होता
तत्=तब या उस अवस्था में
न=न
दिवा=दिन[4]
न=न
रात्रिः=रात
न=न
सत्=भाव[5]
न=न
असत्=अभाव है[6]
च=परन्तु[7]
केवलः=अकेला[8]
शिवः=शिव[9]
एव=ही है;[10]
तत्=वह (शिव)[11]
अक्षरम्=अविनाशी[12] (एवं)
तत्=उस
सवितुः=सृष्टि कर्ता का (भी)
वरेण्यम्=पूज्य है[13]
च=और
तस्मात्=उस (शिव) से[14]
पुराणी=अनादि सिद्ध[15]
प्रज्ञा=आत्म विद्या[16]
प्रसृता=निकली और फैली है[17]।

१. यदा तमः इति दीपिका पाठः। अस्मिन् पक्षे तत् तम. यदा न इति वक्ष्यमाणो नकारः शृङ्खलान्यायेन सम्बध्यते। अथवा यस्याम् अवस्थायां तमः आत्म-स्वरूपेण अवस्थितो भवति इत्यर्थः।

२. यद्यपि भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालों में मुक्ति सुषुप्ति और प्रलय की तरह ही शिव कूटस्थ असंग ही है तथापि जाग्रत्-स्वप्न में सद्वितीयत्व का अवभास होने से यह निश्चय नहीं हो पाता। अतः सब अवस्था और सब कालों में निर्भेद होने पर भी जिस अवस्था या काल में भेद रहितता की प्रतीति है उसका संकेत है। प्रलय, मोक्षादि में द्वितीयता की अवधारणा हो जाने पर जाग्रत् स्वप्न में सद्वितीयता का प्रतिभास भ्रान्ति से है एवं द्वैत-शून्यता पारमार्थिक है यह निश्चय हो जाता है। प्रकरण बल से यहां विद्यावस्था ही लेनी पड़ेगी जिस में तम का बाध हो गया है।

३. जिस में तम न हो उसे अतम कहेंगे अतः शिव तत्व को ही यहां अतम कहा है। चूंकि प्राप्त होने पर ही निषेध सार्थक होता है अतः यहां निषेध से बाध लेना चाहिये। अर्थात् तत्त्वमस्यादि वाक्य से उत्पन्न ज्ञान के द्वारा अविद्या रूपी तम का नाश अर्थात् बाध हो गया है जिस आत्मा का। यहां तम से आवरण और विक्षेप दोनों की बीज रूप अविद्या को लेना चाहिये।

४. अन्धकार के अभाव में दिन की प्राप्ति हो जाती है अतः उसका निषेध आवश्यक है। तम न रहने पर भी दिन नहीं है इसके द्वारा यह बताया कि जड़ प्रकाश कृत प्रकाश और अप्रकाश का प्रश्न यहां नहीं है वरन् चेतन प्रकाश का ही प्रसंग है। अर्थात् जड़ प्रकाश रूपी दिन और रात्रि दोनों का बाध हो जाता है। जड़-प्रकाश और अप्रकाश दोनों ही चेतन में अध्यस्त हैं।

५. भाव रूपी कल्पना भी उसमें नहीं है। अथवा सत् से कार्य-कारणात्मक प्रत्यय विषयता ले लेनी चाहिये। तात्पर्य है कि प्रकाश के रहने या न रहने पर भी कारण या कार्य या दोनों रूप तो होंगे? उत्तर है कि कारण और कार्य दोनों ही 'हैं' इस ज्ञान का विषय नहीं बन पाते अर्थात् न कारण में सत्ता का आरोप रह जाता है न कार्य

में। अविद्या हेतु से ही कारण और कार्य शिव में अध्यस्त होते हैं। एवं अविद्या निवृत्त होने पर दोनों भाव निवृत्त हो जाते हैं।

६. यदि कार्य-कारण दोनों नहीं हैं तो सबका अभाव या असत्ता ही वहां होगी यह शंका न हो जाय इसलिये कहा कि कार्य-कारण के अभाव की कल्पना भी वहां नहीं है। जैसे कार्य-कारण सत्ता में कल्पित हैं वैसे ही कार्य-कारण का अभाव भी कल्पित है।

७. बौद्धों की तरह सर्व शून्यता की तत्त्वरूपता से प्राप्ति का निषेध करने के लिये यह पद है।

८. अविद्यादि विकल्प शून्य अथवा ज्ञाता-ज्ञेय आदि भेद शून्य। तात्पर्य है कि आवरण शक्ति के द्वारा मैं अज्ञानी आनन्दात्मा को नहीं जानता इस प्रकार का प्रत्यक्ष अनुभव, एवं मैं ही स्वयं प्रकाश-रूप होने से अधिष्ठान रूप आत्मा के आविर्भाव का स्थल, इस प्रकार का शास्त्र प्रत्यक्ष, एवं इस भेद से विक्षेप और साधना के द्वारा भेद निवृत्त होने से आनन्द रूप से स्थित होकर इनकी निर्बीजता, इन सब विशेषों से रहित यहां केवल पद का वाच्य है।

९. निषेधावधि करने से प्रायः निर्विशेष तत्त्व का स्वरूप ढक जाता है। इसीलिये सबके अधिष्ठान रूपी तत्त्व को शिव शब्द से कहा गया जो मंगल भाव का वाचक है। मानव की सर्व मंगल भावनाओं का पूर्ण विकसित रूप ही अधिष्ठान का स्वरूप है, यह भाव है। विशेषों का निषेध अधिष्ठान को विशेषों से एवं उनके योग से अधिक बताने के लिये है न्यून बताने के लिये नहीं। अतः औपनिषद् सिद्धान्त साधक को अर्हाओं की (Values) पूर्णता की तरफ ले जाता है अर्हा-शून्यता की तरफ नहीं। बौद्धों का शून्यवाद इसके विपरीत तत्त्व मीमांसा (Metaphysics) अर्हा-मीमांसा (Ethics) सौन्दर्य-मीमांसा (Aesthetics) सभी को शून्यता की ओर ले जाता है। यह बात दूसरी है कि अनेक अपरिपक्व वेदान्ती विक्षेप को न सहने के कारण त्वरौषधि (Quick medicine) के रूप में शून्य वाद का सेवन कर लेते हैं। परन्तु यह वेदान्त के विरुद्ध है।

१०. शुद्ध स्वभाव से अतिरिक्त और सब की व्यावृत्ति करने के लिये यह पद है।

११. उपर्युक्त शिव के स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं अथवा वह शिव तत्पद का लक्ष्यार्थ है यह भाव है।

१२. समस्त परिच्छेद शून्य होने से ही वह नित्य है।

१३. **तत्सवितुर्वरेण्यम्** के द्वारा गायत्री प्रतिपाद्य तत्त्व का निर्देश है। भाव है कि गायत्री के प्रथम पाद का अर्थ तत् पद का वाच्य और लक्ष्य ही समझना चाहिये। यहां अतिधन्य वेद स्वयं ही गायत्री का अर्थ कर रहा है। जगत् को उत्पन्न करने वाला आदित्य मण्डल का अभिमानी हिरण्यगर्भ का भी वही वरेण्य अर्थात् श्रेष्ठ पूज्य है। तात्पर्य है कि सबका उत्पादक होने पर भी सविता उसी का वरण करता है क्यों कि सविता का वह अधिष्ठान है। अथवा यह भी ध्वनि है कि मुमुक्षुओं के द्वारा वह जगत् का उत्पादक है, इस भाव से वरण करने के या प्रार्थना करने के योग्य है, अथवा सवितुः अर्थात् ज्ञानप्रसवितुः ज्ञान देने वाले वरेण्यम् अर्थात् श्रेष्ठ गुरु रूप से सम्भजनीय है।

१४. वह पूर्वों का भी पूर्वतर गुरु है। एवं ब्रह्मा का भी उपदेशक है (६।१८)। अतः उस परम शुद्ध परमात्मा के द्वारा ही वेद विद्या रूपी आत्म विद्या का प्रसार होने से यह सबके द्वारा उपादेय है। चूंकि वह आनन्दात्मा है इसलिये उससे प्रसृत विद्या भी आनन्द प्रद होगी यह निर्विवाद है।

१५. अनादि परम्परा से प्राप्त होने के कारण वह पुराणी कही गई। अथवा प्राचीन महर्षियों के लिये भी (पुरा) वह विस्मय जनक एवं नयी ही थी (नव एव)। भाव है कि आत्मज्ञान जन्म मरण के

चक्र को नष्ट करने वाला होने से जिसको ज्ञान हो गया उसका पुनर्जन्म सम्भव नहीं। किञ्च आत्मविद्या ब्रह्मनिष्ठों में सुप्रसिद्ध होने पर भी सामान्य लोगों को हमेशा नई ही लगती है। अथवा प्राचीन काल में भी पुरापि नव आज नवीन काल में होने वाली की तरह **अहं ब्रह्मास्मि** इस वृत्ति से उत्पन्न प्रमिति ठीक इसी प्रकार की ही थी।

१६. आचार्य के उपदिष्ट तत्त्वमस्यादि वाक्य से उत्पन्न होने वाली बुद्धि।

१७. साधन चतुष्टय सम्पन्न श्रवण मनन युक्त श्री परमहंसों में पूर्ण रूप से व्याप्त होने से उसका फैलाव हुआ। अर्थात् दक्षिणामूर्ति रूप से जिस आत्म विद्या को उपदिष्ट किया गया वह आज भी अनादि परम्परा से फैली हुई विद्यमान है।

यदा तमः पाठ मानने पर प्रलयावस्था में विद्यमान अविद्या का ग्रहण होगा। इसमें ऋग्वेदोक्त **नासदासीत् नो सदासीत् तम आसीत् तमसा गूढमग्रे** भी अनुग्रहीत हो जाती हैं। तात्पर्य है कि हिरण्यगर्भादि सभी कार्य उस समय तम अर्थात् अविद्या मात्र रूप से विलीन थे। इसीलिये दिन-रात, कार्य-कारण, भाव-अभाव आदि का भेद नहीं था। वह अविद्या भी केवल अर्थात् अभिन्न होकर शिव में ही लीन थी। इस प्रकार शिव-शक्ति सामरस्य का संकेत है। दोनों उस काल में अभिन्न थे यह भाव है। इसीलिये वेदान्त सिद्धान्त अन्तिम तत्त्व को एक न कह कर अद्वैत कहता है। यही तत् शब्द का वाच्य है। एवं सबका सविता अर्थात् उत्पन्न करने वाला होने से उपासकों द्वारा वरणीय रूप वाला है। तत् अर्थात् तब अर्थात् सृष्ट्युन्मुख होने पर उसी शिव तत्त्व से पुराणी अर्थात् अनादि सिद्ध नियत क्रम स्वरादि विशिष्ट वेद विद्या (प्रज्ञा) पुरुष निश्वास की तरह बिना प्रयास ही प्रसृता अर्थात् उत्पन्न हुई या निकली।

१९

इस प्रकार किसी भी उपाधि से परमेश्वर को यदि नहीं समझा जा सकता तो फिर उसका ज्ञान अत्यन्त दुष्कर हो जायेगा। अतः अनन्त माता पिताओं से भी अधिक वात्सल्य वाली भगवती श्रुति रूपारूप लिंग मूर्ति का, एवं नाम का साधन रूप से प्रतिपादन करती है :—

न एनम् ऊर्ध्वम् न तिर्यञ्चम् न मध्ये परिजग्रभत् ।
न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महत् यशः ॥

एतम्=इस (शिव तत्त्व को)	**यस्य**=जिसका[5]
न=न	**महत्**=परिपूर्ण
ऊर्ध्वम्=ऊपर से,[1]	**यशः**=यश-रूप[6]
न=न	**नाम**=नाम (अभिधा) है
तिर्यञ्चम्=नीचे से[2] (तिरछे)	**तस्य**=उसकी
न=न	**प्रतिमा**=मूर्ति[7]
मध्ये=बीच में[3]	**न**=नहीं
परिजग्रभत्=पकड़ा गया[4]।	**अस्ति**=है।

१. तात्पर्य है कि किसी भी दिशा से निरंश एवं निरवयव शिव तत्त्व को बुद्धि के द्वारा नहीं समझा जा सकता। उपाधियों से परिकल्पित होकर कूटस्थ शिव की ऊर्ध्वादि दिशाओं में कल्पना होती है। यदि उसे ऊपर अथवा और किसी दिशा में समझा जाय तो जिस वस्तु का किसी देश में किसी के द्वारा दर्शन किया जाता है वह अन्य देश में नहीं देखी जाती। शिव तत्त्व सर्वत्र उपलब्ध होने के कारण किसी भी दिशा में देखा नहीं जा सकता यह भाव है।

पौराणिक प्रसिद्धि से स्वयं ब्रह्मा हंस रूप लेकर ऊपर गये फिर भी शिव को सिर अर्थात् ऊर्ध्व देश से नहीं देख सके। यह पौराणिक प्रसिद्धि इसी श्रुति का अर्थवाद है। अन्यत्र श्रुतियों में जो उसे ऊर्ध्व

इत्यादि कहा गया है वह केवल दिक्कालादि कल्पनाओं से उत्कृष्ट बताने के लिये है दिशा की दृष्टि से नहीं। स्मृतियों में जो ऊर्ध्व ऊर्ध्व लोकों की कल्पनायें हैं वे भी इसी दृष्टि से समझनी चाहिये। दिशाओं की कल्पना करने से जो उपहासास्पद स्थिति बनती है वह विद्वानों को अधिगत ही है। लिङ्ग मूर्ति चूंकि ऊपर से भी गोल होती है अतः केवल एक काल्पनिक बिन्दु ही उसका ऊर्ध्व भाग कहा जा सकता है। अतः उसके ऊर्ध्व भाग को कोई भी नहीं देख या पकड़ सकता यह कहना ठीक ही है। लिङ्ग स्वयं ब्रह्माण्ड का प्रतीक है। दिक् असीम होने के कारण ऊपर से उसका देखा जाना असम्भव है। दिक् के बाहर दिक् है या अदिक् है? दिक् है तो दिक् से ऊपर कैसे? एवं अदिक् है तो उस में ऊपर की कल्पना कैसे? इस प्रकार दिक् का सीमाकरण असम्भव दोष ग्रस्त है। यद्यपि भौतिकी ने दिक् को ससीम माना है परन्तु वह केवल दिक् सीमा भेदन के असंभाव्यमानता का प्रतिपादक है न कि दिक् को ससीम बतलाने में।

२. पूर्व पश्चिम दक्षिण उत्तर नैर्ऋत्य ईशान वायव्य आग्नेयादि नीचे की दिशायें यहां तिर्यक् कही गई हैं। अथवा ऊपर से विरुद्ध होने से नीचे को तिर्यक् कह दिया। तात्पर्य है कि इन आठों दिशाओं में एवं नीचे भी उसकी प्राप्ति नहीं। पौराणिक कथा में विष्णु का वराह रूप से उसके नीचे का पता न पाना इसी का अर्थवाद है। लिङ्ग में वर्तुलाकर होने से पूर्वादि दिशायें भी असम्भव हैं एवं नीचे भी असम्भव है। ब्रह्माण्ड में भी दिशायें असम्भव हैं, क्यों कि दिशायें सूर्य को लेकर कल्पित हैं, एवं सूर्य स्वयं ब्रह्माण्ड के अन्तः पाती है। व्यक्ति और सूर्य के सम्बन्ध को ही दिशा कहा जाता है, एवं व्यक्ति और सूर्य दोनों गतिमान् होने के कारण सम्बन्ध वाला दिक् निरन्तर बदलता रहता है। शैवागमों में इसीलिये पूजा काल में देव की स्थिति को लेकर ही पूर्वादि दिशायें मानी हैं सूर्य को लेकर नहीं। सन्ध्या-

वन्दनादि में सूर्य ही देव होने के कारण सूर्य की तरफ मुख करके ही सायं सन्ध्या भी की जाती है चाहे लौकिक दृष्टि से उसे पश्चिम ही क्यों न माना जाय। इसी प्रकार लिंग की वेदी उत्तराभिमुख होने से साधक का मुख दक्षिण में होने पर भी कोई निषेध नहीं माना जाता। सामान्यतः पश्चिम और दक्षिण का निषेध प्रसिद्ध ही है। मूर्ति पूजा में देव को महापुरुष माना जाता है। अतः देव विग्रह या मन्दिर का मुख पूर्व या उत्तर में रखा जाता है। सामने बैठने पर साधक का मुख पश्चिम और दक्षिण में हो जाता है जो सामान्यतः निषिद्ध दिशायें हैं। यहां भी देव और उपासक के सम्बन्ध को पूर्व मान करके ही व्यवस्था बन सकती है। यथा कथञ्चित् देव पूजा में दक्षिण मुख विहित माना जाय तो दक्षिण मुख वाली तारा या काली, शिव आदि में साधक उत्तर मुख हो जायेगा। वैदिक यज्ञ में तो होता वेदी के चारों ओर बैठकर आहुति देते हैं। लिंगाभिषेक में भी ऐसा ही होता है। इस रहस्य को न जानने से कुछ लोग पूजा के समय देवता के सामने मुख करके न बैठकर बगल में बैठते हैं जो ध्यान के सर्वथा अनुपयुक्त है।

३. द्रष्टा की स्थिति जिससे सब दिशायें प्रवृत्त होती हैं उसे मध्य कहा जाता है। दूसरी दृष्टि से जहां सारी दिशायें आकर मिल जाती हैं उसे मध्य कहते हैं। सर्व व्यापक का मध्य असम्भव है। वर्तुलाकार लिङ्ग का भी मध्य असम्भव है। इन्हीं समानताओं के कारण लिङ्ग को शिव तत्त्व का रूप माना गया है। कहा जा सकता है कि जीव ऐसा वृत्त है जिसका केन्द्र अन्तः करण में है। एवं ईश्वर ऐसा वृत्त है जिसका केन्द्र सर्वत्र है। इसीलिये जीव को तो मध्य से ग्रहण किया जा सकता है परन्तु ईश्वर को नहीं।

४. देव, दानव, ऋषि, विष्णु, ब्रह्मा, आदि किसी के द्वारा नहीं पकड़ा गया, यह भाव है। जब उनके द्वारा ही नहीं पकड़ा गया तो

पकड़ा ही नहीं जा सकता यह भाव है। अर्थात् कोई भी, किसी भी प्रकार और उपाय से, किसी भी देश में, आनन्दात्मा को ग्रहण कर ले, यह असम्भव है।

५. ईश्वर, जोकि उपर्युक्त कारणों से अग्रहीत होने पर भी प्रसिद्ध है। **यस्य नाम महद्यश**, ऐसा अन्वय करने पर सबको अगोचर होने पर भी उसका नाम ही महान् प्रसिद्ध है, अथवा यह सारा जगत् उसकी कीर्ति का ही प्रख्यापन करता है यह भाव हो जायेगा।

६. अनेक उपनिषदों में यश नाम से उसकी उपासना को कर्तव्य रूप से बताया है। इसके द्वारा नामोपासना को बताया गया। महत् भी उसका एक नाम माना गया है। अथवा सारे जगत् में जहां कहीं भी जो कोई भी यशस्वी पदार्थ है उसको ईश्वर की विभूति मानकर ईश्वरोपासना कर्तव्य है। गीता में भी सारी विभूतियों को इसी रूप से उपास्य बताया है। इसके द्वारा ईर्ष्या द्वेषादि की निवृत्ति प्रत्यक्ष सिद्ध है जो ज्ञान का प्रधान साधन है। स्मार्त उपासना पद्धति में जो सभी उपयोगी पदार्थ देश काल आदि की यहां तक कि औषधि यन्त्र आदि की भी उपासना प्रचलित है उसका भी यही बीज है।

७. अवयवरूप से बने हुए विग्रह को मूर्ति कहते हैं। शिव तत्त्व की इस प्रकार की मूर्ति इसीलिये सम्भव नहीं कि वह निरवयव अखण्ड दिक् कालादि अनवच्छिन्न है। इस मंत्र से कुछ आधुनिक लोग मूर्ति पूजा का खण्डन सिद्ध करते हैं, परन्तु यह सर्वथा कपोल कल्पना है। क्योंकि यहां प्रकरण शिव तत्त्व का है, समग्र देवविग्रहों का नहीं। यदि माध्यन्दिन संहिता में आये हुए मंत्र का भी संग्रह किया जाय तो भी इसके पूर्वाध्याय में पुरुष सूक्त आया है। एवं इस अध्याय के प्रथम मंत्र में **तदेवाग्निः** आदि मंत्र के द्वारा उस पुरुष को प्रजापति रूप से बताकर सबका उत्पादक, एवं अधिष्ठान कारण प्रतिपादित

कर के फिर इस मंत्र के द्वारा पूर्वोक्त अधिष्ठान तत्त्व की ही मूर्ति का निषेध है देवता मात्र की मूर्ति का निषेध नहीं। यदि इससे मूर्ति मात्र का निषेध माना जायेगा तो नामोपासना के साथ वाक्य भेद प्रसक्त हो जायेगा जो सर्वथा वेदार्थ प्रक्रिया के विरुद्ध है।

अद्वितीय होने से किसी दूसरे के साथ उसकी उपमा या तुलना नहीं हो सकती यह भी भाव है। आनन्द का प्रतीक हो ही क्या सकता है। यह सारा भूत भौतिक प्रपञ्चजात दुःख जड़ रूप होने से इसकी कोई भी चीज उसके (प्रति) ज्ञान (मा) का कारण नहीं बन सकती। चूंकि शब्द तो लक्ष्य के द्वारा ग्रहण करा सकते हैं अतः उनमें यत् किञ्चित् प्रतिमानता स्वीकार भी कर ली जाय तो भी मूर्ति आदि में उसकी स्वीकारता तो असम्भव है। विवेकी तो ऐसा मानते हैं कि सादृश्य दो तरह का होता है, प्रतीकात्मक एवं प्रतिमात्मक। प्रतिमात्मकता में दृष्टिगोचर पदार्थ प्रधान होता है एवं उसमें जो भावना की जाती है वह गौण होती है। प्रतीकात्मकता में भावना ही भावना प्रधान होती है, एवं दृश्यमान अंग अक्षर आदि केवल उस भावना को उत्पन्न करने के स्मारक होते हैं। इस दृष्टि से यन्त्र, मूर्ति, माता, पिता, गुरु, सूर्य, चन्द्र, ब्रह्माण्ड, पृथ्वी आदि सभी परमात्मा के प्रतीक हो सकते हैं परन्तु प्रतिमा नहीं, यह भाव है। जो प्रतीक जितनी ज्यादा स्मारकता संस्कारों के कारण ला सके वह प्रतीक उतना ही श्रेष्ठ होता है। अतः प्रतीक विषयक उत्कृष्टता साधक-संस्कार सापेक्ष है। नामों में ओंकार एवं रूप में लिंग ही वैदिक संस्कारों के अनुसार सर्वाधिक प्रतीकता वाले हैं। परन्तु इस विषय में विवाद व्यर्थ है। प्रतीकात्मकता को भूलकर प्रतिमा को ही जब देवता अथवा ईश्वर मानने लगते हैं तब पौराणिक धर्म का प्रारम्भ होता है। **न प्रतीके हि सः** आदि ब्रह्म-सूत्रों में यह स्पष्ट किया गया है। मूर्ति में ब्रह्म दृष्टि भयावह नहीं, परन्तु ब्रह्म में मूर्ति दृष्टि भयावह है।

२०

न सन्दृशे तिष्ठति रूपम् अस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चन एनम् । हृदा हृदिस्थं मनसा ये एनम् एवम् विदुः अमृताः ते भवन्ति ॥

अस्य = इस परमात्मा का	**एवम्** = इस प्रकार
रूपम् = रूप[1]	**एनम्** = इस आत्म तत्व को
सन्दृशे = आंख के सामने[2]	**हृदा** = प्रेम के द्वारा[4]
न = नहीं	**मनसा** = शुद्ध मन से[5]
तिष्ठति = ठहरता ।	**हृदिस्थं** = हृदय में स्थित रूप से[6]
कश्चन = कोई भी[3]	**ये** = जिन्होंने
एनं = इस परमात्मा को	**विदुः** = जाना[7]
चक्षुषा = आंख से	**ते** = वे
न = नहीं	**अमृताः** = अमर[8]
पश्यति = देखता ।	**भवन्ति** = होते हैं ।

१. जिससे किसी चीज का निरूपण हो जाता है उसको उसका रूप कहते हैं। यद्यपि भाषा में रूप शब्द से चक्षु विषयता प्रसिद्ध है, एवं इसीलिये यहां पर उसकी चक्षु विषयता का निषेध कर रहे हैं, परन्तु मानव में चक्षु पर अधिक बल होने के कारण ही ऐसी रूढ़ि हुई है। ईश्वर का वास्तविक रूप प्रत्यगात्मा है, पराक् आत्मा नहीं। जो कुछ भी मैं से भिन्न होकर प्रतीत होता है वह पराक् आत्मा है, जो कुछ भी मैं से अभिन्न होकर प्रतीत होता है वह प्रत्यक् आत्मा है। रूप-रस-गन्ध-शब्द-स्पर्शादि से रहित होने के कारण ईश्वर किसी भी इन्द्रिय का विषय नहीं है। यह निर्विशेषता ही वस्तुतः उसका रूप है।

२. आंख से सभी इन्द्रियों की उपलक्षणा है अर्थात् दर्शन का निमित्त हुआ हुआ यह आंख के सामने नहीं आता इसी प्रकार श्रवण का विषय हुआ हुआ यह कान के सामने नहीं आता, इत्यादि। सामने नहीं आने का मतलब है कि दृष्टि इत्यादि के पीछे तो वह रहता ही है। अतः आंख के द्वारा उसको देखा जा सकता है, इसका मतलब होता है कि आंख जब देखती है तो उसी की शक्ति से देखती है। इस रूप से उसका ज्ञान हो जाता है। चक्षुरादि इन्द्रियों के द्वारा यदि वह विषय होता तो कर्तृ-कर्म विरोध आ जाता। तात्पर्य है कि चक्षु के आश्रय रूपी उपाधि से वह द्रष्टा, एवं विषय रूपी उपाधि से दृश्य होने के कारण औपाधिक भेद से भेद स्पष्ट है। तात्पर्य है कि आनन्द स्वरूप का ज्ञान घड़े इत्यादि की तरह इन्द्रियों के द्वारा नहीं हो सकता।

३. कितनी भी विलक्षण अतीन्द्रिय प्रतिभा सामर्थ्य को प्राप्त किया हुआ जीव अथवा ब्रह्मा, विष्णु ही क्यों न हों किसी भी प्रकार उसका दर्शन इन्द्रियों से नहीं हो सकता। जैसे वायु का आंख से प्रत्यक्ष असम्भव है क्योंकि वायु आंख का विषय नहीं, इसी प्रकार ब्रह्म तत्त्व इन्द्रियातीत है। अतः जहां कहीं चाक्षुष दर्शन होता है वहां किसी देवता, प्रेतात्मा, या और किसी का भी दर्शन हो सकता है ईश्वर का नहीं। इस श्रुति के बल से वैदिक ऐसे अन्ध विश्वास में कभी भी नहीं पड़ता।

४. जैसे किसी अत्यन्त प्रिय व्यक्ति के आने की प्रतीक्षा में हृदय उत्कण्ठित होता है वैसी उत्कण्ठा से चित्त की एकाग्रता ही यहां इष्ट है।

५. संस्कृत बुद्धि के द्वारा जिस अहं से अहंकार के सारे विशेषणों को हटा दिया गया है। तात्पर्य है कि मैं गोरा, ब्राह्मण, वेद पाठी, इस प्रकार के अनुभवों को जब गुरु और शास्त्र के द्वारा आगमापायी बताकर इन सब में अनुवृत्त शुद्ध अहं रूप से आत्मा को दिखा दिया

जाता है तब वैराग्य इत्यादि की पूर्णता के कारण प्रत्यगात्मा रूप से ईश्वर दर्शन सहज हो जाता है।

६. हार्दाकाश में विद्यमान जो गुहा उसमें प्रत्यगात्मा रूप से स्थित। तात्पर्य है कि स्वयं प्रकाश आत्मा अतिस्वच्छ अन्तः करण के द्वारा जब शुद्धाहंकार रूप वृत्ति रूप में बदल जाता है तब उसमें प्रतिबिम्बित भाव को ब्रह्म की वृत्ति-वेद्यता कहते हैं। ब्रह्मवेत्ता उसका वैसे ही स्पष्ट दर्शन करते हैं जैसे आकाश का दर्पण में किया जाता है।

७. मैं ब्रह्म हूँ, इस प्रकार अपरोक्ष रूप से जाना।

८. मरण के कारण-रूप अविद्या का तत्त्वज्ञान की अग्नि से जलने के कारण अमरता की प्राप्ति सहज सिद्ध है।

२१

अमरता की प्राप्ति के लिये अमोघ उपाय रूप ईश्वर शरणागति का प्रतिपादन करते हैं :—

अजातः इति एवं कश्चित् भीरुः प्रपद्यते।
रुद्र यत् ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यम् ॥

अजातः[1]=जन्म रहित हो[2]
इति=इस लिये
एवं=इस प्रकार
कश्चित्=कोई[3]
भीरुः=डरा हुआ[4] (आपकी)
प्रपद्यते[5]=शरण लेता है[6]।
रुद्र=हे रुद्र !
ते=आपका
यत्=जो
दक्षिणं=दक्षिण का[7] (अघोर)
मुखं=मुख है[8]
तेन=उसके द्वारा[9]
मां=मुझ को[10]
नित्यम्=सदा
पाहि=बचावें[11]।

१. अज ! अतः इति वा च्छेदः।

२. जो स्वयं जन्म वाला हो वह कभी किसी दूसरे को जन्म रहित नहीं बना सकता। जिस प्रकार निर्धन किसी को धन वाला नहीं बना सकता। चूंकि सारे ब्रह्माण्ड में रुद्र के सिवाय और कोई भी जन्म रहित नहीं है अतः उसके सिवाय और कोई जन्म बन्धन से छुड़ा भी नहीं सकता। महाप्रलय में रुद्र से अतिरिक्त और कोई बचता नहीं, अतः महासर्ग में रुद्र के अतिरिक्त सब की ही उत्पत्ति माननी ही पड़ती है। उसी की कृपा से इष्ट प्राप्ति और अनिष्ट संहार संभव होने से वही प्रार्थना के योग्य है, यह भाव है। तात्पर्य है कि चूंकि तुम अजात हो और इसीलिये जन्म-मरण-भूख-प्यास-शोक-मोह रूपी षडूर्मियों से रहित हो अतः उनकी निवृत्ति के लिये तुम्हारी ही प्रार्थना करना युक्तियुक्त है।

अथवा अजात इति न ज्ञात्वा भीरुः। अर्थात् यद्यपि मैं भी जन्म रहित हूं परन्तु यह स्वरूप मुझे अभी ज्ञात नहीं है अतः मैं भीरु हूं। मैं ज्ञान के द्वारा इस भीरुता से हटकर अजातता का अनुभव करूं। (इति हेतोः) इस कारण आपकी शरण लेता हूं। अथवा हे अज ! अर्थात् जन्म रहित, चूंकि तुम्हारे प्रसाद के बिना आत्म-ज्ञान नहीं हो सकता अतः अर्थात् इसलिये आपकी शरण लेता हूं।

३. कोई विलक्षण पुण्यों के फलस्वरूप रुद्र की शरण लेता है। वस्तुतस्तु उनकी ही शरण में जाना इतना दुर्लभ है कि उनकी कृपा के बिना संभव नहीं। अतः इसमें भी परतंत्र होने के वजह से उसको कश्चित् कहा। तात्पर्य है वेद की दृष्टि से जीव ईश्वर से अभिन्न है, भिन्न भिन्न वादों की दृष्टि से उसका वास्तविक रूप निर्धारित नहीं किया जा सकता, पामर दृष्टि से पिशाच रूप है, साधारण दृष्टि से अमुक का बेटा, अमुक का शिष्य इत्यादि रूप है, अविचार से देह रूप है, एवं विचार दृष्टि से अहं शब्द के द्वारा प्रतिपादित रूप है। इनमें से मैं किस रूप का हूं यह ज्ञान न होने के कारण मेरी जिज्ञासा

है कि यह आत्मा कश्चित् वस्तुतः कौन है ? इस जिज्ञासा को लेकर आपकी शरण में आया हूँ। (एवं) अगली अर्धाली में कहे हुए प्रकार से शरण मन्त्र का जप करता हूँ।

४. घोर, कराल, संसार रूपी शूल के बार बार दर्शन करने से त्रस्त हुआ। तात्पर्य है कि अब मैं इससे निर्विण्ण होकर कहीं भी सहारा न मिलने के कारण केवल आपके सहारे को पकड़ रहा हूँ। घोर जंगल में से शेर के द्वारा खदेड़ा हुआ व्यक्ति गांव की प्रथम शाला में घुसते समय जैसे, दांये बांये और किसी आश्रय की तरफ आंख उठा कर भी नहीं देखता इसी प्रकार संसार भीरु संसार से रहित एक मात्र अजात रुद्र को देखकर उसकी शरण में जाते हुए अन्य किसी देवताओं की तरफ आंख उठाकर भी नहीं देखता।

५. **प्रपद्ये वा, प्रतिपद्यते वा पाठः।**

६. मेरी तरह जो कोई भी भयभीत होता है वह शरण लेता है, यह तात्पर्य है, स्वयं शरण लेते समय उत्तम पुरुष को मध्यम पुरुष में बदल लेना चाहिये। जब जीव समग्र साधनाओं और उपायों को करके, अथवा उनके स्वरूप का विचार करके इस निश्चय पर पहुँच जाता है कि वे सब उपाय व्यर्थ हैं तब अपने बलबूते को छोड़ता है, एवं परमात्मा की शरण लेता है। मैं इस प्रकार के निश्चय को प्राप्त करके आपकी शरण प्राप्ति के योग्य बनूं अर्थात् आपकी शरणागति मुझे प्राप्त हो यह भाव है अथवा प्रपत्ति का अर्थ एकता की प्राप्ति होता है। आपसे एक होकर मैं भी अजात हो जाऊं यह भाव है।

७. हृदय के पञ्च सुषिरों में दक्षिण का सम्बन्ध अघोर के साथ है। इसीलिये शंकर के पांच मुखों में भी दक्षिणामूर्ति का सम्बन्ध अघोर के साथ है। कान का भी सम्बन्ध इसी के साथ है। आत्म-ज्ञान इस अघोर अर्थात् दक्षिणामूर्ति रूप से ही प्राप्त होता है यह प्रसिद्ध ही है। श्रवण से ही ज्ञान होता है यही वेद राद्धान्त है। शंकर का

दक्षिणामूर्ति रूप ही सर्वाधिक सुन्दर होने से ध्यानियों को आह्लाद कारी भी है तथा उत्साह जनक है। कुछ लोग मानते हैं कि उपदेश कुशल मुख होने से ही इसे दक्षिण मुख कहा जाता है। अथवा एक मात्र उनका सहारा लेने वाले श्री परमहंसों का सबीज संसार दुःख जलाने में दक्ष अर्थात् कुशल होने से दक्षिणामूर्ति कहे गये हैं।

८. दक्षिण दिशा में होने वाला मुख। अथवा मुख का अर्थ है विषय की उपलब्धि का द्वार।

९. वेदान्त श्रवण में प्रवृत्ति रूप साधन से। तात्पर्य है कि श्रवण सम्बन्धी दक्षिण सुषिर के खुल जाने से वेदान्त वाक्य का तात्पर्य हृदय में बैठ सके। अथवा आपके दक्षिणामूर्ति मुख के द्वारा।

१०. संसार से उद्विग्न होकर आपके पास आये हुए शरणागत अधिकारी को।

११. 'मैं ब्रह्म हूं' इस प्रकार की वृत्ति को उत्पन्न करके, फिर उस वृत्ति पर आरूढ़ होकर, निरतिशय आनन्द स्वभाव की अभिव्यक्ति एवं सबीज संसार का उपशम हमेशा के लिये हो जाय, यही रक्षा है। तात्पर्य है कि दक्षिणामूर्ति गुरु रूप से जो उपदेश दें उससे मैं मुक्त हो जाऊं। मेरा कान कभी भी वेदान्त श्रवण विहीन न हो पाय।

२२

हमारे शिष्य प्रशिष्यों के कार्य-करण संघात सम्यक् ज्ञान के योग्य बनें :—

मा नः तोके तनये मा नः आयुषि मा नः गोषु मा नः अश्वेषु रीरिषः। वीरान् मा नः रुद्र भामितः वधीः हविष्मन्तः सदम् इत् त्वा हवामहे ॥

रुद्र = हे रुद्र !
भामितः = क्रुद्ध होकर[1]
नः = हमारे
तोके = पुत्रों को[2]
मा[3] = मत, (नष्ट करो)
नः = हमारे
तनये = पौतों को
मा = मत, (नष्ट करो)
नः = हमारी
आयुषि = आयु को[4]
मा = मत, (नष्ट करो)
नः = हमारे
गोषु = गौवें[5]
अश्वेषु = और घोड़ों को[6]
मा = मत
रीरिषः = नष्ट करो[7] ।
नः = हमारे
वीरान् = वीरों को[8]
मा = मत
वधीः = नष्ट करो।
हविष्मन्तः = पूजा की सामग्री से युक्त होकर[9]
सदम् = सदा (अथवा हुए हुए)
इत् = इसी प्रकार से
त्वा = तुम को
हवामहे = भेंट देते हैं[10] ।

१. भा अर्थात् प्रकाश । मितः अर्थात् परिमितः अर्थात् सीमित । जीव के परिमित ज्ञान से ही मानो अपरिच्छिन्न रुद्र के ऊपर वह परिच्छिन्नता का दोष लगा कर जो अपराध करता है उसके फल स्वरूप रुद्र का क्रोध है। इस परिच्छिन्न ज्ञान को हमारी असमर्थता समझ कर क्षमा कर दो यह भाव है। जैसे अपराधी शरण गत होने पर क्षन्तव्य होता है वैसे ही हम हैं यह भाव है। अथवा हमारे परिच्छिन्न घट-पटादि ज्ञानों के द्वारा तुम्हारे ऊपर जो आवरण चढ़ता है, एवं जो पाप रूप क्रियायें होती हैं. उन उन के बदले दण्ड न देकर जिस अज्ञान के कारण हम यह प्रवृत्तियां करते हैं उस अज्ञान को ही नष्ट कर दो। किसी किसी पुस्तक में भामतः या भावितः या भामिनः पाठ मिलता है। तब तात्पर्य है बुद्धि उत्साहादि से साधना करने वाले हमको इस साधना से दूर होकर नष्ट न होने देना।

२. संन्यासियों के लिये शिष्य ही पुत्र है, एवं गृहस्थों के लिये

आत्मज। तोक शब्द को और पुत्र दोनों शब्दों का संग्रह करने के लिये है। अथवा छोटे बालक को भी तोक कहते हैं। अर्थात् पूर्णावस्था को प्राप्त होकर ही हमारे सम्बन्धी इस संसार से जावें। वस्तुतस्तु पुत्र और पौत्र विस्तार होने से हमारा ज्ञान और ज्ञान निष्ठा कभी नष्ट न होवें यह भाव है।

३. रीरिषः इति सर्वत्र सम्बध्यते।

४. नीरोग होकर सौ वर्ष पर्यन्त पूर्ण आयु बनी रहे। यहाँ उकारान्त समझकर वायुना, जगदायुना इत्यादि को तरह शब्द बना लेना चाहिये। लम्बी आयु, ज्ञान दृढ़ता, एवं ज्ञान प्रचार के लिये मांगी गई है। वैदिक जीवन से भागता नहीं वरन् डटकर रहता है यह तात्पर्य है।

५. दो खुर वाले पशुओं की उपलक्षणा के लिये है। अथवा सम्यक् ज्ञान के कारण रूप एवं सम्यक् ज्ञान की साधन परम्परा के प्रतिपादन करने वाले वेदों में हमारी निष्ठा दृढ़ बनी रहे, एवं नष्ट न हो यह भाव है।

६. एक खुर वाले पशुओं की उपलक्षणा है अथवा इन्द्रियों की, विशेषकर कर्मेन्द्रियों की विनष्टि न हो, अर्थात् शुभ कर्मादि में हमारी रुचि सदा बनी रहे।

७. रिष् हिंसायां धातु से निष्पन्न होने से किसी भी तरह की विनष्टि को यह विषय करता है। यहां सर्वत्र गोषु इत्यादि की सप्तमियां विषयत्व सम्बन्ध से समझनी चाहिये अर्थात् तत् तत् विषयक हिंसा न करो यह भाव है।

८. हमारे लिये विक्रम करने वाले रिश्तेदार एवं स्निग्ध उत्साही भृत्य इत्यादि। तात्पर्य है कि उनके द्वारा किये गये अपचारों से तुम क्रोध न करना। अथवा जो हमारी हानि करने वाले दुर्दान्त मानव भूतवेतालादि हों वे भी तुम्हारे अनुग्रह मात्र से मेरी कोई हानि नहीं कर सकते अतः मेरे निमित्त से उन्हें भी नष्ट मत करना।

९. ग्राम्य, आरण्य, ओषधियां, दूध, घी, इत्यादि बलि को लेकर हम सदा आपकी पूजा करते रहें। अथवा हम अपने अहंकार, काम, क्रोधादि, पशुओं की सदा तुमको बलि चढ़ाते रहें। सम्यक् ज्ञान-योग्यता की सिद्धि के लिये आराधन रूपी साधन सदा करें, यह भाव है।

१०. आपको उद्देश्य करके ही हमारी होमादि पूजायें सम्पन्न हों। अथवा अपनी रक्षा के लिये आपको बुलाते हैं। अथवा प्रभु सदा भक्ताधीन हैं अतः भक्ति के द्वारा ही आपको सदम् अर्थात् मण्डप में या मण्डप के प्रति पूजा भाव को ग्रहण करने के लिये बुलाते हैं।

इति चतुर्थोऽध्यायः।

—०—

अथ पञ्चमोऽध्यायः

परमेश्वर के स्वरूप का प्रतिपादन करके साधनों का निरूपण किया एवं श्रेष्ठतम साधन, रुद्र कृपा की प्राप्ति के लिये प्रार्थना एवं शरणागति का उपाय बताया। उनकी कृपा से प्राप्त विद्या एवं अकृपा से होने वाली अविद्या को बताते हैं :—

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे तु अनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे। क्षरं तु अविद्या हि अमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यः तु सः अन्यः ॥

यत्र = जिस[1]
अक्षरे = अविनाशी
अनन्ते = अनन्त या अद्वितीय
ब्रह्मपरे[1] = पर ब्रह्म में[2]
तु = ही
द्वे = दोनों
विद्याविद्ये = विद्या और अविद्या[4]
गूढे = गुप्त हुई[5]
निहिते = स्थित (कल्पित) हैं[6],
अविद्या = अविद्या
तु = ही
क्षर = क्षरण का[7] (सृष्टि का कारण) है;
हि = एवं
विद्या = विद्या
तु = ही
अमृतम् = मोक्ष[8] (अमरता का कारण) है।
यः = जो[9]
विद्याविद्ये = विद्या और अविद्या का
ईशते = नियमन करता है
सः[10] = वह
तु = तो
अन्यः = दूसरा है[11]।

१. पूर्वोक्त ब्रह्म ही ज्ञान और अज्ञान दोनों का आश्रय है। वेदान्त सिद्धान्त ब्रह्म को ही अविद्या से बद्ध और विद्या से मुक्त मानता है। परन्तु वस्तुतः यह दोनों ही शक्तियां ब्रह्म में कल्पित होकर के रहती हैं। ब्रह्म ही मुक्त और बद्ध रूप से कल्पित है।

२. ब्रह्मपुरे इति पठति नारायणः।

३. हिरण्यगर्भ रूपी ब्रह्मा से उत्कृष्ट अर्थात् महेश्वर। अथवा जो ब्रह्म होवे एवं पर अर्थात् श्रेष्ठ होवे। ब्रह्मपुर पाठ में तो जीव और ब्रह्म दोनों विज्ञान-स्वरूप हैं एवं देह में रहते हैं। जीव की अक्षरता ज्ञान पर्यन्त समझनी चाहिये, एवं ज्ञान के बिना अन्त न होने से भी उसको अनन्त कहा है। परमात्मा में तो यह विशेषण निरुपचरित ही है। अथवा शब्द ब्रह्म रूपी विद्या और कारण रूप अविद्या दोनों को ही ब्रह्म कहा जाता है।

४. ब्रह्म के स्वरूप को अनावृत करने वाली शक्ति का नाम विद्या और आवृत करने वाली शक्ति का नाम अविद्या है।

५. अखण्डानन्द रूप से अनभिव्यक्त होने से ही विद्या को गुप्त कहा जाता है, एवं लौकिक पुरुषों के द्वारा न समझी जाने के कारण अविद्या को भी गुप्त कहा जाता है।

६. परमेश्वराधीन ही दोनों की सत्ता होने से निहित कहा गया। ज्ञान और अज्ञान दोनों ही साक्षी-भास्य हैं यह भाव है।

७. समग्र नष्ट होने वाले जगत् की उत्पत्ति का कारण होने से कारण रूप से प्रतिष्ठित शक्ति को अविद्या कहते हैं, अथवा विनाशी कार्य कर्म का फल है, एवं कर्म अविद्या का, इसलिये अविद्या क्षर रूप है। जो जो विनाशी है वह वह अविद्या का कार्य है यह भाव है। इसीलिये स्वर्गादि अनित्य फल को उत्पन्न करने वाले कर्म को भी अविद्या ही कहा जायेगा।

८. नित्य मोक्ष रूपी पुरुषार्थ को प्राप्त कराने वाली विद्या है। अमृतत्त्व का साधन होने से ही उसे अमृत कहा गया। तात्पर्य है कि शमदमादि से युक्त होकर श्रवणादि ही नित्य पुरुषार्थ की इच्छा वालों को सर्व-कर्म संन्यास पूर्वक कर्तव्य है। अमृत रूप आत्म ज्ञान ही मोक्ष के स्फुरण का हेतु है एवं वह शब्द ब्रह्म में प्रतिष्ठित है।

९. विद्या और अविद्या दोनों का स्वामी परमात्मा, जो विद्या और अविद्या रूप नहीं है। वस्तुतस्तु विद्या और अविद्या दोनों अन्तःकरण वृत्ति रूप ही है। यद्यपि दोनों का अधिष्ठान साक्षी और नियामक है तथापि दोनों से भिन्न है यह भाव है।

१०. यस्तु सोम्य इति पठति दीपिकाकृत्। सोमवत् प्रिय-दर्शन इत्यर्थः। श्रुतिः सांसारिणं सम्बोधयति, श्वेताश्वतरः शिष्यान् वा।

११. विद्या और अविद्या दोनों भावों से असंग है, इसीलिये अन्य कहा गया।

२

बद्ध जीव के ऊपर ईश्वर की अनुग्राहकता बताते हैं :—

यः योनिं योनिम् अधितिष्ठति एकः विश्वानि रूपाणि योनीःच सर्वाः। ऋषिं प्रसूतं कपिलं यः तम् अग्रे ज्ञानैः बिभर्ति जायमानं च पश्येत् ॥

यः=जो
एकः=एक
योनिम्=योनि[1]
योनिम्=स्थान को
विश्वानि=सभी
रूपाणि=रूपों को[2]
च=एवं
सर्वाः=सभी
योनीः=योनियों को[3]
अधितिष्ठति=अपना रूप मान कर स्थित रहता है।
यः=जो
तम्=उस प्रसिद्ध
ऋषिं=घूमने वाले (जीव) को[4]
प्रसूतं=प्रसूति वायु के आघात से अपहृत-ज्ञान वाले[5] (व)
कपिलं=पूर्व अनुभवों की विस्मृति से हत-प्रभ को[6]
अग्रे=बाद में[7]
ज्ञानैः=ज्ञान के द्वारा[8]
बिभर्ति=पुष्ट करता है।
च=एवं वही परमात्मा
जायमानं=उत्पन्न होने वाले का (कर्मानुकूल पदार्थ देकर)[9]
पश्येत्=दृष्टि से रक्षण करे[10]।

१. जीव भाव से परमात्मा ही रहता है। एवं ज्ञान देकर तथा कर्म फल देकर वह उसका रक्षण करता रहता है। यह सब वह योनि अर्थात् अविद्या शक्ति के द्वारा करता रहता है। न कर्म-फल भोग अविद्या के बिना हो सकता है और न मोक्ष ही अविद्या के बिना संभव है। वेदान्त सिद्धान्त में एक ही अविद्या स्वीकृत होने से एक ही अविद्या विशिष्ट चेतन सिद्ध होता है। जीव का लक्षण अविद्या विशिष्ट चेतन मानने से एक जीव ही सिद्ध होता है। अन्तः करण अविद्या का कार्य है। व्यावहारिक दृष्टि से अन्तः करण विशिष्ट को जीव कह दिया जाता है और इस दृष्टि से अनेक जीव वाद भी संगत है। वस्तुतः देह, मन आदि उपाधियों को हटा देने पर केवल स्वरूपावृत जीवों में परस्पर भेद प्रतीति असंभव है। अतः यहां एक पद एक जीव वाद की पुष्टि का प्रबल प्रमाण है। तात्पर्य है कि परमेश्वर ही महा माया का अधिष्ठाता होने के साथ ही साथ सारे ही शरीरों का एवं अवान्तर मायाओं का अधिष्ठाता भी है। यहां मनुष्यादि चौरासी लाख योनि स्थानों का संग्रह है। गर्भ वास ही इन योनिस्थानों में आरोहण है। अथवा **यः अयोनिं योनिम्** ऐसा पदच्छेद करके कारण रहित अनादि सिद्ध माया को स्वरूप और स्फुरण देकर स्थित रहता है यह भाव है। वस्तुतस्तु यहां त्रिविध योनियों के द्वारा त्रिविध त्रिकोणों का, जो अधोमुख होते हैं, प्रतिपादन करके छिन्न-मस्ता की उपासना निर्दिष्ट की गई है।

२. मनुष्यादि नाना प्रकार के भिन्न शरीर अर्थात् कार्य संघात से तात्पर्य है। अथवा भिन्न भिन्न प्रकार के लाल इत्यादि वर्ण।

३. समग्र जीव शरीरों से समवेत पुल्लिंग, स्त्रीलिंग आदि कारण रूप वस्तुओं का संग्रह है। अर्थात् आकाशादि समष्टि रूप एवं उनके व्यष्टि-रूप अवान्तर-योनियों में भी वही प्रवेश करके रहता है।

४. गर्भोपनिषद् के अनुसार प्रसव के पहले गर्भस्थ शिशु को अपने

पूर्व जन्मों के कर्मों की स्मृति एवं आगे के कर्मों का अनुसन्धान होता है। उसमें वह देखता है कि मैं भिन्न भिन्न योनियों में घूमते हुए, तरह तरह के भोगों को भोगते हुवे कष्ट पाता रहा अतः इस जन्म में महेश्वर की शरणागति लेकर मोक्ष प्राप्त करूंगा। इस प्रकार अपने घूमने वाले रूप का अनुसन्धान करते हुए स्वरूप के कारण भी उसे ऋषि कहा गया तथा मन्त्र द्रष्टाओं की तरह मोक्ष मार्ग का निश्चय करने के कारण भी ऋषि कहा गया।

५. इस प्रकार का गर्भस्थ शिशु का ज्ञान जब वह योनिमार्ग से बाहर निकलता है, एवं बार बार प्रसूति वायु के द्वारा योनि पृष्ठों से उसका मस्तिष्क भयंकर रूप से दबाया जाता है तब उसका वह ज्ञान नष्ट हो जाता है।

६. बालक का मस्तिष्क भूरे रंग की तरह सफेद और छाया का मिश्रण-मात्र रह जाता है भूरे को ही कपिल (brown) कहते हैं। अज्ञानान्धकार एवं चेतना का मिश्रण ही कपिल है। जैसे धुंधली रोशनी में मनुष्य को कुछ नहीं दीखता वैसी ही स्थिति हो जाती है। न पिछले अनुभवों का स्मरण रहता है और न आगे का अनुसंधान। अथवा विषयों में अप्रवृत्त रूप से स्थित रहने के कारण वह कपिल कहा गया। कपि का अर्थ बन्दर एवं तत् उपलक्षित चञ्चलता है। वह चञ्चलता जिसमें नष्ट हो गई हो उसे कपिल कहा गया है।

७. जब जीव इस प्रकार की स्थिति को प्राप्त हो जाता है तब परमात्मा उसे स्तन पानादि की प्रवृत्ति के हेतु रूप दर्शन-स्पर्शनादि ज्ञान दान करता है। अर्थात् उसको ज्ञानेन्द्रियां देता है।

८. अन्त करण में प्रवृत्ति कराकर वैषयिक ज्ञान की शक्ति देता है।

९. वह परमात्मा ही इस प्रकार कर्म फलों को देकर जीव का संरक्षण करता है, एवं जीव के रूप को धारण करता है, ऐसा विचार

दृष्टि से देखे (पश्येत्) अर्थात् ऐसा ध्यान करते हुए उसके शरण में अपने को समझे।

१०. यदि जायमानं को बिभर्ति के साथ लेलिया जाय तो अर्थ होगा कि उत्पन्न होने वाले जीव को परमेश्वर ही अपने संकल्प से धारण करता है, इस प्रकार से पश्येत्। अथवा पश्येत् का अर्थ लकार बदलकर पश्यति कर लेना चाहिये। अर्थात् उत्पन्न होने वाले जीव को परमात्मा देखता है।

कपिल का अर्थ हिरण्यगर्भ भी लिया जा सकता है, क्यों कि हिरण्यगर्भ कपिल वर्ण के होते हैं। तब तात्पर्य होगा (यः) जो परमेश्वर (अग्रे) सृष्टिकाल में (ऋषिं) अप्रतिहत ज्ञान वाले (कपिलं) हिरण्यगर्भ को (प्रसूतं) अपने से उत्पादित को (ज्ञानैः) वेद ज्ञान से युक्त करके (बिभर्ति) धारण करता है एवं उसको अवान्तर सर्ग के सर्ग-स्थिति-संहार रूप से एवं वेद-सम्प्रदाय कर्ता रूप से (पश्येत्) देखता है। तात्पर्य है कि उसी परमेश्वर को मुमुक्षु अपने आत्म रूप से जाने।

कुछ लोग कपिल से प्रसिद्ध ऋषि अर्थात् अतीन्द्रिय द्रष्टा एवं प्रसूत अर्थात् प्रकर्ष से उत्पन्न को लेते है। परन्तु ऐसा मानने पर भी यहां सगर पुत्रों के जलाने वाले वासुदेवावतार कपिल को लेना चाहिये सांख्य शास्त्र बनाने वाले को नहीं। सांख्य सिद्धान्ती प्रायः इस मंत्र से कपिल की प्रामाणिकता का प्रतिपादन करते हैं। वस्तुतस्तु कपिल को यह दोनों ही अर्थ श्रुति में कहे गये अग्रे से बाधित हो जाते हैं। किञ्च बाद में होने वाले पौराणिक कपिल का नित्य वेद में अनुसन्धान व्यर्थ प्रयास मात्र है। इस उपनिषद् के अन्त में भी यो वै वेदांश्च के द्वारा ब्रह्मा को ही ज्ञान सर्व प्रथम दिया गया यह बताया गया है अतः हिरण्यगर्भ का ग्रहण ही युक्ति युक्त है। इसे अव्याकृत का प्रथम कार्य होने से प्रसूत कहना भी बनता है, एवं

अनन्त ज्ञान-क्रिया-शक्ति वाला होने से चितकबरा (कपिल) कहना भी बनता है। हिरण्यगर्भ के द्वारा ही सृष्टि का प्रसार कराना इष्ट होने से उसको अतीत, अनागत, दूर, पास, प्रवृत्ति, निवृत्ति आदि सभी ज्ञानों का धारण कराना भी युक्ति संगत होता है। अतः सांख्यों का प्रयास व्यर्थ है।

३

परमेश्वर की ही जगत्स्रष्टृत्वादि कर्मों में कारणता है :—

एकैकं जालं बहुधा विकुर्वन् अस्मिन् क्षेत्रे संहरति एषः देवः।
भूयः सृष्ट्वा पतयः तथा ईशः सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा॥

एषः = यह
देवः = महादेव
एकैकं = प्रत्येक
जालं = (कार्य-कारण रूप) जाल को[1]
बहुधा = बहुत प्रकार से
विकुर्वन् = विकृत करते हुए
तथा = एवं
पतयः = प्रजापतियों को
सृष्ट्वा = निर्मित करके
अस्मिन् = इस
क्षेत्रे = क्षेत्र में[2]
संहरति = उपसंहृत कर लेता है[3]।
भूयः = फिर
महात्मा = महात्मा
ईशः = महेश्वर
सर्वाधिपत्यम् = सबका आधिपत्य[4]
कुरुते = करता है।

१. संसार-रूप महेन्द्र जाल प्रति प्राणी में सुर नर तिर्यगादि रूप से अलग अलग देखने में आने के कारण यहां प्रत्येक जाल कहा गया। कर्मफल-लक्षण बन्धन ही बांधने के कारण जाल कहा जाता है। एवं एक एक कर्म देहादिभोग उपकरण रूप अनेक फल को उत्पन्न करते हैं। अथवा कार्य करण संघात जीव-मत्स्य को बांधने के कारण जाल कहा गया। तात्पर्य है कि समष्टि अन्तः करण, समष्टि प्राण, समष्टि ज्ञानेन्द्रिय एवं समष्टि कर्मेन्द्रियों को बनाकर उनसे तादात्म्य

करके व्यष्टि अन्तःकरण, व्यष्टि प्राण आदि रूप से उनका विकार किया जाता है। एक एक समष्टि का अनेक व्यष्टि रूप में बंटना ही यह विकार है।

२. यस्मिन् इति वा पाठः।

३. सर्व-प्राणियों की अभिव्यक्ति का स्थान रूपी महामाया।

४. सृष्टि काल में विकुर्वन् अर्थात् भिन्न भिन्न विकारों में फैलाता है एवं प्रलय काल में पुनः अपने में लीन कर लेता है।

५. उपाधि और उपहितों को विना किसी परतंत्रता के नियन्त्रित करता है।

४

परमात्मा की अखण्ड ज्ञानरूपता बताते हैं :—

सर्वाः दिशः ऊर्ध्वम् अधः च तिर्यक् प्रकाशयन् भ्राजते यन् अनड्वान्। एवं सः देवः भगवान् वरेण्यः योनिस्वभावान् अधितिष्ठति एकः॥

यन्[1] = चलते हुए[2]	**एवं** = इसी प्रकार
अनड्वान् = सूर्य[3]	**सः** = वह[5]
ऊर्ध्वम् = ऊपर	**भगवान्** = भगवान्
अधः = नीचे	**वरेण्यः** = वरण करने के योग्य[6]
च = और	**एकः** = अद्वितीय
तिर्यक् = तिरछी	**देवः** = महादेव
सर्वाः = सभी	**योनिस्वभावान्**[7] = कारणों एवं स्वभावों को[8]
दिशः = दिशाओं को	
प्रकाशयन् = प्रकाशित करते हुए[4]	**अधितिष्ठति** = नियन्त्रित करता है।
भ्राजते = दीप्त होता है;	

१. भ्राजते यद् उ अनड्वान् इति वा पाठच्छेदो।

२. उदयाचल से अस्ताचल की तरफ जाते हुए सबको आश्चर्य

में डालने वाला सूर्य जगत् चक्र के अवभासन में रत रहता है यह भाव है।

३. अनड्वान् का अर्थ सांड और सूर्य दोनों ही होता है। जिस प्रकार गौवों के मण्डल में सांड स्वतंत्र होता है उसी प्रकार सूर्य भी आकाश मंडल में स्वतंत्र होता है।

४. दिशायें और दिशा में रहने वाले पदार्थ सभी को प्रकाश करने पर भी सूर्य अपने स्वयं प्रकाश रूप से दीप्त होता ही रहता है। सांड अर्थ करने पर भी सभी गायों को गाभिन करते हुए स्वयं उन सब से श्रेष्ठ और न्यारा ही शोभता हैं। जगत् चक्र चलाते हुए परमेश्वर भी प्रतिबिम्ब रूप से सभी उपाधियों में प्रवेश करके भी उन सब से श्रेष्ठ और न्यारा बना रहता है।

५. जगत् कारण रूप।

६. सबसे श्रेष्ठ एवं सबके द्वारा भक्ति करने के योग्य। अभ्युदय और मोक्ष दोनों प्रकार के अभिलाषियों द्वारा जिसका भजन किया जाता है।

७. योनिः स्वभावात् इति वा पाठः।

८. सबका कारण माया, एवं पृथिव्यादि का गन्धादि स्वभाव। अथवा माया ही जिनका स्वभाव है अर्थात् स्वभाव शून्य। जैसे नट एक हुआ भी अनेक वेशों को धारण करके अनेक प्रतीत होता है वैसे ही आकाश से अणु पर्यन्त एवं हिरण्यगर्भ से घास पर्यन्त सब पदार्थों के स्वभाव वाला प्रतीत होकर एवं अन्तर्यामी रूप से उनका नियमन करके रहते हुए भी वह उन सब का अधिष्ठान होकर स्वरूप और स्फुरणता प्रदान करते हुए उनका स्वतंत्र नियामक बना रहता है।

यद्यपि इन प्रकरणों में कहीं कहीं जीव का लिंग भी दिखाई देता है, परन्तु प्रकरण एवं मोक्ष रूपी फल में पर्यवसान होने से इन मंत्रों को ईश्वरपरक ही समझना चाहिये। अतः प्राच्याचार्यों (भवं प्रपञ्च

और भट्टभास्कर) के द्वारा देह मात्र में व्यापकता का प्रतिपादन करके जीव में संगत करने का प्रयास असंगत ही है।

५

यत् च स्वभावम् पचति विश्वयोनिः पाच्यान् च सर्वान् परिणामयेत् यः। सर्वम् एतत् विश्वम् अधितिष्ठति एकः गुणान् च सर्वान् विनियोजयेत् यः॥

यत्[1] = जिस
स्वभावं = स्वभाव को[2]
विश्वयोनिः = जगत् का कारण
पचति = पकाता है[3]
च = तथा
यः = जो
सर्वान् = सारे
पाच्यान्[4] = पकाने के योग्य[5] सामग्रियों को
परिणामयेत् = परिणत कराता है
च = तथा
एतत् = यह
एकः = अद्वितीय ही
सर्वम् = सारे
विश्वम् = विश्व को[6]
अधितिष्ठति = अधिष्ठित[7] करता है;
च = एवं
यः = जो
सर्वान् = सारे
गुणान् = गुणों को[8]
विनियोजयेत् = विनियुक्त कराता है (आने वाले श्लोक से इस वाक्य का सम्बन्ध है)

१. **यः यश्च इति वा पाठः।**

२. अग्नि का स्वभाव उष्णता है, इसी प्रकार सभी पदार्थों का स्वभाव समझना चाहिये।

३. अपनी सन्निधि मात्र से वागादियों को उनके कार्य के अनुरूप अर्थात् स्वभाव वाला बनाना ही उनको पकाना है। अथवा वागादियों को कर्म फल के अनुकूल करना ही उनको पकाना है। अथवा धातुओं की अनेकार्थकता के न्याय से उन्हें निष्पन्न करता है यह भाव है।

सारी योनियां अर्थात् स्थान या कारण उसी के द्वारा पकते हैं अर्थात् निष्पन्न होते हैं। यहां एवं अधितिष्ठति में णिजन्त का प्रयोग न करके श्रुति यह बताना चाहती है कि इन दोनों क्रियाओं में उपाधियों की गौणता है। भाव है कि समग्र योनियों में स्वभाव रूप को वह स्वयं पकाता है।

४. **प्राच्याँश्चेति वा पाठः। पूर्वोत्पन्नान् पदार्थान् धर्मादींश्च इत्यर्थः।**

५. कर्म, कला, नियति आदि तत् तत् अवस्था रूपों में परिणत होकर ही तत् तत् जीवों से सम्बन्ध वाले होते हैं। जीव कृत कर्म-फल के सहारे ही इस पाक की निष्पत्ति होने से परिणामयेत् में णिजन्त प्रयोग है। प्राच्य पाठ मानने से पूर्वोत्पन्न धर्मादियों को फलोन्मुख करता है, यह भाव है।

६. अविद्या एवं अविद्या के कार्य जो एक दूसरे से विभक्त होकर दृश्य बनते हैं।

७. अन्तर्यामी रूप से नियन्त्रण करता है एवं सत्ता रूप से अधिष्ठान बनता है।

८. द्रव्य में रहने वाले धर्मों को गुण कहते हैं। इनमें से कुछ यावत् पदार्थ स्थायी होने से नित्य कहे जाते हैं एवं कुछ अनित्य। इन्द्रियों का अपने अपने कार्यों में प्रवृत्त होना भी गुणाधीन है। अथवा पुण्य-पापादि गुणों को अध्यात्मादि भेद भिन्न पदार्थों में विनियुक्त करता है अर्थात् अमुक से अमुक होगा इस प्रकार का विनियोग करता है।

कुछ लोग गुणों से सांख्य सिद्धान्त के सत्व, रज, तम का संग्रह करते हैं। परन्तु अवैदिक होने से यह उपेक्ष्य है। सभी 'जो' का अगले मंत्र में आने वाले 'वह' से सम्बन्ध है।

६

तत् वेदगुह्योपनिषत्सु गूढ़म् तत् ब्रह्मा वेदते ब्रह्मयोनिम् ।
ये पूर्वदेवाः ऋषयः च तत् विदुः ते तन्मयाः अमृताः वै बभूवुः ॥

तत् = उस[1]
वेदगुह्योपनिषत्सु = वेद, गुह्य और उपनिषदों में[2]
गूढ़म्=छिपे हुए[3]
ब्रह्मयोनिम्=वेद योनि रूप[4]
तत्[5]=तत्पदार्थ रूप शिव को
ब्रह्मा=ब्रह्मा
वेदते=जानते हैं[6],
ये=जो
पूर्वदेवाः[7]=विष्णु आदि प्रथम देवता[8]
च=तथा
ऋषयः=वसिष्ठादि ऋषि[9]
तत्=उसको
विदुः=जान गये[10]
ते=वे
वै=निश्चित रूप से
तन्मयाः=शिवमय होकर[11]
अमृताः=अमर
बभूवुः=हो गये थे ।

१. जिसका प्रकरण चला है एवं जो पूर्व-मंत्र में जो से कहा गया है उस कारण रूप परमात्मा का परामर्श है । यद्यपि कर्म वाचक अम् का यहां लोप है, परन्तु वह अव्यय तत् के द्वारा प्रतिपादित ईश्वर वाचक पद के कारण है । तत् सत् परब्रह्मणे नमः आदि प्रयोगों में यह प्रसिद्ध है ।

२. वेदों के गुह्य अर्थात् रहस्य रूप उपनिषत् भागों में । ऋगादि वेदों में सर्वत्र प्रणव रूप महावाक्य का ही विस्तार है । अथवा वेदों में,गुह्यों में, और उपनिषदों में । तात्पर्य है कि कर्म-भाग रूपी वेद में स्तुति और पूजा के योग्य, एवं फलदाता ईश्वर रूप से शिव का प्रतिपादन है एवं आरण्यकों में उपास्य रूप से तथा उपनिषदों में ज्ञेय रूप से । अथवा वेदों में अर्थात् ऋगादि चार वेदों में एवं गुह्यों में अर्थात्

परम्परा से प्राप्त गुह्य विद्याओं में यानी तंत्रों में, और उपनिषत् अर्थात् गुरुपरम्पराओं में परमात्मा का ही प्रतिपादन है । अथवा वेदों में, हृदय गुहा में, एवं बुद्धि में वही स्थित हैं ।

३. ढका हुआ । तात्पर्य है कि वेद आदि वाच्य रूप से देवता, द्रव्य, यज्ञ आदि का प्रतिपादन करते हैं परन्तु लक्ष्य रूप से परमात्मा का प्रतिपादन करते हैं । यही उसका छिपा रहना है ।

४. ब्रह्म है योनि जिसकी, इस प्रकार अर्थ करने से परमात्मा से ही वेद प्रकट हुआ, यह अर्थ होता है । ब्रह्म की योनि, इस प्रकार अर्थ करने से वेद से ही ब्रह्म का ज्ञान होता है, ऐसा तात्पर्य सिद्ध होता है । अथवा ब्रह्म का अर्थ वेद, एवं उसकी योनि अर्थात् उत्पत्ति स्थान होने से परमात्मा को ब्रह्म योनि कहा गया है । ब्रह्म का अर्थ अपर ब्रह्म या हिरण्यगर्भ भी होता है । उसका कारण होने से भी परमात्मा ब्रह्म-योनि कहा गया है ।

५. तद्ब्रह्म विन्दते ब्रह्म योनिम् इति वा पाठः । जीवः परमात्मानम् लभते इत्यर्थः ।

६. वेद प्रमाण से आत्म रूप से साक्षात्कार करते हैं, यह भाव है ।

७. पूर्वे देवा इति पठति दीपिकाकारः । अस्मदादिभ्यः प्रथमम् इत्यर्थः ।

८. पूर्व कल्प में साधन सम्पन्न होकर इस कल्पके प्रारम्भ में जो सृष्टि के सञ्चालक रूप देव गण उत्पन्न हुए ।

९. अतीन्द्रिय दर्शन करने वालों से तात्पर्य है । अथवा सृष्टि के प्रारम्भ में कर्म एवं ज्ञान का उपदेश करने वाले भगवत् विभूति रूप ऋषि । चकार के द्वारा मनुष्य गन्धर्व आदियों का समुच्चय कर लेना चाहिये ।

१०. अपरोक्ष साक्षात्कार से तात्पर्य है । इससे यह अतिदेश भी है कि और भी जिन्होंने इसका साक्षात् किया, कर रहे हैं या करेंगे वे भी इसी फल को प्राप्त करेंगे ।

११. अविद्या के उदय न होने एवं आनन्द स्वभाव के कभी भी अस्त न होने के कारण जो सदा शिव है। सम्यक् ज्ञान से जीव के शिव भाव का व्यवधान करने वाली अविद्या और उसके कार्य के जल जाने से, उसे भी शिव भाव की प्राप्ति हो जाती है। शास्त्र, युक्ति एवं अनुभव तीनों से सिद्ध होने के कारण निश्चय रूप से शिव रूपता बताई।

७

यहां तक तत् पदार्थ का प्रतिपादन करके पुरुषार्थ के द्वारा प्राप्त होने वाले ईश्वर रूप का प्रतिपादन किया। अब त्वं पद के अर्थ रूप जीव का वर्णन करते हुए उसको देहादि से अलग करके बतायेंगे एवं कर्तृत्व भोक्तृत्वादि संसार की प्राप्ति देहेन्द्रियादि से अविवेक के कारण प्रतिपादित करेंगे :—

गुणान्वयः यः फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्य एव सः च उपभोक्ता। सः विश्वरूपः त्रिगुणः त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः सञ्चरति स्वकर्मभिः ॥

यः = जो
गुणान्वयः = गुणों से युक्त[1]
फलकर्मकर्ता = फल वाले कर्मों को करने वाला[2]
च = और
कृतस्य = किये हुए
तस्य = उन (कर्मों का)[3]
सः = वह
एव = ही
उपभोक्ता = उपभोग करने वाला है।
सः = वह
विश्वरूपः = विश्वरूप वाला,[4]
त्रिगुणः = तीन गुणों वाला,[5]
त्रिवर्त्मा = तीन मार्गों वाला,[6]
प्राणाधिपः = प्राणों का अधिपति[7]
स्वकर्मभिः = अपने कर्मों के द्वारा
सञ्चरति = सञ्चार करता रहता है।[8]

१. अविद्या, काम और कर्म रूपी तीन गुणों से युक्त होकर ही

चैतन्य जीव पद का वाच्य होता है। अथवा शुक्ल, नील आदि भिन्न भिन्न गुण या वर्ण वाली नाड़ी रूपों में जाकर अनुभव करने के कारण उसे जीव कहा जाता है। अथवा ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, एवं अन्तर् इन्द्रिय इन तीन गुणों से अन्वित होने से उसे जीव कहा जा सकता है।

सांख्य सिद्धान्त के अनुसार तो यहां सत्व, रज, तम गुणों का संग्रह किया गया है। सत्व गुण की अधिकता से रजोगुण और तमोगुण को दबाकर ज्ञान रूप मोक्ष के लिये कर्म करता है। रजोगुण की अधिकता से स्वर्गादि के लिये तथा तमोगुण की अधिकता से नरकादि के लिये कर्म करता है। कर्म के प्रति रजोगुण तो सर्वत्र ही कारण होगा परन्तु सत्त्व परवशता या तम परवशता समझना चाहिये। यदि गुण वेदों को स्वीकृत होते तो यह अर्थ संगत हो सकता परन्तु वेदों में ये सांख्य गुण स्वीकार नहीं किये गये हैं।

२. फल की दृष्टि से फल प्राप्ति के लिये जो कर्म किये जाते हैं वे भोगने पड़ते हैं। ध्वनि यह है कि निष्काम बुद्धि से नित्य-नैमित्तिक कर्म फल को उत्पन्न नहीं करते। अथवा फल युक्त कर्मों का करने वाला। गुणों से युक्त होने के कारण ही फलेच्छा एवं कर्म कर्तृत्व आता है, अतः दोनों विशेषण हेतु गर्भ हैं। अथवा फल अर्थात् सुख दुःख, एवं कर्म अर्थात् धर्माधर्म, इन दोनों का सम्पादक होने से उसको फल कर्म कर्ता कहा गया है।

३. अपने द्वारा अर्जित न कि दूसरों के द्वारा अर्जित का उपभोक्ता। यद्यपि ईश्वर भी कर्म करता हुआ देखा जाता है पर वह फलों का भोक्ता नहीं है।

४. जाग्रत में सब विषयों को पाता है अतः सर्व रूप या विश्वरूप है। अथवा कार्य-करण संघातों की अनेकरूपता के कारण भी उसको विश्वरूप कहा गया है। वेदान्त सिद्धान्त में तो जाग्रत् अवस्था के

अभिमानी चेतन को विश्व कहते हैं। अथवा सुर, नर, तिर्यक् आदि नाना रूपों से तात्पर्य है।

५. टिप्पणी संख्या एक देखिये। अथवा काम, क्रोध और लोभ रूपी तीन गुणों वाला।

६. देवयान अर्थात् उत्तर मार्ग, पितृयान अर्थात् दक्षिण मार्ग एवं जायस्व मृयस्व अर्थात् योनि मार्ग। अथवा शुभ, अशुभ, और मिश्र कर्मों के द्वारा होने वाले मार्ग भेद।

७. सभी इन्द्रिय, मन, प्राण आदि का स्वामी। अथवा प्राणों को अधिष्ठित करके उनका पालन करता है।

८. इह लोक और पर लोक में घूमता रहता है। सञ्चरति में परस्मैपद वैदिक प्रयोग है।

८

अंगुष्ठमात्रः रवितुल्यरूपः संकल्पाहंकारसमन्वितः यः। बुद्धेः गुणेन आत्मगुणेन च एव आराग्रमात्रः हि अपरः अपि दृष्टः॥

यः = जो (जीव)	**बुद्धेः** = बुद्धि के
अंगुष्ठमात्रः = अंगूठे जितना,[1]	**गुणेन** = गुणों द्वारा[4]
रवितुल्यरूपः = सूर्य के समान स्वयं प्रकाश,[2]	**च** = तथा
संकल्पाहंकारसमन्वितः = संकल्प और अहंकार से युक्त,[3] (एवं)	**आत्मगुणेन** = आत्मा के गुणों द्वारा[5]
आराग्रमात्रः = आरे के दांत की नोक के परिमाण[6] वाला	**हि** = (वह) ही
एव = ही	**अपरः**[7] = अपर (जीव)[8]
	अपि = भी
	दृष्टः = अवगत होता है[9]।

१. हृदय सुषिर की अंगुष्ठमात्रता से सूक्ष्म शरीर भी अंगुष्ठ परिमाणी कहा गया है।

२. सूक्ष्म शरीर में आत्म-प्रकाश की बहुलता से उसे सूर्य के जैसा बताया गया है। यह तेजस्विता उसकी स्वच्छता के कारण है। चैतन्य और आनन्द रूप का प्रकाश तथा स्वयं प्रकाशमानता का भान वहीं सम्भव होने से उसे रवि के तुल्य बताना समीचीनतर है। विवेकी तो ऐसा मानते हैं कि कुछ पदार्थों को **मैं जानता हूं**, इस रूप से एवं उनसे अतिरिक्त सब को **नहीं जानता हूं** इस रूप से सकल ब्रह्माण्ड को विषय करता है एवं ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय सभी का ज्ञाता या अज्ञाता बना हुआ साक्षी होने के कारण उसे रवि तुल्य रूप कहा गया है। जैसे सूर्य पृथ्वी को धूप अथवा छाया दोनों में से किसी न किसी भाव से विषय करता ही रहता है, वैसे ही इसे भी समझना चाहिये।

३. यह मेरा हो जाय इत्यादि संकल्प एवं मैं मनुष्य हूँ आदि अहंकार। इसके द्वारा ईश्वर की व्यावृत्ति हो गई। क्यों कि ईश्वर को भी ध्यान के लिये अंगुष्ठ मात्र कहा गया है परन्तु वह संकल्प और अहंकार वाला नहीं है। कुछ लोग तो समन्वित का अन्वय **बुद्धेर्गुणेन** एवं **आत्मगुणेन** के साथ भी लगाते हैं। तात्पर्य है कि बुद्धि के गुण काम-क्रोधादि से एवं आत्मगुण अर्थात् देह के जरा मृत्यु आदि से भी समन्वित है। कुछ अन्य आत्मगुण से चित् आनन्द, आदि गुण जो अन्तः करण में प्रतिबिम्बित होते हैं उनका यहां ग्रहण करते हैं। कुछ अन्य लोग बुद्धि का गुण संकल्प-अहंकार एवं आत्मा का गुण रवितुल्यरूपता मानकर उनसे उपलक्षित जीव का ग्रहण करते हैं। परन्तु इसमें श्रुत त्याग, क्लिष्ट अन्वय, असम्भव आदि दोष होने से अरुचि है।

४. भाव है कि राजसर्षपादि (छोटी सरसों) की तरह अति सूक्ष्म ही उसका ज्ञान संभव है। उपाधि विशिष्ट होने के कारण इसमें परमेश्वर की अपेक्षा चिद्रूपता और आनन्दरूपता अत्यन्त न्यून है, यह भाव है।

५. लिङ्ग शरीर के गुण। अथवा प्रशस्तपादोक्त मन के धर्म।

६. आपस्तम्ब प्रतिपादित आत्मा के गुण।

७. अवरः इति वा पाठः। न वरः श्रेष्ठः इत्यर्थः।

८. बुद्धि एवं आत्मा के गुणों से जिस चेतन का ज्ञान है वह जीव ही है यह भाव है। तात्पर्य है कि यद्यपि वह अनन्त है फिर भी उपाधि में उसका ज्ञान उपाधि के गुण अर्थात् परिच्छेद से पूर्ण रूप से नहीं हो पाता। महाकाश स्थानीय परमेश्वर के ज्ञान की अपेक्षा जलस्थ सूर्य का ज्ञान अपर ही हो सकता है।

९. शास्त्र युक्ति और अनुभव के द्वारा विद्वानों को पता लगता है।

९

वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागः जीवः सः विज्ञेयः सः च आनन्त्याय कल्पते॥

सः = वह	**भागः** = अंश जितना
जीवः = जीव	**विज्ञेयः** = समझा जाना चाहिये;
वालाग्रशतभागस्य[1] = बाल के खड़े सौवें टुकड़े के[2]	**सः** = वह
	च = ही
शतधा = सौ बार खड़े टुकड़े रूप से	**आनन्त्याय** = अनन्तता को[4] (प्राप्त करने में)
कल्पितस्य = निर्मित	
च[3] = ही	**कल्पते** = समर्थ हो जाता है[5]।

१. वालाग्रशतभागस्य इति वा पाठः।

२. बाल अर्थात् केश का अग्र अर्थात् आगे का भाग, उसके सौ टुकड़े में से यदि एक टुकड़ा लिया गया तो वह वालाग्रशत भाग हो गया। उस एक टुकड़े को सौ भागों में बांटा फिर उस में से एक टुकड़े को लेकर पुनः सौ भागों में बांटा, उस बंटे हुए भाग को पुनः सौ बार टुकड़ों में बांटा, एवं इस प्रकार सौ बार करते रहे तो जो अन्तिम भाग आयेगा वह यहां इष्ट है। तात्पर्य है कि वह अति सूक्ष्म है।

३. तु इति वा पाठः।

४. ज्ञान होने पर उपाधि द्वारा सूक्ष्मतम ऐसा जीव भी अपने अद्वितीय भगवत् रूपता को प्राप्त हो जाता है। तत् पदार्थ से तादात्म्य ही अनन्तता है। अविद्या के निवृत्त हो जाने पर उपाधि का अभाव हो जाता है, यह भाव है।

५. वस्तुतः बन्धन का अभाव होने से मोक्ष भी कल्पित है यह संकेत है।

१०

न एव स्त्री न पुमान् एषः न च एव अयम् नपुंसकः।
यत् यत् शरीरम् आदत्ते तेन तेन सः युज्यते॥

(एषः) = (यह)	**न** = नहीं
स्त्री = स्त्री[1]	**एव** = ही है।
न = नहीं	**यत्** = जिस
एव = ही है;	**यत्** = जिस
एषः = यह	**शरीरं** = शरीर को
पुमान् = पुरुष	**आदत्ते** = ग्रहण करता है[2]
न = नहीं है;	**तेन** = उस
च = तथा	**तेन** = उस (शरीर से)
अयं = यह	**सः** = वह
नपुंसकः = नपुंसक (हिजड़ा)	**युज्यते**[3] = युक्त होता है[4]।

१. पूर्व मंत्र में प्रतिपादित अणुता से शंका हो सकती थी कि उसका लिङ्ग क्या है? यदि जीव का लिंग माना जाय तो फिर पुरुष जीव हमेशा ही पुरुष एवं हिजड़ा जीव हमेशा ही हिजड़ा होगा। भाव है कि यदि शिव रूप जीव सूक्ष्म शरीर की उपाधि से हमेशा दूसरे जीवों से भिन्न ही रहता है यह माना गया है तो क्या स्थूल देह की उपाधि भी उसे इसी प्रकार अन्य से अलग रख सकेगी? उत्तर

है कि गौणात्मा, मिथ्यात्मा और वास्तविक आत्मा रूप से आत्मा की त्रिविधता है। शरीर आदि गौणात्मा होने से ज्ञान के पूर्व ही उनसे एकता का अनुभव हट जाता है। सुषुप्ति, मूर्छा, मृत्यु में यह अनुभव सिद्ध है। मिथ्यात्मा सूक्ष्म देह से तादात्म्य होने के कारण ज्ञान के पहले बाधित नहीं होता। नर मादादि स्थूल शरीर में होने के कारण स्थूल देह की निवृत्ति के साथ ही निवृत्त हो जाते हैं। आधुनिक युग में नर मादादि का परिवर्तन प्रत्यक्ष ही देखा जाता है।

२. अविद्या-काम-कर्मादि के वशीभूत होकर जिस पुरुषादि शरीर में मिथ्या अभिमान करके मैं स्त्री, दुबली, गोरी, इत्यादि तादात्म्याध्यास कर लेता है वही बन जाता है।

३. **स रध्यते** इति वा, **स चाय्यते** इति वा पाठः। **विज्ञानात्मा रध्यते तस्य भावपुष्टिः क्रियते इत्यर्थः। स च अय्यते तिरोभूतः क्रियते इत्यर्थः।**

४. विज्ञानात्मा का कर्म फल के अनुसार सम्बन्ध कर दिया जाता है। अर्थात् शरीरों के द्वारा स्त्री आदि शब्द और प्रत्यय का विषय बना दिया जाता है।

११

शरीर ग्रहण का कारण प्रतिपादित करते हैं:—

संकल्पनस्पर्शनदृष्टिहोमैः ग्रासाम्बुवृष्ट्या च आत्मविवृद्धिजन्म। कर्मानुगानि अनुक्रमेण देही स्थानेषु रूपाणि अभिसम्प्रपद्यते।

देही = देहधारी जीव
संकल्पनस्पर्शनदृष्टिहोमैः[१] = मनो व्यापार, स्पर्श, दृष्टि और होमों से[२]
च = तथा
ग्रासाम्बुवृष्ट्या = खाने पीने से[३]
कर्मानुगानि = कर्म के अनुरूप[४]
अनुक्रमेण = क्रम से[५]

स्थानेषु = योनियों में[६]
रूपाणि = भिन्न भिन्न रूपों को (व)
आत्मविवृद्धिजन्म = अपने जन्म और बढ़ोतरी को[७]
अभिसम्प्रपद्यते = प्राप्त करता है[८]।

१. **संकल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहैः इति वा पाठः।**

२. पहले मन से संकल्प होता है तब सामग्री का स्पर्श करता है, फिर उनमें दृष्टि करके होम करता है। इस व्यावहारिक क्रम का ही यहां प्रतिपादन है। पाठ भेद में भी पहले इष्ट अनिष्ट पदार्थ का मानसिक व्यापार रूपी संकल्प करके फिर उनका स्पर्श करता है तथा उनको सुख दुःख के जनक रूप से देखता है एवं इसी से मोह में पड़ जाता है। अथवा पदार्थों का संकल्पादि करके आत्माग्नि में प्रक्षेप करके यह घड़ा मेरा हो, यह पत्नी मेरी न हो, मैं देखता हूं, सूंघता हूं, आदि कर्मों का अभ्यास होता है होम से यहां सभी कर्मानुष्ठान ले लेने चाहिये।

मन का व्यापार अर्थात् मैं सदा सत्य बोलूंगा या मिथ्या बोलूंगा इत्यादि रूप है। प्रथम सकल्प से पुण्य और दूसरे से पाप होता है। इसी प्रकार माता पिता का चरण स्पर्श पुण्य का जनक है, एवं वेश्या स्पर्श पाप का। वेदपाठी ब्राह्मण का दर्शन पुण्य को और कञ्जूस का दर्शन पाप को पैदा करता है। अग्निहोत्रादि पूजा पुण्य का व वशीकरणादि पूजा पाप का कारण है। इससे अन्य सभी कर्मों की उपलक्षणा कर लेनी चाहिये।

३. ग्रास की वृष्टि और अम्बु की वृष्टि ऐसा समास है। तात्पर्य है कि जैसे उपर्युक्त कर्म दिल, दिमाग, और दस्त तीनों को विषय करते हैं वैसे ही जो कुछ अपने शरीर के लिये भोगा जाता है वह भी धर्म अधर्म को उत्पन्न करता है। वृष्टि से भाव है कि जब तक भूख प्यास न मिट जाय तब तक किया हुआ खान पान। उससे अधिक आत्म विवृद्धि का कारण न होकर आत्म नाश का कारण होता है। अथवा

होमादि कर्मों के बाद पठित होने से ग्रास की वृष्टि अर्थात् अन्न दान एवं अम्बु की वृष्टि अर्थात् उदक दान। उत्कृष्ट देश काल पात्र को आदर पूर्वक अतिदान पुण्य का हेतु होता है एवं विपरीतों में अतिदान पाप का हेतु होता है। अथवा ओ व्रश्चु छेदने से निष्पन्न वृष्टि का मतलब अनर्थकारियों के अनर्थ का उच्छेदन पुण्य हेतु एवं अर्थ कारियों के अर्थ का छेदन पाप हेतु समझना चाहिये। भाव है कि इष्ट अनिष्ट की प्राप्ति परिहार की इच्छा होने पर भांति भांति के विषय एवं उनसे होने वाले सुख दुःख की प्राप्ति तथा अन्न पानादि से तृप्ति होती है। इस तृप्ति के आत्मा में अविद्या के कारण अध्यस्त कर लेने से पुण्य पाप बन जाता है।

४. धर्माधर्म रूप कर्म के पीछे पीछे चलने वाले स्त्री पुरुषादि देह। अर्थात् कर्म के द्वारा ही देह प्राप्ति नियन्त्रित होती है। कर्म अनेकविध होने से उनका भोग युगपत् नहीं हो सकता। एवं परिपाक की अपेक्षा से क्रम पूर्वक होता है।

५. धर्म ज्ञान के बढ़ने पर हिरण्यगर्भादि या ब्राह्मणादि योनि की प्राप्ति होती है एवं अधर्म और अज्ञान के बढ़ने से दानवादि या चाण्डालादि योनि की प्राप्ति होती है।

कुछ टीकाकारों ने तो जाग्रत् और स्वप्न को ही स्थान एवं उनका अन्तः करण एवं उसके व्यापारों से सम्बन्ध क्रम पूर्वक होता है ऐसा प्रतिपादित किया है। वस्तुतस्तु यहां पञ्चाग्नि विद्या का संकेत होने से स्थान का अर्थ योनि लेना ही अधिक संगत है।

६. अध्यात्मादि भेद भिन्न ब्रह्मा से नर, पिपीलिका पर्यन्त सभी योनियां।

७. खान पान से तो आत्मा अर्थात् शरीर की वृद्धि और शुक्र-शोणित रूप से शरीर का जन्म अनुभव सिद्ध ही है। इन सभी कर्मों से जीव रूपी आत्मा का जन्म और विविध प्रकार की वृद्धि श्रुति

और युक्ति से सिद्ध है। अथवा हिरण्यगर्भादि योनियों में जन्म विवृद्धि है। विवृद्धि से यहां पतन की भी उपलक्षणा कर लेनी चाहिये। वस्तु-तस्तु आत्मा का ज्ञानोन्मुख होना विवृद्धि है एवं अज्ञानोन्मुख होना जन्म है।

कुछ लोग यथा का अध्याहार करके जैसे ग्रासाम्बु से शरीर की वृद्धि होती है वैसे ही संकल्पनादि से जीव को भिन्न भिन्न योनियों की प्राप्ति होती है ऐसा अन्वय करते हैं।

८. अभि अर्थात् समष्टि व्यष्टि रूप समस्त कार्य-करणों में भ्रान्ति से अहन्ता और ममता के अभिमान को सम् अर्थात् भली भांति, प्रप-द्यते अर्थात् प्राप्त कर लेता है।

१२

जिन रूपों को प्राप्त करता है उसका विस्तृत वर्णन करते हैं :—

स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि च एव रूपाणि देही स्वगुणैः वृणोति। क्रियागुणैः आत्मगुणैः च तेषां संयोगहेतुः अपरः अपि दृष्टः॥

देही = देहाभिमानी जीव
स्वगुणैः = अपने गुणों से[१]
क्रियागुणैः = क्रिया के गुणों से
च = और
आत्मगुणैः = आत्मगुणों से
बहूनि = बहुत प्रकार के
स्थूलानि = स्थूल[२]
च = और
सूक्ष्माणि = सूक्ष्म[३]
रूपाणि = रूपों को
एव = ही
वृणोति = वरता है[४]।
तेषां = उनके[५]
संयोगहेतुः = संयोग का कारण[६]
अपरः[७] = जीव से भिन्न (शिव)[८]
अपि = भी
दृष्टः = देखा गया है[९]।

१. तम् एतं विद्या कर्माणि समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च के द्वारा

श्रुति में जो तीन जन्मान्तर के कारण बताये हैं उन्हीं को यहां क्रम से स्वगुण अर्थात् उपासना, क्रियागुण अर्थात् कर्म, एवं आत्मगुण अर्थात् पूर्व-प्रज्ञा समझ लेना चाहिये। यद्यपि अविद्या-काम-कर्म का भी संग्रह संभव है, परन्तु अविद्या एक होने से एवं यहां गुण में बहु-वचन श्रुत होने से वह उचित नहीं है। अथवा स्वगुण से भाव एवं आत्मगुण से ज्ञान का ग्रहण करके भी संगति हो सकती है। अथवा स्व अर्थात् आत्मा के गुणों से अर्थात् तत् तत् उपाधि से अवच्छिन्न रूप से वर्तमान सत्ता स्फुरणादियों से, एवं विहित प्रतिषिद्ध क्रिया-गुणों से एवं आत्मा अर्थात् लिङ्ग शरीर के गुण अर्थात् विहित प्रतिषिद्ध उपासनादियों से, अथवा अन्तःकरण के गुण स्वगुण एवं वासनादि आत्मगुण से कहे गये हैं; अथवा स्वगुणों से ज्ञानेच्छा क्रिया गुणों से क्रिया शक्ति रूप प्राण और उसका गुण शरीर ईहादि एवं आत्मगुण अर्थात् अन्तःकरण का अपनी आत्मा में अध्यस्त तादात्म्यगुण रूप अदृष्ट इच्छा-ज्ञानादि रूप। कुछ लोग चकार से क्रिया-शक्ति ज्ञान-शक्ति का अथवा पूर्व प्रज्ञा का संग्रह करते हैं।

२. स्थूल शब्द एवं स्थूल ज्ञान के विषय रूप से वर्तमान। ये भी अनन्त हैं। अथवा मनुष्य, पशु-पक्षी आदि स्थूल हैं।

३. सूक्ष्म शब्द और ज्ञान के विषय रूप से वर्तमान। अथवा तिर्यक्-स्थावर आदि में जीवरूपता की प्रतीति न होने से उन्हें सूक्ष्म कह दिया गया। कुछ लोग तो स्थूल से पत्थर आदि, सूक्ष्म से हीरा सोना आदि, तथा बहूनि से देव मनुष्यादि का ग्रहण भी करते हैं। वस्तुतस्तु पार्थिव शरीरों की अपेक्षा जलमय, तदपेक्षया तैजस, वायव्य एवं आकाशमय शरीर सूक्ष्म सूक्ष्मतर हैं। ब्रह्म लोक में आकाश रूप शरीर ही होता है। यद्यपि सारे ही शरीरों का आरम्भ करने वाले महाभूत पञ्चीकरण प्रक्रिया से मिले होते हैं तथापि तत् तत् भूतों की प्रधानता से यह क्रम समझना चाहिये। अथवा हाथी आदि स्थूल

शरीर एवं मच्छर आदि सूक्ष्म शरीर हैं। विवेक दृष्टि से तो यहां वरण का प्रकरण होने से स्थूल से स्थूल देह एवं सूक्ष्म से सूक्ष्म देह लिया जाना चाहिये। भाव है कि जीव कभी मैं हूँ, मैं चेतन हूं आदि से स्वगुणों के साथ तादात्म्य करता है, कभी मैं खाता हूं, मैं छूता हूँ के द्वारा क्रियागुणों से तादात्म्य करता है, एवं कभी मैं गोरा हूं, मैं ब्राह्मण हूँ आदि के द्वारा आत्मगुण अर्थात् देह गुणों से तादात्म्य करता है। इस प्रकार के तादात्म्य में कारण पूर्वोक्त विद्या, कर्म और पूर्व-प्रज्ञा ही है। इस प्रकार सर्वत्र **गुणैः** में जो तृतीया है वह करणा-र्थक और सहार्थक दोनों प्रकार से समझ लेनी चाहिये। अर्थात् स्वगुण क्रियागुण और आत्मगुण के द्वारा स्वगुण, क्रियागुण और आत्मगुण के साथ तादात्म्य करता है। विषय, उनका अनुभव और उनका संस्कार ही तादात्म्य के प्रति हेतु है।

४. स्वीकार करता है अर्थात् उनमें इष्ट बुद्धि करता है। अथवा **आवृणोति**, इन भावों से अपने आपको ढांक लेता है।

५. कार्य करण का स्वामी अर्थात् जीव, कार्य-करण संघात, एवं उनके धर्मों के संयोग का।

६. प्राप्ति का निमित्त अर्थात् भोक्ता, भोग, उपकरण, भोगाय-तनादि भावों से युक्तता का प्रति रूप में भेद रूप से अन्वय होने का कारण वह जीव स्वतः नहीं है। तात्पर्य है कि कर्म इत्यादि करने पर भी, एवं वासना युक्त होने पर भी, मुझे अमुक शरीर प्राप्त हो ऐसा संकल्प न होने पर भी कर्म वासना वशात् नरक शरीर की प्राप्ति होती है। अतः इस प्राप्ति का कारण कर्म एवं फलों का सम्बन्ध बनाने वाला परमेश्वर ही हो सकता है।

देही अपर देह के संयोग का कारण होता है, ऐसा भी अन्वय संभव है। अर्थात् देहान्तर के संयोग की हेतुता यहां प्रतिपादित की गई है।

७. अवर: इत्यपि पाठः। तस्मिन् पक्षे अवरः जीवः अपिशब्दात् ईश्वरोपि इत्यर्थः।

८. अपर ब्रह्म अर्थात् ईश्वर ही कर्म वासना आदि के अनुरूप क्रम से फल भुगवाता है। कर्म करने में स्वतंत्र होने पर भी जीव फल भोगने में परतंत्र है। शास्त्र से इस कर्म से इस फल को पाऊंगा ऐसा विचार करके जीव प्रवृत्त होता है यह सब प्राणियों को प्रत्यक्ष है। अतः जीव विषय संयोग का हेतु नहीं है ऐसा कोई भी नहीं कह सकता। फिर भी जीव स्वतंत्र कारण नहीं है। अदृष्ट से ईश्वर जिस वासना को व्यक्त करता है तद् अनुरूप हो जीव व्यवहार करता है।

९. वेदों में प्रतिपादित है।

१३

अब मन्त्रद्वय से संसार चक्र से मुक्त होने का उपाय बताते हैं :-

अनाद्यनन्तम् कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारम् अनेकरूपम्।
विश्वस्य एकम् परिवेष्टितारम् ज्ञात्वा देवम् मुच्यते सर्वपाशैः॥

कलिलस्य = अव्यवस्था के[1]
मध्ये = बीच
विश्वस्य = विश्वरूपी व्यवस्था का
स्रष्टारम् = निर्माण करने वाले[2] (एवं)
विश्वस्य = विश्वको (नियमों में)
परिवेष्टितारम् = लपेट कर रखने वाले[3]
अनेकरूपम् = अनेक रूपों को धारण करते हुए भी
एकं = अपनी एकता को बनाये रखने वाले[4]
अनाद्यनन्तं = आदि और अन्त से रहित[5]
देवम् = देव को
ज्ञात्वा = जानकर
सर्वपाशैः = सारे पाशों से
मुच्यते = छूट जाता है।

१. सत्-असत्, सावयव-निरवयव, भेद-अभेद, भाव-अभाव आदि किसी भी प्रकार से माया की व्यवस्था न बनने के कारण माया को

कलिल (chaos) कहा गया है। चेतन ब्रह्म ही इसमें व्यवस्था की संयोजना करता है। वस्तुतः विश्व की प्रत्येक घटना बेजोड़ (unique) है। अतः कोटिकरण (categorisation) केवल चेतन द्वारा निर्मित है। इसीलिये कोई भी कोटिकरण वास्तविक नहीं होता। एवं भिन्न भिन्न दृष्टियों से एक ही पदार्थ भिन्न भिन्न कोटियों में चला जाता है। खाद्य पदार्थ के दृष्टिकोण से चावल और चना अन्न की कोटि में आने पर भी वर्ण की दृष्टि से दूध और स्वर्ण की कोटि में एवं शकल की कोटि से गुल्लीं और गेंद की कोटि में क्रमशः आ जायेंगे। कोटिकरण ही व्यवस्था का मूल है। चूंकि माया स्वरूप से अव्यवस्थित है अतः वास्तविक दृष्टि से व्यवस्था असंभव है। अतः चेतन ही यहां व्यवस्था का सृजन करता है। यह व्यवस्था चेतन में निहित है क्योंकि चेतन सदा व्यवस्थित है। सत्, अद्वितीय, चित्, निरवयव, अभिन्न आदि उसका व्यवस्थित रूप है। यूनानी पुराणों (greek mythology) में कैओस देवता को अपदस्थ करके ज्यूस देवता देवराज बना कहकर यही बताया गया है।

पञ्चमी आहुति में योषित् अग्नि में जो प्रक्षेप होता है उसकी फेनिलावस्था को भी कलिल कहा गया है। जाग्रतावस्था में जीव का नाम विश्व है। अतः कलिल के बीच में जीव रूप से ब्रह्म ही प्रविष्ट होता है अतः वह जीव का स्रष्टा कहा गया।

अथवा अतिगहन और गम्भीर होने से संसार को कलिल कहा। अर्थात् इस गहन संसार में सृष्टि का निर्माण करने वाला केवल वही है। अथवा मायावी की तरह माया के मध्य में रहकर माया का निर्माण करने वाला होने से दुर्ज्ञेय है। अर्थात् साक्षी रूप से स्थित होते हुए अपनी ही अविद्या शक्ति से स्वयं ही मुग्ध हो जाता है, यह भाव है। इसमें आत्म मुग्धता (nancisstic complex) की जो ध्वनि है वह आधुनिक मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि में महत्त्वपूर्ण है।

२. विश् धातु से बना हुआ विश्व शब्द सृष्टि की एकरूपता (universe) को प्रतिपादित करता है। वस्तुतः देश और काल तथा कार्य कारण भाव अखण्ड जगत् रूपी ब्रह्म को अनन्त भेदों में बांट लेते हैं अतः यह अव्यवस्थित हो जाता है। दिक् काल हेतु गर्भ से रहित होकर शिव का अखण्ड ज्ञान होने से जगत् अखण्ड अतएव व्यवस्थित हो जाता है। जिस प्रकार मानव देह के यकृत्, फेफड़ा, गुर्दा, रक्त, दिल, दिमाग आदि की क्रियायें अलग अलग देखने पर अव्यवस्थित (chaotic) लगते हैं, परन्तु समग्र मानव देह की दृष्टि से उनमें व्यवस्था नजर आने लगती है। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये। माया चूंकि इस दृष्टि को उत्पन्न नहीं होने देती इसीलिये उसे अव्यवस्था रूप ही माना गया है। सृज् धातु का अर्थ जो अपने में हो उसको बाहर फेंकना ही होता है। अतः जगत् की बाह्य प्रतीति ही शिव का शक्ति को अपने से बाहर करके देखने की तरह है।

३. प्रकृति और प्राकृत रूप विश्वको परितः अर्थात् अन्दर और बाहर दोनों तरफ से व्याप्त करके नियन्त्रण में रखना ही उसका परिवेष्टन है। जैसे जिल्द से अलग अलग कागज नियन्त्रित हो जाते हैं एवं वह उनको बाहर से भी घेर के रखती है इसलिये उसको परिवेष्टन कहते हैं वैसा ही यहां समझना चाहिये। जिस प्रकार अपने द्वारा प्रदर्शित बाघ, हाथी आदि मायावी द्वारा ही नियन्त्रित और व्याप्त हैं वैसा ही यहां समझना चाहिये। अथवा स्वप्न के पदार्थों को जिस प्रकार स्वप्नद्रष्टा परिवेष्टित करके रखता है वैसे ही ईश्वर जगत् को रखता है, यह भाव है।

४. जिस प्रकार अग्नि तिकोन आदि लोहे के टुकड़ों में घुसकर तिकोन आदि रूप से प्रतीत होती है, फिर भी वस्तुतः अनेक नहीं हो जाती वैसे ही विष्णु से तिनके तक कार्य-करण उपाधियों में प्रविष्ट होकर भी चेतन अनेक नहीं हो जाता। तात्पर्य है कि अपनी अनेकता

को छोड़कर जब एकता को समझता है तब अविद्या, काम, कर्म, फल, राग आदि अनन्त भारों से दबे हुए घोर जल में डूबे हुए ढोल की तरह, देह से एक होने के निश्चय मात्र से जो प्रेत, देव मनुष्यादि योनियों में घूम रहा था वहां से गुरु और ईश्वर की कृपा से विवेक वैराग्य प्राप्त होकर सारा भार उतर कर संसार समुद्र से ऊपर हो जाता है।

५. इसके द्वारा त्वं पदार्थ को तत् पदार्थ से अभिन्न बताया। आदि और अन्त से सभी विकारों का ग्रहण कर लेना चाहिये। अर्थात् नेति नेति के मार्ग से अशेष विशेषों का प्रतिषेध करने से जीव ही शिव हो जाता है। चिन्मात्र स्वभाव होने पर भी विशेष अर्थात् गुणों के द्वारा ही उसमें शिव से भेद प्रतीत हो रहा है।

१४

भावग्राह्यम् अनीड़ाख्यं भावाभावकरं शिवम्।
कलासर्गकरम् देवम् ये विदुः ते जहुः तनुम्॥

ये=जिन्होंने
भावग्राह्यम्=प्रेम से जानने के योग्य,[1]
अनीड़ाख्यम्[2]=स्थान और नाम से रहित,[3]
भावाभावकरम्=भाव और अभाव को बनाने वाले[4]
कलासर्गकरम्=कलाओं की सृष्टि करने वाले,[5]
देवम्[6]=स्वयं प्रकाश रूप,
शिवम्=शिव को
विदुः=जान लिया[7]
ते=उन्होंने
तनुम्=अल्प (परिच्छिन्न) भाव को[8]
जहुः=छोड़ दिया।

१. उपाय और उपेय दोनों का संक्षेप में आर्थिक उपसहार करने वाले मन्त्र में सबसे पहले भाव अर्थात् प्रेम का प्रतिपादन उसकी अत्यधिक महत्ता-प्रतिपादन के लिये है। प्रेम की पूर्णता के विना

परमात्मा का ग्रहण असम्भव है। भाव अन्तःकरण का अत्यधिक शुद्ध हो जाने पर व्यापार विशेष है। लोक में भी जहां किसी के प्रति वास्तविक भाव होता है वहां अन्तःकरण के रागद्वेषादि निवृत्त हो जाते हैं। परन्तु विषय भेद के कारण वहां किञ्चित् विक्षेप रूपी अशुद्धि भी रहती ही है। यहां तो उतनी भी अशुद्धि बाधक होती है। नारद शाण्डिल्य आदि इसीलिये इसको परानुरक्ति या परप्रेम कहते हैं। वस्तुतः पूर्ण-प्रेम आत्मा में ही सम्भव है। अतः जब श्रद्धा एवं मनन निदिध्यासन से युक्त होकर गुरु के द्वारा वेदान्त महावाक्य का श्रवण करता है एवं हृदयंगम हो जाता है कि शिव मेरा ही स्वरूप है, तभी उसके प्रति परम प्रेम हो जाता है। जब तक परमेश्वर को द्वैत बुद्धि से अपने से भिन्न समझेगा तब तक यह पूर्ण प्रेम असंभव है। अनेक अविचारी लोग ऐसा मानते हैं कि बिना दो के प्रेम संभव नहीं। परन्तु वास्तविकता तो यह है कि जब तक दूसरे को भी अपनत्व की परिधि में नहीं ले आया जाता तब तक उससे प्रेम असम्भव है। परन्तु स्वरूप से दूसरा दूसरा होने के कारण वह अपनत्व की परिधि में नित्य नहीं रह सकता एवं जब जब उसका द्वितीयत्व व्यक्त होगा तब तब अपनत्व से अलग होकर वह प्रेम का विषय नहीं रह जायेगा। आत्मा अर्थात् अपनत्व जहां नित्य रहता है वहां ही प्रेम नित्य हो सकता है। इस प्रकार के विचार से यह सिद्ध हो जाता है कि प्रेम का मूल द्वैत नहीं अद्वैत है। द्वैत निवृत्ति जहां और जब तक है, वहां और तब तक प्रेम रहता है।

२. अनिलाख्यम् इति वा पाठः। तस्मिन् पक्षे नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि प्राणस्य प्राणम् इत्यादि श्रुतयोऽनुकूलाः।

३. नीड़ अर्थात् स्थान एवं आख्या अर्थात् नाम। यद्यपि उपासना के लिये वेदों में स्थान और नाम का निर्देश किया है परन्तु वे वास्तविक नहीं हैं यह भाव है। किसी भी शब्द का लक्ष्य ब्रह्म हो सकता है वाच्य नहीं। नीड़ में जो पक्षी के घर की ध्वनि है उसका पूर्व में आये हुए हंस और सुपर्ण का संकेत से सम्बन्ध है। अथवा नीड़ अर्थात् शरीर एवं अनीड़ अर्थात् अशरीर। वेदों में ब्रह्म को अशरीर नाम से कहा गया है अतः अनीड़ ही उसकी आख्या अर्थात् नाम है। नीड़ का अर्थ आलम्बन भी होता है। ब्रह्म निरालम्ब है यह भाव है। सूक्ष्म रूप से यह ध्वनित किया गया है कि जैसे ब्रह्म नीड़ रहित है वैसे ही नीड़ रहित श्री परमहंस बनने से ही उसका ज्ञान सम्भव है।

४. जो अनुभव का विषय होता है उसको भाव पदार्थ कहा जाता है, जैसे घड़ा, मकान, स्त्री, आदि। जो इस प्रकार के अनुभव का विषय नहीं होता उसे अभाव कहते हैं, जैसे काम द्वेष आदि। इन दोनों को परमात्मा ही बनाता है। तात्पर्य है कि प्रमाता रूप से घट का एवं साक्षी रूप से रागादि का निर्माण करता है। अथवा भाव अर्थात् प्रतीयमान जगत् जो अविद्या का कार्य है। अविद्या के नाश से भाव का अभाव करने वाला होने से भी उसे भावाभावकर कहा गया है। अथवा भाव अर्थात् प्रेम एवं अभाव अर्थात् अविद्या का अभाव। प्रेम और ज्ञान दोनों को वही करने वाला है यह भाव है। अथवा जगत् का भाव अर्थात् सृष्टि और अभाव अर्थात् संहार इन दोनों को वही करता है। यदि भाव से प्रेम और अभाव से प्रेम का अभाव लिया जाय तो प्रेम से मोक्ष और अप्रेम से बन्धन करने वाला भी वही है यह भाव हो जायेगा।

५. कला अर्थात् प्राण, श्रद्धा, पञ्च महाभूत, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक, नाम ये सोलह (षोडश कलायें) जिसमें हों उसे पुरुष कहा जाता है। इनको बनाने वाला ईश्वर ही है। अथवा कला शक्ति को कहते हैं। अपनी कला अर्थात् शक्ति के द्वारा समग्र ब्रह्माण्ड की सृष्टि करने से उसे कलासर्गकर कहा गया है।

इसीलिये शक्ति को काम कला कहा गया है। अथवा समग्र कलाओं का अर्थात् नाटच, संगीत, चित्र, काव्य, दर्शन, स्थापत्य आदि का सर्व प्रथम प्रवर्तक होने से परमेश्वर ही उनकी सृष्टि करने वाले कहे गये हैं। अथवा कला = क् + अ + ल् + अ + अ। क् अर्थात् सुख, अ अर्थात् चेतन, अतः क का अर्थ हुआ सुख उपलक्षित चेतन अर्थात् जीव। ओं कं ब्रह्म इत्यादि श्रुतियों से यह स्पष्ट है। ल् अर्थात् पृथ्वी। अतः ल से तात्पर्य है पृथ्वी उपलक्षित चेतन यानी ईश्वर। पृथ्वी यहां सर्व महाभूतों को एवं उसके द्वारा सारे जगत् को निर्दिष्ट करती है। इस प्रकार जीव और ईश्वर का प्रतिपादन करके ये दोनों ही अ अर्थात् शुद्ध चेतन्य हैं, इस तत्त्व का प्रतिपादन किया। वेद इसी तत्त्व का प्रतिपादन करने से कला कहे जा सकते हैं। वेद एवं वेद जन्य ब्रह्म ज्ञान को ईश्वर ही सृजन करते हैं अतः उन्हें कलासर्गकर कहा गया।

६. **लिङ्गम् इति** वा पाठः।

७. श्रवण के द्वारा अपरोक्ष कर लिया।

८. तनु का अर्थ शरीर भी होता है। वह भी आत्मा को शरीर परिच्छिन्न करता है इसीलिये कहा जाता है। देह मन आदि के द्वारा ब्रह्म को परिच्छिन्न भाव की प्राप्ति होती है। आत्म-ज्ञान से यह भाव निवृत्त हो जाता है और पुनः अनन्तता की प्राप्ति हो जाती है। यदि तनु का अर्थ शरीर ही लेना इष्ट हो तो इस तनु को छोड़ने के बाद फिर तनु नहीं लेता यह भाव समझना होगा क्यों कि शरीर तो ज्ञानी अज्ञानी सभी का छूटता है। कुछ वेदान्त रहस्य के अनभिज्ञ लोग ज्ञान के अनन्तर देह पात इस मन्त्र के बल से मान लेते हैं। परन्तु ज्ञान अज्ञान के कार्य को बाधता है नष्ट नहीं करता। अतः अभेद दर्शन से प्राकृत देह का बाध हो सकता है नाश नहीं। किञ्च ऐसा मानने से ज्ञान-सम्प्रदाय परम्परा ही लुप्त हो जायेगी एवं ज्ञान असम्भव हो जायेगा। विवेकी तो ऐसा मानते हैं कि **तनोति विस्तार-**

यति धातु से निष्पन्न तनु का अर्थ प्रवृत्ति है। एवं ज्ञान से संसार आस्था निवृत्त हो जाने के कारण, प्रवृत्ति का निरोध होकर सर्व **कर्म** निवृत्ति रूप विद्वत् संन्यास की प्राप्ति हो जाती है। अनीड़ के द्वारा विविदिषा संन्यास को बताया था जो ज्ञान के पूर्व आवश्यक है एवं **तनु जहुः** के द्वारा ज्ञानोत्तर विद्वत् संन्यास का प्रतिपादन किया। इसके बाद और कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता। यहीं सारे उपदेश एवं प्रतिपाद्य विषय समाप्त हो जाते हैं। इसके आगे शास्त्र की गति नहीं है।

इति पञ्चमोऽध्यायः।

—०—

षष्ठोऽध्यायः

प्रथम पांच अध्यायों में समग्र वेदांत के सार का प्रतिपादन करने के बाद अब शास्त्र परिसमाप्त करने के समय उपसंहार रूप से सभी पूर्वोक्त बातों का संग्रह करते हुए साधनपक्ष पर अधिक बल देकर स्वानुभूति से उसको बतलाना ही अंतिम अध्याय का उद्देश्य है।

सर्व प्रथम प्रथम अध्याय के प्रारम्भ में किये हुए कारण विचार का ही पुनः संक्षेप में संकेत करते हैं :-

१

स्वभावम् एके कवयः वदन्ति कालम् तथा अन्ये परिमुह्यमानाः। देवस्य एषः महिमा तु लोके येन इदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम् ॥

एके=कुछ	तु[४]=(दोनों पक्षों को निराकृत करके) तो
कवयः[१] = विद्वान्	लोके=ब्रह्माण्ड में
स्वभावम्=स्वभाव को[२]	देवस्य=महादेव की
वदन्ति = (जगतका कारण) बताते हैं,	एषः = यह
तथा = और	महिमा=महिमा[५] (है)
अन्ये=दूसरे विद्वान्	येन=जिसके द्वारा
परिमुह्यमानाः = अत्यंत मोह में पड़े हुए	इदं=यह
कालं = काल को (बताते हैं)[३] ।	ब्रह्मचक्रम्=ब्रह्मचक्र
	भ्राम्यते=घुमाया जाता है।[६]

१. कु शब्दे वक्तारः इति यावत्।

२. यहां स्वभाव के पहले प्रथम अध्याय में जितने भी पक्ष आये हैं, उन सबका ग्रहण कर लेना चाहिये। इतना भेद है कि प्रथम अध्याय में ऋषि लोग इस तत्त्व को न जानने पर इन पक्षों पर विचार

कर रहे थे। परन्तु अब तात्पर्य है कि उपदेश देने पर भी अनेक लोग आग्रहवशात् अपने पक्ष को नहीं छोड़ते। वस्तुतः इस प्रकार की आग्रहता भी परमेश्वर की माया के कारण ही होती है। यद्यपि स्वभाव शब्द का प्रयोग आचार्य गौड़पाद ने भी किया है और कभी-कभी ऐसा लगता है कि सम्भवतः यह मंत्र कारिकाओं के विरुद्ध हो, परन्तु वस्तुतः स्वभाव शब्द का अर्थ दोनों जगह अलग-अलग है। ब्रह्म का स्वभाव जगत् रूप से प्रतीत होना, यह आचार्य गौड़पादों का सिद्धान्त है, एवं जगत् के पदार्थों का स्वभाव सिद्ध होना, यह निराकृत किया गया है।

३. यद्यपि प्रथम अध्याय में सर्व प्रथम काल को गिना था परन्तु यहां काल का वर्णन अनेक जगह वेदों में भी संवादात्मक प्रजापति के लिये किया गया है तथा उसे जगत् का कारण भी बताया है। अतः काल पक्ष में वैदिकत्व सम्भव होने के कारण उसे अलग से गिनाया है। अपने पक्ष स्थापन के अभिनिवेश के कारण कर्कशवाद के द्वारा जिनका चित्त काला हो गया है वे या तो सम्यक् पक्ष को समझ नहीं पाते अथवा एक दूसरे के पक्ष का बाध कर देने के कारण उनके सच्चे पक्ष में पक्षाभास प्रतीत होने लगता है। यही उनके मोह में पड़ने का बीज है। वस्तुतः काल परमात्मा का ही एक रूप है। अतः थोड़ा भी विचार करने पर कालवादी परमात्मवाद में पहुँच सकता है परन्तु **परितः** अर्थात् **समन्ततः** (भली प्रकार) मोह के अन्दर गये हुए होने से वे इतना सा साधारण भेद भी नहीं समझ पाते।

४. **नारायणस्तु नु इति पठति। नु वितर्के ग्राह्यं।**

५. अविद्या की ही यह महिमा है, परन्तु अविद्या उस स्वयं प्रकाश देव के द्वारा ही प्रकाशित होती है। अतः मैं अज्ञ हूँ, इस प्रकार प्रत्यक्ष भान होता है। विविध प्रत्ययों के द्वारा जो कुछ जाना जाता है, वह

सब अविद्या से ही प्रदर्शित है। जिस प्रकार आकाश मण्डल में वायु मेघमण्डल को घुमाती है इसी प्रकार अविद्या जीव को घुमाती है। वस्तुतः यह परमेश्वर की महिमा उसकी सामर्थ्य है। जहां कार्य प्रतीत हो वहीं कारण को मानना चाहिये। चूंकि आत्मा में ही जगत् कार्य की प्रतीति होती है इसलिये उसका कारण भी वहीं मानना पड़ेगा। जगत् के पदार्थों की प्रतीति सिवाय आत्मा के और कहीं नहीं होती। इसलिये दूसरा कारण मानना व्यर्थ है। लगता है कि काल आदि के द्वारा यह चक्र चल रहा है परन्तु काल इत्यादि सब उस परमात्म देव की महिमा रूप से ही स्थित हैं। उससे अलग होकर उनकी कोई भी स्थिति सिद्ध नहीं होती।

६. जीव समूह अथवा वादियों का समूह ब्रह्म चक्र का तात्पर्य हो सकता है। अथवा अनंत योनियां ही यह चक्र है। वस्तुतस्तु जिस प्रकार रेहट में डोल लगे होते हैं और रेहट के घूमने से वे डोल घूमते हैं, उसी प्रकार यह जगत् चक्र घूमता है एवं इनके घूमने से काल, जीव, देव आदि सब घूमते हुए प्रतीत होते हैं। वादियों ने भ्रम से जिन कारणों को समझा है वे भी परमेश्वर की माया से ही कारण रूप प्रतीत होते हैं। सिद्धान्त है कि ब्रह्म अपनी अविद्या से विवृत भाव को प्राप्त होकर संसार चक्र रूप प्रतीत होता है। अतः परमार्थ दृष्टि से अनेक मत आत्मा के अज्ञान से ही विकल्पित होते हैं, यह भाव है।

२

येन आवृतम् नित्यम् इदम् हि सर्वम् ज्ञः कालकाल[1]: गुणी सर्ववित्[2] यः। तेन ईशितम् कर्म विवर्तते ह पृथ्व्याप्य[3]तेजोनिलखानि चिन्त्यम्॥

यः = जो[4]
सर्ववित् = सर्ववेत्ता,[5]
गुणी=गुण वाला,[6]
कालकालः = काल का भी काल,[7]
ज्ञः=ज्ञानस्वरूप है, (तथा)[8]
येन = जिसके द्वारा
इदं=यह[9] (प्रत्यक्ष जगत्)
सर्वम्=सारा ही
नित्यम्=हमेशा (नियम से)
आवृतम्=व्याप्त किया हुआ है[10],
हि = एवं
तेन = उसके ही द्वारा
ईशितम्=नियन्त्रित किया हुआ है[11],
पृथ्व्याप्य-तेजोनिल-खानि = पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश रूपी
कर्म=कर्म
विवर्तते = प्रकट होते हैं[12]
ह = इस प्रकार
चिन्त्यम् = ध्यान करना चाहिये।[13]

१. **पाठभेदस्तु कालकारः।**

२. **नारायणस्तु सर्ववायुरिति पठति।**

३. **पृथ्व्यप्तेजो वा पाठः।**

४. महादेव की महिमा रूप से जगत् को बताया गया। उसी महादेव का रूप अब इस मंत्र द्वारा बताया जा रहा है। भगवद्गीता में भी **भ्रामयन् सर्वभूतानि** के द्वारा ईश्वर को ही चक्र प्रवर्त्तक अर्थात् चाक्रिक माना है। यद्यपि यत् पद प्रसिद्ध अर्थ का संकेत करता है परन्तु यहां पर पूर्व मंत्र से ही प्रसिद्ध होने के कारण इसका प्रयोग है।

५. जो सबको जानता है, उसे सर्ववेत्ता कहा जाता है। सब समन्वयों को व्यक्ति प्राधान्य रूप से व्यक्तियों में अंतर्भूत करके सदा अपरोक्ष रूप से जानने वाले को ही सर्ववेत्ता कहा जाता है। अथवा अनंत आनन्द की अनुभूति की विद्या जिसमें है, उसे भी सर्ववित् कहते हैं। तात्पर्य है कि विद्या अर्थात् श्रुति में बताई हुई उपासनायें सुखों का कारण हैं। जिसमें ये सारी ही विद्यायें अर्थात् उपासनायें

विद्यमान रहती हैं, वह परमात्मा अनंत सुखानुभूति वाला होने से सर्ववेत्ता कहा जाता है।

कहीं-कहीं सर्ववायु ऐसा भी पाठ मिलता है, वहां सबका प्राण अर्थात् सूत्रात्मा है, यह भाव है। या सबका प्रिय, यह भाव भी हो सकता है।

∴ माया ही परमात्मा का गुण है। वेदांत में गुण और गुणी का तादात्म्य सम्बन्ध स्वीकार किया है। माया का ईश्वर से तादात्म्य है ही, अथवा जिस प्रकार गुण के द्वारा मनुष्य प्रसिद्ध या ज्ञात होता है उसी प्रकार माया के द्वारा ही ईश्वर की प्रसिद्धि अथवा ज्ञान होता है। मायालिंगक ही ईश्वरसत्ता सिद्ध है। वस्तुतस्तु अविद्या अर्थात् अध्यास से ब्रह्म में रहना ही उसका गुणी बनना है। अविद्या-काम-कर्म का बीज ज्ञान, इच्छा, क्रिया है ही। अतः ज्ञान, इच्छा, क्रिया के द्वारा उसका प्रकटीभवन ही गुणरूपता की प्राप्ति है। उपनिषदों में सांख्य की त्रिगुणात्मिका प्रकृति का तो स्पर्श भी नहीं अतः इस प्रकार के मंत्रों से सांख्यवादियों का परिकल्पन तो सर्वथा असंगत है। उपनिषदों में बताये हुए अपहतपाप्मा आदि गुण भी यहां इष्ट हैं।

७. सब चीजों को नष्ट करने वाला काल है। उसको भी महाकाल बायें पैर की ठोकर मात्र से खतम कर देता है। अतः उन्हें कालकाल कहा जाता है। तात्पर्य है कि वह काल का नियंत्रण करने वाला है। काल स्वयं जड़ होने के कारण अपना नियमन स्वयं नहीं कर सकता। अंतः उसके प्रेरक रूप से चेतन महाकाल को स्वीकार करना ही पड़ता है **कालः सृजति भूतानि, कालः संहरति प्रजाः। सर्वे हि कालवशगा न कालः कस्यचिद्वशः॥** इत्यादि के द्वारा जो काल को सबका अधिपति माना है वह काल रूपी उपाधि वाले महादेव को लेकर के ही सम्भव है।

किसी-किसी पुस्तक में कालकारः ऐसा पाठ भी मिलता है। वहां काल को भी बनाने वाला, यह भाव है।

८. परमात्मा की अचेतनता की निवृत्ति के लिये उसे बोध स्वरूप कहा गया है। अथवा जानाति अर्थात् जानता है, इस अर्थ में ज्ञः समझ लेना चाहिये। **इक् उपधा ज्ञा प्रीकिरः कः** से इसकी सिद्धि है अर्थात् वह सब कुछ जानता है। अतः उसे ज्ञः कह दिया गया। सर्ववित् से इसका भेद यह है कि यह सामान्य में व्यक्तियों का अन्तर्भाव करके सामान्य प्रधानता से सबको हमेशा जानता है। मैं ही सब हूं, यह ज्ञः है।

९. समग्र परिदृश्यमान जगत को इदं शब्द से कहा जाता है। यद्यपि यह विविध ज्ञानों का विषय बनता है परन्तु इसकी इदंता कभी निवृत्त नहीं होती। इसका कारण यह है कि जब तक इदं का अहं से तादात्म्य नहीं हो जाता तब तक दृश्य और द्रष्टा भाव चलता रहता है। वस्तुतस्तु येन पद से माया के द्वारा ऐक्याध्यास से उपगत सत्, चित् रूप परमात्मा का ही ग्रहण है। उसके द्वारा ही यह आकाश आदि समग्र दृश्य जगत् स्फुरित होता रहता है क्योंकि उसके द्वारा ही व्याप्त है। परमात्मा से भिन्न होकर न इदं की कहीं कोई सत्ता है और न स्फुरत्ता।

१०. आ अर्थात् चारों तरफ से एवं वृतम् अर्थात् व्याप्त करके। अतः जैसे आकाश सबको व्याप्त करके रहता है, ऐसे ही परमात्मा भी सब में व्याप्त है। वस्तुतस्तु व्याप्ति का यह अर्थ है कि ईश्वर के साथ एकता के अध्यास से उपगत होना ही आवृत होना है। यहां रहस्य यह है कि सत्, चित् रूप परमात्मा माया से एक हुआ हमको प्रतीत होता है; दोनों को अलग-अलग करके समझना असम्भव है। वस्तुवस्तु माया ईश्वर की बाह्य शक्ति है और इच्छा शक्ति उसकी अंतरंग पृथच अभिन्न हैं। इच्छा शक्ति का बहिर्विकास हमें माया का भान

कराता है। जिस प्रकार बाजीगर की अभिन्न शक्ति के द्वारा हमें उसका खेल दिखाई देता है, उन खेलों की अन्यथा अनुपपत्ति से हमें माया शक्ति माननी पड़ती है। अतः इच्छा का बहिरुन्मेष हमारे में एक भ्रान्ति ला देता हैं जिसका नाम माया है। इस माया से एक हुआ हुआ ईश्वर सारे जगत् का कारण बन जाता है, जबकि सत्यता यह है कि न वह कारण हैं और न वह कार्य है। वह तो नित्य एक रस ही है। इस ईश्वर के साथ फिर एकता को प्राप्त हुआ हुआ जगत् ऐसा बन जाता है कि हमें जगत् ही प्रतीत होता है, परन्तु जिस ईश्वर के साथ एक हुआ हुआ वह प्रतीत होता है वह ईश्वर प्रतीत नहीं हो पाता। इसी को यहाँ आवरण कहा गया है। वैसे **वृञ्वरणे** धातु का **अर्थ** चुनना है। हम लोग जगत् को चुन लेते हैं और इसीलिये परमात्मा आवृत हो जाता है। परन्तु वस्तुतः जगत् के कण-कण और क्षण-क्षण में सिवाय परमात्मा के और कुछ भी नहीं है। जड़ चेतन सब कुछ उसी का रूप है। कारण रूप परमेश्वर के द्वारा यह सब कुछ नित्य है, अर्थात् सदा ही महाप्रलय में तो एक होकर के रहता है एवं स्थिति अवस्था में तादात्म्य भाव से रहता है। विचारशील तो इस प्रकार देखता है कि जिस प्रकार स्वर्ण देखते समय आभरण की प्रतीति नहीं एवं आभरण देखते समय स्वर्ण की प्रतीति नहीं रह पाती, अतः कहा जा सकता है कि स्वर्ण दृष्टिकाल में आभरण का प्रलय है एवं आभरण प्रतीतिकाल में स्वर्ण तादात्म्य सम्बन्ध से स्थित है; उसी प्रकार ब्रह्मदृष्टि करते समय जगत् का महाप्रलय है, एवं जगत् अनुभव काल में ब्रह्म तादात्म्य सम्बन्ध से विद्यमान है। अतः नित्य ही दोनों अवस्थायें अखण्ड रूप से मौजूद हैं। किसी-किसी को शंका हो सकती है कि ब्रह्म प्रतीति काल तक, सम्भवतः किसी दूर भविष्य में, ब्रह्माकार वृत्ति बनानी होगी परन्तु यह ठीक नहीं है। हर ज्ञान के अंत में जब ज्ञान साक्षीरूप महेश्वर में लीन होता है तब एक

क्षण के लिये स्वभावतः ब्रह्म स्वरूपसिद्ध है। यदि यह ब्रह्म स्वरूप सिद्ध न हो तो कर्मेन्द्रिय आदि की प्रवृत्ति असम्भव हो जाती है। जिस प्रकार प्रतिक्षण जब विद्युत यंत्र चलता है तब उसके ऋणाणुओं का पुनरागमन विद्युताकार में हो जाता है एवं तत्काल ही घनाणुओं का आगम हो जाता है। यदि ऋणाणुओं के पुनरागमन एवं घनाणुओं के आगमन में क्षणमात्र भी विलम्ब होगा तो यंत्र बन्द हो जायेगा। इसी प्रकार हमारे विषयज्ञान रूपी ऋणाणु महेश्वर में लीन होते हैं और महेश्वर से शुद्ध ज्ञानरूपी घनाणुओं का आगमन होता है। इस आगम निर्गम भाव का ही नाम जीवन है। यही ईश्वर के प्रारब्ध फल भोग देने में प्रतिक्षण स्वातंत्र्य का स्वरूप है। यद्यपि सामान्य दृष्टि से कह दिया जाता है कि जन्म के साथ ही प्रारब्ध निश्चित है लेकिन अनुभवी ब्रह्मविद्वरिष्ठों की प्रतीति है कि प्रतिक्षण मानो ईश्वर नव संकल्प के द्वारा तत्तद् कर्मों के फल का उदय करता है। स्मृतियों में भी जो यह कहा गया है कि अति उग्र पुण्य या पाप तीन दिन में भी फल दे सकते हैं, उसका भी यही रहस्य है। श्रुति के अनुसार तो तीन क्षण के विलम्ब की अपेक्षा रहती है। जिस क्षण कर्म किया वह प्रथम क्षण है, कर्म की समाप्ति में महेश्वर के संकल्प का क्षण दूसरा क्षण है और सत्य संकल्प का तुरंत अनुभूति रूप में परिणत हो जाना तृतीय क्षण है। आचार्य गौड़ ब्रह्मानन्द स्वामी लघुचन्द्रिका में इसीलिये कहते हैं कि जिस परमेश्वर ने क्षणमात्र में द्रौपदी की रक्षा की थी, वही हमारे ईश्वर की सर्व व्यापकता में एकमात्र प्रमाण है।

अथवा यहाँ आवरण शक्ति कही गई है। आवरण शक्ति को नित्य इसलिये कहा गया कि सुषुप्ति में विक्षेप शक्ति का लय होने पर भी आवरण बना रहता है। इसी प्रकार महाप्रलय में भी विक्षेप शक्ति का अभाव होने पर भी आवरण शक्ति बनी रहती है। माया की आवरण और विक्षेप दोनों शक्तियों का प्रतिपादन इस श्लोक में **आवृतम्** और **विवर्तते** के द्वारा किया गया है।

११. प्रेरणात्मक ही ईश्वर का नियंत्रण छांदोग्य उपनिषद् में बताया गया है, अर्थात् जिसको ऊपर ले जाना होता है उसके हृदय में सत्कर्म की प्रेरणा का उदय करता है, एवं जिसे नीचे ले जाना होता है, उसमें असत् कर्म की प्रेरणा को उत्पन्न करता है। सैद्धान्तिक दृष्टि से इस प्रेरणा का कारण जोव के अपने ही शुभाशुभ कर्म फलों का उदय होना है। अथवा उस ईश्वर रूप के अधिष्ठाता अर्थात् ईश्वर के अधिष्ठान रूप से मौजूद होने के कारण ही सारी प्रवृत्तियां होती हैं। इस दृष्टि से भी उसे प्रेरक कहा जा सकता है। तात्पर्य यह है कि यदि वह न हो तो न चोर को चोरी करने के लिये सत्ता ज्ञान की उपलब्धि हो, और न ज्ञानी को ज्ञान के लिये सत्ता ज्ञान की उपलब्धि। अतः वह सबका अधिष्ठाता रूप से ईशन करता है। अथवा जीवों के कर्मों के फलस्वरूप प्रपंचाकार में अपनी माया के कारण बनना ही उसका ईशन है। जीव के कर्मों के फल प्रदान करने के लिये वह पदार्थाकार में बनता है। अतः वह जीव के अनुभव का नियामक माना जाता है।

अन्वय को बदलने पर तो ऐसा भी अर्थ हो सकता है कि इस प्रकार उस परमात्मा के द्वारा नियमित ही कर्म अर्थात् जो किया जाये वह कार्य समूह प्रतीत होता है। **तेन महेश्वरेण, ईशितम् नियमितम्, कर्म क्रियते इति कर्म कार्यजातम् विवर्तते** ऐसा अन्वय समझना। यहां **जो किया जाये** का तात्पर्य वैसा समझना जैसे माला सर्प बनती है।

१२. ईश्वर से प्रेरित होकर ही मनुष्यों के किये हुए धर्म अधर्म जगत् रूप से प्रकट होते हैं, यह भाव है। जीव के द्वारा क्रिया रूप से निष्पन्न धर्म अधर्म को भी कर्म कहा जाता है। एवं धर्म अधर्म के फलस्वरूप जब जीव पदार्थनिष्ठ सुख दुःख आदि रूप को ग्रहण करता है तब भी उसे कर्म ही कहा जाता है। हर हालत में क्रिया करते

समय पुरुष कर्त्ता नहीं बनता और फल भोगते समय भोक्ता नहीं बनता। इसलिये यहां स्पष्ट रूप से विवर्तवाद का प्रतिपादन किया गया है। पूर्व रूप को बिना छोड़े अन्य रूप को प्राप्त कर जाना विवर्त कहा जाता है, एवं पूर्व रूप को छोड़ देने पर परिणाम कहा जाता है। अथवा शास्त्रीय दृष्टि से कह सकते हैं कि अतात्त्विक अन्यथाभाव विवर्त है तथा तात्त्विक अन्यथाभाव परिणाम हैं। यद्यपि सामान्य दृष्टि वाले लोगों को समझाने के लिये वेद प्रायः परिणामवाद का ही प्रतिपादन करता है, लेकिन यहां श्रुति स्पष्ट करती है कि उनका तात्पर्य विवर्तवाद में ही है। वस्तुतः विवर्त्तवाद को आचार्य सर्वज्ञात्म महामुनि ने परिणामवाद की चरम परिणति ही मानी है। यह वह सीढ़ी है जिसके द्वारा आरंभवाद से छूटकर विवर्तवाद की तरफ जा सकते हैं। वस्तुतः परमात्मा पंचमहाभूत बनता नहीं, वरन् पंच महाभूत की तरह प्रतीत होता है, यह श्वेताश्वतर महर्षि का तात्पर्य है। सारे ही प्रपंच विवर्तरूप हैं एवं साक्षात् ब्रह्म का ही विवर्त हैं। माया इत्यादि को माध्यमिक कारणता तो स्थूल बुद्धि वालों को समझाने के लिये है। परमेश्वर ही सर्व व्यापक होने से एकमात्र ज्ञाता और सर्वकर्त्ता है। विज्ञान भिक्षु तो प्रच्छन्नसांख्यवाद का आश्रयण करके तत्त्व विपरीत मिथ्या ज्ञान परिणाम विवर्त है ऐसा कहते हैं। परिणाम को विवर्त कहना उन जैसे पण्डितों से ही बन सकता है। मिथ्या ज्ञान का परिणाम कहकर यद्यपि वह प्रकृति को मिथ्या ज्ञानरूप प्रतिपादित करते हैं परन्तु वास्तविक परिणामता सत्य पदार्थ की ही हुआ करती है, मिथ्या ज्ञान की नहीं। इसके द्वारा जो भी माया को परिणामी कारण और ब्रह्म को विवर्त कारण मानते हैं एवं इस प्रकार केवलाद्वैतवाद में भी अभिनिवेश पूर्वक द्वैत को घुसाना चाहते हैं, उन सबका निराकरण समझ लेना चाहिये। सूत्रकार, भाष्यकार के सिद्धान्त में अभिन्न निमित्तोपादान कारण केवल ब्रह्म

ही है। चूंकि शुरू में साधक को **जगत् की प्रतीति क्यों ?** ऐसा कार्य कारण भाव अभिनिविष्ट होता है, अतः कह दिया जाता है कि जगत् की प्रतीति माया से है। माया अर्थात् भ्रम से, तात्पर्य है कि जगत् की प्रतीति है ही नहीं। अतः माया का परिणाम जगत् नहीं वरन् जगत् प्रतीति को सामान्य साधक को समझाने के लिये 'नहीं है' के लिये कहा हुआ कारण विशेष है। इसको भली प्रकार न समझने के कारण द्वैत बुद्धि से आक्रान्त अंतःकरण माया की कल्पना कर लेता है। वेदांत सिद्धान्त में अज्ञात आत्मा से अतिरिक्त और कोई माया नहीं है।

१३. ध्यान का अर्थ यहां विचार है अर्थात् ये चीजें चिंतन करने के योग्य हैं। अथवा चिन्त्यम् माने दृश्यम्, अर्थात् इस प्रकार से दृष्टि बनाकर इसे ज्ञान रूप में परिणत कर लेना चाहिये। अथवा विवर्तवाद के आश्रयण से लय प्रक्रिया से प्रत्येक अनुभव को ब्रह्म में लीन करना रूपी चिंतन करना चाहिये। अथवा सीधे ही सत्ता स्फुरत्ता रूप से प्रत्येक विषय को ब्रह्म में लय करना चाहिये। किंच लोक में कारण रूप से प्रसिद्ध एवं वादियों में प्रसिद्ध काल, स्वभाव, भाग्य इत्यादि कारण केवल महेश्वर के ही विवर्तरूप से नामान्तर हैं, स्वतंत्र रूप से नहीं। इस प्रकार परीक्षण करते हुए एक महेश्वर में ही चित्त को स्थित करना चाहिये। भाव यह है कि सर्वज्ञ कर्मों का अधिष्ठाता परमेश्वर रहो, उससे हमें क्या ? इस संदेह का निराकरण करने के लिये कहा गया कि वह चिंतन के योग्य है अर्थात् उसके चिंतन से सकल क्लेशों की निवृत्ति हो जाती है। क्लेश मिथ्या ज्ञान निमित्तक हैं। चिंतन करने से जैसे ही महेश्वर की अभिन्न निमित्तोपादान कारणता प्रतीत होकर बाकी सभी कारणों की निवृत्ति हो जाती है, वैसे ही परमानंद की प्राप्ति हो जाती है। प्रथम अध्याय के द्वितीय मंत्र में अन्य कारणों को चिन्त्य कहा था, अब महेश्वर को चिन्त्य कहते है।

वहां तात्पर्य था कि ये कारण नहीं हैं, ऐसा विचार करना चाहिये अर्थात् अभावात्मक चिंतन था, और यहां परमेश्वर कारण है, इस प्रकार से भावात्मक चिंतन इष्ट है। अन्य कारणों की निवृत्ति पूर्वक ब्रह्म कारणता के द्वारा स्वरूप स्थिति होती है, यह रहस्य है।

३

तत् कर्म कृत्वा विनिवृत्य[1] भूयः तत्त्वस्य तत्त्वेन समेत्य योगम्। एकेन द्वाभ्यां त्रिभिः अष्टभिः वा कालेन च एव आत्मगुणैः च सूक्ष्मैः ॥

तत्=उस[2]
कर्म=कर्म को[3]
कृत्वा=करके,[4]
भूयः=फिर[5]
विनिवृत्य=निवृत्त होकर[6]
तत्त्वस्य=अंतःकरण से उपलक्षित चेतन का[7]
तत्त्वेन=अविद्या से उपलक्षित चेतन के साथ[8]
योगम्=एकता को[9]
समेत्य=भली प्रकार अवगत करके[10],
च=तथा[11]
एकेन=एक से,[12]
द्वाभ्यां=दो से,[13]
त्रिभिः=तीन से,[14]
वा=या
अष्टभिः=आठ से[15]
च=एवं
कालेन=काल के साथ,[16]
सूक्ष्मैः=सूक्ष्म[17]
आत्मगुणैः=आत्मगुणों के साथ[18]
एव=ही (मुक्त होता है)।

१. **पाठभेदस्तु विनिवर्त्य।**

२. इस मंत्र में सम्यक् ज्ञान साधन की परम्परा तथा प्रकार का प्रतिरूपण किया गया है।

ईश्वर दृष्टि से देखा जाये तो तत्कर्म का मतलब हो जायेगा ईश्वर के द्वारा किया हुआ पृथ्वी आदि सृष्टि क्रम, एवं सृष्टि को करके वह प्रत्यवेक्षण रूपी विनिवर्तन करते हैं, तथा अपने प्रतिबिम्ब रूप आत्मा का पंचमहाभूतों से योग करते हैं फिर शिव रूप से, शिव शक्ति रूप से, त्रिदेव रूप से एवं पुर्यष्टक रूप से, काल रूप से तथा अंतःकरण के कामना आदि सूक्ष्म गुण रूप से विवृत करते हैं। तात्पर्य है कि संक्षेप में यहां सृष्टि विस्तार का प्रतिपादन है जिसको पूर्व मंत्र में विवर्तते शब्द से कहा गया। इस अर्थ में समेत्य का अर्थ संगमय्य णि लोप करके समझ लेना चाहिये। पुर्यष्टक की जगह गीतोक्त अष्ट अपरा प्रकृति भी कुछ कवियों ने ग्रहण की है। इस दृष्टि से तत् का अर्थ ऐश्वर रूप लेना पड़ेगा।

साधक की दृष्टि से इसी मंत्र का अर्थ लेने से तत् अर्थात् उस ईश्वर के रूप को किस प्रकार हृदयंगम किया जाये, इसका वर्णन हैं। तत् की प्राप्ति मन की अस्थिरता से कैसे हो सकती हैं। अतः साधना का उपदेश किया गया। अथवा तत् अर्थात् मनुष्य शरीर साध्य भी इसका तात्पर्य हो सकता है। या तत् कर्म को एक पद मानकर चतुर्थी समास करके तत् अर्थात् ईश्वर के लिये जो कर्म किया जाता है, वह तत्कर्म है, ऐसा भी अर्थ किया जा सकता है। उस दृष्टि से कर्मी जो कुछ भी कर्म करता है, वह सब ईश्वरार्पण बुद्धि से करे, यह भाव है, एवं उसके द्वारा अनुष्ठित कर्मपूर्णता से निर्मलान्तःकरण को प्राप्त करे। मन की अस्थिरता में ईश्वर का चिंतन कैसे हो सकता है? इसका जवाब हो गया कि कर्म का अनुष्ठान ईश्वरार्पण बुद्धि से करने से हो सकता है। पूर्व मंत्र में जिसे **चिन्त्यम्** कहा था उसी का साधन बताने वाला इस प्रकार यह मंत्र हो गया। तात्पर्य है कि यदि पूर्व मंत्रोक्त ईश्वर की निवर्तक क्रिया का निरूपक यह मंत्र माना जाये तो पूर्वोक्त अर्थ होगा एवं यदि

चिन्त्यम् का विस्तार करने वाला माना जाये तो अपर अर्थ होगा। मंत्र सूत्रात्मक होने से ऐसे स्थलों पर अनेकार्थता दोषावह नहीं मानी जा सकती।

३ ज्योतिष्टोम आदि श्रौत कर्म अथवा धर्मशाला निर्माण इत्यादि स्मार्त कर्म दोनों का ही संग्रह है। अथवा मनुष्य शरीर मात्र से होने वाले जो कर्म अर्थात् जिन कर्मों को शास्त्रों में नरमात्राभिमानी के लिये बताया गया है, जैसे जप, तप, दान, विवेक, विचार, शम, दम, तितिक्षा, श्रद्धा, देवपूजन आदि। इनको परमेश्वर समाराधन की बुद्धि से करने पर अंतःकरण निर्मल हो जाता है अथवा जो कुछ भी किया जाता है वह सब कर्म है। अतः शरीर, वाणी और मन से जो भी अनुष्ठित हो उन सबको ईश्वर के अर्पण कर देवे। **यत्करोषि यदश्नासि** इत्यादि गीता इसमें प्रमाण है। आचार्य शंकर भी **सपर्यापर्यायस् तव भवतु यन्मे विलसितम्** अथवा **पूजा ते विषयोपभोगरचना** इत्यादि से यही कहते हैं।

४ शास्त्रोक्त विधि से भली प्रकार अनुष्ठान को ही यहां कहा जा रहा है निष्काम कर्म से जो आधुनिकों का दृष्टिकोण है कि जैसे तैसे कर्म को निपटा देना, वह श्रुति का तात्पर्य नहीं हैं। सच तो यह है कि सकाम कर्म की अपेक्षा भी निष्काम कर्म में सावधानी की अधिक आवश्यकता होती है। सकाम कर्म देवताओं को प्रसन्न करने के लिये है एवं निष्काम परमात्मा को प्रसन्न करने के लिये। आय निरीक्षक की अपेक्षा केन्द्रीय वित्त सचिव के लिये बलि जैसे और अधिक देनी पड़ती है, वैसे ही यहां समझना चाहिये। लौकिक कर्म भी यदि ईश्वरार्पण बुद्धि से करने हैं तो उनमें भी पूर्णता लानी होगी। परमेश्वर की दृष्टि **कितना किया** पर कम होती है, **कैसे किया** पर अधिक। इसीलिये योगाभ्यासी के कर्म के परिमाण को न देखकर कर्मोन्नति को देखना चाहिये।

५. पहले सकाम कर्म किये हैं और अब उन्हीं कर्मों को निष्काम बुद्धि से कर रहे हैं। इस दृष्टि से भूयः कर्म का विशेषण भी हो सकता है अथवा अत्यधिक कर्म के अर्थ में भी इसका प्रयोग हो सकता है। अथवा कर्म करने के बाद ही संन्यास बनता है, अतः आगे के साथ भी इसका सम्बन्ध है। **न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यम् पुरुषोश्नुते** इत्यादि गीता वाक्य इसमें प्रमाण है।

६. विशेष करके निवृत्ति करना ही विनिवृत्ति है। तात्पर्य है कि कर्म करते हुए बहिर्मुखता रहती है। बहिर्मुख व्यक्ति कैसे चिंतन अर्थात् श्रवण, मनन, निदिध्यासन कर सकेगा? अतः कहा कि जब कर्मानुष्ठान करके अंतःकरण की निर्मलता सिद्ध हो जाये, तब सम्पूर्ण रूप से निवृत्ति करे। विशेषेण इसलिये कहा कि सामान्य कर्मफल रूपी निवृत्ति तो पहले भी हैं, परन्तु अब केवल फल ही नहीं, ससाधन कर्म से भी निवृत्ति है। निवृत्ति की तरफ अभिमुखता का अर्थ विविदिषा संन्यास से है। इस अध्याय के अंत में वेदांत सुनने का अधिकारी स्पष्ट रूप से श्रौत परमहंस संन्यासी ही बताया जायेगा। परमहंस संन्यास ही एकमात्र वैदिक संन्यास है। इसके पुनः दो भेद हैं विविदिषु और विद्वत् ज्ञान प्राप्ति के लिये जो बाह्य समग्र कर्मों का विधिवशात् त्याग किया जाता है, उसे विविदिषु संन्यास कहते हैं, एवं ज्ञान के बाद जीवन्मुक्तावस्था में जो स्वभाव से कर्म त्याग हो जाता है, उसको विद्वत् संन्यास कहा जाता है। कुटीचक, बहूदक आदि संन्यास तो वस्तुतः स्मार्त संन्यास हैं, श्रौत नहीं। संन्यास के बिना बहिर्मुखता की निवृत्ति व्यवहार में सम्भव नहीं है। जिस ग्रन्थ में तो विनिवर्त्य पाठ मिलता है, वहां मनन आदि व्यापारों के द्वारा निष्पन्न करके अथवा विवेक के द्वारा आत्मा को अनात्मा से अलग करके ऐसा अर्थ कर देना चाहिये।

७. जीव अंतःकरण वाला है जिसे शास्त्रीय भाषा में अंतःकरणा-

वच्छिन्न चैतन्य कहते हैं। इस अंतःकरण को उपहित करके वही चैतन्य ब्रह्म से एक भाव को प्राप्त हुआ हुआ है। तात्पर्य है कि शरीर आदि तथा इन्द्रिय आदि संघात का जो साक्षी है, वह जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में एक जैसा ही बना रहता है। अतः यही तीनों अवस्थाओं का साक्षी है और तीनों अवस्थाओं का साक्षी होने के कारण ही उन अवस्थाओं से भिन्न है। यही तत्वमसि महावाक्य में त्वं पद का अर्थरूप है। इसी को प्रत्यगात्मा भी कहते हैं।

८. अंतःकरण अविद्या का कार्य है। **कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः** इत्यादि स्मृति के आधार पर अविद्या रूपी कारण ईश्वर की उपाधि है एवं अविद्या का कार्य अंतःकरण जीव की उपाधि। अविद्याविशिष्ट ईश्वर एवं उसी अविद्या को उपलक्षण मानने पर वह चैतन्य ब्रह्म कहा जाता है। तत्वमसि वाक्य में तत् पद का अर्थ रूप जो परमात्मा, वही यहां भी इष्ट है। तात्पर्य हुआ कि अविद्या एवं उसके कार्यों का परित्याग करने से जो सच्ची वस्तु बचती है, वह आनंदस्वरूप प्रत्यगात्मा ही दोनों को मिलाने का फल है। यद्यपि भक्तिवादी भी जीव को ईश्वर में मिलाना कहीं कहीं स्वीकार करते हैं लेकिन वहां अंश-अंशी-भाव हटता नहीं है। वेदांत सिद्धान्त की दृष्टि से जीव और ईश्वर दोनों की वास्तविकता केवल चिदानंद में है। अतः जैसे ही उपाधियों का परित्याग करके सच्ची चीज को देखा जाता है, वैसे ही **सोऽयं देवदत्तः** की तरह अखण्ड ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है। लक्ष्यार्थों की एकता है, वाच्यार्थों की नहीं।

९. यद्यपि योग शब्द का अर्थ जोड़ना होता है, अतः सामान्य दृष्टि से जीव और ईश्वर का एक होना, ऐसा समझा जाता है, परन्तु वास्तविक दृष्टि से विचार करने पर **वियोगम् योगसंज्ञितम्** के अनुसार जीव के जीवत्व भाव की निवृत्ति ही योग है। प्रतिबिम्ब भाव से हट जाना ही बिम्ब और प्रतिबिम्ब उभय उपाधियों की निर्मुक्ति के द्वारा

स्वरूपस्थिति हो जाना है। अथवा युजिर् समाधौ धातु से निष्पन्न हुआ योग शब्द उस निदिध्यासन अवस्था को बताता है जो श्रवण, मनन के द्वारा स्वभाववशात् प्राप्त होती है। तात्पर्य है कि श्रवण, मनन के द्वारा जिस आनंदरूपी प्रत्यगात्मा में स्थित हुए उसी के अन्दर तत् अहं, शिवोहं, सोहं, इत्यादि रूप से स्थित हो जाना योग है।

१०. एक लक्षण वाले पदार्थों की एकता को अपरोक्ष कर लेना ही भली प्रकार प्राप्त करना है। चूंकि प्रत्यगात्मा अपना स्वरूप है, अतः देशभेद, कालभेद, अवस्थाभेद और वस्तुभेद रूपी प्राप्ति यहां सम्भव नहीं। अतः भेद भ्रान्ति की निवृत्ति हो जाना ही उसका अपरोक्ष हो जाना है। खोई हुई गले में पड़ी सांकल की प्राप्ति की तरह यह प्राप्ति समझनी चाहिये।

११. कौन सा वह योग है जिससे इस एकता की प्राप्ति होती है, ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे उपाय बताते हैं। वस्तुतः अग्रिम श्लोक में आया हुआ कर्मक्षय यहां अध्याहृत कर लेना चाहिये। तात्पर्य है कि कर्म के क्षय हो जाने पर श्रवण, मनन, निदिध्यासन जिसके सिद्ध हो गये हैं, वह मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। परन्तु उस मोक्ष प्राप्ति का काल, एवं अधिकार की अपेक्षा का प्रतिपादन करने वाली यह अर्द्धाली है। किन साधनों से जीव और ईश्वर की एकता का ज्ञान उत्पन्न होता है, इसके प्रतिपादन का तात्पर्य **साधक मुमुक्षु ऐसा करे** इस विधि से है।

१२. जहां योग का अर्थ वियोग किया है वहां इसका अर्थ होगा **एक अविद्या से वियुक्त होकर** अथवा मुख्य साधन रूप से श्रवण के द्वारा योग अर्थात् एकता को प्राप्त करके। दोनों पक्षों का तात्त्विक अर्थ तो एक ही है क्योंकि श्रवण के द्वारा ही अविद्या निवृत्त होती है। एकेन का अर्थ एक जन्म में भी हो सकता है। तात्पर्य है कि जो उत्तम साधक होते हैं वे एक जन्म में ही मुक्त हो जाते हैं अथवा श्रवण मात्र से ही मुक्त हो जाते हैं।

इस अध्याय के अंत में गुरु भक्ति को भी साधनों में अन्यतम माना है। इस दृष्टि से अर्थ हो जायेगा कि कोई साधक केवल गुरु भक्ति के द्वारा ही इस तत्त्व को प्राप्त कर लेता है। इसमें साक्षात् भाष्यकार भगवान् शंकर के प्रिय शिष्य त्रोटकाचार्य का दृष्टांत प्रसिद्ध है। वस्तुतस्तु वेदांत सिद्धान्त में गुरु में ब्रह्मनिष्ठता पूर्ण होने के कारण वही ईश्वर का इहलोक में प्रकट रूप है। अतः गुरुभक्ति ही ईश्वर भक्ति का रूप है। **ईश्वरोपासनारूपः तत् उपायः एवं ईश्वरानुग्रहादेव** इत्यादि वाक्य इसमें प्रमाण हैं।

१३. धर्म एवं अधर्म दोनों से वियुक्त होकर। तात्पर्य है कि जब तक मनुष्य धर्म और अधर्म दोनों से अपने आपको अलग नहीं कर लेता तब तक परमात्म रूप में स्थित होता नहीं। कुछ साधक प्रति बंधक के कारण दो जन्मों में मुक्त हो जाते हैं, यह भी संकेत है। द्वैतवाद की दृष्टि से तो यहां गुरु भक्ति और ईश्वर भक्ति के द्वारा ऐसा भी अर्थ किया जा सकता है। जिन साधकों के चित्त विक्षिप्त नहीं होते, परन्तु असम्भावनाग्रस्त होते हैं, वे श्रवण एवं मनन इन दो साधनों के सहारे ज्ञान प्राप्त करते हैं, यह भी संकेत है। अथवा योगवाशिष्ठोक्त योग और ज्ञान विकल्प यहां इष्ट है।

१४. पृथ्वी, जल, तेज रूपी छांदोग्य में कहे हुए प्रत्येक पदार्थ के रूपों का चिंतन करना। अथवा श्रवण, मनन, निदिध्यासन इन तीन साधनों का अभ्यास करना यहां इष्ट हो सकता है। कुछ लोग मानते हैं कि तीन जन्म में मुक्त हो जाता है, यह भी यहां तात्पर्य हो सकता है।

१५. पंचमहाभूत, मन, बुद्धि और अहंकार, इन आठों से वियुक्त होना यहां इष्ट है। अथवा कोई साधक ब्रह्महत्या आदि पापों से ग्रस्त होने के कारण आठवें जन्म में मुक्त होता है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि रूप अष्ट साधनों का

अभ्यास करके अत्यंत विक्षिप्त चित्त वाला साधक एकता को प्राप्त करता है। वस्तुतस्तु विवेक, वैराग्य, शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान, श्रद्धा ये आठ साधन यहां कहे जा रहे हैं। वा का अर्थ समुच्चयात्मक समझ लेना चाहिये, अर्थात् इन आठ का अभ्यास करते हुए पूर्वोक्त तीन का अभ्यास करे एवं धर्म अधर्म के कर्त्ता और भोक्ता रूप का परित्याग करते हुए एक अविद्या से निवृत्त हो जाये। यही वास्तविक श्रौत तात्पर्य है। कालवाचक अर्थ **बहूनां जन्मनामन्ते** इत्यादि स्मृतियों के आधार पर है।

१६. न केवल उपर्युक्त चीजों से ही वियुक्त होना है वरन् सृष्टि, स्थिति संहार काल से भी वियुक्त होना है। तात्पर्य है कि सांख्य एवं योग का अभ्यास करने वाला प्रकृतिलीन अवस्था को प्राप्त करके एवं अहंग्रहोपासक ब्रह्मलोक में जाकर प्रलयपर्यन्त यद्यपि स्थिर रहता है, तथापि अगली सृष्टि में उसका पुनरागमन हो जाता है। अत: उस मुक्ति से यहां कोई प्रयोजन नहीं, वरन् सृष्टि, स्थिति, संहार काल में भी जो आवागम की निवृत्ति है, वही यहां इष्ट है। वस्तुतस्तु दीर्घकाल तक किये हुए उपयुक्त साधन ही सफल होते हैं। इस जन्म में या जन्मान्तर में ज्ञान के लिये किया हुआ साधन कलाप काल आने पर ही पकता है, एवं जब अधिकार सम्पत्ति पकती है तभी ज्ञानोत्पत्ति होती है। जिस प्रकार गर्भस्थ शिशु समग्र सामग्रियों के होने पर भी नौ महीने के काल में ही पकता है, अथवा सस्य ६० दिन में ही पकता है, उसी प्रकार ज्ञान का परिपाक भी काल से होता है।

१७. कारणावस्था को ही यहां सूक्ष्म कहा गया है। तात्पर्य है कि जगत् के उत्पन्न न होने पर कामना आदि आत्म गुण कहां रहेंगे? ऐसी शंका होने पर कहा गया कि प्रलयकाल में अथवा सुषुप्ति काल में भी वे सूक्ष्म रूप में रहते ही हैं। अथवा ब्रह्मरूपी सूक्ष्म वस्तु का प्रकाश करने में समर्थ होने के कारण धर्म, ज्ञान आदिकों को सूक्ष्म

कहा गया है। अथवा अनेक जन्मों में ज्ञान के लिये अनुष्ठित पुण्य संस्कार अंतःकरण में सूक्ष्म रूप से ही संस्कार बने हुए रहते हैं। ये संस्कार चालीस माने गये हैं। चूंकि ये अंतःकरण में सूक्ष्म रूप से स्थित रहते हैं, इसलिये उन्हें सूक्ष्म कह दिया गया।

१८. धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य इन्हें आत्मगुण माना गया है। अथवा आत्मा अर्थात् अंतःकरण के गुण अर्थात् कामना इत्यादि, इनसे वियुक्त होना। चूंकि कामना आदि कारणावस्था में है, अतः उन्हें सूक्ष्म भी कह दिया गया। सूक्ष्म कामना आदिकों से वियुक्त होने में तात्पर्य है। मूल श्लोक में आया हुआ **च** यहां काल, आत्मगुण, एक, दो, तीन, आठ इन सबके समुच्चय के लिये भी समझा जा सकता है। अथवा चकार का तात्पर्य एक से लेकर के आत्मगुण पर्यन्त सारे कारण आत्मा में अध्यस्त हैं, यह बताने के लिये है। अन्य पक्ष में आत्मगुण धर्मशास्त्र में कहे हुए दया, शान्ति, शौच, मांगल्य, अस्पृहा, अकार्पण्य, अनायास, अनसूया नाम के आठ गुण हैं। तात्पर्य है कि इन साधन कलापों के द्वारा आत्मा और ईश्वर की एकता को अपरोक्ष करने से मुक्ति होती है। योग की दृष्टि से अष्ट ऐश्वर्यों से निवृत्ति भी यहां संग्राह्य है। किंच ब्राह्मण, प्राजापत्य, ऐन्द्र, पैतृ, गांधर्व, याक्ष, राक्षस, पैशाच पुराणोक्त इन आठ देव सर्गों की निवृत्ति को यहां पुराणों की दृष्टि से लिया जा सकता है।

सांख्य दृष्टि से तो ११ इन्द्रियवध, आठ और तीन के द्वारा लिये गये हैं। मंदता, अंधता, बधिरता, अजिघ्रता, कुण्ठिता, जड़ता, मूकता, कौण्य, पंगुता, क्लैब्य एवं उदावर्त ये इन्द्रियजन्य अशक्तियां इन्द्रियवध कही जाती हैं। एवं बुद्धिवध अपने दो भेद तुष्टि विपर्यय तथा सिद्धि विपर्यय के रूप से एक और दो हो गये, अर्थात् बुद्धिवध एक और तुष्टि विपर्यय तथा सिद्धि विपर्यय दो। इस प्रकार सांख्य सम्मत तात्पर्य हो जाता है। प्रकरण वश यह जान लेना चाहिये कि नव

तुष्टि विपर्यय हैं अनंभ, असलिल, अनौघ, अवृष्टि, अपार, असुपार, अपारापार, असुमारीच, अनुत्तमाभय। एवं सिद्धि विपर्यय आठ हैं अतार, असुतार, अतारतार, अप्रमोद, अप्रमुदित, अप्रमोदमान, अरम्यक, असदामुदित। एकेन से तुष्टि का ग्रहण किया जा सकता है जिसके भेद हैं अंभ, सलिल, ओघ, वृष्टि, पार, सुपार, पारपार, अनुत्तमांभ, उत्तमांभ। इन सबका अर्थ संक्षेप में इस प्रकार है :—

ग्यारह इन्द्रियवध। **मंदता**–बुद्धि का सुख आदि विषय को ठीक प्रकार से ग्रहण न करना, अथवा मन का कुण्ठन होकर संकल्पशक्ति का क्षीण हो जाना मंदता है। **अंधता**—आंख का विषय ग्रहण करने में असामर्थ्य। **बधिरता**—श्रोत्र इन्द्रिय की शक्ति का नष्ट होना। **अजिघ्रता**—घ्राण इन्द्रिय की शक्ति में अपाटव होना। **कुण्ठिता**–स्पर्श शक्ति में कमी आ जाना अथवा भिन्न भिन्न स्पर्शों के भेद ग्रहण में कमी आना। **जड़ता**–रसनेन्द्रिय की शक्ति में न्यूनता अथवा अकुशलता आना जड़ता कही जाती है। **मूकता**–वाक् शक्ति का अभाव मूकता है। **कौण्य**–हाथ के द्वारा ग्रहण शक्ति में कमी आना। **पंगुता**–पैरों में चलने की अकुशलता। **क्लैब्य**–उपस्थ इन्द्रिय में रति की असामर्थ्य, अथवा मैथुन में अपाटवता क्लैब्य कहा जाता है। **उदावर्त**–मलमूत्र अथवा अधोवायु के निस्सारण शक्ति का अभाव, अथवा उनपर नियंत्रण की कमी जो पायु का दोष है, उदावर्त है।

बुद्धिवध। बुद्धि तो एक है परन्तु अनध्ययन, अशब्द, अनूह, असुहृद् प्राप्ति, अदान एवं आध्यात्मिक, आधिदैविक, और आधिभौतिक दुःख बुद्धि विपर्यय हैं। प्रकृति स्वयं मोक्ष देगी, इस प्रकार की उलटी तुष्टि होना, बुद्धि स्वयं मोक्ष देगी, मन के लीन हो जाने पर स्वतः मोक्ष होगा, भाग्य से ही मोक्ष होगा, इस प्रकार चार आध्यात्मिक, और शब्द आदि का अपने अपने विषयों से शान्त वृत्ति रूप शब्दोपरमता आदि इस प्रकार नव भेद बनते हैं। इनको शास्त्रांतरों में

असुवर्णा, अनिला, अमनोज्ञा, अदृष्टि, अपरा, सुपरा, असुनेत्रा, असुनाड़िका, अनुत्तमांभसिक इत्यादि नामों से भी कहा जाता है।

नव तुष्टि विपर्यय : अनंभ–अनात्मा से आत्मा अलग है, इस प्रकार शास्त्र और गुरु के उपदेश से श्रवण करने के बाद भी प्रतारकों के मिथ्या उपदेश से अनायास साध्य बातों पर मुग्ध होकर कृतकृत्य समझना ही इन तुष्टियों का रूप है। इन तुष्टियों के कारण कृतकृत्यता का अभिमान उत्पन्न होकर श्रवण, मनन, निदिध्यासन में लगा नहीं रहता। आत्मज्ञान बुद्धि का परिणाम है। अतः तुम्हें, जो बुद्धि से अलग हो, ब्रह्माकार वृत्ति बनाने के लिये प्रयत्न करने से कोई प्रयोजन नहीं। तुम तो बुद्धि के साक्षी हो, बुद्धि आत्माकार वृत्ति बनाये या अनात्माकार वृत्ति बनाये, उससे तुम में कोई फरक नहीं आता। अतः आत्मा के श्रवण, मनन, निदिध्यासन का अभ्यास करते रहने की कोई आवश्यकता नहीं, इस प्रकार सुनकर जो श्रवण, मनन, निदिध्यासन छोड़ देता है, उसे अनम्भ कहते हैं। अंभः अर्थात् जल, जैसे जल डुबा देने में हेतु होता है उसी तरह इस प्रकार का संतोष मनुष्य को संसार में डुबा देने का हेतु बनता है, अतः इसे अंभः कहते हैं। अथवा प्यासे को जल प्रसन्नता देने वाला होने से भी इसे अंभः कहते हैं। कुछ विलक्षण प्रतिभासम्पन्न तो अ भि शब्दे धातु से असुन् प्रत्यय करके अंभ शब्द निष्पन्न करते हैं। तब तात्पर्य होगा कि मीठे शब्दों के द्वारा जो संतोष प्राप्त होता है। इस प्रकार तू बुद्धि का साक्षी है, ये शब्द बड़े मीठे लगते हैं। **असलिल**–किसी साधक को यह कहना कि संन्यास लेने मात्र से मोक्ष हो जाता है, अतः श्रवण, मनन की आवश्यकता नहीं। **दण्डग्रहणमात्रेण नरो नारायणो भवेत्** संन्यास लेने मात्र से मनुष्य नारायण स्वरूप हो जाता है, त्याग से ही अमृत तत्त्व की प्राप्ति है, **त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः** इत्यादि शास्त्रवाक्य भी इसमें प्रमाण बन जाते हैं। इसी को सलिल नाम की तुष्टि

कहते हैं। जैसे सलिल अंकुर के प्रति सहकारी कारण होता है, वैसे ही ज्ञान के प्रति संन्यास सहकारी कारण है। अतः उसे सलिल कहा। यह भी व्यक्ति को श्रवण आदि अभ्यास से छुटा देता है एवं जैसे सलिल में प्रविष्ट होकर बाहर निकलने पर अपने में शुद्धि रूप वैशिष्ट्य का अनुभव होता है, उसी प्रकार संन्यास ग्रहण करने के बाद अपने में उत्तमत्व का बोध होकर जब दूसरा ॐ **नमो नारायणाय** करता है, तब सचमुच ही मैं नारायण हूं, ऐसी भ्रान्ति पैदा हो जाती है। कहीं-कहीं इसे उपादान नाम की तुष्टि भी कहा है क्योंकि वृद्धावस्था में जिस चीज का ग्रहण किया जाये, वह प्रव्रज्या धर्म है। यह तुष्टि संसरण का निमित्त है। **अनौघ**–संन्यास भी तत्क्षण मोक्ष नहीं देता, अतः भोगों की समाप्ति होने पर ही समय आने पर अर्थात् काल परिपाक होने पर ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। अतः उत्ताम अर्थात् उतावला नहीं होना चाहिये। इस प्रकार जो काल की प्रतीक्षा में संतोष होता है उसे ओघ कहते हैं। उहिर् अर्दने धातु से ओघ बनता है। काल प्रतीक्षा भी अर्दक होने से इसे ओघ कहा गया है। कृषि और वृष्टि के समायुक्त होने पर भी बिना समय के फलसिद्धि नहीं होती, यह ठीक होने पर भी कोई कृषि को छोड़कर केवल काल के भरोसे नहीं बैठा रहता। परन्तु साधारण साधक को इस प्रकार अभ्यास से निवृत्त कर दिया जाता है। वस्तुतस्तु फलसाधनता कृषि में है, काल पकने के प्रति कारण है। इसी प्रकार असाधारण कारण तो श्रवण, मनन आदि ही हैं, अतः काल की कारणता असत् उपदेश है। कुछ ओघ को मेघ भी कहते हैं क्योंकि फलसिद्धि हेतुभूत वृष्टि की तरह ही यहां काल है। **अवृष्टि**–**भाग्यम् फलति सर्वत्र न च विद्या न च पौरुषम्** इस उक्ति के अनुसार संन्यास, काल, श्रवण आदि कोई कारण नहीं है, केवल भाग्य ही कारण है। भाग्य के कारण ही मंदालसा के बच्चे को एक वर्ष की उमर में ही तत्वज्ञ माँ से आत्मज्ञान प्राप्त हो गया। अतः सब चीजों की तरह मोक्ष के प्रति भी भाग्य ही कारण है। यह भाग्य अकस्मात् आत्मज्ञान की वृष्टि करता है, इसलिये इसे वृष्टि कहते हैं। वस्तुतस्तु

दैवं पुरुषकारश्च कालश्च पुरुषोत्तम।
त्रयमेतन् मनुष्याणां पिण्डितं स्यात् फलावहम्॥

के अनुसार भाग्य काल से सहकृत प्रयत्न ही फल का साधन होता है परन्तु कारणता तो प्रयत्न में ही है। फिर भी विपरीत उपदेश से जो भाग्य के भरोसे बैठने की तुष्टि हो जाती है, उसे वृष्टि कहा गया। जैसे खेतिहर वृष्टि होने पर प्रसन्न हो जाता है एवं वृष्टि में उसकी कोई कारणता नहीं, उसी प्रकार भाग्य के प्रति कोई कारणता नहीं और भाग्य के भरोसे बैठने में एक संतोष का अनुभव होता है। **अपार**–धन आदि भी अर्जन, रक्षण, क्षय, भोग भोग, हिंसा आदि दर्शन से धन व्यर्थ है, यह भावना होती है।

अर्थानामर्जने क्लेशः तथैव परिपालने।
नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान् क्लेशकारिणः॥

इत्यादि स्मृतियां भी इसमें प्रमाण बन जाती हैं। अर्जन अर्थात् कमाना, रक्षण अर्थात् चोर डाकुओं से बचाना, क्षय अर्थात् दाल रोटी खाने से खर्च होना, भोग अर्थात् स्त्री आदि का उपभोग, हिंसा अर्थात् धन के लिये दूसरे के प्रति प्रेम का अभाव होना। भिक्षा, कृषि, विद्या, व्यवहार, वणिक् कर्म, सेवा इत्यादि अर्जन के उपाय यहां ग्राह्य हैं। धनोपार्जन के उपायों में आजकल सबसे प्रसिद्ध सेवा ही है जो सेवकों को बड़ा ही दुःख देती है। भिक्षा के दुःख का तो क्या कहना, अभिमानी दुष्ट धनपति के द्वार पर खड़ा, हाथ में दण्ड लिये उस असहनीय अर्द्धचन्द्र से उत्पन्न प्रकाश का स्मरण करके कौन बुद्धिमान् भिक्षा के लिये प्रवृत्त होगा। इसी प्रकार कृषि इत्यादि सब में समझ लेना चाहिये। धनार्जन दुःख से पार पहुँचाता है, इसीलिये उसे पारा कहते

हैं। किसी बुद्धिमान् ने कहा है कि हमने केवल ग्राहक को प्रसन्न करने के लिये उसके अपराधों को सहा, हृदय में क्षमा लेकर नहीं; दुकान में बैठे हुए घर के आराम को छोड़ा, संतोष से नहीं; अत्यंत कठिन सर्दी और गर्मी के क्लेश को भी सहा परन्तु तप के लिये नहीं; रात दिन हिसाब का ध्यान रखा, भगवान शंकर के चरणों का नहीं; इस प्रकार मुनि लोग जो जो साधन करते हैं, वे सब हमने किये परन्तु किये धनार्जन के लिये। **असुपार**–रक्षण में दुःख हेतुता देखकर सुपार की प्राप्ति होती है। चोरी, बाढ़, भूकम्प और कर आदि से कहीं धन नष्ट न हो जाये, इस भय से रात में सोता तक नहीं। अतः पदार्थों के प्रति जो एक वैराग्य आता है उसे सुपार कहते हैं। तात्पर्य है कि पार, सुपार आदि तुष्टियों से मनुष्य सोचता है कि उसे मोक्ष की प्राप्ति हो जायेगी अथवा सुख मिल जायेगा। वस्तुतः धन आदि के अर्जन, रक्षण में प्रवृत्ति बुरी नहीं है क्योंकि जब तक अज्ञान है तब तक उसके लिये सभी कर्म और साधन भी करने ही चाहिये। ज्ञान की दृष्टि कुछ और है। ज्ञान से होने वाला वैराग्य ही सच्चा वैराग्य है। अर्जन में दोष दिखाई देने पर भी भोग की अभिलाषा से विषयों में प्रवृत्ति हो जाती है किन्तु अर्जित धन के रक्षण के भय से अर्जन की प्रवृत्ति होना अत्यंत असम्भव है। इसीलिये इसको सुपार कहा है। **अपारापार**-कमाये हुए पदार्थों का भोग करने से सारा परिश्रम व्यर्थ हो जायेगा, इस चिंता से विषयों का भोग न करने की जो उपरामता है उसे पारापार कहते हैं। वैश्यों में प्रायः धन एकत्रित करने पर भी खर्च करने की प्रवृत्ति इसीलिये नहीं होती। यह भी ज्ञान का साधक नहीं है। परन्तु बहुत से लोगों को यह संतोष हो जाता है कि चूंकि हम विषय भोगों में नहीं जाते, अतः हम अच्छे हैं। इस प्रकार की भावना का न होना अपारापार है। **असुमारीच**-प्राणियों को दुःख दिये बिना भोग की प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि जैसा सर्वज्ञ शंकर

कहते हैं कि एक कौर अन्न भी ऐसा नहीं खा सकते जिसपर दूसरों की दृष्टि न लगी हो। अतः जिस पदार्थ का भी भोग करोगे, उसमें दूसरों के भाव की हिंसा होती ही है। यह करुणा का ही एक रूप है। परन्तु वस्तुतः यह करुणा अनुचित है। इस करुणा से ही अपने को कृतकृत्य समझना सुमारीच है एवं इस करुणा मात्र से अपने में उत्तमता का न होना असुमारीच है। **अनुत्तमाभय**–भोगाभ्यास के द्वारा विषय तृष्णा बढ़ती है एवं साथ-साथ इन्द्रियों में कुशलता भी आती है और फिर विषय के न मिलने पर उसको दुःखी बनाती है। इस प्रकार जो विषयों के भोग में दोष देखकर उपरामता है वह उत्तमाभय है। विषयों को निवृत्ति से मनुष्य में एक तरह का अभय आ जाता है। परन्तु वस्तुतः यह भी उत्तम ज्ञान का साक्षात् साधन नहीं है। अतः इस प्रकार की दृष्टि से अपने को कृतकृत्य न समझना अनुत्त-माभय है।

आठ सिद्धिविपर्यय : **अतार**–गुरुमुख से अध्यात्मशास्त्रों का श्रवण करना एवं इतने मात्र से अपने को कृतकृत्य समझ लेना तार है। भवसागर से उतरने का यह प्रथम सोपान होने से इसको तार कहते हैं। इसमें कृतकृत्यता की बुद्धि न होना अतार है। **असुतार**–शब्दों का अर्थज्ञान होने पर मनुष्य को लगता है कि मैंने तत्त्व जान लिया। यह सुतार कहा जाता है। शब्द की अपेक्षा अर्थ का महत्त्व अधिक होने से शब्द बुद्धि को तार और इसे सुतार कहा है। यद्यपि अर्थज्ञान शब्दज्ञान से श्रेष्ठ है परन्तु अर्थज्ञान मात्र से कैवल्य ज्ञान की प्राप्ति सम्भव नहीं है। अतः इससे संतुष्ट हो जाना भी एक बन्धन होने से असुतार भाव की प्राप्ति कही गई है। **अतारतार**–युक्ति, न्याय इत्यादि के द्वारा संशय रहित होना तार कहा जाता है। इसी को कहीं कहीं ऊह भी कहते हैं। कुछ शास्त्रज्ञ इसे मनन कहते हैं। मनुष्य को न्याय और युक्ति से सिद्ध शास्त्र पर अधिक श्रद्धा होने से

इसे तारतार कहा गया। परन्तु यह भी वास्तविक ज्ञान नहीं है। **अप्रमोद**—निश्चय किये हुए विषय को अपने सहपाठियों के साथ विचार करके अपने अर्थ को वे सभी स्वीकार कर लें तब जो प्रसन्नता होती है, वह प्रमोद है। **तं शिष्यगुरु सब्रह्मचारिविशिष्टश्रेयोर्थिभिरनसूयुभिरभ्युपेयात्, ज्ञानग्रहणाभ्यासस्तद्विधैश्च संवादः** इत्यादि न्याय सूत्र इसमें प्रमाण है। अन्यत्र भी **शिष्यैः परस्परं शास्त्रम् चिन्तनीयम् विचक्षणैः**। इसे कहीं सुहृत्प्राप्ति भी कहा गया है क्योंकि सुहृदों की उपस्थिति में यह किया जाता है। इसमें आनन्द आता है, अतः इसे कहीं-कहीं रम्यक भी कहा गया है। यद्यपि यह ज्ञान परिष्कृत ज्ञान है परन्तु फिर भी आत्मज्ञान नहीं। अतः इसका भी परित्याग करना पड़ता है। **अप्रमुदित**—विषय संस्कारों से संयुक्त होने के कारण ज्ञान ही में जो विजातीय प्रत्यय आते हैं एवं उससे आनन्द नहीं हो पाता, उसमें यह समझना कि यह संस्कारों के कारण होने पर भी वस्तुतः हमारे ज्ञान पर किसी भी प्रकार का प्रतिबंध नहीं करते। इस प्रकार के भाव से रहित होने पर ही आत्मज्ञान की ओर बढ़ पाते हैं। अतः इसे अप्रमुदित कहते हैं। **अप्रमोदमान**—आत्म विचार करने पर भौतिक दुःखों के प्रति अनास्था होकर जो आधिभौतिक दुःख के अभाव का अनुभव है, वह प्रमोदमान है। यद्यपि यह भी साधक की श्रेष्ठ अवस्था है परन्तु फिर भी यहां अटकना नहीं चाहिये। **प्रमोदस्य मानं यत्र** ऐसी व्युत्पत्ति प्रमोदमान की कर लेनी चाहिये। **अरम्यक**—संसार के पदार्थों में जब मन नहीं रमता तो इस प्रकार के वैराग्य से एक सुख होता है। बहुत बार मनुष्य इसे ही आत्मज्ञान प्रसूत उपरति समझ लेता है। परन्तु वस्तुतः यह आनंद के उल्लास से रहित है। इस प्रकार का विचार रम्य होने के कारण रम्यक कहा जाता है परन्तु इसका भी त्याग करना इष्ट है। **असदामुदित**—अहं में वृत्ति के एकाग्र हो जाने से अथवा ओंकार के लय चिंतन में चित्त के एकाग्र हो जाने से दिन रात चित्त में आनन्द

भरा रहता है, यह सदामुदित है, परन्तु यहां भी अटकना इष्ट नहीं है। इससे भी परे जाना चाहिये। अहं को छोड़कर साक्षी में स्थिति होने पर ही वास्तविक तत्त्व की प्राप्ति होती है।

४

आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि भावान् च सर्वान् विनियोजयेत् यः। तेषां अभावे कृतकर्मनाशः कर्मक्षये याति सः तत्त्वतः अन्यः॥

यः=जो (साधक)[1]
गुणान्वितानि=शास्त्र में बताये हुए विहित[2]
कर्माणि=कर्मों को[3]
आरभ्य=प्रारम्भ करके,[4]
च=और[5]
सर्वान्=सब (कर्मफल तथा)
भावान्=भावों को[6]
विनियोजयेत्=परमेश्वर में विनियुक्त कर देता है।[7]
तेषां=उन कर्म फलों के
अभावे=फलरूपता का अभाव होने पर[8]
कृतकर्मनाशः=किये हुए कर्मों का नाश[9] हो जाता है।
कर्मक्षये=कर्म नष्ट हो जाने पर
तत्त्वतः=स्वरूप से[10]
अन्यः[11]=(जीव रूप से) भिन्न[12]
सः=ईश्वर हुआ हुआ
याति=मोक्ष को प्राप्त करता है।

१. यद्यपि पूर्व मंत्र में भी साधनों का निरूपण किया था परन्तु पुनः स्पष्ट करने के लिये यह मंत्र है। वेद में विषय की गम्भीरता के कारण पुनरावृत्ति दोष नहीं माना जाता।

२. कर्मों का मुख्य विनियोग यहां दिखाना है। अतः नित्य नैमित्तिक कार्यों को प्रधान रूप से शास्त्र द्वारा यावज्जीवन विहित होने से बताना इष्ट है। परन्तु काम्य कर्म भी शुद्धि के साधन रूप से प्रयुक्त किये जा सकते हैं, ऐसा भगवान् सुरेश्वराचार्य इत्यादि के वचनों से

स्पष्ट है। इन कर्मों में भी जो कर्म समष्टि के हित के होते हैं, वे और अधिक गुण से युक्त होने से यहां और विशेष रूप से कहे गये हैं। कर्म का मतलब होता है जिस चीज को मनुष्य इष्ट समझे। अपने लिये इष्ट समझने को अपेक्षा सब के लिये इष्ट की दृष्टि करना एक बहुत बड़ा साधन है। जो व्यक्ति जितना ही सर्वभूतहितरत रहता है, वह उतना ही परमेश्वर के समीप पहुँच सकता है। स्वार्थ और परमार्थ का आपस में वैसा ही विरोध है जैसा अंधकार और प्रकाश का। जब-जब किसी चीज को हम अपने लिये चाहते हैं, तब-तब संसार की तरफ जाते हैं और जब-जब किसी चीज को हम दूसरों के लिये चाहते हैं, परमेश्वर की तरफ जाते हैं। इस प्रकार के सर्व प्राणियों के कल्याण के लिये किये हुए कर्म हमारे अनेक जन्म के किये हुए कर्म और वासनाओं को समाप्त कर देते हैं। अंतःकरण की शुद्धि ही कर्मों का वास्तविक फल है। सांख्य प्रक्रिया से भी यदि देखा जाये तो सत्त्व से ज्ञान उत्पन्न होता है, रज से लोभ और तम से मोह। अतः लोभ और मोह के द्वारा प्रवृत्त कर्म सत्त्व शुद्धि में कारण नहीं बन सकते। शास्त्रों में जो नित्य-नैमित्तिक कर्म बताये हैं, उनका भी वास्तविक तात्पर्य मनुष्य को साक्षात् या परम्परया सब प्राणियों के कल्याण में प्रवृत्त करना है। इस प्रकार के कर्म परिपक्व होकर के मनुष्य को परमात्म प्राप्ति के योग्य बनाते हैं।

३. पूर्वोक्त मंत्र के व्याख्यान में बता आये हैं कि जीवन के सभी कर्म परमेश्वर को अर्पण करने से मोक्ष के कारण बन जाते हैं। अतः यहां **कर्माणि** से सभी कर्मों का ग्रहण भी किया जा सकता है।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगन् त्यक्त्वा करोति यः।

लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥

इत्यादि गीता इसमें प्रमाण है।

४. कर्म कभी स्वभाव से प्राप्त नहीं होते। अभ्यास पूर्वक ही इनमें

प्रवृत्ति करनी पड़ती है। अतः जीव की स्वतंत्रता कर्म करने में सदा ही रहती है। इस स्वतंत्रता को बताने के लिये ही यहां आरभ्य कहा है। प्रायः मनुष्य यह सोचता है कि किसी के जीवन में कोई मौका आया, इसलिये वह कार्य करने लगा। परन्तु वास्तविक स्थिति ऐसी नहीं है। स्वतंत्र होकर के ही कर्म में प्रवृत्ति बनती है। अतः सर्व भूतहितरत व्यक्ति को दूसरे प्राणियों के कल्याण की तरफ प्रयत्न पूर्वक ही प्रवृत्ति करनी चाहिये।

५. जब इस प्रकार के कर्मों से मनुष्य के हृदय से स्वार्थ की भावना हट जाये, तब उसके बाद, यह यहां तात्पर्य है।

६. जब मनुष्य की इच्छा स्व से हट गई, तभी वह परमात्मा की तरफ जा सकता है। जो अपने लिये कुछ भी चाहता है, वह अपने आपको परमात्मा के समर्पण नहीं कर सकता। सभी भावों से यहां तात्पर्य **त्वमेव माता च पिता त्वमेव** इत्यादि की तरह अपने हृदय के सभी प्रेमों को एकसूत्र करके परमात्मा के अर्पण करने से है। जब तक संसार के पदार्थों में वह भाव बंटा हुआ है तब तक परमात्मा के सूक्ष्मभाव में उसका प्रवेश असम्भव होता है। यही भावों का अत्यंत वैशिष्ट्य है। लोक में भी यदि धागे का एक सूत भी बाहर पड़ा रहे तो सुई के छेद में धागे का प्रवेश असम्भव हो जाता है। इसी प्रकार किंचित् भी वृत्ति परमात्मा से अतिरिक्त हो तो परमात्मा में भावों का समर्पण असम्भव हो जाता है। आजकल जो एक प्रवृत्ति चली है कि बिना कर्मों को पूर्ण किये ही लोग भक्ति में लगना चाहते हैं, वे इसीलिये सफल नहीं हो पाते क्योंकि हृदय में स्वार्थ अथवा वैषयिक पदार्थों के प्रति कुछ न कुछ अर्थ्यमानता बनी ही रहती है। कर्म के साथ किया हुआ यह भाव तो धीरे-धीरे समष्टि भाव में परिणत हो सकता है परन्तु कर्म को छोड़कर के किया हुआ यह भाव मनुष्य को पथभ्रष्ट कर देता है। जहां कहीं शास्त्रों में कर्म रहित

भक्ति का वर्णन आया है, वहां तात्पर्य ऐसे लोगों से है जिनका स्वार्थ समाप्त हो जाने से जिनके हृदय में केवल परमेश्वर के प्रति ही प्रेम रह गया है। इसके पूर्व कर्म का परित्याग करके भाव पूर्णता को प्राप्त नहीं हो सकता।

अविद्या और उसके सम्बन्ध के अधीन उपाधियां एवं उपाधियों के कार्य, ये सभी आत्मा में अध्यस्त होते हैं। अतः इन सबको भी भाव कहा जाता है अथवा चक्षुरादि को अपने अपने विषयों में लगने को ही भाव कहते हैं। श्रुतियों में बताया है कि रूप को आंख में, आंख को सूर्य में, सूर्य को अग्नि में, अग्नि को वायु में, वायु को आकाश में, और आकाश को आत्मा में, इस प्रकार लीन करे। इस प्रकार प्रत्येक कार्य को लय प्रक्रिया से अपने कारण ब्रह्म में विलापन करना भाव का विनियोग कहा जा सकता है। अथवा सारे भाव पदार्थों को छांदोग्य में कथित प्रकार के द्वारा विलापन करना भी यहां इष्ट है। अग्नि का लाल रूप तेज का, सफेद रूप जल का और काला रूप अन्न का है। इस प्रकार अग्नि की अग्निता चली गई, केवल नाममात्र रह गया। इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ के साथ करने से स्थूल व्यष्टिजात स्थूल समष्टि में लगा दिया जाता है। फिर स्थूल समष्टि का पचीकृत पंच महाभूतों में अभिन्न रूप से चिंतन करे। उनमें भी उत्तर उत्तर भूत को पूर्व पूर्व भूत में लीन करते हुए तन्मात्राओं में लीन करे। तन्मात्राओं को मूलक प्रकृति में, मूलक प्रकृति को माया में एवं माया को सद् ब्रह्म में लीन करे। वह सद् ब्रह्म मैं हूँ, इस प्रकार का जो आनंद का स्फुरण है, उस अनंत अद्वितीय भाव में विनियुक्त हो जाना ही यति के लिये मोक्ष प्राप्ति का साधन है।

७. सभी कर्मों के फल को परमात्मा में अर्पण करे एवं हृदय के सभी भावों को भी उन्हीं से सम्बन्धित कर दे। फिर वह भाव और कर्म फल अपने से सम्बन्ध वाले नहीं रहते। अतः कर्म और काम

दोनों सिद्ध हो जाते हैं। अविद्या, काम, कर्म ही बन्धन है, यह पहले भी कह आये हैं। अतः कर्म और काम को परमेश्वरार्पण कर देने से केवल अविद्या को हटानामात्र बच जाता है। अथवा सृष्टि प्रक्रिया इत्यादि का चिंतन करके वेदांत विचारों से जितने भी अनुभूयमान पदार्थ हैं, वे सब इस इस प्रकार से ब्रह्म के द्वारा ही प्रकाशित हैं, इस प्रकार उन पदार्थों का विनियोग करे। ब्रह्म दृष्टि से अर्थात् ब्रह्मभाव से फिर अज्ञान का अभाव ही सिद्ध हो जाता है और वही सभी कर्म और उनके फलों को समाप्त कर देता है। उत्तरोत्तर कार्य का पूर्व पूर्व कारण मात्र में प्रविलापन करने से ईश्वर का स्वात्मरूप अपरोक्ष हो जाता है एवं ईश्वर की एकता के अपरोक्ष से सभी प्रकृति और प्राकृत पदार्थों का अभाव हो जाने से सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं। अनादि संसार में अनादि काल से किये हुए पुण्य-पापों को नष्ट करने का और कोई उपाय नहीं है। जो कर्म प्रारंभ नहीं किये गये हैं, उनका बाध होता जाता है। इस प्रकार सभी कर्मों के नष्ट हो जाने से एवं प्रारब्ध के इस शरीर में भोग करके नष्ट हो जाने से विदेह कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है। देह, इन्द्रिय आदि को प्रतीत कराने वाली जो विद्या शक्ति उसका प्रतिबंधक अविद्यालेश, वह भी चिन्मात्र रूप से विज्ञापित होकर देह, इन्द्रिय आदि की प्रतीति भी नष्ट हो जाती है। यह ज्ञान दृढ़ता ही प्राप्त करना उपनिषदों का वास्तविक तात्पर्य है।

८. ईश्वरार्पण बुद्धि से अनुष्ठित कर्म अपने बंधन भाव को प्राप्त नहीं करते। कर्म का एक फल है जो सुख दुःख रूप है एवं दूसरा कर्म का संस्कार जो पुनः प्रवृत्ति कराता है। ईश्वरार्पण बुद्धि के द्वारा यह पुनः कर्म करने की शक्ति नष्ट हो जाती है एवं उसका फल अंतःकरण की शुद्धि के सिवाय और कुछ नहीं रहता क्योंकि कर्म का फल विनियोगाधीन होता है। ईश्वर में विनियुक्त होने पर कर्म ईश्वर की ही प्राप्ति कराने में समर्थ हो सकता है, लौकिक नहीं। अविद्या आदिकों

के अभाव में जो पहले के किये हुए सुकृत और दुष्कृत कर्म हैं, वे भी निष्फल व निष्प्रयोजन हो जाते हैं। **ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते** इत्यादि स्मृतियां भी इसमें प्रमाण हैं। अवस्थात्रय का साक्षी होने से मैं अवस्थात्रयातीत उससे भिन्न हूँ, इसके द्वारा सारे भावों का उपसंहार होकर के वस्तुतः साक्षी मैं ब्रह्म हूँ, इस बुद्धि के फलक पर आरूढ़ हुआ हुआ बलपूर्वक जितने भी कर्म हैं, उन सबको नष्ट कर देता हूँ।

१०. प्रारब्ध कर्म क्षय होने पर यद्यपि प्रतिभास भी नष्ट हो जाता है परन्तु यहां तत्त्वतः कहकर कहते हैं कि प्रारब्ध काल में जगत् प्रतीत होने पर भी अपने आपको प्रकृति और प्राकृतों से सर्वथा भिन्न वैसे ही समझता है जैसे एक नट या अभिनेता रावण का अभिनय करते हुए अपने आपको तत्त्वतः रावण से भिन्न ही समझता है। इस ज्ञान के बल से ही सब चीजों से वह असंग बना रहता है अथवा अदृष्ट अर्थ में प्रमाण भूत वेद ही तत्त्व है। अतः तत्त्वतः माने वेदतः, वेद के द्वारा अपने आत्मस्वरूप को जानकर **मैं असंग हूं** इस बात को जान लेता है। अथवा तत्त्वतः का अर्थ तत्त्वेभ्यः हो सकता है, अतः प्रकृति, पंच-महाभूत, तन्मात्रा इत्यादि तत्त्वों से मैं भिन्न हूँ, इस प्रकार का ज्ञान यहां इष्ट है।

११. **अन्यदिति वा पाठः।**

१२. अविद्या और उसके कार्य से निर्मुक्त सच्चिदानंद अद्वितीय परमात्मरूप ही यहां जीव का वास्तविक रूप होने से कहा गया है। अन्यत् ऐसा पाठ होने पर तत्त्वों से जो अन्य है उसको प्राप्त होता है, ऐसा अर्थ निकल आयेगा। याति का अर्थ जानाति अर्थात् जान लेता है, प्रसिद्ध ही है।

अथवा समग्र मंत्र का रहस्य यह है कि यदि सभी भावों का विनियोजक ईश्वर ही है तो फिर कभी भी संसार समुद्र से पर पार

जाना नहीं बनेगा क्योंकि यदि ईश्वर हमें पर पार ले जाता तो अब तक ले गया होता। अतः कहा गया कि वेदप्रामाण्य से (तत्त्वतः) भिन्न मृषाविदों (अन्यः) का वचन यथार्थ कथित से भिन्न होने के कारण नहीं मानना चाहिये। अर्थात् ईश्वर जो हमको अब तक पर पार नहीं ले गया तो उसमें कारण यह है कि अविद्या, काम, कर्म का अभाव हुए बिना जीव आणव, मायिक और मल दोषों से युक्त होने के कारण अपने जीव भाव को छोड़ नहीं पाता। अतः संसार के पर पार नहीं जा पाते, इसमें ईश्वर की विनियोजकता की कोई हेतुता नहीं है। तब तात्पर्य है कि अविद्या, काम, कर्म से तत्त्वतः अन्य हुआ हुआ अर्थात् अविद्या के नाश हो जाने पर स्वरूप से अवस्थित हो जाना ही पर पार जाना है।

अथवा भावाः का अर्थ भावना ले लेना चाहिये अर्थात् विषय की अभिलाषाओं को आत्माग्नि में होम कर देने पर कामनाओं के अभाव से कृतकर्म नष्ट हो जाते हैं एवं पहले किये हुए कर्म भोग से नष्ट हो जाते हैं। तात्पर्य है कि सारे दोषों से अनास्पन्दित निर्मल ईश्वर तत्त्व परमार्थ रूप से जैसे ही अपना स्वरूप हो जाये, वैसे ही ज्ञान को प्राप्त कर लेता है। अपने ईश्वर भाव का विवर्द्धन करने वाला अनेकत्व ज्ञान सर्वैकता के ज्ञान से तत्त्व में स्थिति करा देता है।

५

ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म और भावनाओं को नष्ट करने का उपाय बताया। परन्तु वह ईश्वर ही असिद्ध है और यदि सिद्ध भी है तो उसकी उपासना का प्रकार अज्ञात है, इस शंका को दूर करते हुए कहते हैं :—

आदिः सः संयोगनिमित्तहेतुः परः त्रिकालात् अकलः अपि दृष्टः। तम् विश्वरूपम् भवभूतम् ईड्यम् देवम् स्वचित्तस्थम् उपास्यं पूर्वम् ॥

सः=वह (परमेश्वर)[1]	विश्वरूपम्=सर्वरूप[7]
आदिः=(सबका) कारण,[2]	भवभूतम्=भवरूप[8]
संयोगनिमित्तहेतुः=संयोगों के निमित्त का कारण,[3]	ईड्यम्=स्तुति के योग्य[9]
त्रिकालात्=तीनों कालों से[4]	देवम्=स्वयं प्रकाश महादेव को[10]
परः=परे,	स्वचित्तस्थम्=अपने हृदय में स्थित करके[11]
अपि=(होते हुए) भी	पूर्वम्=(ज्ञान के) पूर्व[12]
अकलः=कलारहित[5]	उपास्य=भज करके[13] (ज्ञान प्राप्त करता है। इस अगले मंत्र के पद से अन्वय है।)
दृष्टः=(ब्रह्मवेत्ताओं द्वारा) देखा गया है;[6]	
तम्=उस	

१. विषयांध लोग यद्यपि ब्रह्म को अपने से अतिदूर समझते हैं तथापि वह उनका अपना ही आत्मा है। वह परमात्मा ही अविद्या और अविद्या के सम्बन्धों का स्वतंत्र रूप से एकमात्र नियामक है। अतः उसे यहां परोक्ष रूप से कहा गया। परोक्ष ब्रह्म को ही सः पद अर्थ से कहा जाता है। सम्यक् ज्ञान की सिद्धि के लिये अधिकार तभी आता है जब कि पहले व्यक्ति परमेश्वर की उपासना कर ले। अतः इस मंत्र में उपास्य ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है। चूंकि उपास्य ब्रह्म निर्गुण भी हो सकता है और सगुण भी, अतः इस मंत्र में दोनों का ही ग्रहण किया गया है।

२. सभी सृष्टि स्थिति लय का वही सर्व प्रथम कारण है। वह सबका आदि है और उसका कोई आदि नहीं है। अतः वही निरवच्छिन्न आदि कहा जाता है अर्थात् सबका हेतु हुआ हुआ भी उसका कोई हेतु नहीं है। निर्गुण पक्ष में स्वरूप स्फुरणप्रद होने से वह सब का अधिष्ठान है। अतः अबका आदि है।

३. सभी जीवों के शरीरों का संयोग कराने में निमित्त उसका अपना कर्म होता है परन्तु उन कर्मों को फलोन्मुख करना ईश्वर के अधीन होने से उसे संयोग निमित्तों का हेतु कहा गया। अथवा शरीर आदि में आत्मा के अध्यास होने से ही उनसे संयुक्त होना है। इस अध्यास का निमित्त अविद्या है और इस अविद्या का अधिष्ठाता होने से वह उसका हेतु कहा गया। निर्गुण पक्ष में अविद्या का अधिष्ठान होने से उसे हेतु कहा जायेगा अथवा शरीर आदि की प्राप्ति का निमित्त शुभ अशुभ कर्म हैं। **एष एव साधु कर्म कारयति** इत्यादि श्रुतिप्रमाण से परमेश्वर ही कर्मों के प्रति सामान्य कारण है। अतः वह शरीर प्राप्ति के कारण कर्मों का हेतु कहा जाता है। निर्गुण पक्ष में संयोग को अविद्या सम्बन्धी कहा गया। अविद्या विशिष्ट ही जीव है। चिदात्मा इस अविद्या का आश्रय और विषय होने से उसका निर्वाहक है एवं अविद्या के स्वातंत्र्य का निषेध करने के लिये संयोगनिमित्त हेतु कह दिया गया। अथवा प्रथम अध्याय के दूसरे मंत्र में कहे हुए काल, स्वभाव इत्यादि का संयोग ही निमित्त है एवं उसका सर्वोत्कृष्ट हेतु होने से परमेश्वर को ऐसा कहा गया। उसकी सर्वोत्कृष्टता इन्द्रियों से परे विषय, विषयों से परे मन, मन से बुद्धि, बुद्धि से महत्, महत् से अव्यक्त और अव्यक्त से परे होना **पुरुषान्नपरं किंचित् सा काष्ठा सा परागतिः** इत्यादि यजुर्वेद इसमें प्रमाण हैं। अथवा सम्यक् योगः संयोगः अर्थात् जीव का परमात्मा से एक हो जाना रूपी आत्मस्थिति ही संयोग है। उसका निमित्त ज्ञान है एवं ज्ञान का कारण साक्षात् या उपायों के द्वारा परमेश्वर ही है। अतः उसे संयोगनिमित्त हेतु कहा गया। उपाय (१, २, इत्यादि) पूर्व मंत्र में आ ही चुके हैं।

४. भूत, भविष्य, वर्तमान तीन काल हैं। इन सबसे परे है क्योंकि वेद कहता है **यस्मात् अर्वाक् संवत्सरोऽहोभिः परिवर्तते तद्देवा**

ज्योतिषां ज्योतिरायुरहोपासतेऽमृतम्। अर्थात् जिससे परे ही दिनों के द्वारा संवत्सर का निर्माण होता है, वह ज्योतियों का भी ज्योति आयु रूप से उपस्थित होकर मृत्यु के पार ले जाता है। इस प्रकार इस अध्याय के प्रथम श्लोक में जो वैदिकों की तरफ से काल की जगत् कारणता का पक्ष उत्थापित किया गया था, उसे निवृत्त करने वाला यह हेतु वाक्य हो गया।

कुछ लोग पंचमी से ही अपादान लेकर त्रिकाल से भिन्न अर्थ कर लेते हैं तथा परः से उसकी सर्वोत्कृष्टता का प्रतिपादन मानते हैं अर्थात् वह निरजन देव है।

५. प्राण से लेकर नाम पर्यन्त बताई गई अथर्ववेद की सोलह कलाओं का वरण कर लेना चाहिये। अथवा सभी कालों से रहित होने के कारण उसे अकल कहा जाता है। यद्यपि ये कलायें भी उसमें हैं फिर उसे अकल कैसे कहा जाता है ? यह शंका की जा सकती है। परन्तु समाधान यह है कि आध्यासिक सम्बन्ध से उसमें होने पर भी पारमार्थिक दृष्टि से उसमें न होना भी उसे अकल कहे जाने का कारण है। अथवा कला का अर्थ टुकड़े भी होता है। अतः वह निरवयव होने से अकल कहा जाता है।

६. यद्यपि अविद्या सागर में पड़े हुए लोग उस परमात्मा को **सर्वथा नहीं है** ऐसा समझते हैं परन्तु स्वयं प्रकाश रूप से सभी ज्ञानों में उसका अपरोक्ष होता ही है। इसीलिये यजुर्वेद भी उसे **यत्साक्षात् अपरोक्षात्** ब्रह्म कहता है। इस प्रकार वेदों में एवं ब्रह्मवेत्ताओं में तो वह नित्य ही प्रकाशित है। ऊपर कही हुई युक्तियों के प्रभाव से भी उसकी सिद्धि होती है। सावयव पदार्थ बिना किसी कर्त्ता के एकत्रित नहीं हो सकता तथा बिना एक सत्ता ज्ञान के

सभी पदार्थों में सत्ता स्फुरता को प्रतीति नहीं हो सकती। इस प्रकार श्रुति, युक्ति और अनुभव तीनों से परमात्मा का सगुण और निर्गुण रूप सिद्ध होता है।

७. यद्यपि वह स्वरूप से एक है परन्तु उपासकों के भाव के अनुसार अनेक रूपों को धारण करता है। जिस जिस रूप से उपासक उसकी उपासना करता है, उन सब रूपों को धारण करने वाला होने से उसे सर्वरूप कह दिया गया। निर्गुण पक्ष में तो ब्रह्मा से लेकर चींटी तक एवं आकाश से लेकर अणु पर्यन्त सभी रूपों का धारण करने वाला होने से उसे विश्वरूप कहा जाता है।

८. जिससे सब कुछ उत्पन्न हो उसे भव कहते हैं। **भवति अस्मात् इति भवः भूतम्** अर्थात् जिसका स्वरूप कभी न बदले। अतः परमात्मा स्वयं अपरिवर्तित रहते हुए ही समग्र जगत् को उत्पन्न करता है। इस प्रकार विवर्त कारणता को बताने के लिये भवभूत शब्द हैं। अथवा भव संसार को भी कहते हैं। अतः भवभूत अर्थात् संसार रूप। सारा संसार ही उसका रूप है। भव भगवान् शंकर का भी नाम है। अतः भवभूत का मतलब होता है शिव रूप। निर्गुणपक्ष में तो **भवश्च असौ भूतश्च** ऐसा द्वन्द्व समास कर लेना चाहिये। जो भू रूप हो अर्थात् सत्ता हो और भूत अर्थात् चैतन्य रूप हो, ऐसे सत् चित् रूप परमात्मा को ही यहां कहा गया है।

९. सभी लोगों से श्रेष्ठ होने के कारण वह परमात्मा ही सब के द्वारा स्तुत्य है। परमात्मा स्तुति के योग्य है, यह भावना ही वस्तुतः उपासना है। यद्यपि आधुनिक युग में लोगों ने उपासना का तात्पर्य केवल मूर्ति के सामने बैठकर पुष्पोपहार आदि का अर्पण समझ लिया है परन्तु यह वैदिक उपासना नहीं है। हृदय में परमात्मा की श्रेष्ठता का भाव रहना ही वास्तविक उपासना है। जहां परमात्मा को स्तुत्य माना वहां संसार के बाकी सब पदार्थ अपनी श्रेष्ठता से गिर जाते

हैं। अतः परमेश्वर को स्तुत्य कहने का मतलब है कि परमेश्वर से अतिरिक्त और किसी की स्तुति नहीं करना अर्थात् उनके अन्दर किसी भी प्रकार से श्रेष्ठता की भावना का न रह जाना। वस्तुतः संसार के प्रति वैराग्य ही परमेश्वर की स्तुति है। बाह्य पूजा इत्यादि केवल दम्भ मात्र है। यदि वह परमात्मा की स्तुति रूपता के प्रतिपादन के साधन के रूप से की जाये तो ठीक है अन्यथा यदि वह साध्य रूप हो जाये तो मनुष्य को परमात्मा की तरफ ले जाने में असमर्थ हो जाती है।

१०. जो सबका प्रकाश करे एवं स्वयं किसी से प्रकाशित न हो, उसको ही देव कहा जाता है। स्वयं प्रकाश होने से ही वह नित्य अपरोक्ष भी है। अहं इस ज्ञान में चैतन्य रूप से उसका ही प्रकाश है। अहं बाकी सब चीजों को प्रकाशित करता है। अतः अहं का भी प्रकाशक होने से वह उसका भी साक्षी है। यही उसकी देवरूपता है। साक्षी ध्यान को ही उपनिषदों में ईश्वर ध्यान माना है।

११. चित् लिंग शरीर को कहते हैं। उसमें परमात्मा प्रत्यग् रूप से रहता है अतः **मैं ब्रह्मरूप हूं** इस प्रकार का जो अपरोक्ष ध्यान है, वही ज्ञान का उत्कृष्ट साधन है। सगुण पक्ष में तो अपने चित् अर्थात् हार्दाकाश में शास्त्र के द्वारा प्रतिपादित जो परमात्मा का रूप है, उसका निवेश करके विजातीय प्रत्ययों से बिना व्यवहित हुए सजातीय प्रत्यय प्रवाह रूप करना ही परमात्मा की उपासना है। **ईश्वरः सर्वभूतानां** इत्यादि वाक्य इसमें प्रमाण हैं।

१२. अखण्ड वाक्यार्थ के ज्ञान के उदय के पूर्व यह उपासना अपेक्षित होती है अर्थात् अहं का साक्षीरूप ब्रह्म है और वह साक्षी ही हमारी वास्तविकता है। इस भाव में अंतःकरण को समाहित करने पर अंत में वाक्यार्थ के ज्ञान का उदय होता है। अथवा सगुण पक्ष में वह सबसे पूर्व है, इस प्रकार की उपासना बन जाती है। ध्यान में

आरूढ़ होने के पहले भाव करना भी उपासना कही जाती है। अतः ध्यान स्थित होने के पहले, ऐसा इस पूर्व का अर्थ हो सकता है। ज्ञानोत्पत्ति के पहले यह आराधना करके अंत में ज्ञान को प्राप्त करता है, यह भाव है। निर्गुण पक्ष में तो **मैं ब्रह्म हूं** इस प्रकार अंतःकरण की गुफा (चित्त गुफा) में पहले (पूर्वम्) जो जीव रूप से स्थित था, वही अब **मैं परमात्मा हूं** इस प्रकार समझकर मुक्त होता है यह भाव है। इस प्रकार निर्गुण दृष्टि से सम्यक् ज्ञान के पहले, सम्यक् ज्ञान के अधिकार की प्राप्ति के लिये यह तात्पर्य भी सम्भव है एवं **मोक्ष के पूर्व** यह तात्पर्य भी सम्भव है। सम्यक् ज्ञान अधिकार की प्राप्ति के बाद सम्यक् ज्ञान का प्रतिपादन पूर्व मंत्र से समझ लेना चाहिये।

१३. परमात्मा को अपने समीप अनुभव करना ही वास्तविक उपासना है। शाब्दिक अर्थ यद्यपि समीप बैठना है परन्तु परमात्मा भौतिक पदार्थ न होने से समीपता भाव सम्बन्धी ही हो सकती है। निर्गुण पक्ष में अहं का साक्षी सबसे समीप है। सगुण पक्ष में हृदय में बैठा हुआ वह प्रेरक हुआ ही सबसे समीप है, क्योंकि जब तक उसकी प्रेरणा नहीं होगी, तब तक न ज्ञानेन्द्रियां ज्ञान कर सकती हैं और न कर्मेन्द्रियां कर्म और न अंतःकरण वृत्ति का ही निर्माण कर सकता है। इस प्रकार उसकी समीपता का अनुभव कार्य करण संघात में किया जाता है। विश्व के प्रत्येक कार्य के पीछे भी उसी का संकल्प कार्य कर रहा है। अतः प्रत्येक पदार्थ व घटना के अनुभव काल में जो उसी को देखा जाता है, उसकी इच्छा में अपनी इच्छा को समाहित किया जाता है, वह उसको समीप अनुभव करना है।

६

सः वृक्षकालाकृतिभिः परः अन्यः यस्मात् प्रपंचः परिवर्तते अयम्। धर्मावहम् पापनुदम् भगेशम् ज्ञात्वा आत्मस्थम् अमृतम् विश्वधाम॥

सः=वह
परः=परमेश्वर
वृक्षकालाकृतिभिः=वृक्ष, काल आदि आकृतियों से[१]
अन्यः=भिन्न है[२]
यस्मात्=जिससे[३]
अयम्=यह
प्रपंचः=संसार
परिवर्तते=घूमता है।
धर्मावहम्=(उस) धर्मप्रदाता,[४]
पापनुदम्=पापनाशक,[५]
भगेशम्=भगों के ईश्वर को[६]
आत्मस्थम्=अपने अन्दर स्थित[७]
ज्ञात्वा=अनुभव करके[८]
अमृतम्=मृत्यु से परे[९]
विश्वधाम=ब्रह्मधाम को[१०]
(याति)=(जाता है। चतुर्थ मंत्र से अन्वय है।)

१. वृक्षाकृति और कालाकृति यह समास है। यहां **ऊर्ध्वमूलो अवाक् शाखः** इत्यादि कठोपनिषद् में बताया हुआ संसार वृक्ष लेना चाहिये। अथवा मनुष्य शरीर ही वृक्ष है क्योंकि ऋग्वेद में **समाने वृक्षे** कहा है। शरीर और काल अर्थात् क्रिया के द्वारा अथवा शरीर, काल, क्रिया, आकृति, जाति इत्यादि के द्वारा उपलक्षित हुआ हुआ भी परमेश्वर असंग ही रहता है, यह तात्पर्य है। परमेश्वर संसार दोष से अस्पृष्ट रहता है एवं अस्पृष्ट रहते हुए ही सारी द्वैत कल्पनाओं का अधिष्ठान बनता है अथच सभी धर्माधर्मों को देता है। यही उसका निरंकुश ऐश्वर्य है।

वृक्ष अर्थात् संसार वृक्ष। लव निमेष आदि सर्वकाल विशेष में यह अनुस्यूत रहता है। अतः काल तत्त्व यहां कहा गया। **आ समन्तात् कृतिः क्रियत इति** इस व्युत्पत्ति से महद् आदि समष्टि कार्य रूप से इसे माया करती है अथवा परमेश्वर रूपी अधिष्ठान से प्रेरित होती है। अतः उसे आकृति कहते हैं। अथवा सर्व व्यापक होने से माया को आकृति कहा गया है। इस अर्थ में **वृक्षकालाकृतिभिः** में तृतीया पंचमी के अर्थ में है, ऐसा समझना चाहिये। तात्पर्य हुआ कि कार्य

और संसार वृक्ष, काल एवं भूत आदि प्रत्ययों का आलम्बन आकृति तथा अविद्या से जो **परः** अर्थात् परे है।

२. प्रपंच से अस्पृष्ट अर्थात् असंग अर्थात् उससे विलक्षण स्वभाव वाला। **अन्यः परः** इस प्रकार पद व्यत्यय से स्वयं उत्कृत यह अर्थ हो जाता है। यद्यपि शरीर में मस्तिष्क को उत्कृष्ट अंग कहा जाता है परन्तु वह अवयव विभाग के द्वारा है। परमेश्वर की उत्कृष्टता इस प्रकार विश्व के उत्तम अंग रूप से नहीं, वरन् इनके अंगी भाव को भी पीछे छोड़कर रहने के कारण है।

३. भिन्न कहने से अत्यंत भिन्नता के द्वारा असत् अर्थ भी आ सकता है अथवा उसका संसार से कोई सम्बन्ध ही नहीं है, ऐसी प्रतीति हो सकती है। अतः कहा कि उस परमात्मा से ही यह सारा प्रपंच चलता है। इस प्रकार वेदांत शास्त्र में परम शिव केवल उत्कृष्ट (Transeondental) ही नहीं वरन् व्यापक (Imminant) भी है। **अत्यंत सुख चिन्मात्र वपुः** ईश्वर से ही यह प्रपंच वैसे ही घुमाया जाता है जैसे स्वप्नद्रष्टा के द्वारा व्याघ्र आदि प्रपंच। चक्र की तरह गोल गोल घूमने के कारण इसे परिवर्त शब्द से कहा गया है।

अथवा **यस्मात्** का अर्थ आत्मा से कर लेना चाहिये। वृक्ष आदि से व्यतिरिक्त आत्मा से यह भूत भौतिक संघातरूप प्रपंच परि अर्थात् चारों तरफ से वर्तते अर्थात् निकलता है। तब अयम् का अर्थ हो जायेगा **विविधप्रत्ययगम्य**। तात्पर्य है कि अनंत प्रत्ययों के द्वारा जो है रूप से जाना जा रहा है, वह असत् कैसे हो सकता है।

४. जैसे हम उपासना करके उसे जानते हैं क्योंकि वह अपने भक्तों को ज्ञान देता है, वैसे ही दूसरों को भी उसके द्वारा धर्म दिया जाता है अर्थात् मल का नाश किया जाता है। धर्म ही सुख का एक मात्र कारण है और वह भक्तों को चारों तरफ से वहन करके देता है,

इसलिये उसे धर्मावह कहा गया। अथवा वह स्वयं ही धर्म रूप है। अतः वह स्वयं ही धर्म रूप से उनके पास आकर उनका मल नष्ट करता है। **तस्मै धर्मात्मने नमः** इत्यादि स्मृति वाक्य इसमें प्रमाण हैं। यज्ञ, दान, तप, आदि का समाराध्य वही है और उनका फल वही देता है, यह भाव है।

५. पापों को नष्ट करने वाला अर्थात् स्मरण मात्र से भक्तों के दुष्कर्मों का नाश कर देता है। पाप ही दुःख का एकमात्र कारण है। अपने भक्तों के पाप को वह नुदति अर्थात् नष्ट करता है।

६. भग का स्वामी होने से वह भगेश कहा जाता है। भग जिसके पास हो, वह भगवान् है। अतः भग का ईश होने से वह भगवानों का ईश्वर है, यह तात्पर्य है। ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य इन छः को भग कहते हैं। वही इनका नियंत्रण करता है। अन्य सब देवताओं को जैसे देव कहा जाता है, महादेव कभी भी नहीं। उसी प्रकार रुद्र को छोड़कर अन्य किसी देवता को भगेश नहीं कहा जाता। यहां शिवमूर्ति के वैशिष्ट्य को बताया गया है अर्थात वह कोई ऐश्वर्य वाला नहीं है। इसी को दिखाने के लिये पौराणिक शिव में किसी भी ऐश्वर्य यश, इत्यादि का प्रतीक आभरण, ठाठबाट इत्यादि नहीं दिखाया जाता।

भग का अर्थ कहीं कहीं भाग्य भी होता है। अतः सभी के भाग्य का एक मात्र अधिपति है अर्थात् कर्म फल प्रदाता है। अतः उसे भगेश कहा गया। जो दो टुकड़ों में बंटे उसे भी भग कहते हैं। माया के द्वारा चैतन्य जीव ईश्वर भाव में बंटता है। इस भेद का वह ईश्वर अर्थात् शासक बना रहता है और जीव शास्य हो जाता है, इसलिये भी उसे भगेश कहा जाता है।

७. यद्यपि यह पद मूलमंत्र में विशेष रूप से वर्णित है परन्तु सिद्धान्त के लिये हमने उसे क्रिया वाचक बनाया है। आत्मा से अर्थ

देह, इन्द्रिय आदि संघात है और उसमें भी प्रधान रूप से बुद्धि। वहां प्रत्यग् रूप से स्थित होने से उसे आत्मस्थ कहा। अथवा सब जड़ चेतन प्रपंच के आत्म रूप से स्थित होने के कारण उसे आत्मस्थ कहा है। तात्पर्य हुआ कि **अहं ब्रह्म, सर्वम् खल्विदं ब्रह्म** इन दोनों की अनुभूतियों का द्योतन किया जा रहा है। आत्म रूप से ही बुद्धि में स्थिति करना ध्यान है। अतः तात्पर्य हुआ कि इस प्रकार से उसका ध्यान करके। अथवा आत्मा माने जीव, अतः जीवात्मा में भगेश रूप से वर्तमान परमात्मा का ध्यान यहां बताया जा रहा है।

८. यहां श्रवण, मनन, निदिध्यासन के फलस्वरूप जो साक्षात् अनुभव होता है, उससे तात्पर्य है। **अहं ब्रह्म** इसका अखण्ड वाक्यार्थ बोध यहां समझना चाहिये।

९. मृत्यु अर्थात् संसार क्योंकि जन्म मृत्यु से ही संसार उपलक्षित होता है। जन्म मृत्यु से सर्वथा रहित होने से ही उसे यहां अमृत कहा गया। अथवा विनाश शून्य होने से भी तात्पर्य हो सकता है। विनाश रहित में अभयता स्वाभाविक होती है।

१०. सर्प आदि का जिस प्रकार रज्जु आदि आधार होता है, वैसे ही विश्व का आधार होने से उसे विश्वधाम कहा। अथवा विश्व ही अर्थात् जगत् ही उसकी प्राप्ति का धाम अर्थात् ठिकाना है। अतः उसे विश्वधाम कह दिया। इस ज्ञान से संसार रूप उसका बीज जल जाता है, यह तात्पर्य है। धाम का अर्थ कहीं-कहीं तेज भी होता है। अतः समग्र विश्व का तेज वही है एवं उसके तेज से ही हमको सारे विश्व का भान होता है।

७

तम् ईश्वराणाम् परमम् महेश्वरम् तम् देवतानाम् परमम् च दैवतम्। पतिम् पतीनां परमम् परस्तात् विदाम देवम् भुवनेशम् ईड्यम् ॥

तम्=उस[1]
ईश्वराणाम्=ईश्वरों के[2]
परमम्=परम[3]
महेश्वरम्=महेश्वर को,[4]
तम्=उस[5]
देवतानाम्=देवताओं के[6]
परमम्=परम
दैवतम्=देवता को,
च=और
पतीनाम्=पतियों के[7]
परमम्=परम
पतिम्=पति को,
परस्तात्=सबसे परे[8]
देवम्=देव को,[9]
भुवनेशम्=भुवनों के अधिपति को,[10]
ईड्यम्=स्तुति के योग्य को[11]
विदाम=अनुभव करें।[12]

१. परमात्मा की एकता एवं उस एकता का अनुभव करने वाले की कृतकृत्यता का प्रतिपादन ब्रह्मवेत्ता के अनुभव को दिखाते हुए ऋषि दृढ़ करते हैं।

२. ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, यम, वैवस्वत आदि, विराट्, हिरण्यगर्भ आदि ईश्वर कहे जाते हैं। परन्तु ऋषि उसके ज्ञान की प्रार्थना करते हुए इन सबको भी महेश्वर की अपेक्षा सामान्य ही मानते हैं अर्थात् जिसका प्रकरण चला हुआ है, उस परमात्मा की अपेक्षा जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, लय करने वाले ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र भी नगण्य ही हैं।

३. उत्कृष्ट अथवा सबका शासन करने वाला होने से ही उसे उत्कृष्ट कहा जाता है। वह उन्हें अंतर्यामी बनकर शासित करता है लेकिन वे उसके स्वरूप को भी जानने में असमर्थ हैं, यही उसकी परमता है।

४. जो महान् हो और ईश्वर अर्थात् नियंता हो, उसे महेश्वर कहते हैं। ईश्वरों का भी वह नियंता है, यह भाव है। अथवा उनसे भी ज़्यादा गौरव वाला होने से उसे महा कहा गया है।

५. दो बार तम् पद का प्रयोग करके इस प्रशंसा की औपचारिकता का निराकरण किया गया है अर्थात् यहां परम दैवत्, परम महेश्वर, परम पति इत्यादि वास्तविक रूप से प्रतिपादित हैं, गौण रूप से नहीं।

६. इन्द्र आदि अथवा इन्द्रिय आदि को देव कहते हैं क्योंकि वे ज्ञान के साधक हैं। परन्तु इन्द्र आदि प्राप्त भी वही कराने वाला है। इसलिये वह उनका भी दैवत् है। इन्द्रिय आदि को भी वही प्रकाश देता है, अत: उनका भी दैवत् है, यह भाव है। यद्यपि ईश्वर कहने से देवताओं का भी संग्रह हो सकता था, तथापि लोक में ईश्वर और देवता में कुछ भेद किया जाता है। ईश्वर का ईश्वर देवदेव नहीं हो जाता, इसी के अनुरोध से यह भी भेद कर लिया गया।

७. प्रजापतियों को पति कहते हैं अथवा दक्ष, कश्यप आदि भी प्रजापति कहे जाते हैं। यह परमेश्वर उनका भी स्वामी है। अथवा ऐश्वर्य और मोक्ष की सिद्धि के लिये जिसे भजा जाता है वह पति कहा जाता है। समष्टि कार्य करण उपाधि होने से सभी व्यष्टि कार्य करण उपाधि वालों का वह पति है। अर्थात् जैसे लोक में पत्नी के लिये पति ही एकमात्र उपास्य होता है, वैसे ही परमेश्वर ही मोक्ष कामना के लिये एकमात्र उपास्य है। अत: उसे परम पति कहते हैं। मोक्ष कामना के पूर्व अन्य ज्ञानों के लिये हिरण्यगर्भ, प्रजापति, कश्यप इत्यादि की उपासना प्राप्त थी। विविदिषु को भी इनकी उपासना कर्त्तव्य नहीं है, यह बताने के लिये यहां उसे पति का भी परम पति कहा गया।

८. अक्षर को पर कहा जाता है, क्षर अर्थात् अविद्या। यह अविद्या से भी परे होने से परस्तात् कहा जाता है। अनंत आनंद स्वभाव वाला होने से समष्टि भेदों से रहित है। अत: प्रकृति सभी रूप से परे है। देव, मनु, आदित्य आदिकों को जो असत् कर देता है, ऐसा दिव्य प्रकाश होने से भी उसे परस्तात् कह दिया गया है।

९. स्वयं प्रकाश होने से ही परमेश्वर को देव कहा जाता है अर्थात् उदय और अस्त से रहित चित् प्रकाश रूप।

१०. भावनाओं का ईश अर्थात् नियंता। तात्पर्य है कि निखिल कार्यजात का वह शासन करने वाला है।

११. ईड्य के अधिकार में पुनः ईड्य का ग्रहण अतीड्य बताने के लिये है। अथवा वेद, इतिहास, पुराण, आगम आदिकों के द्वारा वह स्तुत्य है।

१२. इस प्रकार उस परमात्मा को आत्म रूप से अपरोक्ष करना चाहिये, यह भाव है। अथवा लडर्थ में लोट् समझना चाहिये अर्थात् सारे पुरुषार्थ सम्बन्धी और मोक्षरूप पुरुषार्थ को अपने आप में आविर्भाव करके हम कृतकृत्य हुए अपने आपको जानते हैं। अथवा कृतकृत्यावस्था में रहते हैं, इस प्रकार ब्रह्मवेत्ताओं का अनुभव बताया गया। अथवा प्रार्थना में लोट् समझना चाहिये एवं गुणाभाव छांदस् मानना चाहिये अर्थात् ऋषि उस परब्रह्म के ज्ञान के लिये प्रार्थना करते हैं। अथवा हम साक्षात्कार करें, इस प्रकार मंत्र द्रष्टा ने शिष्यों को शिक्षा देने के लिये लोट् का प्रयोग किया है। मंत्र दर्शन से पूर्व ही मंत्र द्रष्टा को स्वयं तो आत्मज्ञान उत्पन्न हो ही गया। तात्पर्य यह है कि यदि मंत्र द्रष्टा का वचन है तो लोट् का लट् रूप समझ लेना चाहिये।

८

न तस्य कार्यम् करणम् च विद्यते न तत्समः च अभ्यधिकः च दृश्यते। परा अस्य शक्तिः विविधा एव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥

तस्य = उस (परमशिव) का[1]
कार्यम् = शरीर[2]
च = तथा
करणं = इन्द्रियां और मन
न = नहीं
विद्यते = हैं;[3]
च = और
तत्समः = उसके समान,[4]
च = तथा
अभ्यधिकः = बड़ा[5]
न = नहीं
दृश्यते = दिखता है।
अस्य = इस (परमात्मा) की
परा = उत्कृष्ट,[6]
स्वाभाविकी = स्वभावसिद्ध,[7]
च = तथा
ज्ञानबलक्रिया = ज्ञान, इच्छा, क्रिया रूप[8]
शक्तिः = शक्ति[9]
विविधा = अनेक प्रकार की[10]
एव = ही
श्रूयते = वेदों में कही गई है।

१. बिम्ब प्रतिबिम्ब भेदशून्य, मुखमात्र सम्बन्धी जो दर्पण रूपी उपाधि, उसके द्वारा मुख में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव की प्राप्ति कराई जाती है। बिम्ब मुख को छोड़कर प्रतिबिम्ब पक्षपातिता संसार की तरफ ले जाती है। इसी प्रकार जीव एवं ब्रह्म भेद से शून्य अनंत सुख रूप सम्बन्धी अविद्या कार्य और कारण रूपी उपाधि में जीवपक्षपातिता लाती है। कार्य कारण उपाधि जीव पक्षपाती होती है। परन्तु यदि इस प्रतिबिम्ब रूपी पक्षपात को छोड़कर बिम्ब स्थानीय परमात्म पक्षपातिता को प्राप्त कर लिया जाये तो काम बन सकता है। पारमार्थिक दृष्टि से यह भेदशून्य चैतन्य कार्य और कारण से रहित है, यह प्रतिपादन करना इस मंत्र का तात्पर्य है। तस्य के द्वारा उस भेदशून्य चैतन्य का ही परामर्श किया जा रहा है जिसे पूर्व मंत्र में कहा गया है।

२. शरीर आदि परिच्छेद होने पर उसकी महेश्वरता बन नहीं सकती। अतः शरीर के द्वारा समग्र परिच्छेदों का निषेध है। अथवा कार्य का अर्थ अविद्या के द्वारा जो विक्षेप उत्पन्न होता है, उसे कहा

गया है एवं तब कारण का अर्थ इस विक्षेप का असाधारण कारण अविद्या हो जायेगा। इन दोनों से भी वह रहित है। अथवा कार्य अर्थात् फल और कारण अर्थात् साधन। परमात्मा साधन और फल दोनों से निरपेक्ष है। अथवा कार्य व्यष्टि है और कारण समष्टि। परमेश्वर में व्यष्टि समष्टि दोनों भावों का अभाव है। अर्थात् न उसका समष्टि व्यष्टि शरीर अर्थात् विश्व और विराट् उपाधि रूप से स्थित है और न व्यष्टि अंतःकरण और समष्टि हिरण्यगर्भ ही उसकी उपाधि है। अद्वैत आनन्द अनुभूति रूप होने से उसमें इसकी सम्भावना नहीं है, यह तात्पर्य है।

३. आध्यासिक सम्बन्ध होने पर भी उसके स्वरूप में विद्यमान नहीं है, यह तात्पर्य है।

४. अद्वितीय होने से उसके तुल्य कोई नहीं हो सकता, यह श्रुति और युक्ति दोनों से सिद्ध है। अथवा न वेदों में, न वेदानुयायी दर्शनों में, न स्मृति, पुराण आदि में अथवा न्याय, मीमांसा इत्यादि में उसके समान किसी को कहा गया है।

५. जब उसके जैसा ही कोई दूसरा नहीं है, तब उससे बड़ा तो हो ही कहां से सकता है। अनेक ईश्वरों से अधिष्ठित होने पर तो एक साथ ही जगत् की उत्पत्ति और विनाश का संकल्प करने पर सब अव्यवस्थित हो जायें। अतः अनेक ईश्वरवाद संगत नहीं है। पौराणिक कथाओं में इस प्रकार का प्रतिपादन अविचार के कारण ही है। वस्तुतस्तु वहां आने वाली विविध शक्तियों को ही शक्ति और शक्तिमान् के अभेद से उपचरित करके कह दिया गया है जिससे लोगों को संदेह हो जाता है। पुराणकार का तात्पर्य अनेकेश्वरवाद में नहीं है।

कुछ लोग आगे आने वाले दृश्यते और श्रूयते का युगपत् सम्बन्ध करके **दृश्यते श्रूयते वा** ऐसा भी अर्थ कर लेते हैं। इस पक्ष में शक्ति के बारे में भी दृश्यते श्रूयते वा ऐसा अन्वय बन जायेगा। इसमें कोई विरोध नहीं है।

६. जिसके समान और अधिक कोई दूसरा नहीं है, ऐसा यदि वह एक ही है तो फिर उसमें जगत् कर्तृत्व आदि शक्ति भी नहीं होगी एवं यदि उसमें शक्ति है भी तो हम लोगों की तरह ही वह शक्ति होगी। इन दोनों का निषेध करने वाला परा शब्द है अर्थात् उसमें वह उत्कृष्ट शक्ति है, अतः वह हमसे भिन्न भी है और परा होने के कारण उसमें सद्वितीयता भी नहीं लाता। सद् के कारण आत्मा की ही सर्व कार्य उत्पन्न आदि को सामर्थ्य और अघटितघटनापटीयसी अविद्या ही सबसे परे होने से परा कही जाती है। यह शक्ति सर्वव्यापक है एवं इसे ही प्रथम अध्याय में जीवात्मशक्ति के नाम से कहा है।

७. स्वभाव अर्थात् अपना ही स्वरूप। स्वभाव किसी भी चीज में द्वितीयता नहीं लाता। **देवस्यैष स्वभावोऽयम्** कहकर आचार्य गौड़पादों ने भी यही बताया है। रस्सी का स्वभाव ही है सर्प आदि रूप में प्रतीत होना। अथवा अध्यास भाष्य के नैसर्गिक अर्थ में यह स्वभाव समझना चाहिये अर्थात् अनादि सिद्ध होने से ही स्वभावतः सम्बद्ध कही जाती है। इसी को लौकिक भाषा में सहज सिद्ध भी कहते हैं। तात्पर्य यह है कि **नेति-नेति** के द्वारा प्रतिषिद्ध अशेष विशेष परमेश्वर का प्रकृति और प्राकृत रूप स्वभाव नहीं हो सकता। फिर इसकी स्वाभाविकता क्या है? सर्व ज्ञेय विषय सर्वज्ञ लक्षणानुभूति ज्ञान क्रिया है। वह सर्वज्ञेयाकार सर्व अंतःकरण परिणामरूप क्रिया के द्वारा अभिव्यक्त होकर क्रिया की तरह प्रतीत होता है। यह ज्ञान और क्रिया ईश्वर का स्वभाव होने से स्वाभाविकी है। यहां स्वाभाविकी का तात्पर्य अन्याधीन नहीं होना है अर्थात् जहां कहीं, जिस किसी जगह पर, जिस किसी अंतःकरण की वृत्ति में ज्ञान होता है, वह ज्ञान परमात्मा का ही रूप वहां प्रतीत होता है। परमात्मा के अतिरिक्त ज्ञान और किसी अन्य के अधीन नहीं है अतः यह परमेश्वर

की स्वाभाविकी शक्ति कही है। इसी प्रकार जहां कहीं भी आनंद की प्रतीति है, वह परमात्मा की ही स्वसन्निधि मात्र से शान्त वृत्ति में प्रतीत होने वाली क्रिया विशेष है। अपनी सन्निधिमात्र से समग्र प्रकृति और प्राकृत जगत् को वह वश में रखता है एवं उसके नियम से प्रवर्त्तन करता है। यह सब उसकी इच्छा के अधीन होने के कारण और यह इच्छा और किसी के अधीन न होने के कारण बल या इच्छा भी उसकी स्वाभाविक शक्ति है। सर्वकल्पनाधिष्ठानभूत ईश्वर का अनंत पदार्थों में सत्ता रूप से प्रतीत होना उसकी क्रिया-शक्ति है। वह भी उसमें स्वाभाविकी है। उसके कारण ही सभी पदार्थ सत्ता वाले बनते हैं और सत्ता वाले बनने पर ही क्रिया की प्रतीति हो सकती है। अतः समग्र धातुओं का वाच्य जो क्रिया, उसका मूल **भू सत्तायाम्** वह उसका रूप होने से उसकी क्रिया स्वाभाविकी है। तात्पर्य है कि ज्ञानबल क्रिया उसकी निरपेक्ष है। इसी को लौकिक भाषा में सच्चिदानंद कहते हैं। प्रातिपदिक का अर्थ सत्ता ही होता है, ऐसा वैयाकरण मानते हैं। अतः सर्व परि-च्छेदों को छोड़कर अनंत सत्ता ईश्वर की स्वाभाविक शक्ति है एवं वह और किसी के अधीन नहीं है।

८. ज्ञान, बल और क्रिया ऐसा एक अर्थ सम्भव है। तब बल का अर्थ इच्छा होता है। भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर ने भी बल का अर्थ रागद्वेष आदि रहितता किया है। किन्हीं टीकाकारों के मत में तो ज्ञानक्रिया और बलक्रिया ऐसे दो ही माने गये हैं। सर्व विषय-ज्ञान, प्रवृत्ति ज्ञानक्रिया है एवं सन्निधि मात्र से सबके ऊपर नियमन करना बलक्रिया है। अथवा ज्ञान अर्थात् अविद्या रूप अंतःकरण की वृत्ति जो वस्तुओं का प्रकाश करती है। बल अर्थात् प्राप्त उत्साह या प्रयत्न, क्रिया अर्थात् व्यापारमात्र (Activity)। एक वचन होने पर भी नपुंसक का प्रयोग न करना तो आर्ष प्रयोग है। यद्यपि वेदांत में

प्रायः ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति का ही अधिक विचार होता है। परन्तु उसका कारण यह है कि इन ही दोनों का विचार सफल है, मीमांसक सिद्धांत को मानने वाला वेदांती निष्फल प्रयास नहीं करता। इच्छा चूंकि परमात्मा का स्वतंत्र विलास है, अतः उसका विचार निरर्थक है। फिर भी श्रुति ने उसके पूर्ण रूप को बताने के लिये यहां उसका निवेश कर दिया। इसको मानने से वेदांत का कोई विरोध नहीं है। **कामस्तदग्रे, सोऽकामयत् तदैक्षत्** आदि अनेक वेद वाक्य इच्छा को परमात्मा की स्वरूप शक्ति बताते ही हैं। आचार्य शंकरानंद स्वामी तो केवल इतने से ही संतुष्ट न होकर चकार के द्वारा संस्कार शक्ति, सम्बन्ध शक्ति इत्यादि का भी ग्रहण कर लेते हैं। कुछ अन्य आचार्य बलशक्ति को क्रिया शक्ति के ही अंतर्भुक्त मानते हैं। कुछ लोग ज्ञान और बल से युक्त क्रिया को ही क्रियाशक्ति मानते हैं अर्थात् एक ही क्रियाशक्ति के अन्दर ज्ञान और बल का भी समावेश कर लेते हैं। हर हालत में तात्पर्य तो एक ही है।

९. दो प्रकार की शक्तियां होती हैं—एक औपाधिक और दूसरी स्वाभाविकी। परमेश्वर में माया उपाधि बनकर रहती है तथा निर्वि-कल्प चैतन्य में स्वाभाविक बनकर। शक्ति और शक्तिमान् का सम्ब-न्ध अनिर्वचनीय ही माना जा सकता है क्योंकि शक्तिमान् जिस समय शक्ति को कार्य रूप में परिणत नहीं कर रहा होता है, उस समय में भी बना ही रहता है। शक्ति क्रिया के द्वारा अनुमेय होती है। शक्ति का साक्षात्कार बनता नहीं है। अतः कार्य को देखकर जिसका अनु-मान किया जाता है, वह कार्य न दीखने पर अनुमेय नहीं रहती। इस दृष्टि से शक्ति लीन हो गई, ऐसा कह सकते हैं। परन्तु वह लीनता पुनः उत्पन्न होने के लिये है, अर्थात् व्यक्त शक्ति (manifest) अव्यक्त शक्ति (unmanifest) में परिणत हो जाती हैं, ऐसा माना जाता है। परन्तु वस्तुतः जब तक पुनः वह व्यक्त नहीं हो जाती है तब तक उसके

पहले अव्यक्त थी, इसमें भी कोई प्रमाण नहीं है। व्यक्त होने पर अव्यक्त नहीं थी, ऐसा कहना भी नहीं बनता। शक्ति शक्तिमान् से भिन्न होकर कभी उपलब्ध नहीं होती। इन सब कारणों से शक्ति और शक्तिमान् का सम्बन्ध अनिर्वचनीय ही माना जा सकता है। विद्या का ब्रह्म से सम्बन्ध भी इसीलिये वेदांतों में आविद्यक ही कहा गया है। **मोहं च कार्यम् च विभर्ति मोहो तथैव मोहान्तरमन्तरेण** इत्यादि वाक्य इसमें प्रमाण हैं। भगवान् सुरेश्वराचार्य ने भी **इच्छाज्ञान-क्रियारूपमायया ते विजृम्भितः** इत्यादि के द्वारा इसी को बताया है। इसी को पुनः उन्होंने श्रुति के विविध पद का व्याख्यान करते हुए **ईश्वरोनंतशक्तित्वात् स्वतंत्रोन्यानपेक्षकः** कहा है। शक् का अर्थ सकता होता है। जैसे गम् से गति बनता है, वैसे ही शक् से शक्ति बनता है अर्थात् सकने का जो भाव है और वह पुनः कार्य रूप हो, तब उसे शक्ति कहेंगे। चैतन्य होने से उसकी सब शक्तियां भी चैतन्य ही हैं। अतः अज्ञान भी भावरूप ज्ञात पदार्थ ही है, ऐसा वेदांतों में बार-बार प्रतिपादित किया गया है। इस दृष्टि से ही शाक्तागमों ने शक्तिपूजा पर जोर दिया था एवं वैदिक कर्मकाण्ड में भी देवता देव को शक्ति रूप से ही माने गये हैं। इन्द्र, वरुण, यम आदि सब उस एक परब्रह्म देव की ही शक्तियां हैं, यह भाव है। उसको चेतन मानकर इन देवताओं की चेतनता भी सिद्ध हो जाती है। पुंस्त्व, स्त्रीत्व तो सर्वथा कल्पित हैं। अतः गौण हैं। अत्यंत अविचार शील लोग ही स्त्री देह को शक्ति मानते हैं। वस्तुतः जो कुछ भी दीखता है वह परमात्मा की शक्ति से दीखता है वह उसकी परा शक्ति है और जो दीखता है, वह उसकी अपरा शक्ति का विलास है। पूज्यता परा शक्ति में होती है, अपरा शक्ति में नहीं। अपरा शक्ति परा शक्ति को समझने का सोपान मात्र है। अतः यहां सहजा शक्ति को ही कहा गया है। अपरा शक्ति का प्रतिपादन यहां इष्ट नहीं है। यदि इष्ट ही

माना जाये तो शंकरानन्दोक्त रीति से चकार द्वारा संग्रहीत किया जा सकता है। तब स्वाभाविकी उसका विशेषण नहीं रहेगा।

१०. अविद्या शक्ति का आवरण और विक्षेप दो भाव तो स्फुट ही हैं। अथवा अपने विक्षेप विलासों से वह अनेक रूप वाला प्रतीत होता है, ऐसा वेद आदि सच्छास्त्रों से पता लगता है। विधा का अर्थ प्रकार होता है। अतः विशेष प्रकार की विधा या विशेष प्रकार यहां इष्ट है। यद्यपि संसार के यावत् पदार्थ उस शक्ति का ही विलास हैं परन्तु उनको किसी भी दृष्टि से जब संग्रहीत किया जाता है तब उसे विधा कहेंगे। समग्र भौतिक शास्त्र (Material sciences) उसको दृश्य जगत् की दृष्टि से भिन्न-भिन्न प्रकार से बांटते हैं, समग्र दर्शन मानस जगत् के रूप में बांटते हैं तथा आध्यात्मिक शास्त्र आत्मदृष्टि से बांटते हैं। परन्तु वास्तविकता तो यह है कि उस शक्ति का प्रत्येक विलास अपने आप में पूर्ण है और इसीलिये अनेकों विधाओं में बंटने पर भी वह उन सबको छोड़कर विश्व परा (Transcendent) बना ही रहता है। जीवन का प्रत्येक अनुभव अपने में इतना पूर्ण है कि यदि उसको हम विधाओं में न बांटें तो वह हमें परमेश्वर तक पहुँचाने के लिये पर्याप्त है। हम अपने अनुभवों को विधाओं में बांट बांटकर अनुभव की पूर्णता से छूछे रह जाते हैं। किसी आंग्ल कवि ने कहा था कि प्रत्येक बिन्दु में समग्र विश्व प्रतिबिम्बित होता है। यह घटना पूर्ण सत्य है क्योंकि प्रत्येक बिन्दु में जल अपनी पूर्णता के साथ ही उपस्थित रहता है। जल का भाग नहीं किया जा सकता क्योंकि जब तक उसमें जलता है तब तक वह जल नहीं है जल का खण्ड है, यह कैसे कहा जा सकता है। इसी प्रकार परमेश्वर की शक्ति के प्रत्येक विलास में परमेश्वर अपनी पूर्ण शक्ति से विद्यमान है। उसमें किसी भी प्रकार के खण्ड की कल्पना बनती नहीं। इसीलिये वह आगंतुक नहीं, वरन् स्वरूपभूत ही है। अनंत कार्य करणों

का बीज होने से तत्तद् रूपों में वह विविध प्रकार से प्रतीत होता है और प्रत्येक प्रतीति में बीज रूप से पुनः अनंतता को अपने अन्दर धारण करता है, यही उसकी वास्तविक विविधता है।

९

न तस्य कश्चित् पतिः अस्ति लोके न च ईशिता न एव च तस्य लिंगम् । सः कारणम् करणाधिपाधिपः न च अस्य कश्चित् जनिता न च अधिपः ॥

तस्य=उस (परमात्मा) का
कश्चित्=कोई
पतिः = पति[1]
न=नहीं
अस्ति = है।
च=तथा
लोके=संसार में
ईशिता=नियमन करने वाला[2]
न=नहीं है।
च = तथा
तस्य=उसका
लिंगम्=लिंग[3]
न=नहीं
एव=ही है।[4]
सः = वह
कारणम्=कारणरूप है,[5]
करणाधिपाधिपः=इन्द्रियों के अधिपति का अधिपति है।[6]
च=तथा
अस्य=इसका
कश्चित् = कोई
जनिता=पैदा करने वाला[7]
न=नहीं है।
च=और
अधिपः=अधिपति[8]
न=नहीं है।

१. शक्ति वाले दक्ष आदि प्रजापतियों का हिरण्यगर्भ अधिपति देखते हैं। इससे अनुमान होता है कि इसका भी कोई पति होगा। उसकी निवृत्ति करने वाला यह वाक्य है। तात्पर्य है कि परमेश्वर सारी शक्तियों वाला होने के कारण उसका और कोई पति नहीं हो

सकता। अथवा पति का अर्थ पालन करने वाला भी होता है। परमेश्वर सबका पालन करने वाला है, उसका पालन करने वाला कोई नहीं है।

२. संसार में देखा जाता है कि अनाथ शिशु का कोई पालन करने वाला न होने पर भी उसका नियंत्रण करने वाला तो होता ही है। अतः परमेश्वर का कोई नियंत्रण करने वाला होगा, इस संदेह का निवर्तक यह वाक्य है।

३. जिस प्रकार धुआं आग का लिंग होता है, उसी से आग का अनुमान होता है। उस प्रकार परमात्मा का कोई लिंग नहीं है। यद्यपि ईश्वर की सत्ता के विषय में लोग अनुमान करते हैं परन्तु कोई ऐसा अव्यभिचारी लिंग होता तो अवश्य ही आज तक ईश्वर के विषय में संदेह निवृत्त हो जाता। अतः अनुमिति का साधन ईश्वर के विषय में नहीं मिलता। वैसे भी परमेश्वर सब धर्मों से रहित है। अतः परमात्मा के विषय में किसी भी धर्म को लिंग बनाया ही नहीं जा सकता। ब्रह्मसूत्र आदि में स्पष्ट ही उसे वेदांतवेद्य माना है। नैयायिक यद्यपि पृथ्वी इत्यादि कार्य लिंगों से ईश्वर की सिद्धि करने का प्रयत्न करते हैं परन्तु वे वस्तुतः ईश्वर का साधन नहीं कर पाते। प्रपंच रूपी कार्य के दर्शन से कारणमात्र का अनुमान किया जा सकता है। उस कारण की किसी विशेषता का अनुमान सम्भव नहीं होता। अतः सर्वज्ञ ब्रह्म जगत् का कारण है, यह केवल वेदों से ही जाना जाता है। अतः उसे लिंग हीन कहा।

कारण में समग्र कार्य लीन होते हैं। अतः कारण को लिंग कहते हैं। उस ईश्वर का कोई कारण नहीं है और न उससे किसी कार्य की उत्पत्ति हुई है।

कार्य लिंगक अनुमान से परमात्मा को यदि सिद्ध भी करें तो उसमें सशरीरता की सिद्धि हो जायेगी एवं सशरीरी ईश्वर का पतित्व

एवं ईशिता भी सिद्ध हो जायेगी। अतः उसे कार्यलिंग से साधा नहीं जा सकता। अथवा लिंग अर्थात् शरीर जिसके द्वारा आनंदरूप परमात्मा लिंग्य अर्थात् गम्य हो, वह शरीर लिंग कहा जाता है। **लिंग्यते गम्यते अस्मिन् अनेन वा अयम् इति लिंगम् शरीरम्** इस प्रकार व्युत्पत्ति कर लेनी चाहिये अर्थात् वह स्थूल सूक्ष्म दोनों शरीरों से रहित है।

शिव का पूजन प्रायः लिंग में होता है। इसका कारण यह है कि यह रूप अरूप ध्यान का साधक है। विष्णु आदि विग्रह मूर्त हैं एवं आत्मा अमूर्त। लिंग इनके मध्य में है। न यह मूर्ति की तरह व्यक्त है और न सर्वथा अव्यक्त है। कृष्ण यजुर्वेद के तैत्तिरीय आरण्यक में हिरण्य लिंग इत्यादि के द्वारा इनका विस्तार से प्रतिपादन है। इस लिये लिंग ही शिव है, ऐसी भी संभावना हो जाती है। उसकी निवृत्ति के लिये यह कहा गया कि यह भी उसकी वास्तविकता नहीं है। पौराणिक दृष्टि से दारुकावन में जब भगवान् शंकर गये थे, तब उन्होंने भिक्षाटन लीला की थी। सोलह वर्ष के युवा होकर नंगे ही भिक्षा के लिये जाने से एवं मुनि पत्नियों के द्वारा सेवित होने से वे मुनि क्रोध में आ गये तथा उन्होंने उनके लिंग को गिरने का शाप दिया। वह गिर गया और शिव अन्तर्ध्यान हो गये। बाद में विष्णु ने उस लिंग के १२ टुकड़े किये तथा उन्हें द्वादश ज्योतिर्लिंग के रूप में स्थापित किया क्योंकि वह लिंग ज्योति रूप था। यह कथा वस्तुतः किसी आध्यात्मिक रहस्य को बताने के लिये है। शिव वस्तुतः अलिंग हैं परन्तु घट ज्ञान, पट ज्ञान आदि ज्ञानों में ज्ञान रूपी लिंग प्रतीत होता है जिससे अखण्ड ज्ञान का बोध सम्भव है। अतः विश्वज्ञान, विश्व सत्ता इत्यादि लिंग उस परमात्मा में कल्पित हैं। बुद्धि वृत्ति रूपी मुनिपत्नियां इसका सेवन करती हैं अर्थात् सत्ताज्ञान इत्यादि लिंगों के द्वारा परमात्मा की अखण्ड सत्ता और चित्ता को समझती

हैं। कर्मजड़ मुनि लोग इसको पसन्द नहीं करते। सर्वत्र परमात्म-दृष्टि करने वाले को कर्मकाण्डी लोग भ्रष्ट ही समझते हैं। प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्गों का झगड़ा तो अनादि है ही। जब उस लिंग रूपी सत्ता चित्ता को गिराया जाता है तब शिव अव्यक्त हो जाते हैं। तात्पर्य है कि लिंग के द्वारा ही यद्यपि शिव का ज्ञान बुद्धि वृत्तियों के द्वारा होता है परन्तु अंत में घटज्ञान, पटज्ञान आदि लिंगों को छोड़कर निर्विकल्प समाधि में पहुँचने पर लिंग अव्यक्त हो जाता है। वह लिंग पुनः पांच कर्मेन्द्रियां, पांच ज्ञानेन्द्रियां, मन और बुद्धि इन १२ भागों में बंटा हुआ रह जाता है। यही विष्णु के द्वारा द्वादश ज्योतिर्लिंगों का स्थापन करना है अर्थात् जीवन्मुक्तिकाल में ज्ञान इन १२ इन्द्रियों से ही प्रकट होता है। सामान्य व्यक्ति का ज्ञान भी इन्हीं १२ के द्वारा प्रकट होता है क्योंकि शिव के अव्यक्त हो जाने पर भी उनका लिंग यहां १२ रूप में रह ही गया। सामान्य व्यक्ति के लिये शिव अव्यक्त है। अतः ईश्वर है या नहीं, इसका भी उसे ज्ञान नहीं है। जीवन्मुक्त के लिये इसके विपरीत इन १२ के अन्दर शिव की ही लिंगता का बोध रहता है। इस प्रकार वस्तुतः शिव का कोई लिंग नहीं, यह कहना इष्ट है।

४. पाक्षिक सत्ता को हटाने के लिये यह एवकार है।

५. परमेश्वर को छोड़कर सभी चीजें किसी का कार्य हैं और किसी का कारण हैं। अतः उन्हें शुद्ध कारण नहीं कहा जा सकता। एकमात्र परमात्मा ही किसी का कार्य नहीं। अतः वही सबका कारण होने से शुद्ध कारण कहा जा सकता है।

कहीं कहीं **सकारणम्** ऐसा भी पाठ मिलता है। तब अर्थ होगा कि कारण सहित लिंग नहीं है। तात्पर्य है कि वह परमात्मा जगत् का कारण (लिंग) किसी अन्य कारण से नहीं है। भाव है कि यदि ईश्वर की कारण रूपता का कोई भी कारण माना जायेगा तो ईश्वर

जगत् के प्रति परतंत्र होकर कार्य हो जायेगा तथा जिस कारण से ईश्वर सृष्टि करता है, वह कारण ही वास्तविक कारण बन जायेगा। उस कारण का भी वह जड़ है या चेतन, ऐसा विकल्प आ जायेगा। जड़ होने पर स्वतः प्रवृत्ति नहीं होगी। चेतन होने पर उसी को कारण मानना पड़ेगा। उसका पुनः कारण मानने पर चक्रिका, अन्योन्याश्रय, अनवस्था आदि दोष अनिवार्य हो जायेंगे। अतः परमात्मा की कारणता स्वतंत्र होकर ही है। उस कारण का और कोई कारण नहीं है। वेदों में इसीलिये सृष्टि का कारण परमात्मा की इच्छा ही माना गया है। जो लोग सृष्टि के प्रति जीव के कर्मों को कारण मानते हैं, उनका भी यहां खण्डन समझ लेना चाहिये।

६. करण अर्थात् इन्द्रिय आदि। उनके अधिप हैं अग्नि, इन्द्र इत्यादि। उनको भी अधिष्ठित करके परमेश्वर पालन करने वाला होने से वह **करणाधिपाधिपः** कहा जाता है। आध्यात्मिक दृष्टि से इन्द्रियों का अधिप अंतःकरण हो गया एवं उसका अधिप अंतःकरण की वृत्तियों का प्रातिभासिक चेतन। अतः उसको यहां कहना ठीक ही है। पाठांतर में तो करण से अंतःकरण लेने पर अंतःकरण की वृत्ति का अधिपति चन्द्र, बृहस्पति आदि एवं उनका भी अधिपति शिव, ऐसा तात्पर्य हो जायेगा। वस्तुतस्तु अपनी माया से शिव सारे जगत् का कारण होते हुए समष्टि विज्ञान शक्ति और क्रियाशक्ति रूप लिंग देह को उपाधि बना लेता है। अतः यह लिंग देह ही करणाधिप हो गया। उसका भी अधिपति माया उपाधि वाला ईश्वर है।

अथवा करणाधिप और अधिप इस प्रकार द्वन्द्व समास कर लेने से अनंत आनंद परमेश्वर का ही जीव रूप से स्थित होकर इन्द्रियों का आधिपत्य करना उसका करणाधिप बन जाना है। **अनेन जीवेन आत्मना अनुप्रविश्य** आदि श्रुति इसमें प्रमाण हैं। माया रूपी उपाधि से सबका वह अधिप, लोक में कारण रूप से प्रसिद्ध होने से हिरण्यगर्भ आदि का भी वह अधिप है। अतः उसे अधिप भी कहते हैं। इस प्रकार वही जीव रूप से देह, इन्द्रिय का मालिक है एवं ईश्वर रूप से हिरण्यगर्भ आदि का, यह कहना यहां इष्ट है।

७. जनयिता की जगह जनिता यह णि लुक् से सिद्ध कर लेना चाहिये। तात्पर्य है कि परमात्मा को उत्पन्न करने वाला कोई नहीं है। परमात्मा आनन्द रूप है। नित्य होने से आनद कभी उत्पन्न नहीं हुआ करता। संसारी लोग जिसे आनंद समझते हैं वह तो उनके किसी दुःख की निवृत्ति का ही नाम है। आनंद एक भाव पदार्थ है, दुःख निवृत्ति रूप नहीं। यदि आनंद भी उत्पन्न होने वाला होगा तो विनाशी हो जायेगा। अतः उसका कोई जनक नहीं माना जा सकता। मूल कारण होने से, अपनी सिद्धि अपने अधीन होने से एवं अद्वितीय होने से परमेश्वर का कोई जनक नहीं हैं। इन सब हेतुओं का यहां संग्रह कर लेना चाहिये।

८. कोई उत्पादक न होने पर भी जिस प्रकार अविद्या अनुत्पन्न हो कर भी किसी के द्वारा अधिष्ठित हुई हुई ही पालित होती है, उस प्रकार ईश्वर का भी कोई पालक हो जायेगा। अथवा अधिष्ठान हो जायेगा। उसकी निवृत्ति के लिये यह कहा गया है। अथवा इसके द्वारा सभी अनुक्त संसार धर्मों के अभाव का प्रतिपादन है, अर्थात् अधिप अध्यक्ष को कहते हैं। अध्यक्ष किसी भी वादी और प्रतिवादी के कार्य में अंग नहीं होता। केवल तटस्थ भाव से देखता रहता है। इसी प्रकार संसार के सब धर्मों के प्रति वह कूटस्थ होने के कारण अध्यक्ष की तरह निर्विकार रूप से असंग हुआ अध्यक्षता करता रहता है। मंत्र का तात्पर्य है कि इस प्रकार परमात्मा को अपनी आत्मा में अनुभव करना चाहिये जिससे संसार दुःख समुद्र से पार हुआ जा सके।

१०

यः तन्तुनाभः[१] इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतः देवः एकः स्वम् आवृणोत्[२] । सः नः दधात्[३] ब्रह्म अप्ययम्[४] ॥

तन्तुनाभः = मकड़ी[५]	स्वम् = अपने आपको[९]
इव = की तरह	आवृणोत् = आवृत कर लिया[१०]
प्रधानजैः = प्रधान से उत्पन्न[६]	सः = वह
तन्तुभिः = रेशों से[७]	अप्ययम् = अविनाशी[११]
स्वभावतः = स्वभाव से[८]	ब्रह्म = ब्रह्म
यः = जो	नः = हमारी
एकः = अद्वितीय	दधात् = रक्षा करें ।[१२]
देवः = स्वयं प्रकाश शिव ने	

१. यस्तूर्णनाभः इति पठति नारायणः ।

२. समावृणोति इति दीपिकापाठः ।

३. दधात्विति वा पाठः ।

४. अव्ययम् इति शंकरानन्दः ।

५. मकड़ी के पेट से लारा के द्वारा तन्तु बनते हैं, अतः उसे तन्तुनाभ कहा जाता है । अथवा जहां से तन्तु निकले वही तन्तुनाभ हो गया । अतः धागे के गोले को भी तन्तुनाभ कहा जाता है । यहां चूंकि बनाने वाले को देव और बनने वाले को तन्तु, इस प्रकार निमित्त और उपादान कारण का भेद रूप से प्रतिपादन किया जा रहा है, अतः सम्भव है कि तन्तुनाभ का द्वितीय अर्थ ही इष्ट हो । अधिकतर व्याख्याताओं ने तूर्णनाभि के साथ संगति लगाने के लिये एवं अभिन्न निमित्तोपादान कारण को स्पष्ट करने के लिये मकड़ी वाला अर्थ ही ग्रहण किया है । हर हालत में द्वितीय पाद में अज्ञात आत्मा को ही

उपादान कारण बताते हैं । अतः अभिन्न निमित्तोपादान कारण तो धागे का गोला मानने पर भी सिद्ध हो ही जाता है ।

६. प्रधान अर्थात् जिसमें सब कुछ रखा जाये अथवा आहित किया जाये । **प्रकर्षेण धीयते अस्मिन्** इस व्युत्पत्ति से सारा संसार जिसमें आहित है, उस अविद्या को ही प्रधान कहा जाता है । यद्यपि यह सब सांख्य प्रक्रिया की प्रकृति में सांख्य सिद्धांत ने रूढ़ कर लिया है । परन्तु वस्तुतः सांख्य भी वैदिकों के द्वारा प्रसूत होने के कारण वैदिक ग्रन्थों का अर्थ सांख्य परिभाषाओं से नहीं वरन् सांख्य परिभाषाओं का कारण वैदिक शब्द समझने चाहिये । प्रधान को ही अव्यक्त कहते हैं जिससे नाम रूप कर्म उत्पन्न होते हैं ।

माया प्रधानमव्यक्तमविद्या ज्ञानमक्षरम् ।
अव्याकृतं च प्रकृतिस्तम इत्यभिधीयते ॥

आदि वाक्य इसमें प्रमाण हैं । वस्तुतः ब्रह्म ही जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है । ब्रह्म को निमित्त कारण मान लिया जाता है । इसी दृष्टि से यहां भी कह दिया गया है । अथवा आत्मा का जो आवरण है, वही अविद्या का वास्तविक रूप होने से अज्ञात आत्मा ही जगत् का कारण है । भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं–

तस्मादज्ञात आत्मैव शक्तिरित्यभिधीयते ।
नातोन्यथा शक्तिवादः प्रमाणेनावसीयते ॥
नहि वेदांतसिद्धान्ते ह्यज्ञातात्मातिरेकतः ।
सांख्यानामिव सिद्धान्ते लभ्यते कारणान्तरं ॥

(वार्तिकामृत ४-३-१७८४ से ८७ तथा ४-४-१८६)

वेदांत सिद्धान्त में अज्ञात आत्मा से भिन्न और कोई भी जगत् का कारण नहीं है । जैसे सांख्यों के यहां पुरुषों से प्रकृति भिन्न होती है, वैसा कुछ यहां नहीं है । अज्ञात आत्मा ही भाष्य ग्रन्थों में शक्त्यात्मा से कही गई है । प्रमाण से विचार करने पर इससे भिन्न और कोई

भी शक्तिवाद सिद्ध नहीं होता। अतः अज्ञात आत्मा से ही जगत् उत्पन्न होता है। अज्ञात आत्मा ही प्रधान है। इस दृष्टि से विचार करने पर प्रधान शब्द की वास्तविकता का रहस्य स्पष्ट हो जाता है क्योंकि सामान्य दृष्टि से परमात्मा ही सबसे अधिक प्रधान है। उसकी यह प्रधानता जगत् का कारण किसी अन्य पदार्थ को मानने पर गौण हो जाती है। अतः प्रधान की पूर्णता का प्रतिपादन वेदांत में ही सम्भव होता है। अथवा प्रकृति से यहां वासनायें भी ली जा सकती हैं। मनुष्य की प्रकृति का प्रधान कारण वासनायें ही होती हैं। अतः उनका ग्रहण भी संगत ही है।

७. प्रध्वस्त अखिल द्वैत स्वयं प्रकाश वपु वाला ईश्वर मकड़ी की तरह तंतुओं के द्वारा अपने ही आपको ढांकता है। जैसे तन्तु के द्वारा मकड़ी ढांकती है, वैसे ही ईश्वर नाम रूप कर्म के द्वारा अपने को ढांकता है, यह भाव है। वस्तुतस्तु सभी द्वैत कल्पनाओं का अधिष्ठान होने के कारण अद्वैत कल्पनाओं के द्वारा स्वयं आवृत होता है। जिस प्रकार मकड़ी अपने जाले को अपने में से ही बनाती है। उपादान कारण भी वही है, निमित्त कारण भी वही है, बीच में फंसने वाला भी वही है। इसी प्रकार नाम रूप कर्म का उपादान कारण भी परमात्मा ही है, निमित्त कारण भी वही है और फंसने वाला जीव भी वही है। तन्तुभिः में बहुवचन कल्पनाओं के अनेक भेदों को लेकर है। जिस प्रकार एक ही मशाल कभी वक्र, कभी गोल, कभी तिकोन इत्यादि रूपों से प्रतीत होती है, वैसे ही यहां पर भी ये सब रूप उत्पन्न हुए हुए दीखते हैं। परन्तु वास्तविक नहीं होते।

ऋजुवक्रादिकाभासम् अलातस्पन्दितम् यथा।
ग्रहणग्राहकाभासम् विज्ञानस्पन्दितम् तथा॥

इत्यादि के द्वारा यही कहा गया है। अथवा तन्तुओं के द्वारा स्थूल, सूक्ष्म कार्यों को ले लेना चाहिये अर्थात् जैसे मकड़ी के जाल का

सम्बन्ध मकड़ी से लगा ही रहता है। इसीलिये कई बार देखोगे कि छत पर से जब मकड़ी लटकती है तो पुनः उसी तन्तु के सहारे ऊपर भी चढ़ जाती है। इसी प्रकार सभी स्थूल, सूक्ष्म प्रपंच में सत्ता और चित्ता रूप से वह अनुस्यूत है। तात्पर्य हो गया कि प्रधान से उत्पन्न होने वाले स्थूल, सूक्ष्म में उसकी अनुस्यूतता बनी रहती है। अथवा जैसे तन्तु जाल में अनुस्यूत होता है, वैसे ही प्रधान के द्वारा उत्पन्न नाम रूपों में अविद्या अनुस्यूत रहती है।

८. मकड़ी जाले को कीड़े पकड़ने के लिये बनाती है। इसीलिये वैष्णव लोग मुण्डकोपनिषद् अथवा इस उपनिषद् के आधार पर यह सिद्ध करना चाहते हैं कि जीवों को पकड़ने के लिये परमेश्वर ने यह जाल बिछाया है। परन्तु यहां स्वयं अतिधन्य वेद ही कह रहा है कि परमेश्वर का ऐसा कोई प्रयोजन नहीं है। परमेश्वर यदि इस प्रकार किसी प्रयोजन वाला होगा तो अनाप्तकाम हो जायेगा एवं जो अनाप्त काम होता है उसे परमेश्वर माना ही नहीं जा सकता क्योंकि जो कामना उसे अनाप्त है, उसमें उसका स्वातंत्र्य और ऐश्वर्य खंडित हो जायेगा। इसलिये वेदांत के मुख्य सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए यहां भगवती श्रुति कहती है कि स्वभाव से अर्थात् बिना किसी प्रयोजन के वह सृष्टि करता है। स्वभाव के विषय में प्रश्न नहीं हुआ करता। जैसे अग्नि का स्वभाव गरम है, वैसे ही यहां समझना चाहिये। तात्पर्य है कि जो स्वभाव होता है वह स्वतंत्र होता है। किसी दूसरे के अधीन नहीं होता। परमेश्वर केवल मात्र अपनी इच्छा से ही सृष्टि करता है, किसी अन्य के अधीन होकर नहीं करता। भगवान् गौड़पादाचार्य कहते हैं **देवस्यैष स्वभावोयम् आप्तकामस्य का स्पृहा**। यद्यपि भगवान् वेदव्यास ने **लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्** लिखकर सृष्टि को कारण निष्प्रयोजनता बताते हुए लीला कहा है परन्तु उसके भाष्य में सर्वज्ञ शंकर ने स्पष्ट कर दिया है कि अधीश्वरों

की लीला में कोई प्रयोजन सिद्ध हो भी सकता है परन्तु परमात्मा की सृष्टि का तो प्रयोजन है ही नहीं। अतः प्रयोजन रहितता बताने में ही सूत्रकारों का तात्पर्य है, लीला के प्रतिपादन में नहीं। अविद्या से अतिरिक्त इस सृष्टि का और कोई भी कारण नहीं है, चाहे वह प्रयोजन रूप कारण ही क्यों न हो। पाश्चात्य दार्शनिकों में अनेक लोगों ने प्रयोजन को एक प्रधान कारण माना है जिसे वे प्रयोजन हेतुवाद (Pragmatism) कहते हैं। सृष्टि में एक विकास देखने में आता है। विकास का अर्थ ही होता है किसी प्रयोजन की तरफ गति। जब तक किसी ने इस सृष्टि का एक महत् प्रयोजन एवं उसका विवरण अपने आपमें स्पष्ट न कर लिया हो तब तक इसका विकास सम्भव नहीं होता। अतः जगत् के विकास से ईश्वर की सिद्धि होती है। यह जगत् जिसके प्रयोजन के लिये विकसित हो रहा है, वही परमेश्वर है। इस प्रयोजन में ईश्वर स्वतंत्र है एवं किन्हीं भी अन्य कारणों से प्रभावित होकर वह सृष्टि नहीं करता। इसलिये इसे उसका स्वभाव कहा जाता है। अतः ईश्वर की दृष्टि से प्रयोजनता की सिद्धि है और अधिष्ठान ब्रह्म की सिद्धि से प्रयोजनाभाव की सिद्धि है। भगवान् गौड़पादाचार्य ने **इच्छामात्रम् प्रभोः सृष्टिः** और **देवस्यैष स्वभावोयम्** इस प्रकार का भेद करके इसी को स्पष्ट किया है।

९. आवरण का आश्रय भी शिव ही है और वह आवरण विषय भी उसी को करता है। जैसे कोई पानी के आश्रय में भी है और पानी को ही विषय भी करती है अर्थात् ढांकती भी है। यद्यपि उपलब्ध सभी टीकाकारों ने **समावृणोत्** या **समावृणोति** पाठ माना है परन्तु हमने प्राचीन हस्तलेखों के आधार पर **स्वमावृणोत्** ही स्वीकार किया है। किंच, इसमें जो परमात्मा का स्वयं अपने आपको ढांकने का स्पष्ट निर्देश मिलता है, वह भी इस पाठ को स्वीकार करने में एक बहुत बड़ा कारण है। वस्तुतः आगे आने वाली जो प्रार्थना है वह

तब और भी संगत हो जाती है क्योंकि हम परमात्मा के ढके हुए रूप हैं और इस ढक्कन को हटाने के लिये ही हमारी प्रार्थना है। इसका पौराणिक रूप सप्तशती में विष्णु का अपनी ही निद्रा के द्वारा सोना और पुनः निद्रा के हट जाने पर राक्षसवध में प्रवृत्त होना बताया गया है।

१०. यद्यपि पाठान्तर में आवृणोति मान लेने पर वह अपने आपको संच्छादित करता है, यह अर्थ स्पष्ट ही बन जाता है तथापि **आवृणोत्** के अन्दर जो अंतिम उत् प्रत्यय का प्रयोग उसमें ब्रह्म अर्थ का आपादन कर देता है उसे वैदिक संधि स्वीकार कर लेना चाहिये। तात्पर्य हुआ कि मुण्डकोपनिषद् में कहे हुए **तपसा चीयते ब्रह्म** को यहां ध्वनित किया जा रहा है। परमात्मा अपने आपको ढांकता है। उसका एक प्रयोजन है और वह प्रयोजन अपने अनंत भावों को व्यक्त करते हुए पुनः उन अनंत भावों के संवरण के द्वारा अपनी एक बृहत्ता का स्पष्टीकरण करना है। यद्यपि जीव आदि कोई दूसरी चीज नहीं है जिसके लिये वह इस प्रकार का विस्तार करता हो परन्तु स्वयं अपने ही लिये करता है। जिस प्रकार कोई दूसरा व्यक्ति न होने पर हो सभ्य मनुष्य अपने वस्त्र आदि को पहनकर अपने शरीर को ढांकता भी है एवं उसके सौन्दर्य को दर्पण में देखता भी है तथा यदि आभरण ठीक न हों तो उन्हें ठीक भी करता है। ठीक इसी प्रकार से परमात्मा स्वयं अपनी अनंत शक्तियों को जगत् रूप में फैलाता है, उनके द्वारा अपने निरुपाधिक सत् चित् रूपों को ढकता है एवं पुनः उनको अपने में लीन कर लेता है और इस प्रकार अपनी अनंत शक्तियों का प्रकाश और विमर्श होता ही रहता है। यदि एक ही प्रकार से परमात्मा पड़ा रहता अर्थात् विमर्श शून्य होता तो उसमें और जड़ पदार्थ में फरक ही क्या रह जाता। अतः यहां पर आवृणोत् के द्वारा आवरण और आवरण का प्रयोजन दोनों का प्रतिपादन श्वेताश्वतर महर्षि को इष्ट है।

११. अब ऋषि अपने अभिप्रेत अर्थ को प्रार्थना रूप में प्रकट करते हैं। इसके द्वारा मंत्र द्रष्टा बताते हैं कि ब्रह्मज्ञान की उत्पत्ति प्रार्थना के द्वारा सरलता पूर्वक सम्भव होती है। यहां पर ब्रह्म में सब कुछ अप्यय होता है, इसलिये उसे अप्यय अर्थात् विद्या के द्वारा व्यवधान डालने वाला कहा गया। अविद्या के लीन हो जाने पर उसका कार्य भी लीन हो जाता है। केवल एक अखण्ड ब्रह्म ही रह जाता है। इस प्रकार ब्रह्म ही सबके लय का साधन होने से स्वयं अप्ययरूप है।

पाठान्तर में **ब्रह्माव्ययम्** पाठ मानने पर **ब्रह्म च तत् अव्ययं च** ऐसा द्वन्द्व कर लेना चाहिये अर्थात् वही ब्रह्म भी है और वही अव्यय भी है। इसी प्रकार ब्रह्म स्वात्म रूप से हमें धारण करे अर्थात् हम उसे आत्मरूप से जान लें अथवा वह हमारे हृदय में बैठ जाये।

अथवा **ब्रह्म अप्ययम्** को कर्म भी माना जा सकता है अर्थात् धारण क्रिया का इष्टतम अप्यय ब्रह्म है।

१२. **दधातु** का अर्थ **ददातु** होता ही है अर्थात् वह देव अपने स्वरूप को हमें देवे, यह भाव है। स्वयं वह भेदगत शून्य है और व्यापक है। अतः भेदनिवृत्ति करना ही अपने आपको दे देना है। दधातु पाठ स्वीकार करने पर तो सीधा ही अर्थ हो जाता है कि वह हमें धारण करे अर्थात् वह देव हमको ब्रह्मसाक्षात्कार करावे। तात्पर्य है कि स्वभाव के द्वारा ही उसने अपने आपको गुप्त कर लिया है और हम उससे अलग जैसे हो गये हैं। अब पुनः वह अपने स्वभाव के कारण ही हमारे लिये अपने स्व स्वरूप को प्रदान करे। अथवा हमें शम, दम आदि साधन सम्पन्न बनाये जिससे हम उसे धारण करने के योग्य बनें। वस्तुतः विद्या और अविद्या दोनों परमेश्वर का स्वभाव ही है। अतः वह जिस प्रकार बिना किसी कारण के जीव और जगत् रूप धारण करके भोग करता है, उसी प्रकार बिना किसी कारण के जीव जगत् को अपने में लीन करके मुक्त की तरह भात होता है।

११

एकः देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलः निर्गुणः च ॥

एकः = एक[1]
देवः = महादेव,[2]
सर्वभूतेषु = सारे प्राणियों में
गूढः = छिपा हुआ,[3]
सर्वव्यापी = सर्वत्र व्यापक,[4]
सर्वभूतान्तरात्मा = सब प्राणियों का अन्तरात्मा,[5]
कर्माध्यक्षः = कर्मों का फल देने वाला,[6]
सर्वभूताधिवासः = सब प्राणियों का वासा,[7]
साक्षी = साक्षी,[8]
चेता = चेतन करने वाला,[9]
केवलः = निरुपाधिक,[10]
च = और
निर्गुणः = गुणरहित है।[11]

१. अनेक देववाद का निराकरण करके अद्वितीय परमात्मा को बताने के लिये यह पद है। तात्पर्य है कि वही प्रधान कर्म एवं उसके अधीन फलों का साक्षात् अव्यवहित रूप से अपने में अध्यस्त करके अथवा फलों के विश्वरूप को देखता है। वस्तुतः इस प्रकार का समग्र द्वैत प्रपंच होने पर भी वह भेदगंध से शून्य है। पूर्व मंत्र की प्रार्थना से ऐसा संदेह हो सकता था कि प्रार्थ्य, प्रार्थना आदि भेद सम्भवतः वास्तविक हों, उसका निषेध करने वाला यह एक पद है।

२. सांख्य, नैयायिक आदि की तरह वह परमात्मा जड़ रूप नहीं है, यह बताने के लिये स्वयं प्रकाश वाचक देव शब्द का प्रयोग किया गया। नैयायिक आत्मा को जड़ स्वभाव मानते हैं एवं बौद्ध असत् स्वभाव। दोनों का निराकरण यहां इष्ट है। वह चिदेक रस होने के कारण उसमें जड़ता या असत्ता की कल्पना ही नहीं हो सकती।

३. सांख्य इत्यादि वादी आत्मा को चित् रूप मानकर के भी प्रति शरीर आत्मभेद भी स्वीकार करते हैं। उनका तात्पर्य है कि एक शरीर में एक आत्मा होती है। इस प्रकार के आत्मभेद के पक्ष का

निरसन करने के लिये सारे भूतों में वह एक ही है, यह कहा। यदि वह एक है तो उसकी एकता का भान क्यों नहीं होता? इसलिये उसे गूढ़ भी कह दिया। तात्पर्य है कि सारे प्राणियों में एक रूप से स्थित हुआ हुआ भी उनके कार्य करण संघात के द्वारा आच्छादित होने के कारण उसका उस प्रकार भान नहीं होता। अथवा **सर्वभूतेषु** के द्वारा अण्डज, स्वेदज, उद्भिज, जरायुज आदि सभी जीवों के जातिभेदों का संग्रह कर लेना चाहिये। तात्पर्य है कि आकाश में स्वयं प्रकाश ग्रह, नक्षत्रों के होने पर भी उनमें सुख, दुःख आदि का अभाव है। इससे कोई यह शंका न करे कि परमात्मा भी हमारे सुख दुःखों से असम्बद्ध होगा। अतः चाहे आकाश में सुख आदि न हों परन्तु प्राणियों में स्वयं प्रकाश साक्षी चैतन्य में सुख, दुःख आदि की अनंत रूप में उपलभ्यमानता देखने से उसकी ज्ञानरूपता प्रकट ही है। अतः स्वयं प्रकाश साक्षी चैतन्य नहीं है, ऐसा नहीं मान सकते। प्रश्न हो सकता है कि फिर सामान्य जन को भी उसकी प्रतीति होनी चाहिये। उत्तर है कि अनादि अविद्या के द्वारा उत्पन्न जो अहंता और ममता है, उसके अभिमान से यह ज्ञान ढका रहता है। इसीलिये सारे प्राणियों में विद्यमान रहने पर भी उसका भान नहीं हो पाता।

४. जो चीज आच्छादित होती है, वह परिच्छिन्न हुआ करती है। जैसे हीरे का प्रकाश कपड़े से ढांका जा सकता है तो हीरा परिच्छिन्न होता है, इसी प्रकार क्या परमात्मा भी परिच्छिन्न है? इस शंका को दूर करने के लिये सर्वव्यापी पद दिया गया। अर्थात् आकाश की तरह सर्वत्र व्याप्त होकर के वह विद्यमान है। रहस्य यह है कि जैसे सूत के बने मणि और माला में सर्वत्र सूत रहने पर भी वह मणि रूप से आच्छन्न हुआ हुआ सूत इस बुद्धि का विषय नहीं बनता। उसी प्रकार परमात्मा भी कण-कण में व्याप्त होने पर भी उसी के अन्दर आरोपित नाम रूपों के द्वारा वह स्वयं अपने ज्ञान का विषय

नहीं बन पाता। जिस प्रकार मोतियों की माला में धागा होता है, वहां तो धागा कहीं छिपा हुआ है और कहीं खुला हुआ है क्योंकि वह मणियों के एक देश में ही रहता है, वैसा यहां नहीं है अन्यथा परिच्छिन्न दोष की प्राप्ति हो जाती। आकाश की तरह अन्दर, बाहर सब जगह व्याप्त करके रहना ही जिसका सम्बन्ध हो, उसे सर्वव्यापी कहा जाता है।

५. व्याप्य व्यापक भेद वाला होने से आत्मा में पुनः सद्वितीयता की प्राप्ति हो जाती है जिसको हटाने के लिये यह पद दिया गया। सर्प, चांदी आदि में जिस प्रकार रस्सी सीप इत्यादि अपने अज्ञान से कल्पित रूप से भिन्न लगते हैं, अतः व्याप्य व्यापक भाव कहा जाता है। परन्तु फिर भी वहां व्याप्य व्यापक भाव सच्चा नहीं है। उसी प्रकार अध्यात्म आदि भेद शिव में कल्पित हैं। अतः अध्यात्म आदि भेदों में वह व्यापक है, ऐसा कहने पर भी अध्यात्म आदि भेद उसमें सद्वितीयता लाने में समर्थ नहीं होते हैं। अपने स्वरूप अध्यात्म आदि भेदों में ही वह उनके अन्दर आत्मा बना हुआ स्वरूप से वर्तमान है। इसीलिये उसे **सर्वभूतान्तरात्मा** कहा गया। तात्पर्य है कि व्याप्य व्यष्टियों का व्यापक शिव स्वरूप से अतिरिक्त स्वरूपाभाव है। अतः वे आत्मा में सद्वितीयता नहीं ला सकते। व्यापकता से अनात्मा की प्राप्ति हो सकती थी। जैसे आकाश व्यापक है तो अनात्मा है। उसको निवारण करनेवाला भी यह पद है अर्थात् सभी प्राणियों की बुद्धि के भीतर जो मैं इस ज्ञान और व्यवहार के योग्य अंतरात्मा है वह वस्तुतः शिव ही है। केवल सर्वभूतात्मा न कहकर बीच में अंतर पद दे दिया है। वह बुद्धि की व्यावृत्ति के लिये है अर्थात् वह बुद्धि नहीं बल्कि बुद्धि में रहने वाला और उसे प्रकाशित करने वाला है। यदि वह बुद्धि में रहता है तो सुख-दुःख का भोक्ता भी होगा और सुख-दुःख का भोक्ता होने के कारण संसारी होगा, ऐसी शंका को दूर करने वाला यह पद है।

६. शुभ और अशुभ फल देने वाले धर्म और अधर्म रूप कर्मों का वह अध्यक्ष अर्थात् नियंत्रण करने वाला है। अर्थात् परमेश्वर ही कर्मों का फल देता है एवं वही उनका प्रवर्तक भी है। उसके बिना कोई भी कर्म नहीं हो सकता। **यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते** आदि शिव संकल्प सूक्त भी इसमें प्रमाण है। चेतन, अचेतन और जगत् वैचित्र्य का बीज भिन्न-भिन्न प्रकार के पुण्य पाप आदि कर्म ही हैं, मीमांसा का यह कथन उपयुक्त है। परन्तु मीमांसा उस कर्म के आदि कारण पर विचार नहीं करती। यहां श्रुति कह रही है कि उन सब कर्मों का अधिष्ठान आत्मा ही है। अतः वही उनका प्रवर्तक भी है। कर्म फलदाता रूप से ही वेदांत सूत्रों में ईश्वर की सिद्धि की गई है। जड़ कर्म स्वतः फल देवें, यह मीमांसा का सिद्धान्त हृदय स्पर्शी नहीं है। किंच, कर्म को करने की सामर्थ्य स्वतः कर्म में तो निहित है नहीं एवं उसे पूर्व पुण्य का फल मानो तो अन्योन्याश्रय दोष हो जायेगा। अतः परमेश्वर को ही एकमात्र कर्म का प्रवर्तक माना जाता है। अथवा सर्वभूतांतरात्मा का तात्पर्य सब प्राणियों का स्वरूपभूत है। चूंकि वह सब प्राणियों का स्वरूपभूत है, इसलिये तत्तत् स्वरूप से जो कर्म करेगा उसका भोग भी तत्तत् स्वरूप से ही भोगेगा। जीव की वास्तविक सत्ता इस पक्ष में है ही नहीं। वह तो केवल ईश्वर का प्रतिबिम्बमात्र है।

७. सब प्राणियों में वही रहता है। तात्पर्य है कि यदि उसे केवल कर्माध्यक्ष मानते हैं तो नैयायिकों की तरह तटस्थेश्वरवाद सिद्ध हो जायेगा। उस शंका को दूर करने के लिये सारे प्राणियों को अपने आत्मरूप से अधिकृत करके रहता है, इसलिये उसे सर्वभूताधिवास कहा। अर्थात् वह सबका आत्मस्वरूप है, यह भाव है।

जिस की कृपा से सभी कुछ असुषुप्ति अवस्था को प्राप्त होता है, वह आत्मा यदि द्वैत कल्पना के अधिष्ठान रूप से सचमुच आच्छन्न हो जायेगा तो सारा जगत् ही अंधकारमय हो जायेगा। ऐसी शंका होने पर इतरेतराध्यास को स्वीकार करने के लिये सर्वभूताधिवास पद है। इतरेतराध्यास के द्वारा इस दोष की निवृत्ति हो जाती है। तात्पर्य है कि सारे प्राणियों में रहता है। अपनी अविद्या से अपने में आरोपित सभी पदार्थों में स्वयं भी अध्यस्त हुआ हुआ रहता है। अतः जगत् के अंधकारमय होने के दोष की प्रसक्ति नहीं होती। वह यदि सर्वथा ढका होता तो जगदान्ध्य प्रसक्ति हो जाती परन्तु वह अपने स्वरूप से ढका हुआ होने पर भी पदार्थों में अध्यस्त रूप से प्रतीत हो रहा है। तात्पर्य है कि जैसे सांप में रस्सी की लम्बाई और मोटाई का भान होता है, वैसे ही जगत् में उसके सत् और चित् रूप का भान होता है। सांप की मोटाई में यद्यपि रस्सी की मोटाई का भान होता है परन्तु सांप की मोटाई स्वयं अध्यस्त ही है। इसी प्रकार जगत् में जो सत्ता और चित्ता का भान होता है, वह घटसत्ता और घटज्ञान स्वयं अध्यस्त है। परन्तु फिर भी वास्तविक सत्ता और ज्ञान का प्रकाश लेकर के ही यह व्यवहार होता है।

सारा चराचर जगत् उसी में बसता है। इसलिये वह सब प्राणियों का वासा है, यह अर्थ तो स्पष्ट ही है। यदि वह अधिष्ठान न हो तो ये सब अध्यस्त किस के आधार पर रहें।

८. यदि परमात्मा सब चीजों का अवभासक है तो विकारी, जड़, विनाशी इत्यादि दोषों से ग्रस्त भी होगा। जैसे अग्निसंयोग के द्वारा कर्पूर गंध आदि का अवभास होता है तो कर्पूर गंध आदि विकारी, जड़ और विनाशी होते हैं। ऐसी शंका होने पर कहते हैं कि वह साक्षी है। साक्षी अर्थात् साक्षात् ईक्षते। तात्पर्य है कि किसी भी परिणाम और व्यवधान के बिना ही अपनी सन्निधिमात्र से सबको असुप्त रूप से व्यवहार योग्य बनाते हुए भी वह उनको देखता रहता है। जैसे सूर्य प्रकाश सबको प्रकाशित करता है परन्तु उनके विकार आदि दोषों से

ग्रस्त नहीं होता, वैसे ही यहां भी समझ लेना चाहिये। अथवा चुम्बक के दृष्टांत में जिस प्रकार चुम्बक लोहे को परिभ्रमित करता हुआ भी स्वयं निर्विकार रहता है, वैसे ही यहां भी समझ लेना चाहिये।

सर्वरूप होने पर वह कर्त्ता भोक्ता होगा एवं जब उसका कर्ता भोक्ता रूप से अनुभव हो रहा है तब उसे स्वयं प्रकाश कैसे माना जाये ? इसके जवाब में भी साक्षी पद है। अर्थात् मैं सुखी, मैं दुःखी, इन ज्ञानों का भी वह केवल द्रष्टा है। लोक में भी सुख-दुःख का अनुभव करने वाले से भिन्न ही सुख-दुःख रहते हैं। असंम्बद्ध ही विवादों का निर्णायक साक्षी माना जाता है, अर्थात् जो स्वयं किसी घटना से सम्बन्धित हो उसे साक्षी नहीं माना जाता परन्तु जो घटना से असम्बद्ध हो, उसी को साक्षी माना जाता है। इसी प्रकार यहां भी परमेश्वर प्राणियों के कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व, सुख, दुःख आदि से अलग रहने के कारण ही साक्षी है। यहां साक्षी में जो कर्त्ता वाचक प्रत्यय है, वह **साक्षाद्द्रष्टरि संज्ञायाम्** से सिद्ध कर लेना चाहिये, अर्थात् साक्ष्य करने वाला नहीं वरन् साक्ष्य रूप है।

९. यदि आत्मा साक्षी होगा तो इन्द्रियों वाला भी होगा क्योंकि बिना इन्द्रियों के किसी भी चीज का साक्षी बनना सम्भव नहीं। ऐसी शंका होने पर कहा गया कि वह चेता है। अर्थात् बिना किसी करण के ही स्वयं चेतन रूप है अर्थात् सबको चेतना प्रदान करने वाला है। चूंकि उनको चेतना प्रदान करता है, इसीलिये उनका साक्षी भी रहता ही है। जिस प्रकार बैंक व्यापारी को रुपया देता है, उनके लाभ, अलाभ से उसको कोई मतलब नहीं, निश्चित व्याज ही उसे लेना है। परन्तु फिर भी उनके व्यापार की तरफ बैंक दृष्टि रखते ही हैं क्योंकि बैंक के रुपये से ही वह व्यापार चल रहा है। ऐसे बैंक की साक्षी भी मिल जाती हैं कि यह व्यापारी ठोस है तो उसकी यह साक्षिता प्रामाणिक मानी जाती है। ठीक इसी प्रकार सबको चेतना

रूपी धन देने वाला होने से परमेश्वर साक्षी है। इन्द्रिय आदि के द्वारा वह साक्षी नहीं बनता। वह बोधमात्र है, यह तात्पर्य है।

अथवा चिञ् चयने से चेता शब्द बना लेना चाहिये अर्थात् वह सारे संसार को संचित करता है। अतः उसे चेता कहा जाता है।

१०. यदि आत्मा चेता है तो नित्य ही ज्ञेय आदि सापेक्ष्य होगा अर्थात् ज्ञेय रहने पर ही तो वह ज्ञाता बन पायेगा। फिर उसका मोक्ष कभी सिद्ध नहीं होगा। ऐसी शंका न हो, इसलिये उसे केवल भी कह दिया। आत्मचैतन्य को अभिव्यक्त करने वाली बुद्धि वस्तुतः विषय आदि साधनों से उत्पन्न होने वाली होती है। अतः वह बुद्धि विषय आदि सापेक्ष्य होती है। उस बुद्धि के उदय अस्त होने से आत्मा में उदय अस्त की भ्रान्ति होती है अर्थात् विषय से बुद्धि का उदय अस्त एवं बुद्धि के उदय अस्त से आत्मा की उदय अस्तता प्रतीत होती है। परन्तु आत्म चैतन्य स्वयं उदय अस्त रहित है। अतः वह विषय के सापेक्ष्य नहीं हैं। वह तो विषय आदि से निरपेक्ष आनंद चित् प्रकाश रूप हैं। जिस प्रकार अपना प्रकाश्य सब विषयों से रहित होने पर भी सूर्य आकाश में प्रकाश रूप में ही स्थिर रहता हैं, उसी प्रकार यहां समझना चाहिये।

११. जैसे अग्नि में अग्नि की शक्ति हमेशा रहती है, वैसे ही आत्मा में यदि शक्ति रूप से स्रष्टृत्व अध्यक्षत्व आदि रहेंगे तो मोक्ष में भी बने रहेंगे क्योंकि वह उसका स्वभाव होगा एवं जब वे बने रहेंगे तो फिर उसका कार्य भी कभी न कभी उत्पन्न होकर अनिर्मोक्ष्य की प्राप्ति हो जायेगी। इसको हटाने के लिये निर्गुण पद दिया गया। अर्थात् नेति नेति के द्वारा जब सारे विशेषों का प्रतिषेध कर दिया तब उसमें स्वरूप से कहां शक्ति रहेगी। परमात्मा को कर्माध्यक्ष इत्यादि न मानने पर कोई दूसरा कर्माध्यक्ष होगा ऐसी शंकायें होती हैं, उनकी निवृत्ति के लिये ही इन गुणों का उसमें आपादन किया जाता

है। वस्तुतः तो वह अनंत शक्तियों का अधिष्ठान है और अविद्या के कारण एकता के अध्यास से उसमें शक्तिमत्ता की प्रतीति है। वस्तुतस्तु वह गुण गुणी आदि भेदों से रहित है एवं स्वयं प्रकाश आनन्द रूप है। वस्तुतः कूटस्थ ब्रह्म ही मूलाविद्या के योग से ईश्वर रूप से सब प्राणियों को अपने कर्म का फल देता है। अतः उससे भिन्न कोई कर्म फलदाता ईश्वर नहीं है। सर्वभूताधिवास होने से सूत्रात्मा भी उससे भिन्न नहीं है। ईश्वर ही सूक्ष्म उपाधि के द्वारा सारे प्राणियों में सूत्रात्मा रूप से रहता हुए उनका नियंता है। स्वभास्य साध्यता की निवृत्ति होने पर साध्यता से निरूपित साध्यत्व भी नहीं रह जाता क्योंकि वह विशेष सामान्य शून्य है। इस प्रकार उसकी निर्गुणता सप्रतियोगिक नहीं वरन् निष्प्रतियोगिक है। तात्पर्य है कि अभाव प्रायः सप्रतियोगी होता है। घटाभाव का प्रतियोगी घट है। जहां घट होगा, वहां घटाभाव नहीं रह सकता। इसी प्रकार परमात्मा में गुणाभाव यदि सप्रतियोगिक होता तो परमात्मा से अन्यत्र कहीं गुणों की सत्ता होती। वस्तुतस्तु अन्यत्र कहीं गुण हैं ही नहीं और यदि भासते हैं तो परमात्मा से अभिन्न होकर के ही भासते हैं। यही परमात्मा की निर्गुणरूपता है। इसलिये यहां द्वैतवादियों का प्रवेश असम्भव है।

१२

यदि वह एक देव है तो वह अकेला कर ही क्या सकता है एवं उसके ज्ञान से क्या लाभ और उसके न जानने वालों को क्या हानि होती है, इत्यादि का निरूपण करते हैं :—

एकः वशी निष्क्रियाणाम् बहूनाम् एकं बीजम् बहुधा यः करोति। तम् आत्मस्थम् ये अनुपश्यन्ति धीराः तेषाम् सुखम् शाश्वतम् न इतरेषाम् ॥

यः=जो
एकः=एक[1]
बहूनाम्=बहुत[2]
निष्क्रियाणाम्=निष्क्रियों को[3]
वशी=वश में रखने वाला,[4]
एकम्=एक[5]
बीजम्=बीज को[6]
बहुधा=बहुत प्रकार का[7]
करोति=बनाता है[8]
तम्=उस[9]
आत्मस्थम्=आत्मा में स्थित को[10]
ये=जो
धीराः=बुद्धिमान्
अनुपश्यन्ति=अनुभव करते हैं[11]
तेषाम्=उनको[13]
शाश्वतम्=शाश्वत[14]
सुखम्=सुख होता है[15]
इतरेषाम्=दूसरों को[16]
न=नहीं होता।

१. भेद रहित अद्वितीय।

२. यद्यपि सिद्धान्त में आत्मा एक ही है, जीवों की बहुतता को लेकर अर्थात् कार्य करण संघात की अनेकता से जो आत्मा की अनेकत्व प्रतीति है उसको लेकर यहां बहुत शब्द समझना चाहिये। अथवा जड़ पदार्थों की बहुतता भी यहां पर इष्ट है।

३. जड़ आकाश आदि एवं बुद्धि आदि उपाधि सब उस चेतन आत्म तत्त्व के बिना कार्य नहीं कर सकते। इसलिये स्वरूप से वे निष्क्रिय हैं। चित् सन्निधि के बिना अचेतन में क्रिया सम्भव नहीं होती। चित् सन्निधि के द्वारा अर्थात् परतः उनमें प्रवृत्ति होती है। विचार दृष्टि से देखने पर तो कार्य करण संघात अथवा आकाश आदि महाभूत परमार्थतः कूटस्थ चिदेकरस ही हैं। अतः इस दृष्टि से भी उनमें क्रिया सम्भव नहीं है। विश्व में सृष्टि के आदि क्षण से अंतिम क्षण पर्यन्त ईश्वर का एक ही अखण्ड संकल्प चित्रित होता रहता है। जिस-जिस चित्रण के सामने बुद्धि वृत्ति पहुँचती है, वहां वहां क्रिया का अवबोध होता है। यह स्मरण रखना चाहिये कि बुद्धि वृत्ति का

पहुँचना स्वयं भी एक चित्रण ही है। अतः जिस प्रकार चलचित्र के गोटे में सारे चित्र पहले से ही खिंचे होते हैं। द्रष्टा को प्रतीत होता है कि उनमें पूर्वापर सम्बन्ध है परन्तु वस्तुतः वे युगपत् सिद्ध हैं। इसी प्रकार विश्व सृष्टि को भी समझना चाहिये। अतः परमार्थतः चेतन अचेतन दोनों ही दृष्टि से व्यापार रहितता ही सिद्ध होती है।

४. स्वतंत्र अर्थात् किसी अन्य के वश में न होकर के बाकी सबका वशीकरण करने वाला। परमात्मा ही एकमात्र अपनी इच्छा शक्ति से सभी व्यापारों को करता है, यह भाव है अथवा सबकुछ इसके वश में रहता है, इसलिये यह वशी है। अर्थात् सब कुछ उसके अधीन है। प्रकृति का नियामक होने से उनका वशी है एवं चेतनाओं का स्वरूप होने से उनका वशी है। इसलिये जड़ों में परतंत्रता और चेतनों में स्वतंत्रता की अनुभूति होती है। स्वतंत्रता ही वस्तुतः चेतन का लक्षण है।

५. जैसे शिव एक अद्वितीय है वैसे ही उसकी शक्ति भी उससे अभिन्न होने के कारण एक अद्वितीय ही है। शिव और शक्ति का भेद साधनता में स्वीकृत नहीं किया गया है। यदि भेद है तो इतना ही कि शक्ति बहु भवन का द्वार है एवं शिव एक भवन का द्वार। जिस प्रकार एक ही दरवाजा बाहर जाने और अन्दर आने दोनों का काम करता है, उसी प्रकार वह एक ही परम तत्त्व सृष्टि की दृष्टि से शक्ति और संहार की दृष्टि से शिव प्रतीत होता है। पूर्व अध्याय में इसीलिये **अजाम् एकाम्** कहा था। इस इच्छा शक्ति में भी किसी प्रकार के भेद की सम्भावना नहीं होने से इसे त्रिगुणात्मिका प्रकृति मानने की भूल नहीं करनी चाहिये।

६. अज्ञान शक्ति आत्मा को विषय करते हुए जड़ पदार्थों की सृष्टि करती है एवं पुनः उसी आत्मा को आश्रित करते हुए जीव की सृष्टि करती है। वस्तुतः दोनों की अभिन्नता होने से जीव और जगत् दोनों

तद्रूप ही हैं। इसी को बीज कहा जाता है। अज्ञान ही जीव जगत् समस्त सृष्टि का बीज है। कहीं कहीं **एकम् रूपम्** ऐसा पाठ भी उपलब्ध होता है। तब तात्पर्य होगा कि एक रूप अपने आपको वह बहुत बनाता है। अथवा जो बहुत प्रकार का बना हुआ है उसको ज्ञान शक्ति से पुनः एक बनाता है।

इस प्रकार आवरण रूप भेद शून्य अविद्या ही उस बीज का स्वरूप है, यह कहकर वह किस प्रकार नियंत्रण करता है, इसे बता दिया। अनेक विक्षेप वाले अंकुरों के द्वारा संसार वृक्ष को उत्पन्न करने के कारण ही इसे बीज कहा गया है। तात्पर्य है कि सारी क्रियायें कार्य करण संघात से समवेत हैं, आत्मा से नहीं। आत्मा कूटस्थ हुआ हुआ अनात्म धर्मों का आत्मा में अध्यास कर के कर्ता, भोक्ता, सुख, दुःख, मोटा, दुबला, मनुष्य आदि अभिमानों को करता रहता है। यह जो बहुत प्रकार की प्रतीति है, उसका बीज अपने स्वरूप को नहीं जानना ही है।

७. अनेक प्रकार के भूत भौतिक प्रपंच अथवा कामनायें अथवा अदृष्ट आदि अथवा ब्रह्मा, विष्णु, आदि देव आदि आदि उसके बहुत रूप हैं। दूसरी जगह भी वेद में **स एकधा भवति, त्रिधा भवति पंचधा भवति** इत्यादि कहा गया है। एक ही शिव अनादि संसार में अनेक जन्मों में संचित, विहित, प्रतिषिद्ध कर्म और उपासनाओं को अविद्या के द्वारा करके भिन्न-भिन्न प्रकार की लहरों का प्रेरक बन गया है एवं उनको अपने से एक समझकर उनका भोक्ता बनता है। इस प्रकार माया के द्वारा एकता के अध्यास से चित् धातु में समष्टि और व्यष्टि कार्य करण उपाधि के द्वारा जीव और ईश्वर की कल्पना होती है यही उसका बहुभवन है। **तदात्मानम् स्वयं अकुरुत** इत्यादि श्रुतियां एवं **स्वयमेव जगत् भूत्वा प्राविशत् जीवरूपतः** इत्यादि श्रुति इनमें प्रमाण हैं।

सामान्य दृष्टि से विचार करने पर तो कह सकते हैं कि एक ही परमेश्वर प्रलय काल में अपने में लीन और उस समय में भोग और मोक्ष दोनों के प्रति निष्क्रिय, प्राणियों के भोग और मोक्ष के लिये क्रिया सिद्धि की दृष्टि से उन्हें पुनः ब्रह्मा विष्णु आदि देव, यम आदि पितृ गण एवं ऋषि, मनुष्य आदि रूपों को बहुत प्रकार का बना देता है। अध्यात्म दृष्टि से कह सकते हैं कि सुषुप्ति काल में इन्द्रियां, मन, आदि सभी भेद आत्मा में लीन होते हैं। पुनः भोग के लिये जाग्रत्, स्वप्न काल में उनकी सृष्टि कर देता है, यह भी बहुधाकरण ही है।

८. इसमें **स्वतंत्रः कर्त्ता** इस पाणिनि सूत्र के द्वारा यह स्पष्ट होता है कि आत्मा यह सब करने में पूर्ण रूप से स्वतंत्र है। यह बहुत रूप बनाने में किसी भी प्रकार की परतंत्रता के वश में नहीं होता। इतना स्मरण रखना चाहिये कि इच्छा ही तंत्र है। अतः अपनी इच्छा से जो किया जाता है, उसी का नाम स्वतंत्रता है। इच्छा क्यों? यह प्रश्न ही मूर्खतापूर्ण है।

९. ऊपर के श्लोकों में बताये हुए परमात्मा के सभी रूपों का संग्रह करने के लिये यह सर्वनाम है।

१०. बुद्धि में स्थित को ही **आत्मस्थ** कहा गया है। परमात्मा हमेशा ही बुद्धि में प्रकट होता है। प्रत्येक ज्ञान में बुद्धि वृत्ति भी होती है और उसमें प्रतिबिम्बित परमात्मा भी होता है। अतः प्रत्येक बुद्धि की वृत्ति में वह वर्तमान है, इस प्रकार से उसको जानना उसकी वास्तविकता को जानना है। शरीर वस्तुतः आत्मा का आधार नहीं है क्योंकि शरीर मूर्त है, तथापि वहीं पर परमात्मा का भान सम्भव होता है। जब चेतन शरीर ही आत्मा का आधार नहीं तब बाह्य मूर्ति इत्यादि के रूप में आत्मध्यान तो सुतरां सम्भव नहीं है। अतः परमात्मा का ध्यान और परमात्मा की प्राप्ति अपने हृदय में ही हो सकती है। अन्य देवता इत्यादि की दृष्टि से बाह्य उपासना होती है।

परमात्म प्राप्ति के मार्ग में लगे हुए पथिकों को इसीलिये अनेक श्रुति, स्मृति, पुराण वचनों में बाह्य पूजा के परिहार की ही विधि की गई है। अथवा आत्मा से यहां कार्य करण संघात सारा ही ले लिया जाये तो इसमें जीव रूप से उसकी अवस्थिति माननी पड़ेगी। अर्थात् जीव को ही परमात्मा का प्रतीक मानकर जीव में जो परमात्मा है, उसकी तरफ दृष्टि करने का विधान है। इस दृष्टि में अहं इस अनुभूति के साक्षी की तरफ दृष्टि करना ही इष्ट होता है।

११. क्रोध, लोभ, मोह, दंभ, राग, द्वेष इत्यादि को छोड़ने में बड़े धैर्य की आवश्यकता पड़ती है। जिन लोगों ने इनको नहीं छोड़ा है, उनके लिये आत्मदर्शन वैसा ही है जैसा जन्मांध के लिये सूर्य दर्शन। धीर का अर्थ बुद्धिमान् भी होता है। उस दृष्टि से अन्वय व्यतिरेक द्वारा तत् पदार्थ और त्वं पदार्थ का शोधन करके विवेक ज्ञान के द्वारा त्वं पदार्थ में स्थित राग, द्वेष आदि दोषों का परित्याग करना तथा उस शुद्ध त्वं पदार्थ को अनुसृत करके तत् त्वं है। इस प्रकार के अखण्डार्थ का बोध भी इष्ट है। जिसमें धैर्य नहीं होता, ऐसा अधीर पुरुष थोड़ा सा विवेक करके ही उसमें पर्याप्त बुद्धि कर लेता है और वैराग्य पकने तक उसमें स्थित नहीं रहता। इस प्रकार केवल अहं के स्थान में ही आत्मज्ञान मानना बुद्धि की कमजोरी है। बाह्य पदार्थों में जिनकी बुद्धि आसक्त है, वे यद्यपि अपने को पटु बुद्धि वाला समझते हैं परन्तु वास्तविक दृष्टि से वे अत्यंत स्थूल बुद्धि हैं क्योंकि स्थूल संसार ही उनकी बुद्धि का विषय है। जो लोग संसार समुद्र की महान् लहरों के द्वारा उत्पन्न काम, क्रोध आदि वेग में अवगमित आत्मस्वभाव वाले रहते हुए अपनी इन्द्रियों को जीते रहते हैं वे ही वस्तुतः धीर हैं और वे ही वेदांत वाक्यों के श्रवण के अनंतर अपने स्वस्वरूप को समझ पाते हैं।

१२. अनु का अर्थ है पश्चात्। अतः मनन, निदिध्यासन सहकृत श्रवण के पश्चात् पश्यन्ति अर्थात् आत्म स्वरूप में स्थित होते हैं। यहां किसी पदार्थ का दर्शन नहीं समझना चाहिये परन्तु अज्ञान के द्वारा वेदांत वेद्य ब्रह्म मुझे नहीं दीख रहा है, इसकी निवृत्ति होना ही देखने का तात्पर्य है। अर्थात् साक्षात् अपरोक्ष से यहां मतलब है।

१३. **मैं ब्रह्म हूं** इस प्रकार के आत्मज्ञानियों को जिन्हें जीव, जगत् और ईश्वर की एकता का ज्ञान स्फुट हो गया है, उनसे मतलब है। सब प्राणियों को अपने में और सब प्राणियों में अपने को जो देखता है, वही वस्तुतः देखता है।

१४. नित्य सिद्ध को ही यहां शाश्वत कहा गया है। उपासना, कर्म या किसी भी योग आदि साधन से जो प्राप्त किया जाता है, वह चूंकि प्राप्त किया जाता है, अतः नित्य पुरुषार्थ नहीं है। जहां प्राप्ति होती है, वहां खोना भी अवश्यंभावी है। **मैं ब्रह्म हूं** यह अनुभव नवीन प्राप्त नहीं होता है, वरन् पहले ही सिद्ध है। अतः अविनाशी आनन्दात्मस्वरूप केवल आविर्भूत होता है, उत्पन्न नहीं होता। इसीलिये उसे शाश्वत कहते हैं। सामान्य भाषा में यद्यपि बहुत अधिक लम्बे समय से चले आने वाले पदार्थ को शाश्वत कहते हैं परन्तु यह केवल गौण प्रयोग है। निरंतर वर्तमानता ही शाश्वत में भाव है।

१५. यद्यपि अनुकूल वेदनीय को लोक में सुख कहते हैं एवं अनुकूलता स्वयं शोभनाध्यास से उत्पन्न होती है परन्तु वह सुख शाश्वत नहीं होता। अतः यह इष्ट नहीं है। सुषुप्ति में समग्र कार्य करण संघात के लीन हो जाने से विक्षेप का अभाव होकर परमेश्वर की अनेक बार जो एकता की प्राप्ति होती है, वहां भी सुख ही है। इस सुख का स्वरूप समझा जा सकता है क्योंकि वह सुख भी किसी कारण

अथवा विषयों से उत्पन्न नहीं होता। चूंकि उसमें उत्पत्ति नहीं है, इसलिये उसको आविर्भूत होने वाला सुख नहीं कहा जा सकता है।

१६. अनात्मवेत्ता अर्थात् **मैं ही ब्रह्म हूं** इस प्रकार की जिनकी बुद्धि नहीं है, उनमें इस सुख का आविर्भाव कभी नहीं हो सकता। यद्यपि ब्रह्मा, विष्णु, राम, कृष्ण आदि रूपों के दर्शन से भी सुख होता है एवं वैकुण्ठ आदि लोकों में गमन से भी सुख होता है परन्तु वे सब सुख इहलोक के सुख से उत्कृष्ट होने पर भी वस्तुतः विषय विषयी भाव से सम्बद्ध होने के कारण शाश्वत सुख भी नहीं हैं और अन्यजन्य ही है। अतः यहां कैवल्य सुख से ही तात्पर्य है।

१३

नित्यः नित्यानाम् चेतनः चेतनानाम् एकः बहूनाम् यः विदधाति कामान्।[१] तत् कारणम् सांख्ययोगाधिगम्यम् ज्ञात्वा देवम् मुच्यते सर्वपाशैः॥

यः=जो
नित्यानाम्=नित्यों में[२]
नित्यः=नित्य,[३]
चेतनानाम्=चेतनों में[४]
चेतनः=चेतन,[५]
बहूनाम्=बहुतों में[६]
एकः=एक,[७] (तथा)
कामान्=कामनाओं को[८]
विदधाति=देने वाला है।[९]
तत्=उस[१०]
कारणम्=सबके कारण,[११]
सांख्ययोगाधिगम्यम्[१२]=ज्ञान एवं उपासना के द्वारा जाने जाने वाले[१३]
देवम्=महादेव को
ज्ञात्वा=जानकर[१४]
सर्वपाशैः=सारे पाशों से[१५]
मुच्यते=छूट जाता है[१६]।

१. दीपिकयोः तु नित्यो नित्यानाम् चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्। तमात्मस्थम् येऽनुपश्यन्ति धीराः तेषाम् शान्तिः

शाश्वती नेतरेषाम् । तदेतदिति **मन्यन्ते निर्देश्यम् परमम् सुखम्** । **कथंनु तद्विजानीयाम् किमु भाति न भाति वा** । तत्कारणम् **सांख्य-योगाधिगम्यम्** ज्ञात्वा देवम् **मुच्यते सर्वपाशैः**' इति **उपलभ्यते** । **काठकश्रुत्यनुरोधेन पठितमिदमिति तु समीचीनतरम्** भाति ।

२. प्रलय पर्यन्त बने रहने के कारण ही जड़ चेतन जगत् को नित्य कह दिया जाता हैं । अथवा न्याय शास्त्र के अनुसार आकाश, काल आदि तथा परमाणु आदि पदार्थ नित्य हैं । उनके अनुरोध से इन्हें नित्य कह दिया गया । तात्पर्य है कि जिसे नित्य माना गया है, वह नित्य पद वाच्य है । कुछ लोग तो **नित्यो नित्यानाम्** के बीच में एक अवग्रह निकालकर अनित्य पदार्थों में नित्य ऐसा अर्थ करना चाहते हैं क्योंकि वेदांत राद्धान्त में ब्रह्म से अतिरिक्त सब वस्तु अनित्य है । परन्तु वस्तुतः बृहदारण्यक उपनिषद् में कथित **सत्यस्य सत्यं** इत्यादि की तरह यहां व्यवस्था होने से पदपाठ का अतिक्रमण करना असाम्प्र-दायिक और निर्हेतुक है । वस्तुतः प्रत्येक शब्द का एक वाच्यार्थ होता है और फिर उसकी लक्षणा की जा सकती है । सत्य, नित्य, ज्ञान आदि पदार्थ पहले संसार के पदार्थों में ही प्रसिद्ध होंगे जो उनका वाच्यार्थ होगा । अन्य सब चीजों के नष्ट होने पर भी आकाश परमाणु आदि नष्ट नहीं होते, इसलिये स्थायी पदार्थ में नित्य शब्द की वाच्यार्थता है । इस नित्य की फिर अपरिच्छिन्न नित्यता में लक्षणा हो जाती है अर्थात् बाकी नित्य परिच्छिन्न नित्य हैं और परिच्छिन्नता का त्याग करने से जो नित्यता आई, वह लक्ष्यार्थ हो गई । यदि नित्य पद को संसार के किसी पदार्थ में पहले रूढ़ ही नहीं करेंगे तो जिसका वाच्यार्थ हो नहीं, उसका लक्ष्यार्थ ही नहीं बनेगा और नित्य पद निरर्थक हो जायेगा ।

३. नित्य पदार्थों में नित्यता देने का जो हेतु है अर्थात् जिसके कारण से उसमें नित्यत्व प्रतीति होती है, उससे तात्पर्य है । अथवा

जिन्हें नित्य माना जाता है एवं बीज में जो साक्षात् नित्य है । पर-मार्थतः जिसका विनाश सम्भव नहीं, यह तात्पर्य हैं ।

४. जीव से तात्पर्य है । प्रमाता में चेतनता की प्रतीति होती है परन्तु वह नित्य ज्ञान स्वरूप नहीं है क्योंकि सोपाधिक हैं । अथवा चेतन से बुद्धि इत्यादि लिंग शरीर का ग्रहण है जो लोक में चेतन की तरह समझे जाते हैं ।

५. जिसके बिना प्रमाता, बुद्धि इत्यादि किसी में भी चेतनता की प्रतीति नहीं हो सकती, उस तत्त्व से तात्पर्य है । अथवा जिसे चेतन समझा जाता है उनमें यह साक्षात् चेतन स्वरूप है । जिस प्रकार दूसरी जगह आंख का आंख कहा गया है, उसी प्रकार यहां समझना चाहिये ।

६. ब्रह्मा से लेकर चींटी पर्यन्त एवं हिमालय से लेकर आकाश पर्यन्त इन सबमें वह एक विद्यमान रहता है । देव, जीव आदि सबका बहुत्व यहां विवक्षित है । अथवा **एकः बहूनां कामान् विदधाति** ऐसा अन्वय कर लेना चाहिये अर्थात् वह एक देव ही बहुत से जीवों की कामनाओं को पूर्ण करता है । सभी जीवों की कामनाओं को पूर्ण करने वाला वह एक परमात्मा ही है, चाहे वह रसगुल्ला आदि अध्यस्त रूप लेकर कामना को पूर्ण करे अथवा शांत वृत्ति को कामना रहित अवस्था में लाकर के ।

७. अभिन्न अद्वितीय तत्त्व । अथवा नित्यों में जो नित्य है, वही चेतनों में चेतन हैं, इस प्रकार अन्वय कर लेना चाहिये । **नित्यत्वेन चेतनत्वेन प्रतिपन्नानाम् अयम् नित्यश्चेतनश्च इति पक्षः** । तात्पर्य है कि जड़ पदार्थों में जो सत्ता रूप से नित्य है, वही चेतन पदार्थों में चित्ता रूप से नित्य है । सत्ता और चित्ता का भेद नहीं हैं ।

८. जिसकी कामना की जाये उसे काम कहते हैं । **काम्यन्त इति कामाः** अंतःकरण में सुख के प्रतिबिम्ब को ही कामना कहते हैं ।

पुण्य के कारण परमात्मा जीव को इन सुख प्रतिबिम्बों को देता है। तात्पर्य है कि सुखाकार वृत्ति में चेतन के प्रतिबिम्ब से ही सुख-रूपता का भान होता है। अतः उसके बिना सुखाकार वृत्ति भी सुख-रूप नहीं बन सकती। इसीलिये उसे सुख देने वाला कहा। अथवा जिनकी कामना की जाये ऐसे भोगों को भी काम कह दिया जाता है। परमेश्वर ही जीव को सुख-दुःख प्रद भोगों को देता है। कर्मफल प्रदाता परमात्मा है, यह तात्पर्य हैं।

९. क्रम सृष्टि में पुण्यपाप के अनुसार देता है एवं अक्रम सृष्टि में स्वेच्छा से, दोनों का यहां ग्रहण है। पाप पुण्य के काल में भी वह स्वतंत्र होकर देता है पाप पुण्य तो निमित्त मात्र हैं। अतः स्वतंत्र: कर्त्ता सदा ही सिद्ध है।

१०. तत् यह ब्रह्म का नाम है। अथवा श्रुति प्रसिद्ध होने से उसे तत् कहा जाता है।

११. जगत्, सृष्टि, स्थिति, संहार सबका वही कारण है। अतः बाकी सब कभी कार्य और कभी कारण होते हैं। वह केवल कारण ही है, कार्य कभी नहीं होता। जगत् रूपी कार्य से ईश्वर रूपी कारण का अनुमान होता है। इस प्रकार कार्य को देखकर कारण का चिंतन करे, यह भी कहना यहां इष्ट है।

१२. **सांख्यं च योगश्च सांख्ययोगौ ताभ्याम् अधिगम्यम्, इति यावत्**।

१३. वेदान्त महावाक्य तात्पर्यज्ञान से उत्पन्न होने वाले मैं ब्रह्म हूं इस आकार वाले को सम्यक् ज्ञान कहते है। सांख्य का अर्थ सम्यक् ज्ञान होता है एवं इसका साधन श्रवण, मनन, निदिध्यासन योग कहा जाता है। तात्पर्य है कि सांख्य और सांख्य के लिये किया हुआ योग इनके द्वारा परमात्मदेव को जाना जाता हैं जो बोधैकरस है। अथवा जिस विज्ञान के द्वारा आत्मतत्त्व भली प्रकार ख्यायते

अर्थात् प्रख्यात किया जाता है, वह सांख्य है। एवं इस विज्ञान रूपी फल को पैदा करने वाले शम, दम, आदि एवं कर्मानुष्ठान आदि साधन योग है। इन दोनों के द्वारा **मैं ब्रह्म हूं** इस प्रकार अधि अर्थात् अधिक रूप से या अतिशय रूप से **गम्यम्** अर्थात् साक्षात् ज्ञान होना सम्भव है। कहीं कहीं **सांख्ययोगाभिपन्नम्** ऐसा भी पाठ मिलता है। अर्थ तो वहां भी प्रायः ऐसा ही है। परमात्मा की लक्ष्यार्थताओं को सुनते सुनते कई बार यह शंका हो जाती है कि वह जब किसी भी प्रमाण का विषय नहीं, तब मुमुक्षा व्यर्थ है। अतः इस पद के द्वारा कहा जा रहा है कि शाब्द प्रमाण से ब्रह्माकाररूपिणी अंतःकरण वृत्ति उत्पन्न होती है। यद्यपि आत्मा कभी भी घट, सुख आदि की तरह शब्द व अन्य किसी प्रमाण का विषय नहीं बनता, इससे साधक में मुमुक्षा के प्रति दृढ़ आस्था उत्पन्न करना श्रुति का तात्पर्य है। गीता में इसी श्लोक के आधारपर **एकम् सांख्यं च योगं च** कहा है। इसके भाष्य में सर्वज्ञ शंकर ने स्पष्ट किया है कि सांख्य ज्ञान है एवं योग उसका उपाय। अतः ज्ञान प्राप्ति के उपाय रूप से अपने समग्र कर्मों का ईश्वर में समर्पण करना रूपी योग का साधन करने से फल मिलता है।

१४. **मैं ही ब्रह्म हूं** इस प्रकार का अपरोक्ष ज्ञान ही यहां इष्ट है।

१५. अविद्या, काम, कर्म रूपी पाशों से।

१६. संसार एवं उसके बीज का बाध हो जाता है। वेदान्त शास्त्र में मुक्ति किसी चीज को प्राप्ति नहीं है वरन् अज्ञान बंधन का छूट जाना ही मुक्ति है। विचारशील देखेंगे कि वस्तुतः मुक्ति का तात्पर्य छूटना ही हुआ करता है। इसलिये बौद्ध, नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य एवं योग सभी अज्ञान से छूटने को ही मोक्ष मानते हैं। अज्ञान किस विषय का है, इसको लेकर कुछ मतभेद है परन्तु अज्ञान की निवृत्ति ही मोक्ष है और उसका साधन केवल ज्ञान है, इसमें कोई मतभेद नहीं है।

१४

महेश्वर के विषय में ध्वनित स्वयं प्रकाश को स्पष्ट करते हैं :—

न तत्र सूर्यः भाति न चन्द्रतारकम् न इमा विद्युतः भान्ति कुतः अयम् अग्निः । तम् एव भान्तम् अनुभाति सर्वम् तस्य भासा सर्वम् इदम् विभाति ।

तत्र = उस (परमात्मा) के विषय में[1]
सूर्यः = सूर्य[2]
न = प्रकाश नहीं
भाति = करता है,[3]
चन्द्रतारकम् = चन्द्र एवं तारे भी
न = नहीं (प्रकाश करते हैं),
इमा = ये
विद्युतः = बिजलियां भी[4]
न = प्रकाश नहीं
भान्ति = करती हैं,
अयम् = यह[5]
अग्निः = अग्नि
कुतः = कहां से (प्रकाश करेगी) ।[6]
तम् = उसके
एव = ही
भान्तम् = प्रकाशमान होने पर[7]
सर्वम् = सब
अनुभाति = प्रकाशित होता है ।
तस्य = उसके[8]
भासा = प्रकाश से[9]
इदम् = परिदृश्यमान
सर्वम् = सभी कुछ
विभाति = प्रतीत होता है ।[10]

१. वस्तुओं में विचित्र शक्तियां देखी जाती हैं । काल एवं निमित्त आदि के संयोग से वही वस्तु तरह-तरह के फल देती है । जैसे सूर्य के प्रकाश से सब देश प्रकाशित होते हैं परन्तु उसी सूर्य के प्रकाश से चन्द्र इत्यादि की प्रकाशता घट जाती है एवं वह घट पट आदि का प्रकाश करने में असमर्थ हो जाता है अर्थात् सूर्य का प्रकाश एक तरफ तो अप्रकाशमान पदार्थों को प्रकाशित करता है एवं दूसरी तरफ प्रकाशमान पदार्थों को प्रकाशहीन करता है । सूर्य के डूबने पर पुनः

चन्द्र आदि स्वयं प्रकाश वाले भी हो जाते हैं और घट आदि का प्रकाश भी करने लगते हैं । इसी प्रकार आत्मा में, जो कि स्वयं प्रकाश है एवं वाणी और मन से अतीत है, आत्माकार वृत्ति में प्रतीयमानता ही आ जाती है । यदि कोई शंका करे कि फिर सूर्य आदि भी उसको आत्माकार वृत्ति बनने पर प्रकाशित करने में समर्थ हो जायें, तो उसकी निवृत्ति के लिये यह स्पष्टीकरण है । अर्थात् आत्माकार वृत्ति में ब्रह्म का ही प्रकाश प्रकाशित हो सकता है, उसमें सूर्य आदि प्रकाशों की कोई आवश्यकता नहीं है । तात्पर्य है कि स्वप्रकाश ब्रह्म में दूसरे प्रमाणों का कोई अवतरण नहीं बन सकता ।

२. सबसे अधिक प्रकाश वाला होने से सबका अवभासक है । अतः इसको ही सर्वप्रथम कहा गया । चन्द्र, ग्रह आदि में तो इसी का प्रकाश है । अतः आगे के सब पद तो कैमुतिक न्याय से ही सिद्ध हैं । इसका रहस्य यह है कि सूर्य जड़ पदार्थों का प्रकाशक है एवं नेत्र ज्योति के द्वारा उपकृत होकर के ही प्रकाश करने में समर्थ है । परमात्मा नेत्रज्योति का भी प्रकाशक है एवं चेतन होने से जड़ प्रकाश सापेक्ष्य नहीं है । फिर भी लोक में सूर्य की प्रकाशता को देखकर ही उपासना समुच्चय में सूर्य को हिरण्यगर्भ का प्रतीक मानकर परमेश्वर रूप से उपासना का प्रतिपादन किया गया है । जो सूर्य को देखता है एवं जो मेरी आंख में है, एक है इत्यादि उपासनायें इसमें प्रमाण हैं । **यश्चायम् पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः** । तात्पर्य है कि यद्यपि सूर्य के प्रकाश से संसार के सारे ही रूप प्रकाशित होते हैं परन्तु सूर्य का प्रकाश स्वयं अपने को प्रकाशित करने में समर्थ नहीं अर्थात् स्वयं नहीं जानता । परन्तु आत्मा का प्रकाश सबको प्रकाशित करते हुए अपने को भी प्रकाशित करता है ।

३. सबका अविषय होने से, सबका आत्मा होने से एवं रूप आदि रहित होने से ब्रह्म को सूर्य प्रकाशित नहीं कर सकता । अपने योग्य

सब चीजों का प्रकाश करता है परन्तु स्वयं सूर्य का प्रकाश परमात्मा के अधीन है। सूर्य स्वयं अपनी महिमा से प्रकाश नहीं करता। इसलिये जिसकी महिमा से वह प्रकाश कर रहा है उसको वह प्रकाशित कैसे कर सकता है।

४. प्रत्यक्ष मेघमण्डल में स्थित नील आदि वर्ण वाली एवं जिसकी प्रभा क्षणिक होती है।

५. भूमि में प्रत्यक्ष होने वाली अग्नि होने से उसे अयम् कहा अर्थात् जो हमारे द्वारा उत्पन्न की जाती है।

६. जब देव रूप में से अज्ञान सूर्य चन्द्र ही उसका प्रकाश नहीं कर सकते तो हमारी निर्मित अग्नि का तो क्या कहना। लट्टुओं में जलने वाली बिजली भी हमसे उत्पन्न होने के कारण अग्नि पद वाच्य ही है।

७. प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से निरपेक्ष स्वयं प्रकाशरूप होने से वह स्वरूप स्वयं ही प्रकाशित होता है, यह भाव है। तात्पर्य है कि सारे जगत् के प्रकाशित होने से भी पहले वह दीप्त होता ही है। आत्मा के प्रकाश के बिना और कोई प्रकाश सम्भव नहीं है। जिस प्रकार जल या मशाल अग्नि के संयोग से अग्नि को जलाने पर जलाने वाली प्रतीत होती है, यद्यपि जल या मशाल स्वयं जलाने में समर्थ नहीं है, उसी प्रकार सभी वृत्तियां उस ज्ञानरूप आत्मा के द्वारा सम्बन्धित होकर ही जानने में समर्थ होती हैं। अतः उसके बाद ही उनका प्रकाश होता है, यह स्फुट है। अनुभाति का तात्पर्य वास्तविक दृष्टि से तो यही है कि यद्यपि सब चीजों का प्रकाश करने वाला आत्मा है परन्तु वृत्ति में अध्यास के कारण हमें वृत्ति ऐसा करते हुए प्रतीत होती है। वृत्ति में आत्मा का अध्यास स्वरूपाध्यास नहीं, वरन् संसर्गाध्यास है, यह बात दूसरी है। सूर्य चन्द्र आदि उसका प्रकाश नहीं कर सकते। इससे जो उसकी अत्यंत तमरूपता प्रतीत हो सकती

थी, उसको इन्होंने दूर कर दिया। अर्थात् सूर्य आदि का अविषय हुआ हुआ भी वह प्रकाशरूप ही है। जिस प्रकार राजा के जाने पर उसके अनुगत भृत्य आदि अनुगमन करते ही हैं तो फिर राजा का गमन तो स्वतंत्र स्पष्ट ही है। इसी प्रकार आत्मा के प्रकाश करने पर सूर्य आदि का प्रकाश होता है तो वह स्वतंत्र प्रकाशक है, इसमें कहना ही क्या।

८. सूर्य आदि जड़ों का स्वतंत्र प्रकाशक रहो एवं आत्मा चेतन प्रकाशक रहो, इस प्रकार दोनों की समानता प्राप्त होने पर कहा जा रहा है कि सूर्य आदि का प्रकाश स्वतंत्र नहीं है। अथवा यदि सूर्य आदि का प्रकाश वह कर सकता है तो जड़ों का भी सीधा ही प्रकाश वह कर देवे, इसकी निवृत्ति के लिये कहा जा रहा है कि वह सूर्य आदि का प्रकाशक है एवं सूर्य आदि के द्वारा बाकी सबका प्रकाशक है।

९. ब्रह्म के बोध से व्याप्त हुआ हुआ हो। **दीप्त्या तद्बोधव्याप्त्या** तात्पर्य है कि प्रकाश्य और प्रकाशक सबको ही वह अपने ज्ञान से प्रकाशित कर देता है। चाहे वह सूर्य आदि हो अथवा प्रत्यक्ष घट, पट, आदि इन सारे दिव्य प्रकाशों का स्वतंत्र प्रकाशक होने से किसी भी प्रकार की भेद शंका व्यर्थ है। **यदादित्यगतम् तेजो जगत् भासयतेऽखिलम्** इत्यादि गीता भी यहां उदाहरणीय है।

१०. सारे जगत् के अवभास के पूर्व ही वह विभात होता है। उसके साथ एकता का अध्यास करके ही भास के आभास को आदित्य आदि प्राप्त करते हैं एवं फिर आगे प्रकाश करते हैं। अतः परमेश्वर के भास में परिमितता नहीं है। स्वरूपभूत चैतन्य प्रकाश से सारा जगत् विभात होता है, यह इस मंत्र का रहस्य है। **येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः** इत्यादि वाक्य इसमें प्रमाण हैं।

१५

परमात्मा का रूप बताते हैं :—

एकः हंसः भुवनस्य अस्य मध्ये सः एव अग्निः सलिले सन्निविष्टः। तम् एव विदित्वा अति मृत्युम् एति न अन्यः पन्था विद्यते अयनाय ॥

एकः = एक	**अग्निः** = अग्नि है[4] (तथा)
हंस = हंस रूप परमात्मा[1]	**सलिले** = जल में[4]
अस्य = इस	**सन्निविष्टः** = घुसा हुआ है।
भुवनस्य = भुवन के	**तमेव**[5]... ...**अयनाय** = तीसरे अध्याय के आठवें मंत्र का उत्तरार्द्ध देख लीजिये।
मध्ये = मध्य में है,[2]	
सः = वह[3]	
एव = ही	

१. हंति अर्थात् नष्ट करता है, बंधन के कारण अविद्या आदियों को; अतः उसे हंस कहते हैं। अथवा आत्मज्ञान से भेद को नष्ट करता है। अतः उसे हंस कह दिया। अथवा जाग्रत् को नष्ट करके स्वप्न में जाता है एवं स्वप्न को नष्ट करके सुषुप्ति में जाता है अंत में उसको भी नष्ट करके **मैं ब्रह्म हूं** इस प्रकार के ज्ञान फलक पर आरूढ़ होकर अपने आत्मस्वरूप को ढांकने वाले द्वैत भ्रम के कारण अविद्या को नष्ट करके प्रत्यग् भाव को जाता है, अतः उसे हंस कहा गया। उसमें किसी भी तरह का सजातीय, विजातीय स्वगत भेद नहीं है, यह प्रतिपादन करने के लिये एक पद दिया गया है। तात्पर्य है कि सूर्य आदि प्रकाशकों का सजातीय विजातीय स्वगत भेद देखा जाता है, अतः आत्मा में भी प्रकाशक होने के कारण इसकी प्राप्ति कराई जा सकती थी, परन्तु एक पद से उसकी व्यावृत्ति करके हंस पद से उसकी व्यवस्था बनगई कि दूसरे प्रकाश इस प्रकार के हंस नहीं हैं।

२. इस सारे विश्व में उसके सिवाय और कोई हंस नहीं है। भावना को तालाब की तरह समझ लेना चाहिये। जैसे तालाब में हंस ही एकमात्र शोभा होती है, वैसे ही इस भावना की शोभा उस एक हंस से ही है। एकमात्र परमात्मा ही इस जगत् की शोभा है। अथवा इस प्रत्यक्ष सिद्ध भावना अर्थात् कर्मफल रूपी पदार्थों में एकमात्र वही प्रतीत होता है। तात्पर्य है कि कर्मफल के अनुसार जो भी पदार्थ भोग में आता है, वह भावना या लोक कहा जाता है एवं उस कर्म फल के भीतर वास्तविक दृष्टि से सत्‌रूप परमात्मा ही एक मात्र स्थित होता है। अथवा कर्मफल को देखकर कर्मफल दाता रूप से हंसेश्वर का पता लग जाता है। उससे भिन्न और कोई त्रैलोक्य में कर्मफल दाता नहीं है, यह भाव है।

३. चैतन्य की अग्नि और जल में विशेष सन्निधि रहती है, इसको बताने वाला अगला वाक्य है। प्रायशः सभी मत-मतांतरों में या तो दीपक, सूर्य, अग्नि आदि रूपों की प्रधानता होती है अथवा कूप, तालाब इत्यादि जलों का धार्मिक दृष्टि से अत्यधिक उपयोग होता है। हिन्दू धर्म में तो गंगा इत्यादि नदियों की परमात्मरूपता पर बहुत ही अधिक बल दिया गया है। प्रत्येक पूजनके प्रारंभ में जल आदि का प्रयोग किया जाता है। वस्तुतस्तु अग्नि रुद्र है और जल नारायण, तथा हिन्दू धर्म नारायण और रुद्र के आधार पर ही ग्रथित है। अतः इसमें किसी न किसी प्रकार की विशेष शक्तियों को मानना ही पड़ता है। ऐसा लगता है कि अग्नि या सलिल में परमात्मा की रुद्ध हुई हुई शक्ति समाविष्ट है। अथवा परमात्मा रुद्र होकर इनमें प्रविष्ट होता है।

४. यहां प्रधान रूप से परमात्मा के रुद्र रूप का ही विस्तृत वर्णन होने के कारण रुद्ररूप अग्नि को समानाधिकरण के द्वारा

कहा जा रहा है एवं सलिल में अर्थात् नारायण में अंतर्यामी रूप से कहा जायेगा।

परमेश्वर अग्नि की तरह होने से यहां अग्नि कहा गया है। जैसे लकड़ी में अग्नि तिरस्कृत होती है परन्तु फिर भी लकड़ी में रहती है और मथने के द्वारा प्रकट हो जाती है। प्रकट होकर अपने को तिरस्कृत करने वाली लकड़ी के टुकड़ों को जलाकर उन्हें अपने निज शरीर के रूप में बना देती है। इसी प्रकार अविद्या के द्वारा तिरस्कृत हुआ हुआ, अविद्या में अनुगत परमेश्वर उत्तराधर अरणिस्थ गुरु शिष्य के संघर्ष रूप मथन से श्रवण, मनन आदि जन्य सम्यक् ज्ञानफलक में आरूढ़ हुआ हुआ अपने तिरस्कार करने वाले अविद्या तत्त्व को जलाकर अपने अद्वितीय रूप में स्थिर कर लेता है इसीलिये इसे अग्नि कह दिया गया।

५. सब पदार्थों में स्वरूप स्फुरणप्रद हुआ हुआ भली प्रकार घुसा हुआ होने से उसे सन्निविष्ट कह देते हैं। परन्तु उन अविद्या तत्कार्यों से वह संस्पृष्ट रहता है। यहां पर सलिल से नारायण का ग्रहण होने से सगुण ब्रह्म इष्ट है। तात्पर्य है कि सगुण ब्रह्म में ही वह निर्गुण ब्रह्म प्रविष्ट हुआ हुआ उसके स्वरूप को सिद्ध करता है। वस्तुतस्तु एक ही ब्रह्म सगुण और निर्गुण उभय रूप से प्रतीत होता है।

अथवा जलों का जनक तेजरूप होने से अग्नि कारण है एवं सलिल अर्थात् जल कार्य। अतः कारण अपने कार्य रूप में प्रविष्ट है, यह भाव है।

६. **नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय इति दीपकायाम्**। उससे भिन्न कोई भी कारण रूप नहीं है जो मोक्ष देने में समर्थ हो। ईशनाय का अर्थ ईश्वरत्वाय अर्थात् मोक्ष देने में ईश्वर अथवा समर्थ, यह भाव है।

१६

सः विश्वकृत् विश्वविद् आत्मयोनिः ज्ञः कालकारः गुणी सर्वविद् यः। प्रधानक्षेत्रज्ञपतिः गुणेशः संसारमोक्षस्थिति-बंधहेतुः॥

यः = जो[1]
विश्वकृत् = संसार बनाने वाला[2],
विश्ववित् = संसार को जानने वाला[3],
आत्मयोनिः = स्वयं ही अपना कारण[4],
ज्ञः = ज्ञानस्वरूप,
कालकारः = कालकर्ता,[5]
गुणी = गुणी,[6]
सर्वविद् = सर्ववेत्ता एवं[7]
गुणेशः = गुणों का ईश्वर,[8]
सः = वह[9]
प्रधानक्षेत्रज्ञपतिः = प्रकृति और जीव का पति है (तथा)[10]
संसारमोक्षस्थितिबंधहेतुः = संसार, मोक्ष, स्थिति और बंध का कारण है।[11]

१. सर्व वेदांतों में प्रसिद्ध विशेषणों के द्वारा उसके गुण कर्मों का प्रतिपादन किया जा रहा है।

२. अपनी माया से विश्व का विनिर्माण करता है, यह भाव है।

३. साक्षी होने के कारण अपरोक्ष रूप से सबको जानता है।

४. सुर, नर आदि शरीर आत्मा कहा जा सकता है, उनका कारण होने से उसे आत्मयोनि कहा। अथवा खुद ही (आत्मा) सब का योनि होने से आत्मयोनि है। अथवा आत्मा और योनि ऐसा द्वन्द्व समास कर लेना चाहिये। आत्मा अर्थात् अहं पद का वाच्य और लक्ष्य प्रत्यगात्मा। तथा योनि अर्थात् जगत् का कारण रूप ब्रह्म पद का वाच्य और लक्ष्य। अथवा आत्मा का अर्थ है अंतःकरण, समष्टि अंतःकरण ही ज्ञान, क्रिया शक्ति वाला हिरण्यगर्भ है। उसका भी वह कारण है। सबका आत्मा भी है और सबका योनि भी है, यह अर्थ भी सम्भव है।

५. घट, पट आदि ज्ञान काल से ग्रस्त होते हैं। अतः ज्ञान रूप होने से यह भी काल से ग्रस्त होगा, इस शंका को दूर करने के लिये कहा कि वह काल का भी बनाने वाला होने से काल का भी नियामक है। अथवा जल की तरह यज्ञ, दान आदि के द्वारा जो अंतःकरण स्वच्छ हो गया है, उसमें वेदांत वाक्य के अखण्डार्थ रूपी सम्यक् ज्ञान फलक पर आरूढ़ अविद्या तत्कार्य को जलाने वाली अग्नि जिस प्रकार प्रविष्ट होती है; ऐसा समझ लेना चाहिये।

६. माया शक्ति रूप गुण वाला अथवा अपहतपाप्मत्वादि गुण वाला। सांख्य प्रक्रिया को स्वीकार करने पर तो सत्त्व, रज, तम इत्यादि गुणों का आश्रय है। कालकारः कहने से काल, अग्नि रुद्र इत्यादि का ग्रहण सम्भव था। अतः गुणी पद देना आवश्यक था।

७. यदि गुणों का आश्रय है तो कोई विशिष्ट जीव होगा, इस शंका की निवृत्ति में कहते हैं कि वह सर्वज्ञ है। यहां सर्ववित्त्व प्रयोग उपचार नहीं माना जा सकता क्योंकि पहले विश्ववित् के द्वारा ही इसको कह दिया गया था। अतः दो बार कहने का तात्पर्य ही यह है कि वह वस्तुतः सर्वज्ञ है। चैतन्य ज्योति स्वरूप तो वह है ही, यह ज्ञः पद से कहा गया।

८. जहां कहीं भी जो कुछ भी गुण पाया जाता है उन सब गुणों का शासन करने वाला वही है।

९. जो ऋग् आदि विद्याओं का एकमात्र अधिष्ठान है एवं उनका प्रवर्त्तक है।

१०. प्रधान अर्थात् माया एवं क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीव; इन दोनों का पति है अर्थात् मालिक भी है और पालन करने वाला भी है। तात्पर्य है कि माया और जीव यदि स्वतंत्र होते तो प्रयुक्त सभी विशेषण परमात्मा में वास्तविक नहीं हो सकते थे। अतः इसके द्वारा बता दिया कि वह स्वतंत्र नहीं, वरन् उनके शासन में ही चलता है।

अथवा जो प्रधान हो, क्षेत्रज्ञ हो और पति हो, ऐसा द्वन्द्व समास कर लेना चाहिये। अर्थात् वह शिव ही प्रकृति रूप में भी भात होता है, जीव रूप में भी और ईश्वर रूप में भी। प्रधान को स्वरूपप्रद अथवा अधिष्ठान रूप से शिव कहा जायेगा एवं क्षेत्रज्ञ को बिम्ब रूप से। बिम्ब होकर उस प्रतिबिम्ब का साधक है।

११. संसार आदि चारों का कारण वह अकेला ही है, यह भाव है। तात्पर्य है कि यह शंका हो सकती थी कि बंधमोक्ष स्थिति का कारण जो होता है वही वस्तुतः निरंकुश नियंता होता है। अतः इनका नियंता न होने पर उसका नियंतृत्व वास्तविक नहीं है। संसार अर्थात् एक शरीर से दूसरे शरीर में सरकना, जब तक महाप्रलय नहीं होता तब तक विश्व के पदार्थों का कारण रूप से हमेशा विद्यमान होना स्थिति कहा जाता है। मोक्ष अर्थात् अविद्या निवृत्ति के द्वारा स्वस्वरूप का आविर्भाव हो जाना, बंध अर्थात् अविद्या के कारण स्वातंत्र्य का भान न होना।

जीव की दृष्टि से पहले कहा। संसार जीव ही है एवं जिसको वह चाहता है वह संसार से मोक्ष है। अतः इस द्वन्द्व को इकट्ठा रखा गया। जब तक स्थिति है तब तक बंधन है। महाप्रलय में अथवा व्यष्टि दृष्ट्या सुषुप्ति में विश्व की स्थिति नहीं है तो दुःख का भी अनुभव नहीं है एवं उससे मुक्त होने की इच्छा भी नहीं है। अतः इन दोनों को एकत्रित रखा गया। तात्पर्य है कि अध्यात्म और अधिभूत पदार्थों में मैं और मेरा अभिमान संसार है तथा आनन्दात्मा की अभिव्यक्ति मोक्ष है। इसके बाद भी लेशाविद्या स्थित रहती है। उसको भी स्थिति पद से समझा जा सकता है। उसके नष्ट हो जाने पर संसार बंध सर्वथा समाप्त हो जाता है। अज्ञात ब्रह्म ही संसार, बंध और स्थिति का हेतु है। एवं ज्ञात ब्रह्म ही मोक्ष का हेतु है।

उसमें भी संसार के हेतु रूप अज्ञान से बंधन का हेतु है एवं अज्ञात रूप से उस संसार में स्थिति होना स्थिति रूप वाला बंधन का हेतु है, यह भाव है। जब संस्कार अविद्या का भी अपने कार्यों के साथ प्रारब्ध समाप्ति पर शेष हो जाता है फिर कभी भी उसका उत्थान नहीं होता। जैसे अहंता, ममता और अभिमान की दृढ़ता ही संसार बन्ध है, जो अपनी आनंदरूपता के ज्ञान से रहित होने पर प्रकट होता है एवं मैं सुखी, मैं दुःखी आदि प्रत्यय संतान सामान्य बंधन है, उसी प्रकार लेशाविद्या की निवृत्ति हो जाने पर मोक्ष की स्थिति है और लेशाविद्या की स्थितिकाल में मोक्ष का अनुभव। इसी प्रकार से मोक्ष की स्थिति, बंध की स्थिति, संसार की स्थिति, संसार का बंध आदि सब प्रकार से इस समास का नियोजन कर लेना चाहिये।

१७

सः तन्मयः हि अमृतः ईशसंस्थः ज्ञः सर्वगः भुवनस्य अस्य गोप्ता। यः ईशे अस्य जगतः नित्यम् एव न अन्यः हेतुः विद्यते ईशनाय॥

सः = वह[1]
तन्मयः = विश्वरूप,[2]
अमृतः = अमर,
ईशसंस्थः[3] = शासकरूप से भली प्रकार स्थित,[4]
ज्ञः = ज्ञानरूप,[5]
सर्वगः = सर्वव्यापक,[6]
अस्य = इस परिदृश्यमान
भुवनस्य = भुवन का[7]
गोप्ता = रक्षक है,[8]
हि = क्योंकि
यः = जो
ईशे = शासन करता है[9]
अस्य = (वही) इस[10]
जगतः = जगत् का
नित्यम् = नित्य[11]
एव = ही
ईशनाय = शासन करने के लिये[12]
विद्यते = होता है।
अन्यः = उससे भिन्न[13]
हेतुः = कोई कारण
न = नहीं है।

१. यदि प्रधान और क्षेत्रज्ञ का पति है तो उनसे भिन्न होगा, इस शंका को हटाने के लिये वह प्रसिद्ध ईश्वर ही है, इन सबका शासक भी है एवं इन सबका रूप भी है, यह कहने का तात्पर्य है।

२. तत् अर्थात् प्रधान एवं क्षेत्रज्ञ। मयट् यहां विकार रूप में ले लेना चाहिये। अर्थात् प्रधान और क्षेत्रज्ञ उसका माया से विकृत रूप है। अथवा तत् ब्रह्म का वाचक होने से ईश्वर ब्रह्ममय है। अथवा चौदहवें मंत्र में कहे हुए **तस्य भासा** का परामर्श करके वह ज्योतिर्मय है, यह कहा जा रहा है। अथवा मयट् का अर्थ प्रायः कर लेना चाहिये। व्यष्टि जगत् में पंचकोषमय होने से वह तन्मय कहा जायेगा। अथवा पंचकोश प्रायः होने से वह तन्मय कहा गया। समष्टि दृष्टि से व्यवहार क्षेत्र में वह ब्रह्म संसार रूप में ही प्रतीत होता है। अतः वह मानो प्रायः संसारी ही है। वस्तुतस्तु तत् पद शुद्ध और माया विशिष्ट दोनों का परामर्शक है। अतः वह परमात्मा अज्ञात रूप से या ज्ञात रूप से कारण होने से तन्मय कहा गया।

विचार की दृष्टि से तो तत् पद साक्षात् ब्रह्म का ही प्रतीक होने से तन्मय का तात्पर्य आनंदमय ले लेना चाहिये अर्थात् वह आनन्दमय है, इस विषय में आनन्दमय अधिकरण प्रमाण है। इस पक्ष में स्वार्थ में मयट् समझना चाहिये अर्थात् वह आनंदघन है यह भाव है। अंतःकरण की वृत्ति तन्मय होकर के ही उसे विषय करती है, अतः तन्मय वृत्ति का विषय होने से भी उसे तन्मय कहा जाता है।

३. **ईशे सम्यक् स्थितिर् यस्य** इति यावत्। **ईशे आत्मस्वरूपे भूम्नि स्वे महिम्नि सम्यक् स्थितिः यस्य स ईशसंस्थः** इति वा। **ईशत्वेन सम्यक् अवस्थितः** इति वा। **नारायणस्तु ईशसंज्ञः इति पठति ईशनामा इत्यर्थः।**

४. ईशे अर्थात् ईश्वर में जिसकी सम्यक् स्थिति हो, उसको ईश-संस्थ कहते हैं। तात्पर्य है कि जिसमें ईश्वरभाव नित्य रहे अथवा ईशे अर्थात् आत्मस्वरूप में या स्वरूप महिमा रूपी भूमा में सम्यक् अवस्थान जिसका हो, वह ईशसंस्थ है। अथवा ईश्वर रूप से **सम्यक् अवस्थिति ईश्वरसंस्थान**। पाठांतर में तो ईश उसका नाम है, यह भाव है।

५. चित् प्रकाश। इसके द्वारा अचेतनता का वारण किया गया।

६. ज्ञानैकस्वभाव होने पर भी जीव की तरह परिच्छिन्न होगा, इसकी निवृत्ति के लिये यह पद है। तात्पर्य है कि वह तीनों परिच्छिन्नताओं से रहित है। अथवा जो सब जगह जाता है, वह सर्वगः है। अथवा सबके साक्षी रूप से सबको जानता है, इसलिये सर्वग है।

७. परिदृश्यमान जगत् कर्मफल रूप है। अतः भवन धर्म युक्त जो दृश्य प्रपंच है, उसी को यहां कहा गया है।

८. आनंदप्रद रूप से उनका पालन अथवा रक्षण करता है।

९. ईशे माने ईष्टे अर्थात् शासन करता है। रक्षक प्रजापति इत्यादि भी हो सकता है परन्तु ऐसे रक्षकों का भी वह नियंत्रण करने वाला है। अथवा बहुत से रक्षक नियंत्रण करने में असमर्थ होते हैं। जैसे पिता पुत्र का पालन और रक्षण करने पर भी उसका शासन करने में असमर्थ हो जाता है, ऐसे ही परमेश्वर हो, इस शंका की व्यावृत्ति के लिये यह पद है।

वस्तुतस्तु यह ईशे हेतु वाक्य है। अर्थात् उसकी ईशता ही प्रयुक्त सब चीजों में असली कारण है। वह विश्वरूप है क्योंकि विश्व बनने की उसमें सामर्थ्य है। अथवा वह उन्हें प्रकाशित करने में समर्थ है। मृत्यु का शासन करने से अमृत है। ब्रह्मा, विष्णु आदि में स्थित

होकर उनका भी शासन करता है। ज्ञान में समर्थ है। सर्वत्र जाने या सब को जानने में समर्थ है। इस प्रकार प्रयुक्त सभी विशेषण ईश के द्वारा ही सिद्ध होते हैं। इसीलिये परमात्मा को शास्त्रों में प्रायः ईश्वर शब्द से ही कहा गया है। यद्यपि लक्षणा के द्वारा अन्यत्र भी कहीं कहीं ईश्वर शब्द का प्रयोग है परन्तु वस्तुतः केवल शिव ही ईश्वर पद के वाच्य हैं। **ईश्वरः सर्व ईशानः शंकरः चंद्रशेखरः**।

१०. प्रत्यक्ष दृश्यमान विविध प्रत्ययगम्य सर्वकार्य-जात।

११. वह परमात्मा क्योंकि आनंद स्वरूप है एवं आनंद ही जगत् की सारी प्रवृत्तियों के प्रति कारण है। इसीलिये वह आनंदरूप परमात्मा सबका शासक नियामक बना रहता है। आनंद उसका नित्य स्वभाव है। अतः कहा जाता है कि इस सारे जगत् का वह नित्य अर्थात् नियम पूर्वक शासन करता है। आनंद के सिवाय और कोई भी नियामक नियम पूर्वक उपलब्ध नहीं होता। अथवा नियम पूर्वक उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय इत्यादि सब होता है। अतः उसे नियम से शासन करने वाला कह रहे हैं। अथवा वह ही सदा शासन करने वाला बन जाता है। अथवा किसी के ऊपर शासन करता है तो कहीं शासित हो जाता है। अथवा दूसरे के द्वारा नियंत्रित किया जाता है।

अथवा **नित्यम् अन्यः हेतुः न विद्यते** ऐसा भी अन्वय होता है। तब अर्थ होगा कि परमेश्वर के सिवाय सदा अथवा नियम से शासन करने वाला और कोई दूसरा नहीं हो सकता।

१२. हिरण्यगर्भ आदि की तरह कर्म और उपासना से जन्य भी ऐश्वर्य हो सकता है। उसको निवृत्त करने के लिये यह पद है। तात्पर्य है कि उसका ईश्वर भाव सहज सिद्ध है, किसी कारण वशात् नहीं है। अतः सर्वत्र ईशन क्रिया का वही कर्ता है, उससे भिन्न कोई

नहीं । जहां प्राण आदि पंचकोशमयता में अथवा विराट् हिरण्यगर्भ ब्रह्मा, विष्णु आदि में शासनत्व देखा जाता है, वहां पर भी वही उनके भीतर बैठा हुआ वस्तुतः शासन कर रहा है । अतः वह एकदेशीय ईश्वर नहीं ।

१३. इस आत्मा से भिन्न हुआ हुआ कोई भी कुछ भी नहीं कर सकता । तात्पर्य है कि कोई शंका कर सकता है कि चाहे वह शासन करने वाला हो, लेकिन घट, पट आदि अन्य कार्यों के प्रति कुम्हार आदि का भी ईशन सम्भव है । इस की व्यावृत्ति के लिये यह कहा गया कि जहां कुम्हार घड़ा इत्यादि बनाता है, वहां भी कुम्हार रूपी उपाधि में परिच्छिन्न शिव ही वस्तुतः घड़े का बनाने वाला है। सर्वरूप होने से ईश्वर ही एकमात्र नियामक है, यह भाव है। इस ज्ञान की दृढ़ता से कर्तृत्व भाव की निवृत्ति हो जाती है। कर्ता भाव की निवृत्ति होते ही भोक्ता भाव की निवृत्ति स्वभावतः होती है। कर्तृत्व भोक्तृत्व ही संसार है, अतः कर्तृत्व भोक्तृत्व की निवृत्ति ही संसार की निवृत्ति है। शांकर वेदांत परिच्छिन्न प्रविलयवादी तो कभी नहीं रहा अर्थात् यह परिच्छिन्नता कहीं चली जाती हो, ऐसा नहीं है, वह अपने कर्तृत्व भोक्तृत्व की निवृत्ति से शोक, मोह आदि की निवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार जो साधन का प्रकरण प्रारंभ किया था, वह यहां समाप्त हुआ ।

१८

चूंकि परमात्मा ही एकमात्र मोक्ष का कारण है, अतः उसकी शरण में जाना ही साधक का परम कर्तव्य है :—

यः ब्रह्माणम् विदधाति पूर्वम् यः वै वेदान् च प्रहिणोति तस्मै । तम् ह देवम् आत्मबुद्धिप्रकाशम् मुमुक्षुः वै शरणम् अहं प्रपद्ये ॥

यः=जो	**तम्**=उस
पूर्वम्=पहले	**ह**=प्रसिद्ध
ब्रह्माणम्=ब्रह्मा को[२]	**आत्मबुद्धिप्रकाशम्**=अपनी बुद्धि के साक्षी[७]
विदधाति=बनाता है,[३]	**देवम्**=महादेव को
च=तथा	**अहं**=मैं
यः=जो	**मुमुक्षुः**=मोक्ष की इच्छा वाला[८]
वै=निश्चित रूप से[४]	**वै**=पूर्ण रूप से
तस्मै=उसे	**शरणम्**=शरण को[९]
वेदान्=वेदों को[५]	**प्रपद्ये**=प्राप्त होता हूं ।[१०]
प्रहिणोति=देता है,[६]	

१. शासन करने वाले रूप से प्रसिद्ध एवं आनन्दघन रूप से वेदों द्वारा उक्त जो ब्रह्म सगुण निर्गुण उभयरूप है, उसी को यहां कहा जा रहा है ।

२. सर्वजीव समष्टि रूप हिरण्यगर्भ जो अवांतर सृष्टि करने वाला है, सबसे पहले इसकी सृष्टि होने पर भी आगे यह पंचमहाभूत इत्यादि की सृष्टि करता है, यह प्रसिद्ध है । यद्यपि हिरण्यगर्भ पद उसी का होता है जो पूर्व कल्प में ज्ञान प्राप्त कर चुका है, परन्तु तप आदि के वैशिष्ट्य से उसमें आधिकारिकता होती है और वह भी माया का नियामक बन सकता है ।

३. माया से बनाता है अर्थात् सचमुच बनाता है, ऐसा नहीं समझना चाहिये ।

४. वेद को परमात्मा ही महाप्रलय के बाद सर्वप्रथम ब्रह्मा को देता है और उस वेदज्ञान से ही ब्रह्मा सृष्टि करने में समर्थ होता है। निश्चित रूप के द्वारा यह भी बताया गया कि केवल वेद की शब्द-राशि ही नहीं वरन् अर्थराशि भी देता है। प्रश्न हो सकता है कि

फिर मंत्रों के ऋषि इत्यादि क्यों कहे गये ? ब्रह्मा जिस ऋषि को जिस मंत्र के सिद्ध ज्ञान को देते हैं, वह ऋषि ही उस मंत्र का द्रष्टा हो जाता है। परन्तु वस्तुतः शिव के द्वारा ब्रह्मा को और ब्रह्मा के द्वारा विष्णु को दिया गया, ऐसा क्रम है। वेदार्थ का ज्ञान ही ब्रह्मा को विविध सामर्थ्ययुक्त बनाता है। अतः पूर्व कहे हुए विदधाति का भी इसके साथ सम्बन्ध है। तात्पर्य है कि वेद के मंत्रों के ज्ञान से हिरण्यगर्भ में सामर्थ्य आती है जैसी कि हम लोगों में भी आती है। परन्तु उसके लिये वेद के समग्र मंत्र सिद्ध होने के कारण वह समग्र शक्तियों वाला है और हम लोगों को एक-दो मंत्र सिद्ध होने के कारण हम लोग उतनी ही शक्ति वाले बनते हैं।

५. प्रसिद्ध स्मर्यमाण ऋग्वेद आदि। यद्यपि वेद का मूल अर्थ ज्ञान ही है, परन्तु ज्ञान विना शब्द के असम्भव है। अतः जब ब्रह्मा के हृदय में ज्ञान का आधान होता है तो तदनुरूप शब्दों का आधान भी हो ही जाता है। यद्यपि वेद नित्य है परन्तु महाप्रलय में सम्प्रदाय का विच्छेद हो जाता है। हिरण्यगर्भ ही योग्य अधिकारी होने से शिव उसे ही सर्वप्रथम वेदों का अधिकार देते हैं जिससे सम्प्रदाय की सिद्धि हो। **स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्** इत्यादि शास्त्र-वाक्य भी स्पष्ट कहते हैं कि सबका आदिम गुरु ईश्वर ही है। किंच, यह भी समझ लेना चाहिये कि जब-जब वेद सम्प्रदाय विच्छिन्न होता है तब-तब परमेश्वर पुनः योग्य आत्मवेत्ताओं को उसका ज्ञान देकर सम्प्रदाय पुनः प्रारंभ कर देता है। उनका यह सम्प्रदान जैसा सृष्टि के आदिकाल में था, वैसा ही आज भी है और हमेशा ही रहेगा। योग्य अधिकारी यदि उनकी शरण में जाता है तो अन्य साधनों के न रहने पर भी वे कृपामय उसे वेद का ज्ञान दे ही देते हैं। इस विषय में याज्ञवल्क्य का प्रमाण स्मरण रहना चाहिये जिन्होंने साक्षात् हिरण्यगर्भ से ही पुनः शुक्ल यजुर्वेद संहिता को प्राप्त किया

था। जिस समय गुरु शिष्य को मंत्रोपदेश करता है, उस काल में वह अपने आपको इस ईश्वर तत्व से अभिन्न समझ कर के ही करता है अर्थात् गुरुमूर्ति के द्वारा शिव ही उपदेष्टा होते हैं, यह निगम रहस्य है। यहां पर **प्रहिणोति** में वर्तमानकाल का प्रयोग नित्य ही ईश्वर के द्वारा उपदेश होता है, इस बात का प्रतिपादन करने के लिये है।

६. **प्रकर्षेण समर्पयति**। उसको वेद का समर्पण करता है। तात्पर्य है कि न केवल वेदमंत्र और अर्थों का उपदेश करता है वरन् उन मंत्रों के सिद्ध ज्ञान और साधन ज्ञान को भी देता है। ब्रह्मा को उन मंत्रों को सिद्ध करने के लिये अलग से प्रयत्न नहीं करना पड़ा। यही समर्पण है। इसी को लौकिक भाषा में गुरुकृपा एवं आगम भाषा में शक्तिपात कहा जाता है।

७. आत्मा में कल्पित रूप से बुद्धि उसी को साक्षी रूप से प्रकाशित करती है, इससे परमेश्वर को आत्मबुद्धि प्रकाश कहा जाता है। अथवा आत्मा ही बुद्धि है। तात्पर्य है कि बुद्धि वृत्ति में ही आत्मा का ज्ञान होता है परन्तु उस बुद्धि वृत्ति का आत्मा स्वयं आत्मा ही है। अतः आत्मा ही बुद्धि अर्थात् आत्माकार वृत्ति, वही प्रकाश है। वही प्रकाश है जहां, वह परमात्मा आत्मबुद्धिप्रकाश है। तात्पर्यार्थ हुआ कि आत्माकार वृत्ति के द्वारा आत्मज्ञान होता है उसे आत्मबुद्धि कहा गया और आत्मबुद्धि के द्वारा क्योंकि अज्ञान नष्ट होता है, इस लिये उसे प्रकाश कहा गया **आत्मैव बुद्धिः स एव प्रकाशः अस्य इति आत्मबुद्धिप्रकाशः**। अथवा परमात्मा अपनी बुद्धि से ही जाना जाता है अर्थात् कोई दूसरा हमारे लिये आत्मज्ञान नहीं कर सकता। अथवा वस्तुतः वह शास्त्र आदि का भी या उपदेश आदि का भी अविषय ही है। अतः खुद अपने अन्दर खुद ही जान सकता है। **मनसैवानुद्रष्टव्यम्** इत्यादि श्रुतियां इसमें प्रमाण हैं। अथवा आत्मबुद्धि

अर्थात् मैं ब्रह्म हूं इस प्रकार आत्म विषयक बुद्धि, उसको जो प्रकाशन करता है वह आत्मबुद्धिप्रकाश हुआ। अथवा बुद्धि माने ज्ञान अर्थात् स्वानुभव वही प्रकाश है जिसका, वह आत्मबुद्धिप्रकाश है।

कहीं कहीं आत्मबुद्धिप्रसादम् ऐसा पाठ भी मिलता है। तब आत्मविषयक बुद्धि को प्रसाद कर, यह अर्थ होगा। अर्थात् निर्मल अन्तःकरण से, उसकी कर्त्तारूप से स्थित जो बुद्धि, उस स्वाभाविकी बुद्धि का प्रसादन करने वाला प्रत्यग् आत्मा आत्मबुद्धिप्रसादन से कहा गया। अथवा वह देव, ज्योतिर्मय आत्मा में लगी हुई जो बुद्धि हैं उसपर प्रसाद अर्थात् कृपा करती हैं। अथवा आत्मा में लगी हुई बुद्धि ही प्रसन्न अर्थात् मल आदि दोषों से रहित हो जाती है। जैसे लहर और मैल रहित तालाब को प्रसन्न सर कहा जाता है, वैसे ही यहां समझना चाहिये। परमेश्वर के प्रसन्न होने पर बुद्धि भी निष्प्रपंचाकार ब्रह्म रूप से स्थिर हो जाती है, यही प्रमा है जो सारे अज्ञान को नष्ट कर देती है।

८. कैवल्य मोक्ष को चाहने वाले के लिये ईश्वर शरणागति से भिन्न दूसरा कोई उपाय नहीं है। वे इसके साथ अन्वय करके मुमुक्षु हुआ हुआ ही, अर्थात् मोक्ष के सिवाय और किसी भी फल की इच्छा को समाप्त किया हुआ ही परमेश्वर की शरण में वस्तुतः जा सकता है। अथवा आत्मा के आवरण रूप अविद्या तथा शरीर अंतःकरण इत्यादियों को जो प्रकाशित करता है, वह मुमुक्षु है। 'मैं अज्ञानी हूं, मैं काला हूं, मैं मूर्ख हूं' आदि अनुभूतियां जिसमें हैं और जो इन अनुभूतियों से छूटना चाहता है वही मुमुक्षु है। यद्यपि श्वेताश्वतर महर्षि आत्मज्ञानी होने से मुमुक्षु पद के वाच्य नहीं हो सकते तथापि यहां साधक की शरण लेने की प्रकारता को बता रहे हैं। अथवा ज्ञान की दृढ़ता में तो यावत् अंतःकरणों में अपना ही प्रतिबिम्ब देखकर प्रतिबिम्ब दृष्ट्या, ऐसा प्रयोग बन सकता है। मुमुक्षुत्व आदि अधिकार सम्पन्न अनुभव सिद्ध होने पर ही यह बात बनती है। यहां मुमुक्षु हेतुगर्भ विशेषण है अर्थात् चूंकि तुम मोक्ष के इच्छुक हो, इसलिये मोक्ष की सिद्धि के लिये ही परमेश्वर की शरण लेता हूं, यह भाव है।

९. रक्षा करने वाले को शरण कहा जाता है अर्थात् वह हमें मोक्ष देने में समर्थ है और संसार समुद्र से हमारी रक्षा करने में समर्थ है।

१०. प्र माने भली प्रकार और पत् माने गमन। अतः मैंने भली प्रकार आप रक्षक को प्राप्त कर लिया है। संसार में बाकी सब चीजों का परीक्षण करने के बाद जब और कोई भी सहारा नहीं मिला तब मोक्ष की कामना वाले मैंने अन्य सब सहारों को छोड़कर केवल आपका सहारा पकड़ा है। प्रपत्ति का वास्तविक अर्थ होता है अन्य सब पत्तियों को छोड़ना, चाहे वह विपत्ति हो चाहे सम्पत्ति। जब सम्पत्ति विपत्ति दोनों को छोड़कर परमेश्वर की तरफ जाते हैं तभी प्रपत्ति है।

१९

निष्कलम् निष्क्रियम् शान्तम् निरवद्यम् निरञ्जनम्।
अमृतस्य परम् सेतुम् दग्धेन्धनम् इव अनलम्॥

निष्कलम् = कला रहित,[1]	परम् = श्रेष्ठ
निष्क्रियम् = क्रिया रहित,[2]	सेतुम् = पुल,[6]
शान्तम् = शान्त,[3]	दग्धेंधनम् = जले हुए इंधन[7]
निरवद्यम् = दोषरहित,[4]	इव = की तरह
निरञ्जनम् = कालिखरहित,[5]	अनलम् = आग।[8]
अमृतस्य = मोक्ष का	

१. पूर्वोक्त १६ कलाओं से रहित। इसके द्वारा परिणाम करने

वाली उपाधि का अभाव बताया। तात्पर्य है कि किसी भी प्रकार के परिणाम के लिये क्या अवयवों का परिणाम माना जाये या अवयव-विशिष्ट का। अवयवी द्रव्य का परिणाम मानने पर तो निरंश का भी परिणाम मानना पड़ जायेगा। अवयवविशिष्ट का माना जाये तो भी अवयव निरंश होगा, उसका परिणाम प्राप्त हो जायेगा। अवयवों से प्रारम्भ होकर अवयवी में प्रमाण परिणाम को यदि माना जाये तो तत्तद् अवयवविशिष्ट अवयवी में उसकी प्रमाणता अंगीकार करनी पड़ेगी। अवयव और अवयवी में प्रमाण परिणाम का तत्तद् अवयवविशिष्ट अवयव वाले अवयवी में इस प्रकार अंतिम अवयव और परमाणु में पहुँचने पर फिर पहले निरंश का ही परिणाम मानना पड़ेगा। इसी प्रकार निरंश ब्रह्म में भी महद् आदि रूप से परिणामिता हो जाये, ऐसी शंका होने पर श्रुति ने उसे निष्कल बता दिया। तात्पर्य है कि अवयवी के परिणामी मान लेने पर अवयव का विशेषण रूप से उपकारकत्व नहीं रह जायेगा। उपाधि रूप से उपकारकता स्वीकार करने पर उपाधिभूत अवयव सम्बन्धों का अभाव होने से ब्रह्म की वरीयता नहीं बनेगी अतः निष्कल का तात्पर्य हो गया परिणाम वाली उपाधि के अभाव वाला परमात्मा।

२. आरम्भ एवं परिणाम दोनों प्रकार की क्रियाओं का अभाव कहा जा रहा है। अधिकारी होने से ही वह पूर्ण है, यह भी भाव है। क्रिया वाला होने पर ही कला वाला भी होता है। अतः यह निष्कलत्व में हेतु भी है। अथवा अपनी महिमा में प्रतिष्ठित अर्थात् कूटस्थ होने से उसे निष्क्रिय कहा गया।

३. सारे विकारों का उपसंहार हो जाने से वह शांत कहा गया। अथवा परिणाम होने से ही क्रिया होती है, ऐसा मानकर उसे अपरिणामी कह दिया। देह आदि परिणामी वस्तुयें पूर्वावस्था को छोड़कर उत्तर अवस्था में जाती हैं एवं उसको भी छोड़कर उससे भी

उत्तरावस्था को जाती हैं। इस प्रकार वे हमेशा व्यापार करती रहती हैं, इसी का नाम अशान्ति है। इसी को परिणाम भी कहते हैं। ब्रह्म में इस प्रकार का व्यापार नहीं है, यह भाव है। तात्पर्य है कि ब्रह्म में परिणाम क्रिया का अभाव होने से परिणाम के फलरूप क्रियात्मकता की उसे प्राप्ति नहीं है। विचार से देखने पर परिणामिता में यदि जड़त्व को प्रयोजक मानें तो चित्ता नहीं होगी एवं चित्ता को प्रयोजक मानें तो जड़ता नहीं होगी। इस प्रकार अन्योन्य व्यभिचार से दोनों की प्रयोजकता असम्भव हो जाती है। अतः एक को ही प्रयोजक मानना पड़ेगा। तब सबको सम्मत जड़ की ही परिणामिता अंगीकार करनी होगी। एवं जड़ रूप न होने से ब्रह्म की परिणामिता असम्भव है। यह शान्त पद के द्वारा बता दिया।

४. वस्तुतस्तु निर्दोष रूप होने से ही ब्रह्म में जड़रूपता नहीं है एवं जड़रूप न होने से ही वह परिणामी भी नहीं है। सहकारी साधन संयुक्त शक्त्य पदार्थ की ही परिणामिता देखी जाती है। ब्रह्म में तो शक्ति सहकारी सम्बन्ध से भी नहीं है, यह निरवद्य का तात्पर्य है। रहस्य है कि अविद्या दोष दूषित मानकर उसमें परिणामिता की प्राप्ति कराई जा सकती थी, उसका निषेध कर दिया गया कि अविद्या आदि और दोष भी उसमें नहीं हैं। अथवा वह अविद्या अर्थात् दोष रहित है। अतः गर्हा के योग्य नहीं है, यह भाव है।

५. गर्हा रहित पदार्थ भी किसी लेप के द्वारा गर्हा वाला बन जाता है। अतः निरंजन है अर्थात् निर्लेप है। किसी लेप से भी वह गर्हणीय नहीं बन सकता यह भाव है। अंजन का अर्थ आंख में लगाने वाला काजल भी होता है जो सौन्दर्य या आंख की ज्योति को बढ़ाने वाला माना जाता है। परमात्मा को कोई भी चीज सुशोभित नहीं कर सकती। अतः उसे निरंजन कह दिया। अंजन का अर्थ कारण भी होता है, अतः कारण रहित होने से भी वह निरंजन है।

६. संसार और उसका कारण अविद्या मृत कही जाती है। यह न होने से मोक्ष अमृत कहा गया। यहां पुल का मतलब कोई भौतिक पुल नहीं समझना चाहिये बल्कि पुल की तरह होने से उसे पुल कहा जाता है। मैं ब्रह्म हूं इस प्रकार का जो ज्ञान है, वह मृत अर्थात् अहं और अमृत अर्थात् ब्रह्म का मानो पुल है। ब्रह्माकार वृत्तिविशिष्ट ब्रह्म बुद्धिसंस्पृष्ट हुआ हुआ अविद्या और उसके कार्य की निवृत्ति कर देता है। इस प्रकार निवृत्ति स्वरूप हुआ हुआ यह सेतु कहा जाता है। इसे उत्कृष्ट सेतु इसलिये कहा गया कि अन्य सेतु सर्वथा नवीन प्रकार की अनुभूति के हेतु नहीं बनते परन्तु यह तो सब अनुभूतियों से सर्वथा भिन्न अखण्ड ब्रह्म में ले जाता है।

अथवा बृहदारण्यक में कहे हुए प्रकार से जो सब चीजों को धारण करता है एवं सब चीजों को मर्यादित रखता है उसे सेतु कहा गया। लोक में भी धर्म सेतु का अर्थ यही होता है कि जो धर्म को धारण करे और धर्म की मर्यादा को स्थिर रखे। तब अर्थ होगा कि अविनाशी मोक्ष को धारण करने वाला वही है एवं मोक्ष की मर्यादा बनाने वाला भी वही है। हर हालत में संसार समुद्र से उतरने का उपाय एकमात्र ब्रह्म ही है।

७. जब ईंधन धधक उठती है तब जैसे तीव्र प्रकाश होकर के अंधकार नष्ट हो जाता है उसी प्रकार परमेश्वर भी धधकती हुई अग्नि के समान है एवं अविद्या अंधकार को नष्ट कर देता है।

अथवा जिस प्रकार बहुत लकड़ियों का समुदाय भस्म हो जाता है तब अग्नि शांत हो जाती है। इसी प्रकार परमेश्वर परम शान्त रूप है। अविद्या और तत्कार्य के अभाव वाला है, यह भाव है। बुद्धि सम्बन्ध से उपलक्षित शिवोहं तत्त्व अपने तिरस्कार करने वाले अविद्या रूप द्वैत प्रपंच को शिवोहं रूप से ही बना लेता है। जिस

प्रकार लकड़ी जलती हुई अग्निरूप ही हो जाती है। अंत में अनंत सुख चिन्मात्र रूप से मोक्ष में अवस्थित हो जाता है, यह भाव है।

पूर्वोक्त श्लोक से शरणं प्रपद्ये का अध्याहार कर लेना चाहिये। इस प्रकार परमेश्वर देश, काल, वस्तु से अपरिच्छिन्न अविकारी, निःसंग, सच्चिदानंद और प्रत्यगात्मरूप ही अध्यास के द्वारा अपनी माया से सर्वज्ञ सृष्टि, स्थिति, लय का कर्त्ता और सर्वान्तर्यामी बने हुए को मुमुक्षु अपने से अभिन्न रूप से समझ कर उससे द्वैत भ्रम को नष्ट करके अपने ही स्वरूप में स्थित कर लेता है। इसके सिवाय और कोई उपाय उसकी प्राप्ति का नहीं है। यह इन मंत्रों में प्रतिपादित कर दिया।

८. अग्नि को अनल कहते हैं क्योंकि अग्नि कभी भी अलम् अर्थात् पर्याप्त हो गई, ऐसा नहीं कहती। तात्पर्य है कि जितनी भी आहुति डाली जाये वह बढ़ती ही जाती है। परमात्मा भी पूर्ण होने के कारण कभी भी अलम् अर्थात् परिच्छिन्न बुद्धि का विषय नहीं बनता, इसीलिये उसे अनलम् कह दिया गया।

२०

यदा चर्मवत् आकाशम् वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा शिवम्[१] अविज्ञाय दुःखस्य अन्तः भविष्यति॥

यदा = जब[२]
मानवाः = मनुष्य[३]
आकाशम् = आकाश को
चर्मवत् = चमड़े की तरह
वेष्टयिष्यन्ति = लपेट लेंगे,
तदा = तब[४]
शिवम् = शिव का[५]
अविज्ञाय = साक्षात्कार किये बिना[६]
दुःखस्य = दुःख का[७]
अन्तः = आत्यन्तिक नाश[८]
भविष्यति = होगा।

१. देवम् इति वा पाठः।

२. यदा का अर्थ यद्वत् भी होता है अर्थात् जिस प्रकार। जिस प्रकार चमड़े के आसन इत्यादि को मनुष्य गोल करके लपेट लेता है वैसे ही यदि अमूर्त व्यापी आकाश को कोई मोड़माड़ सके, इस प्रकार का असम्भव द्योतन श्रुति का तात्पर्य है। अथवा जिस काल में ऐसा असम्भव काम हो सकेगा उस काल में ज्ञान बिना मोक्ष जैसा भी असम्भव काम होने लगेगा। कुछ आचार्यों ने तो ऐसा भी माना है कि जिस काल में मनुष्य दिगम्बर होकर रहेगा, उस काल में ज्ञान के बिना भी केवल त्याग के सहारे मोक्ष हो सकेगा। परन्तु ऐसा कथन उपहासास्पद है क्योंकि यदि दिगम्बरता मोक्ष में कारण हो तो सभी पशु स्वभाव से ही मुक्त हो जायें। तथापि यदि इसका भाव समुच्चय में मान लिया जाये अर्थात् जब मनुष्य शरीर को छोड़कर और किसी भी चीज का परिग्रह नहीं रखेगा, तब ज्ञान सहकारी कारण बन सकेगा तो कोई हर्ज नहीं है। अथवा जैसे चमड़ा सारे शरीर को वेष्टन करके रहता है, उसी प्रकार भूतल सन्निहित आकाश का वेष्टन किया जायेगा अर्थात् ऊर्ध्वहस्त होकर भूतल में विचरण किया जायेगा। तब ईश्वर अप्राकृत प्रलय जीव विश्राम के लिये करेगा। महाप्रलय में दुःख का अंत हो जाता है। इसीलिये इस मंत्र में आनंद की प्राप्ति नहीं बताई है वरन् दुःख की निवृत्ति ही बताई है। न्याय इत्यादि मतों में तो दुःख की समाप्ति को ही मोक्ष माना जाता है। अतः प्रकृति लय आदि अवस्था बताने वाला यह मंत्र है, ऐसा भी आचार्यों को संगत लगता है।

अथवा कर्म आदि साधनों के द्वारा परमात्मा को न जानकर मुमुक्षु जब चर्म की तरह आकाश को शरीर पर पहन लेंगे अर्थात् सर्वकर्म संन्यास करके केवल अम्बर मात्र का परिग्रह रखेंगे तभी आत्मज्ञान सम्भव हो सकेगा। अथवा परिग्रह अभाव से दुःखाभाव हो जाता है क्योंकि परिग्रह से ही दुःख है, यह बताने के लिये यह मंत्र

है। **न कर्मणा न प्रजया धनेन** इत्यादि श्रुतियां भी यहां अनुसंधेय हैं। वस्तुतस्तु इन सब अर्थों की कल्पना आयासमात्र ही है। श्रौत तात्पर्य तो अमूर्त आकाश की चर्मवत् परिधानता को असम्भव बताकर शिव के ज्ञान के बिना मोक्ष असम्भव बताने में ही है। अतः शिव की प्रसन्नता के लिये ही प्रयत्न करो, यह तात्पर्य है।

३. मनु की संतति को मनुष्य कहते हैं। इसके द्वारा जो भी मनु के सिद्धान्तों को स्वीकार करता है, उन सबका आत्मज्ञान में अधिकार माना जा रहा है। वस्तुतस्तु जिसमें भी धर्म अधर्म आदि विवेक करने का सामर्थ्य है वे सभी मन वाले होने से मनुष्य पद के वाच्य हैं। अतः आत्मज्ञान में मानव मात्र का अधिकार है। **न कर्म लिप्यते नरे** इत्यादि श्रुतियों में भी नरमात्राभिमानी का अधिकार माना है। आत्मज्ञान एवं उसके साधन क्रिया योग तथा तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान में मानवमात्र का अधिकार है।

४. यह सम्भावित काल वचन समझना चाहिये क्योंकि वस्तुतस्तु ऐसा काल कभी आता ही नहीं है।

५. क्लेश, आदि रहित, सकृत् विभात ज्ञान रूप से अवस्थित, अशनायादि असंस्पृष्ट, स्वयं प्रकाश, प्रकृति एवं प्राकृत मलों से अनास्कंदित स्वरूप, प्रत्यगात्मा से अभिन्न है। यही उसकी शिवता है। ये सारे ही उपनिषद् परमात्म तत्त्व का शिवरूप में ही वर्णन करते हैं। कहीं तद्-वाच्य रुद्र शब्द का भी प्रयोग है। वस्तुतस्तु औपनिषद् सिद्धान्त में चरम तत्त्व को शिव नाम से ही कहा गया है। एवं इसीलिये वेदांत सम्प्रदाय में शिव का ही प्रधान रूप से पूजन किया जाता है।

६. यहां केवल परोक्ष ज्ञान न लेकर मनन, निदिध्यासन सहकृत ज्ञान लेना चाहिये जहां इतिकर्त्तव्यता शम, दम आदि के द्वारा प्राप्त होती है। अनुभव रूप ज्ञान ही विज्ञान कहा जाता है। अतः मैं शिव हूं इस विशेष ज्ञान को ही यहां बताया जा रहा है। शिव को अपने

से भिन्न जानकर जो परोक्ष ज्ञान होता है वह दुःख को आत्यंतिक निवृत्त करने में समर्थ नहीं होता, चाहे समाधि इत्यादि की तरह किंचित् काल के लिये या प्रलय पर्यन्त दीर्घकाल के लिये, दुःख का निवारण कर सके।

७. आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक इत्यादि भेदों से भिन्न प्रतिकूल वेदनीयता को दुःख कहा जाता है। अज्ञात आत्मा ही संसार का निमित्त है। अतः ज्ञात आत्मा ही संसार का नाशक हो सकता है। जब तक आत्मा ज्ञात नहीं होता तब तक राग आदि मगरों के द्वारा इधर उधर खिंचा जाकर प्रेत, पशु आदि योनियों में अज हुआ हुआ भी अपने आपको मोह में पड़कर, संसरित हुआ हुआ अनुभव करता है। जब वेदांत वाक्यों के द्वारा अपने पूर्ण आनन्द-स्वरूप को जानता है तब अज्ञान और उसके कार्य से छूटकर पूर्ण आनन्दरूप ही हो जाता है।

८. यद्यपि सुषुप्ति में भी दुःख की निवृत्ति है परन्तु वह अविद्या-ग्रस्त होने के कारण तथा काल से परिच्छिन्न होने के कारण यहां इष्ट नहीं है। काम्य विषयों की प्राप्ति काल में भी इच्छा के उपशमन में दुःख का अंत है परन्तु वह भी क्षणिक होने से यहां इष्ट नहीं है। महाप्रलय पराधीन होने से यहां इष्ट नहीं। अतः इन सभी चीजों से निर्मुक्त पूर्ण आनन्दस्वरूपता की प्राप्ति और सर्वविध दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति ही यहां इष्ट है। इसके बाद किसी भी देश, काल और वस्तु से दुःख होना सम्भव नहीं रह जाता।

२१

तपःप्रभावात् देवप्रसादात् च ब्रह्म ह श्वेताश्वतरः अथ विद्वान्। अत्याश्रमिभ्यः परमम् पवित्रम् प्रोवाच सम्यक् ऋषिसंघजुष्टम् ॥

अथ = बाद में[१]
ह = प्रसिद्ध है कि[२]
विद्वान् = विद्वान्[३]
श्वेताश्वतरः = श्वेताश्वतर ने[४]
तपःप्रभावात् = तप के प्रभाव से[५]
च = तथा
देवप्रसादात् = महादेव की कृपा से[७]
ऋषिसंघजुष्टम् = ऋषिसंघ से सेवित[८]
परमम् = परम[९]
पवित्रम् = पवित्र[१०]
ब्रह्म = ब्रह्म को[११]
अत्याश्रमिभ्यः = आश्रमातीतों के लिये[१२]
सम्यक् = भली प्रकार[१३]
प्रोवाच = बताया।[१४]

१. शंकरानन्दः ब्रह्मवित् इति पठति।

२. शिव के उद्देश्य से बहुत जन्मों तक परमेश्वर की आराधना करके एवं शुद्ध आत्मतत्त्व के अधिकार सिद्धि को प्राप्त कर अपने अनुभव के दृढ़ होने के बाद। यदि इसका सम्बन्ध अत्याश्रमिभ्यः के साथ लगायें तो साधनचतुष्टय सम्पत्ति प्राप्त करने के बाद, ऐसा भी अर्थ हो सकता है। वस्तुतस्तु सम्प्रदाय परम्परा के द्वारा ही प्राप्त ब्रह्मविद्या मोक्ष रूप फल उत्पन्न करने में समर्थ होती है। अतः यहां दोनों अधिकारों का प्रतिपादन समझा जा सकता है।

३. श्वेताश्वतर महर्षि वैदिक ऋषियों में एक अतिमहत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। एक पूरी की पूरी वैदिक शाखा के ऋषि होने के नाते उनका वैदिक ऋषियों में वही स्थान है जो याज्ञवल्क्य का अथवा पिप्पलाद का। यह स्मर्तव्य है। याज्ञवल्क्य, पिप्पलाद एवं श्वेताश्वतर तीनों ही अद्वैत वेदांत के प्रधान आचार्यों में हैं। वस्तुतस्तु ऋग्वेद में सर्वाधिक मंत्रों के द्रष्टा वशिष्ठ इत्यादि भी वेदांत के माननीय आचार्य रहे हैं। इससे सिद्ध होता है कि वेदों का सिद्धान्त अद्वैत है, यह केवल परवर्ती मान्यता नहीं वरन् वैदिक काल से ही प्रत्यक्ष सिद्ध है।

४. जीव ब्रह्म की एकता को जानने वाले को ही वेदांत शास्त्रों में विद्वान् कहा जाता है। केवल किसी परोक्ष पदार्थ के ज्ञाता को यहां विद्वान् नहीं माना जाता। अथवा **विद्वान् विदन् सन्** अर्थात् जाने हुए। इस ज्ञान को जानते हुए ही उन्होंने उपदेश दिया। अतः अनुभूति से युक्त होने के कारण इसकी उपादेयता को बताने में तात्पर्य है। जहां तो **ब्रह्म ह** की जगह **ब्रह्मवित्** ऐसा पाठ मिलता है, वहां विद्वान् से अर्थतः पुनरावृत्ति हटाने के लिये ब्रह्म का अर्थ सांगवेद कर लेना चाहिये एवं उसको जानने वाले ब्रह्मवित् ईश्वर के समान श्वेताश्वतर, ऐसा तात्पर्य हो जायेगा।

साधनचतुष्टयसम्पन्नता के बाद स्वयं प्रकाश परमात्मा का साक्षात्कार करने वाला, इस प्रकार अथ विद्वान् अन्वय करने पर बन जाता है तथा विद्वान् अथ ऐसा अन्वय करने पर अनुभव प्राप्ति के अनंतर उपदेश किया, ऐसा तात्पर्य बन जाता है। प्रथमार्थ में विद्वान् का विद्वन् सन् अर्थ अधिक उपयुक्त होता है। वस्तुतस्तु मंत्रों की अनेकार्थता के द्वारा दोनों ही अर्थों का संग्रह कर लेना चाहिये। समग्र विद्या एवं योग की प्राप्ति कर लेने पर भी अनेक लोगों में ब्रह्मज्ञानशून्यता होने से यह सब व्यर्थ श्रम ही रह जाता है। ऐसे ही श्वेताश्वतर महर्षि होंगे, इस सम्भावना का निराकरण करने वाला यह विद्वान् पद है।

५. यद्यपि यह ऋषि का नाम है तथापि योगरूढ़ि के द्वारा श्वेत अर्थात् दोष रहित, अश्व अर्थात् इन्द्रिय जिसको हो, वह श्वेताश्वतर हुए। अतिशय से श्वेताश्व श्वेताश्वतर हुआ। तात्पर्य हुआ कि सदा अन्तर्मुख रूप से एवं विषय प्रवृत्ति से रहित ही उनका कार्यकरण संघात था, इसीलिये वह श्वेताश्वतर कहे जाते थे। यद्यपि अश्वतर का अर्थ लौकिक संस्कृत में खच्चर होता है एवं सफेद खच्चरों वाले, ऐसा भी इसका अर्थ हो सकता है। तब यह मानना होगा कि सफेद

खच्चरों पर सामान इत्यादि ढोने के कारण उन्हें श्वेताश्वतर कहा जाता रहा होगा। जैसे आजकल भी काली कमली वाले बाबा, गुदड़ी वाले बाबा इत्यादि।

६. पूर्व काल में किये हुए कृच्छ्र चान्द्रायण आदि तपों का यद्यपि यहां निर्देश हो सकता है परन्तु वस्तुतः वेदांत शास्त्र में इस प्रकार के तप का कोई स्थान नहीं है। अनेक जगहों पर भाष्यकार स्पष्ट कहते हैं कि मन और इन्द्रियों की एकाग्रता ही परम तप है जो परमेश्वर प्राप्ति का साधन है। अथवा हित, मित, ऋत अशन ही तप है। अत्यधिक भूखा रहना और अत्यधिक खाना दोनों ही श्रवण, मनन के उपयोगी नहीं हैं। न खाने से धातुवैषम्य होकर तरह तरह के रोग उत्पन्न होते हैं। शरीर, सिर इत्यादि में वेदना होती है एवं चित्त परमात्मा में लगाना असम्भव हो जाता है। अतः संन्यासी के लिये ये सब न केवल अनावश्यक हैं वरन् हानिकारक भी हैं। गीता में भी **नात्यश्नतस्तु योगोस्ति** इत्यादि कहकर इसी का समर्थन किया है। शतपथ ब्राह्मण में भी लिखा है कि **यत् भूयः हिनस्ति तत् यत् कनीयः न तदवति** अतः ठीक भोजन करना ही वास्तविक तप है। अथवा **यस्य ज्ञानमयं तपः** इत्यादि अथर्ववेद के आधार पर वेदांत विचार स्वयं ही एक तप है। वस्तुतस्तु वेदाध्ययन और वेदार्थ विचार से उत्तम और कोई तप है ही नहीं। तैत्तिरीय आरण्यक में स्पष्ट ही लिखा है कि स्वाध्याय और प्रवचन से महत्तर और कोई भी साधन नहीं है। **तद्धि तपः तद्धि तपः** इत्यादि के द्वारा अतिधन्य वेद दो बार कहकर इसी को परम तप बताता है। सामान्य दृष्टि से नित्य नैमित्तिक कर्मों का विधिवत् अनुष्ठान करके उनका परम गुरु में समर्पण भी तप ही माना गया है। **स्ववर्णाश्रमधर्मेण तपसा** इत्यादि वाक्य इसमें प्रमाण हैं। इस प्रकार के सभी तप श्वेताश्वतर

महर्षि में नियम से रहा करते थे एवं उसके प्रभाव अर्थात् सामर्थ्य से ही वह इस उपनिषद् में प्रोक्त विद्या बताने में समर्थ हुए थे।

७. अनेक जन्मों में परमेश्वर की आराधना बुद्धि से किये हुए कर्मों के फलस्वरूप जो मोक्ष अधिकार की सिद्धि हुई, वही उस महादेव का प्रसाद है। किंच, अनेक लोग इससे सिद्धि भी प्राप्त कर लेते हैं एवं ज्ञान सिद्धि भी प्राप्त कर लेते हैं परन्तु फिर भी महादेव की कृपा के बिना सम्प्रदाय परम्परा का पालन करने में असमर्थ होते हैं। अतः परमात्मा की कृपा के बिना ऐसा ज्ञानदाढ्र्य जो दूसरों में भी ज्ञान संचरित कर सके, आना सम्भव नहीं है। तप के प्रसाद का अर्थ तो तप का सफल हो जाना है अर्थात् तप का स्वभाव हो जाना है परन्तु देवप्रसाद का अर्थ चेतन होने से देव का साक्षात् अनुग्रह ही है। अथवा यदि देव का अर्थ अंतःकरण ले लिया जाये तो अंतःकरण की निर्मलता देव प्रसाद होगी, इस अर्थ में वेदानुवचन यज्ञ, दान का संग्रह हो जायेगा। द्योतनात्मक होने से अंतःकरण को देव कहना तो ठीक ही है।

८. वामदेव, सनक, नारायण, नारद आदि ऋषियों के समूह को ऋषिसंघ कहते हैं। उनके द्वारा जुष्ट अर्थात् सेवित अर्थात् आत्मरूप से भावना किया हुआ या जाना हुआ प्रतीयमान आनन्दघन परमेश्वर **ऋषिसंघजुष्टम्** कहा गया। **आत्मनस्तु कामाय सर्वम् प्रियम् भवति** इत्यादि श्रुतियां इसमें प्रमाण हैं। अथवा ऋषि अर्थात् इन्द्रियां और इन्द्रियसंघ के द्वारा अर्थात् समग्र इन्द्रियों के द्वारा प्रीतान्तःकरण से संवित् आत्मा। तात्पर्य है कि जब ब्रह्मज्ञान होता है तो सभी इन्द्रियां तृप्त हो जाती हैं।

९. पवित्र करने वाले पदार्थों को भी यही पवित्र करता है, इसी लिये यह परम पवित्र कहा जाता है। **पवित्राणां पवित्रम् यो** इत्यादि

वाक्य इसमें प्रमाण हैं। उत्कृष्ट पुरुषार्थरूपी मोक्ष प्राप्ति का हेतु होने से भी इसे परम कहा गया।

१०. अविद्या और उसके मलों से असम्बन्धित होना ही उसकी पवित्रता है। अथवा वह समग्र अशुद्धियों के बीच अविद्या को नष्ट कर देता है, इसलिये वह पवित्र है। विशेषणों के सामर्थ्य से विशेष्य ब्रह्म ज्ञान को समझ लेना चाहिये। अथवा ब्रह्म से ब्रह्मज्ञान की उपलक्षणा समझ लेनी चाहिये। **नहि ज्ञानेन सदृशम् पवित्रमिह विद्यते** इत्यादि गीता इसमें प्रमाण है।

११. यद्यपि अहं ब्रह्मास्मि इत्यादि वाक्यों में ब्रह्म तत् पद का वाच्यार्थ कहा गया है लेकिन यहां पर लक्ष्यार्थ समझना चाहिये। अपरिच्छिन्न महत्ता बताने पर उसकी प्रत्यगात्मस्वरूपता अर्थतः प्राप्त हो ही जाती है। इस प्रकार जैसे आत्मा शब्द से ब्रह्म का ग्रहण हो जाता है वैसे ही काल से भी ब्रह्म का ग्रहण हो हो जाता है। ब्रह्म है ऐसा अन्वय करने पर ऐतिह्य बताना इष्ट है अर्थात् श्रुति यह कहना चाहती है कि इस ब्रह्मज्ञान को असम्भव समझकर कोई छोड़ न दे। श्वेताश्वतर महर्षि, नारायण, वामदेव, वशिष्ठ इत्यादि अनेक महर्षियों के मुख से अनुभव रूप से सुन करके उसमें अतीव श्रद्धा उत्पन्न करना ही प्रयोजन है। परम्परा से प्राप्त एवं गुरुमुख से सुनकर मनन निदिध्यासन के साथ आदर और नैरन्तर्य तथा सत्कारपूर्वक श्रवण का अभ्यास करने से ही अपरोक्षीकृत अखण्ड साक्षात्कार उत्पन्न होता है। श्वेताश्वतरः ब्रह्म ऐसा अन्वय करने पर **ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति** इत्यादि श्रुति के अनुसार श्वेताश्वतर महर्षि स्वयं ही ब्रह्म हो गये थे, यह कहने का तात्पर्य है। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर वेद राद्धांत में ब्रह्मनिष्ठ ही सगुण ब्रह्म का प्रतीक है। अतः सगुण ब्रह्म की उपासना एवं प्रसाद वस्तुतः परमेश्वर की सेवा और परमेश्वर का प्रसाद है। इसी दृष्टिकोण से यहां श्वेताश्वतर और ब्रह्म को

समानाधिकरण सम्बन्ध से कहा गया है। अथवा अपरिच्छिन्न महत्ता को श्वेताश्वतर ने प्राप्त कर लिया ऐसा सम्बन्ध समझ लेना चाहिये।

१२. **अथ श्वेताश्वतरः** और **अथ अत्याश्रमिभ्यः** ऐसा संयोग विभाग करके ज्ञान प्राप्ति के अनन्तर श्वेताश्वतर महर्षि ने साधन चतुष्टय सम्पन्न शिष्यों को प्राप्त करके, जो अत्याश्रमी थे, ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया। जब तक साधन चतुष्टय सम्पत्ति विशिष्ट अधिकारी नहीं मिलता तब तक ब्रह्म विद्या का उपदेश न केवल व्यर्थ है वरन् हानिकारक भी है। किंच, साधन चतुष्टय सम्पत्ति हीन पुत्र में ब्रह्म विद्या का उपदेश ठहरता भी नहीं, साधन चतुष्टय सम्पत्ति वाले में वैदिक परमहंस संन्यास अर्थतः सिद्ध है। इससे भिन्न जो स्मार्त संन्यास है, वह तो लिंगों को लेकर होता है परन्तु मुख्य परमहंस संन्यास सर्वकर्म संन्यास को कहते हैं, किसी कर्मान्तर ग्रहण को नहीं। श्रौत संन्यास चाहे विविदिषु हो, चाहे विद्वत्, दोनों ही अवस्थाओं में सर्वकर्मसंन्यासरूप ही है। यहां तक कि भिक्षाचर्या, श्रवण, मनन आदि भी उसके लिये दृष्टफलक ही हैं, अदृष्टफलक नहीं। सारे अदृष्ट फलों को छोड़ने के कारण ही वह शिखा, यज्ञोपवीत आदि का भी त्याग करता है क्योंकि ये भी अदृष्ट के प्रयोजक ही हैं। स्नान, आचमन, शौच आदि सभी उसके लिये दृष्ट प्रयोजन वाले हैं, अदृष्ट प्रयोजन का कोई भी कर्म वह नहीं करता। इसका मुख्य कारण है कि सभी अदृष्ट प्रयोजन के लिये देहविशिष्ट आत्मा में अभिमान करना आवश्यक होता है। कर्मों का विधान केवल जीव के लिये कहीं नहीं किया गया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, आदमी, औरत, पति, पुत्र, नागरिक, राष्ट्र आदि भेदों को लेकर के ही कर्म का विधान है। इन सभी भेदों से अतिरिक्त जो अपने को समझने का प्रयत्न भी कर रहा है, उसके लिये भी कर्म का विधान बनता नहीं तो जो अपने

को इनसे भिन्न समझता हो, उसके लिये तो कर्मों की प्राप्ति हो ही कैसे सकती है। इसीलिये उसे किसी भी स्मार्त आश्रमों में नहीं रखा जा सकता। यहां आश्रमातीत कहकर इसी बात को ध्वनित कर रहे हैं। सर्वकर्मसंन्यासी और वैदिक परमहंस ही ब्रह्मज्ञान का मुख्य अधिकारी है। लिंगधारण आदि तो दृष्ट प्रयोजक हो भी सकते हैं, परन्तु उनमें अदृष्ट प्रयोजकता स्वीकार करने पर स्मार्त संन्यास सिद्ध हो जाता है। **अतिः पूजायाम्** जो चीज पूजा के लायक होती है, उसे अति शब्द से कहा जाता है। अतः पूज्य आश्रम होने से भी इसको अत्याश्रम कहा गया। कृष्ण यजुर्वेद भी **तानि वा एतानि अवराणि तपांसि न्यास एवात्यरेचयन् न्यास इति ब्रह्म** के द्वारा यही प्रतिपादित करता है कि बाकी सब तप निकृष्ट कोटि के तप हैं। संन्यास ही श्रेष्ठ तप है। वस्तुतस्तु संन्यासी ब्रह्म ही है। नारायण अपनी दीपिका में **अन्त्याश्रमिभ्यः** ऐसा पाठ मानते हैं। तब तो तात्पर्य होगा कि चार प्रकार के भिक्षुओं में जो अंतिम परमहंस गिना गया है, उसका यहां ग्रहण है। परन्तु श्रुतियों में कहीं भी इस प्रकार के संन्यासों को कहा भी नहीं गया है एवं लोक में भी इन संन्यासों को स्मार्त संन्यास ही माना गया है। सर्वज्ञ शंकर तो स्पष्ट ही भाष्य में लिखते हैं कि **इदम् एकमेव पारिव्राज्यम् वेदोक्तम्** अर्थात् वेद में कहा हुआ परमहंस एक ही संन्यास है। बाकी सब इससे भिन्न स्मार्त संन्यास हैं। अतः स्मार्त संन्यास का विनियोग ब्रह्मज्ञान में आवश्यक नहीं है। यदि नारायण का पाठ ही ठीक माना जाये तो भी स्मार्त परमहंस संन्यास एवं श्रौत परमहंस संन्यास में कुछ धर्मों की समानता लेकर इसका प्रयोग हो सकता है। अथवा वेदों के चार आश्रमों में से यह अंतिम आश्रम होने से वैदिक परमहंस संन्यास का ग्रहण हो सकता है।

जब तक ससाधन कर्मसंन्यास नहीं किया जाता तब तक अहंकार का अनुवर्तन रह ही जाता है। अहंकार के अनुवर्तित होने पर ईश्वर प्रसाद की प्राप्ति असम्भव है। ईश्वर प्रसाद के बिना ज्ञान की सम्भावना नहीं। तात्पर्य है कि दो प्रकार से ब्रह्मान्वेषण में प्रवृत्ति हो सकती है एक जीव के शुद्ध रूप को जानने के लिये एवं दूसरी ब्रह्म के शुद्ध रूप को जानने के लिये। इसमें जीव के शुद्ध रूप को जानने के लिये प्रवृत्त को सर्वथा अपना ही सहारा मिलता है, ब्रह्म के यथार्थ रूप को जानने में जो प्रवृत्त होता है, उसको परमेश्वर की कृपा प्राप्त होने से शीघ्र सहारे की प्राप्ति हो जाती है। सर्वज्ञ शंकर भगवत्पादों ने भी इसीलिये ब्रह्मरूपानुसंधान और स्वात्मरूपानुसंधान इस प्रकार दो मार्ग प्रतिपादित किये हैं। ब्रह्मसूत्रों में भी ब्रह्म जिज्ञासा से प्रारम्भ करके ब्रह्म ही सार है, इस प्रकार के मार्ग को बिस्तृत किया है। उपनिषदों को देखने पर भी यह प्रतीत होता है कि अधिकतर स्थलों में ब्रह्म का विचार करते-करते उसका अपरोक्ष आत्मा से ऐक्य प्रतिपादित किया गया है, एवं कहीं कहीं ही अपवाद रूप से जीव का विचार करते हुए उसे फिर ब्रह्म रूप प्रतिपादित किया गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर सांख्यवादी और योगवादी जीवतत्त्व के बिचार में प्रवृत्त हुए और अंततोगत्वा केवल जीवचैतन्य में अटक गये और बहुपुरुष बाद को मान गये। वेदांत में भी जहां-जहां सांख्य का प्रभाव आया, वहां-वहां ऐसी प्रवृत्ति देखी जाती है। परन्तु वास्तविक दृष्टि से देखने पर वेदांत ईश्वरवादी हैं, अतः ईश्वर के तत्त्व का विवेचन करते हुए ही वेदांती इस बात को जान पाता है कि वह ईश्वर मैं ही हूं। यही राजमार्ग है। जब मनुष्य इस प्रकार ईश्वर की तरफ प्रवृत्त होता है और संन्यास के द्वारा उसकी अहंता नष्ट हो जाती है तब ईश्वर उसमें शक्तिपात करता है और इसी से ज्ञान की दृढ़ता होती हैं। अतः अति अर्थात् जाग्रत,

स्वप्न, सुषुप्ति को अतीत करके जहां पर स्थिति हो जाये, वही अत्याश्रम है। विद्वत् संन्यास की दृष्टि से स्थिति और विविदिषु संन्यास की दृष्टि से स्थिति के लिये श्रम, इस प्रकार वैदिक सन्यास के दोनों ही लक्षण यहां घट जाते हैं। परमेश्वर की कृपा की महिमा से ही अपने शरीर आदियों में एवं जीवन, मरण, भोग आदि सबमें अनास्था हो जाना ही संन्यास का बाह्य लक्षण है यदि इस प्रकार वैराग्य पूर्ण रूप से उदय नहीं होता तो **वैराग्यम् पुष्कलम् न स्यात्, निष्फलम् ब्रह्मदर्शनम्। तस्मात् रक्षेत विरतिम् बुधो यत्नेन सर्वदा** इत्यादि स्मृतियों के आधार पर ब्रह्मदर्शन ही जिस जीवन्मुक्ति फल को देने वाला होता है, वह प्रतिबद्ध हो जाता है। अतः प्रयत्नपूर्वक यह संरक्षणीय है। अन्यत्र भी कहा है—

यदा मनसि वैराग्यम् जायते सर्ववस्तुषु।
तदैव संन्यसेत् विद्वान् अन्यथा पतितो भवेत्॥

मन में समग्र संसार के प्रति वैराग्य होने पर हो संन्यास करना उचित है अन्यथा आश्रम मर्यादा से गिर जाता है। सर्वज्ञ शंकर भी **वैराग्यस्य फलं बोधः बोधस्योपरतिः फलं** के द्वारा यही बताते हैं कि वैराग्य ज्ञान के आगे और पीछे दोनों तरफ रहता ही है। इसका परस्पर उपकार्य-उपकारक भाव सम्बन्ध है अर्थात् जैसे-जैसे वैराग्य बढ़ता है वैसे-वैसे ज्ञान पुष्ट होता हैं और जैसे-जैसे ज्ञान बढ़ता है वैसे-वैसे वैराग्य पुष्ट होता है। इस दृष्टि से ही इसको अत्याश्रम कहा गया है।

भास्कर आदि आचार्य तथा अन्य अनेक लोग भी परमहंस संन्यासी को शिखा यज्ञोपवीत आदि रहित देखकर वैदिक स्वीकार नहीं करते। प्रत्यक्ष श्रुतियों को भी वह प्रक्षिप्त मानने जैसा जघन्य अपराध भी करते हैं। इसका कारण केवल परमहंस आश्रम से विद्वेष के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। कर्मों की प्राप्ति जिस प्रकार

विधि से होती है, उसी प्रकार कर्मों का त्याग भी विधि से ही होता है। पुरुषमेध के अंत में भी यजुर्वेद में स्पष्टतः कहा है कि शिखा यज्ञोपवीत आदि का त्याग करके जंगल में चला जाये और वापिस लौटकर न आये। यहां भी आध्यात्मिक तात्पर्य जो भी रहा हो, परन्तु स्पष्ट श्रुति तो यज्ञोपवीत आदि त्याग की मिल ही जाती है। अग्निहोत्र आदि के बारे में भी जिस प्रकार दो वर्ष या तीन दिन का भी विकल्प मिलता है तब **यावज्जीवेत् अग्निहोत्रं जुहुयात्** इत्यादि श्रुतियों से व्यवस्थित विकल्प मानना ही पड़ता है तो फिर केवल परमहंस के लिये इन श्रुतियों के संकोच में स्वीकृति न देना विद्वेषमूलक हठधर्मिता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जब तक परमहंस आश्रम को ग्रहण नहीं किया जायेगा तब तक अदृष्टमूलक कर्मों को न करना प्रत्यवाय का जनक हो जायेगा। कर्मछिद्रों में ब्रह्म का अन्वेषण करके ब्रह्मसंस्थता प्राप्त करना असम्भव है। कर्तृत्व और अकर्तृत्व एक दूसरे का बाधक होने से दोनों का सहसमुच्चय असम्भव है। मन कोई बिजली का बटन नहीं है कि जब चाहो दबाओ और जब चाहो छोड़ दो। अतः यदि अकर्तृत्व भाव दृढ़ होता जायेगा तो कर्म ठीक प्रकार से नहीं कर पायेगा और यदि कर्तृत्व भाव दृढ़ होगा तो अपने को अकर्ता नहीं समझ पायेगा। तर्पण, देवपूजा इत्यादि कर्म करता भी रहे और ज्ञान की स्थिति भी होती रहे, यह कैसे सम्भव है। भिक्षा इत्यादि दृष्टफलक कर्म हैं एवं शरीर संधारण मात्र के लिये हैं। अतः जिस समय प्रारब्ध जबरदस्ती कर्तृत्वभाव का आपादन करता है तब कर लिया जाता है। अपने से कर्तृत्व भाव को बनाना नहीं पड़ता, उल्टा बने हुए कर्तृत्व भाव का बाध करना पड़ता है। इस प्रकार से प्रारब्ध कर्म जबरदस्ती संध्या अग्निहोत्र के समय में प्रवृत्त करें यह सम्भव नहीं है। यदि ऐसा होता तो सभी ब्राह्मण स्वतः अग्निहोत्र आदि करते लम्बी शास्त्रीय विधि

की आवश्यकता नहीं होती। भोजन आदि में तो पशुओं की भी प्रवृत्ति होती है, अतः उसमें किसी विधि की अपेक्षा नहीं होती। संन्यासी के भोजन आदि के व्यवहार से उसमें अन्य किसी भी प्रकार के विहित कर्मों को प्राप्त कराना इसीलिये सर्वथा निषिद्ध है और न्यायविरुद्ध है। श्रवण आदि तो उसके संन्यास का उद्देश्य होने से ही एवं वहां पर भी विधि अधीनता न होकर के ईश्वर के गुणों से मुग्ध होकर प्रवृत्ति होने से विधि दोष से दुष्ट नहीं है। इसपर कुछ लोगों को संदेह होता है कि क्या तीन आश्रमों को लेकर के ही चतुर्थ आश्रम में प्रवेश यहां अत्याश्रम पद से कहा गया है? उत्तर है कि यदि ऐसा इष्ट होता तो अन्त्याश्रम पाठ ही स्वीकृत होता या तुरीयाश्रम कहा गया होता। अत्याश्रम शब्द के प्रयोग से ही बता रहे हैं कि यहां चतुर्थ आश्रम तीन आश्रमों के अनन्तर होने वाला नहीं कहा जा रहा है। श्रुति तो इस विषय में स्पष्ट है **ब्रह्मचर्याद् एव प्रव्रजेत्** अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम के बाद ही संन्यास लेना चाहिये। बाद में विकल्प किया है कि गृहस्थाश्रम और वानप्रस्थ आश्रम से भी किया जा सकता है। अतः मुख्य संन्यास तो ब्रह्मचर्याश्रम से सीधा संन्यास लेना ही है। वस्तुतस्तु स्वाध्याय, अध्ययन के बाद मनुष्य के सामने दोनों रास्ते खुलते हैं या धर्म जिज्ञासा करे एवं गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके धर्मपालन करे, इसे प्रवृत्तिमार्ग कहते हैं। अथवा ब्रह्मजिज्ञासा करे एवं तदर्थ संन्यास आश्रम में प्रवेश करे। इसे निवृत्ति मार्ग कहते हैं। प्रवृत्ति और निवृत्ति ये दो ही वैदिक धर्म हैं एवं साक्षात् या परम्परा से निःश्रेयस के रास्ते हैं। यद्यपि मनु ने कहा है—

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य मोक्षन्तु सेवमानो व्रजत्यधः॥

पितृऋण, ऋषिऋण और देवऋण तीनों ऋणों को चुका कर

के ही मन को मोक्ष में लगावे। पुत्रोत्पत्ति के द्वारा पितृ ऋण, यज्ञ के द्वारा देव ऋण चुकता है एवं वेद के अध्ययन-अध्यापन तथा तर्पण आदि के द्वारा ऋषिऋण चुकता है। इन ऋणों को चुकाये बिना मोक्ष की तरफ जाने वाला नरक को जाता है। पुराणों में इस प्रकार के अनेक दृष्टांत भी दिये गये हैं परन्तु साक्षात् श्रुति का विरोध होने के कारण ब्रह्मा के अवतार भगवान् सुरेश्वराचार्य वार्तिक में लिखते हैं कि—

प्रत्यक्षवेदवचनप्रामाण्यापाश्रयादतः।
आदौ संन्याससंसिद्धिः ऋणानीति ह्यपस्मृतिः॥

प्रत्यक्ष श्रुति के वाक्य और प्रमाण से निराकृत होने के कारण ब्रह्मचर्य आश्रम से ही संन्यास सिद्ध हो जाता है। अतः मनु का ऋणानि इत्यादि वाक्य अपस्मृति है। अर्थात् भ्रम, प्रमाद अथवा विप्रलिप्सा दोष के द्वारा लिखा गया है। भगवान् पद्मपादाचार्य भी यही लिखते हैं **ऋणापाकरणद्वारेणापि नियमेन पूर्ववृत्तत्वम् प्रत्युक्तम्** इस प्रकार ब्रह्मचर्य से संन्यास लेने वाला मुख्य अधिकारी ही अत्याश्रम पद का वाच्य है लेकिन तत्समानधर्मी होने से गृह अथवा वन से संन्यासाश्रम में जाने वाला भी गौणवृत्या वेदांत का अधिकारी होता है।

१३. जैसा कि इस उपनिषद् की व्याख्या को पढ़ने से स्पष्ट हो गया होगा कि वेदांत के सार, विषय, साधन सभी इसमें बता दिये गये हैं। अतः वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ, युक्ति, चित्त एकाग्रता के साधन सभी का वर्णन करने से इसको सम्यक् कहना ठीक ही है। जिस प्रकार मनुष्यको परमात्मा का अपरोक्ष हो जाये उसी प्रकार का उपदेश करना ही सम्यक् कथन है। इसके द्वारा गुरु की उपदेशकुशलता को भी बता दिया गया। काकाक्षिन्याय से सम्यक् शब्द का **ऋषिसंघजुष्टम्** के साथ भी अन्वय हो सकता है तब तात्पर्य होगा कि ऋषिसंघ के द्वारा आत्मरूप से भली प्रकार प्रेम का विषय बना हुआ ब्रह्म। अथवा सम् अर्थात् समीचीन स्वयं प्रकाश आनंदात्मा को **अंचति गच्छति** प्राप्त करता है, अतः उसे सम्यक् कहा गया। इस पक्ष में यह ब्रह्मज्ञान का ही विशेषण है। तात्पर्य है कि वामदेव, सनकादि ऋषियों के द्वारा सम्यक् रूप से आनंद और प्रियतम होने के कारण आश्रित किया गया।

१४. दयार्द्र चित्त होकर संसार सागर से परे जाने के उपाय को कहा। तात्पर्य है कि अन्य लोग कोई भी उपदेश किसी न किसी साक्षात् या परम्परा से स्वप्रयोजन की सिद्धि के लिये करते हैं। आत्मज्ञानी के सारे प्रयोजन पूर्ण होने के कारण उपदेश आदि कर्त्तव्यों में उसका स्वप्रयोजन कुछ भी नहीं है, फिर भी शिष्य के ऊपर करुणा करके अहैतुकी दया करते हुए उसे संसार सागर से पार ले जाता है। यही प्रकर्ष है। यद्यपि यहां इतिहास रूप से श्वेताश्वतर महर्षि का वर्णन है परन्तु जैसा कि भाष्यकार अन्यत्र भी कई जगह कहते हैं कि आख्यायिका वेदों में प्ररोचन के लिये ही होती हैं। अतः वास्तविक रहस्य तो यह है कि इस प्रकार का आत्मज्ञान प्राप्त करने के बाद योग्य शिष्य को प्राप्त करने पर आचार्य के लिये भी यह नियम है कि वह शिष्य को संसार समुद्र से पार उतारे। जिस सम्प्रदाय परम्परा से अपने को ज्ञान प्राप्त हुआ है, उसके उच्छेद को बचाने के लिये प्राण जाने की भी चिन्ता न करे। संक्षेपशारीरक के अंत में सर्वज्ञात्म महामुनि भी यही कहते हैं कि हे गुरुदेव आपके बिना यह प्राप्त ज्ञान भी मेरे लिये अप्राप्त सा था। अतः जब तक एक भी श्वास अवशिष्ट है तब तक आपकी सेवा में ही लगा रहूंगा। गुरु ज्ञान रूप ही होते हैं। अतः ज्ञान सम्प्रदाय का प्रचार प्रसार ही वास्तविक गुरुसेवा है। जब तक ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती तब तक ज्ञान रूपी गुरु का परिचय नहीं होता। अतः सगुण ब्रह्मरूप गुरु की

शारीरिक सेवा भी की जाती है। परन्तु वास्तविक सेवा तो गुरु के ज्ञान देह की ही सेवा है। भगवान् श्रीकृष्ण भी इसीलिये अपनी सर्वोत्कृष्ट भक्ति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि

> य इमं परमम् गुह्यम् मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
> न च तस्मान् मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः॥

जो मेरे इस ज्ञान को मेरे भक्तों में स्थापित करेगा, उससे अधिक मेरा प्रिय कार्य करने वाला तीनों लोकों में कोई नहीं है। अतः श्रोवाच के द्वारा इस सम्प्रदाय परम्परा की अनवच्छिन्न प्रवाहता की विधि भी कर देते हैं।

२२

आत्मज्ञान का उपदेश किस अधिकारी को करना चाहिये, इसका निर्देश करते हैं:—

वेदान्ते परमम् गुह्यम् पुराकल्पे[1] प्रचोदितम्। न अप्रशान्ताय दातव्यम् न अपुत्राय अशिष्याय[2] वै[3] पुनः॥

पुरा = पूर्व[4]
कल्पे = कल्प में[5]
परमम् = परम
गुह्यम् = गोपनीय[6]
वेदान्ते = वेदान्त में[7]
प्रचोदितम् = कहा गया[8] (तत्त्व)
अप्रशान्ताय = अप्रशांत व्यक्ति के लिये[9]
न = नहीं
दातव्यम् = देना चाहिये[10]
पुनः = फिर (नियम करते हैं कि)
वै = निश्चित रूप से
अपुत्राय = जो पुत्र नहीं है,[11]
अशिष्याय = जो शिष्य नहीं है,[12]
न = (वह भी अधिकारी) नहीं है।[13]

१. पुराकल्पप्रचोदितम् इति तु शंकरानन्दः।

२. नापुत्राय नाशिष्याय इति वा पाठः।

३. वा इति विवरणे पाठः।

४. पूर्व अर्थात् प्राचीन। अथवा पूर्व शास्त्र जैसे उत्तर मीमांसा और पूर्व मीमांसा।

५. कल्प शास्त्र। शास्त्र का वह अंग है जिसमें मंत्र और ब्राह्मणों के आधार पर किस प्रकार किस कर्म को क्रमशः करना चाहिये, इसका निरूपण किया गया है। अतः प्राचीन कल्प सूत्रों के अनुसार इस वेदांत विद्या को परम गुह्य माना गया है, यह कहा जा रहा है। यहां कल्प का अर्थ कालवाची नहीं लिया जा सकता जो यद्यपि लौकिक संस्कृत में प्रसिद्ध है परन्तु वैदिकों में वेदांग रूप से कल्प की अधिक प्रसिद्धि है। यदि यहां कल्प का अर्थ पूर्व कल्प ले लिया जायेगा तो फिर वेद नित्य होने से यह मंत्र जिस समय में भी कहा गया, उस समय में भी उसके पूर्व कल्प में कहा जाये, ऐसा अनवस्था दोष प्रसक्त होकर आत्मज्ञान का उपदेश कभी भी किसी को भी नहीं बन सकेगा। अथ च **पुराकल्पे अगुह्यम्** के साथ अन्वय करने से पहले गुह्य था परंतु अब गुह्य नहीं रहा, अतः सबको प्रकाशित कर देना चाहिये, यह अनुरोध प्राप्त होगा। यदि कल्प का अर्थ कालवाची करने में ही आग्रह हो तो श्वेताश्वतर महर्षि का वाक्य मानकर यह अर्थ हो जायेगा कि आज से पहले यद्यपि यह तत्त्व अत्यंत गुह्य था परन्तु मैंने इसको सरल करके स्पष्ट कर दिया है, यह भाव होगा। वस्तुतस्तु कल्प नियमवाचक ग्रन्थों को कहते हैं। अतः पुरा कल्पे वेदान्ते ऐसा अन्वय कर लेना चाहिये। अर्थात् प्राचीन उपनिषदों के अन्दर इस तत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। प्रश्न हो सकता है कि श्रुति किस को प्राचीन कहेगी। यह समझ लेना चाहिये कि श्रुति भविष्य में आने वाले ग्रन्थों को दृष्टिकोण में करके कहती है कि आत्मज्ञान का साधन जो पुराकल्प वेदांत ही है अर्थात् जो वेदों में आये हुए उपनिषद् हैं, वे

ही हैं, परवर्ती ग्रन्थ वेदांत के साधन होने पर भी साक्षात् ब्रह्मज्ञान की उत्पत्ति करने में भी साधन नहीं हैं। तब स्पष्ट अर्थ हो जायेगा कि प्राचीन उपनिषदों में ही इस गुह्य विद्या का उपदेश किया गया है। आध्यात्मिक दृष्टि वाले कुछ विचारशील पुरुषों की तो यह मान्यता है कि वेदांतों में सृष्टि इत्यादि की प्रक्रिया ही पुराकल्प है क्योंकि उसमें कल्प के आदि का वर्णन है। प्रत्येक उपनिषद् में सृष्टि के आदि का विस्तार से वर्णन किया है जिसके दो नतीजे हो जाते हैं। एक तो उन ग्रन्थों में सृष्टि प्रक्रिया की बहुलता से सारे विचारक उपनिषदों को सृष्टि प्रतिपादक मानकर सृष्टि ज्ञान के लिये उस में प्रवृत्त होकर उसमें छिपे हुए रूप से बताये हुए जीव शिव ऐक्य ज्ञान को नहीं देख पाते। साथ ही दूसरे विवेकी सृष्टि प्रक्रिया के द्वारा समग्र जगत् का कारण आत्मा को समझकर आत्मनिष्ठा भी प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार मानो सृष्टि प्रक्रिया अथवा कल्प प्रक्रिया में वेदांतों का रहस्य छिपा हुआ है। अथवा प्राचीन काल से ही प्रवृत्त कल्पनाओं में (पुराकल्पे) जो जीव शिव की वास्तविकता का ज्ञान है, वह छिपा पड़ा है।

६. यद्यपि वेदों में अनेक विद्यायें रहस्यमयी होने से उन्हें सबको बताना निषिद्ध है परन्तु सबसे अधिक गुह्य ब्रह्मज्ञान ही है क्योंकि योग्य अधिकारी के पास न जाने पर वह स्वयं अपनी भी हानि करता है और समाज की भी हानि करता है। अनेक गोपनीय विषय केवल व्यक्ति की अपनी ही हानि करते हैं। गीता में भी भगवान् ने इसीलिये इसे **गुह्यतमम् प्रवक्ष्यामि** कहकर निर्देश किया है। किंच, गुह्य का अर्थ रहस्य भी होता है, तब तात्पर्य है कि यह अत्यंत एकान्त में बैठ कर केवल गुरु और शिष्य के बीच में ही आदान प्रदान की चीज है। जहां चित्तवृत्ति की थोड़ी सी भी एकता कम हुई, वहां इसका ज्ञान असम्भव हो जायेगा। अथवा जो गुहा में हो, उसे गुह्य कहते हैं।

हृदय रूपी गुफा में ही इसका ज्ञान होने से इसे गुह्य कहा जाता है। वस्तुतस्तु गुहा उसे कहते हैं जिसमें प्रवेश का रास्ता तो हो परन्तु दूसरी तरफ दरवाजा निकल न गया हो। दूसरी तरफ निकल जाने पर उसे सुरंग नाम दे दिया जाता है। इसी प्रकार ब्रह्म में प्रवेश तो किया जा सकता है परन्तु फिर उसका कभी भी बहिर्गमन नहीं होता। अतः वह वास्तविक गुह्य है।

७. वेदांत अर्थात् वेद का सिद्धान्त। ब्रह्म वेद के द्वारा ही जाना जाता है और यही वेद का रहस्य है। यहां वेदांत में जाति में एक वचन समझना चाहिये। अर्थात् सभी उपनिषदों में। पूर्व मंत्र में जो विशेषण कहे गये हैं, वे साध्य आदि फलों में भी हो सकते हैं। अतः वेदांत के द्वारा उसकी अत्यंत असाधारणता बताते है। **वेदानाम् अन्ता प्राप्यानि** अर्थात् ऋक् आदि शाखा भेदों में भिन्न जो प्राप्त करने के योग्य पदार्थ, वह वेदांत है। यद्यपि वेदांतों में भी हजारों उपासनायें विस्तार से बताई गई हैं परन्तु वे सब साधन रूप से हैं, साध्य रूप से नहीं। ब्रह्म ही वेदांतों का साध्य है। अथवा वेद के अंतिम भाग में मिलने के कारण इसको वेदान्त कहा गया है, यह बात यद्यपि आंशिक रूप से ही सत्य है तथापि ईशावास्य, महातैत्तिरीय, बृहदारण्यक, छांदोग्य इत्यादि कुछ बृहत्तम उपनिषदों के बारे में तो यह बात सत्य है ही। इनसे उपलक्षण अन्य उपनिषदों की भी कर लेनी चाहिये। परन्तु यह मत कुछ संगत प्रतीत नहीं होता क्योंकि मंत्र संहिताओं में इतस्ततः अनेक मंत्र वेदांत के हैं एवं रुद्रसूक्त, पुरुषसूक्त, नासदीय सूक्त, शिव संकल्प सूक्त आदि पूरे के पूरे सूक्त ही वेदांत प्रतिपादन करते हैं। अतः आधुनिक भाषा में यह अर्थ प्रचलित होने पर भी विद्वानों को संगत प्रतीत नहीं होता। वेद का अर्थ ज्ञान भी होता है अतः वेदांत का अर्थ अंतिम ज्ञान भी सम्भव है। तब तात्पर्य ब्रह्माकारवृत्ति से है। अर्थात् ब्रह्माकार वृत्ति ही वास्तविक

वेदांत है एवं उसको उत्पन्न करने के साधन शब्दसमूह को भी वेदांत कह दिया जाता है। यह अर्थ सर्वज्ञ शंकर एवं सुरेश्वर दोनों को इष्ट है। जहां-जहां जीव ईश्वर की एकता का वचन मिलता है, वे सभी वेदवाक्य वस्तुतः वेदांत हैं। यही मंत्र, सूत्र, पद, वाक्य, प्रमाण, पारावारियों का अभिमतार्थ है।

८. सम्प्रदाय परम्परा के द्वारा बताना ही प्रकर्ष है। अथवा पुरा कल्परूपेण प्रचोदितम् अर्थात् प्राचीन काल में कर्त्तव्य रूप से विहित किया गया था। यद्यपि ब्रह्मज्ञान का विधान बनता नहीं है परन्तु यहां वेदांत श्रवण की विधि समझनी चाहिये। तात्पर्य है कि प्राचीन काल में जब तक त्रेतायुग नहीं आया था, तब तक लोग बाह्य यज्ञ आदि का विस्तार न करके वेदों के आध्यात्मिक रहस्य को समझकर उसी का पालन करते थे **तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्** आदि वेद वाक्य इसमें प्रमाण हैं। बाह्य यज्ञों का विस्तार त्रेतायुग में हुआ है। इसे भी अथर्ववेद में कहा है **तानि त्रेतायाम् बहुधा संततानि**। यद्यपि वेदों में काल विभाग नहीं है, अतः यहां त्रेतायाम् का भाष्य में वैकल्पिक अर्थ भी किया है परन्तु वहां भी तात्पर्य वही है। जब मनुष्य परमेश्वर की तरफ चलता है तब उसे कृतयुग या सत्ययुग में माना जाता है। उस तरफ चलने के पूर्व खड़े होने की अवस्था को त्रेता कहते हैं। अतः परमेश्वर की तरफ चलते समय आध्यात्मिक अर्थ और आध्यात्मिक साधना ही की जाती है। जब तक उस पथ का पथिक नहीं होता तब तक त्रेतायुग में होने के कारण बहिर्यज्ञों का अनुष्ठान करना पड़ता है। धर्मसूत्रकारों ने भी **आत्मयाजी श्रेयान्** कहकर इसी तत्त्व का प्रतिपादन किया है। अथवा कल्प के आदि में हिरण्यगर्भ के लिये ईश्वर ने इसका प्रचोदन अर्थात् उपदेश किया था। अथवा **प्रचोदितम्** का अर्थ **सम्यक् ज्ञातम्** भी हो सकता है क्योंकि ज्ञान भी एक प्रकार की प्रेरणा ही है। दहरोपासना आदि

की अपेक्षा इसकी श्रेष्ठता होने से **चोदितम्** न कहकर **प्रचोदितम्** कहा है।

पुराकल्पप्रचोदितम् पाठ स्वीकार करने पर तो पुराकल्प अर्थात् अर्थवाद, जो पांच प्रकार का है। सृष्टि, लय, प्रवेश, नियमन आदि पांचों प्रकार के अर्थवादों में एकमात्र परमेश्वर का प्रतिपादन ही किया है और ये पांचों प्रकार के अर्थवाद प्रकर्ष रूप से ब्रह्म को ही उपादेय बताते हैं। अतः अर्थवाद के द्वारा उत्कृष्ट रूप से उसकी तरफ जाने की प्रेरणा की गई। अतः उसे **पुराकल्पप्रचोदितं** कह दिया गया। वैसे भी अर्थवाद स्तुति करने वाला वाक्य होता है एवं नियम है कि **यत् स्तूयते तद् विधीयते** जिसकी स्तुति की जाती है, उसका विधान होता है। अथवा **पुराकल्पप्रचोदितम्** अर्थात् प्राचीन काल से भी सम्प्रदाय परम्परा के द्वारा ही यह तत्त्व उपदिष्ट होता रहा है। इस प्रकार से सम्प्रदाय प्रदर्शन के लिये यह पद दिया है।

९. अब भगवती श्रुति आग्रह पूर्वक उनको विषय करके नियम बनाती है जिन्होंने ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लिया है। प्रकर्ष रूप से जिनका मन शान्त नहीं हो गया है वे इस ज्ञानप्राप्ति के अधिकारी नहीं हैं अर्थात् जो शम, दम आदि से युक्त नहीं हैं, उनको श्वेताश्वतर महर्षि द्वारा कहे हुए वेदसार सर्वस्व अंतिम पुरुषार्थ और आत्मज्ञान का दान वैसे ही होगा जैसे कुत्ते को श्राद्ध की खीर खिला देना। पाठान्तर में तो **प्रशान्ताय पुत्राय एवं प्रशान्ताय शिष्याय** ऐसा अन्वय नहीं हो पाता, अतः वहां अर्थ हो जाता है कि जो पुत्र होकर के शिष्य बने, वही इस ज्ञान का अधिकारी है। यह अर्थ छांदोग्य, बृहदारण्यक इत्यादियों से विरुद्ध पड़ जाता है, इसीलिये हमने उस पाठ को स्वीकार नहीं किया है। स्वीकृत पाठ में तो जो पुत्र या शिष्य प्रशांत हो, वही इस ज्ञान का अधिकारी है। समग्र राग आदि मलों से रहित

चित्त का होना ही प्रशान्त है। तात्पर्य है कि अशांत चाहे पुत्र हो चाहे शिष्य, उसको स्नेह आदि के कारण ब्रह्मविद्या का उपदेश नहीं देना चाहिये। कुछ लोगों ने तो पुनः शब्द के आधार पर यहां पर विधि मानकर इस प्रकार के उपदेश करने वाले को प्रत्यवाय की प्राप्ति भी स्वीकार कर ली है। परन्तु ब्रह्मवेत्ता में विधि स्वीकार करना सर्वश्रुतिविरुद्ध होने से अमान्य ही हो सकता है। फिर यदि ऐसा अर्थ माना जाये तो भी उसका तात्पर्य यही होगा कि जो व्यक्ति ऐसा कार्य करेगा, वह ब्रह्मवेत्ता हो नहीं सकता एवं ब्रह्मवेत्ता न होने पर ब्रह्मज्ञान कहने की इच्छा करने वाला गुरु अवश्य प्रत्यवाय का भागी होता है।

१०. यद्यपि देने का अर्थ यहां कहना ही हो सकता है परन्तु केवल मुख से कहने से होता नहीं। गुरु जब तक अपने हृदय में दक्षिणामूर्ति को स्थापित करके स्पार्शी, चाक्षुषी, वैधी या मानसिक दीक्षा के द्वारा शिष्य के हृदय में ब्रह्मविद्या का संचार नहीं करता, तब तक ब्रह्मविद्या की प्राप्ति होती नहीं। जिस प्रकार एक दीपक दूसरे दीपक को जलाता है, उसी प्रकार ब्रह्माकार वृत्ति रूपी दीपशिखा जब तक शिष्य के अंतःकरण को उद्दीप्त न करे, तब तक वहां वह ज्ञान उत्पन्न होता नहीं। इसीलिये यहां **दा** धातु का प्रयोग कर लिया। इसी को तंत्र की भाषा में शक्तिपात कहा जाता है। आजकल जो मन आये जैसा उछलना कूदना शक्तिपात माना जाने लगा है वह तो एक तरह की भूतलीला मात्र है। ब्रह्मविद्या को बताने वाला गुरु दीर्घकाल तक शिष्य को अपने पास रखकर उसकी भली प्रकार परीक्षा करके उसमें शिष्य के सारे गुणों को जब देख ले या साधनान्तरों से उन गुणों का आधान करा ले, तभी उसको ब्रह्मविद्या दे, यह भाव है। अन्यत्र भी श्रुति ने **भूयस्तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरम्** अर्थात् एक वर्ष पर्यन्त तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा के

साथ रहे, इत्यादि कहा। अन्यत्र भी श्रुतियों में इन्द्र ने प्रजापति के समीप १०१ वर्ष का ब्रह्मचर्य का पालन किया, इत्यादि प्रसिद्ध है। **पुराकल्पे** का अर्थ यदि पूर्व सृष्टि माना जाये तो **पुराकल्पे प्रचोदितम्** का तात्पर्य हो जायेगा कि पूर्व सृष्टि में भी यही चला आया है। अतः अनादि परम्परासिद्ध है, इस अनादि परम्परासिद्ध ज्ञान का दान किस प्रकार हो, इसे बताने के लिये दातव्य कह दिया। क्योंकि जो चीज बिना किसी मूल्य के दी जाती है, उसे दातव्य कहते हैं। विद्या प्राप्ति के छः उपाय हैं। उनमें यहां केवल पुत्र या शिष्य ही शान्त होने पर गृहीत है क्योंकि आत्मज्ञान केवल ईश्वर और गुरुभक्ति से ही प्राप्त हो सकता है, और किसी उपाय से नहीं। यह अगले मंत्र में स्पष्ट कहेंगे।

११. प्रशान्त होने पर भी जो पुत्र न हो, उसे उपदेश न किया जाये। ब्राह्म विवाह से केवल परमात्मप्राप्ति के निमित्त गृहीत पत्नी के द्वारा जो औरस पुत्र होता है, वह पुत्र कहा जाता है और वही हमारे पितृलोक के जय का कारण बनता है। ऐसे पुत्र में पिता मरते समय हृदयालंभन के द्वारा ज्ञान प्रतिष्ठापन करता है और कहता है कि मेरे चित्त में जो ज्ञान है, वह तुम्हारे चित्त में भी आ जाये, और मेरे सभी व्रत तुम्हारे व्रत बन जायें। इस प्रकार का पुत्र ही यहां इष्ट है। अथवा यहां पुत्र दृष्टांत है अर्थात् जैसे पुत्र में स्वाभाविक अनुराग होता है, वैसा ही अनुराग यदि किसी अधिकारी को देखकर हृदय में उत्पन्न हो जाये, तभी वह अनुशासन के योग्य होता है। जहां इस प्रकार का प्रेम न हो, उसके प्रति किया हुआ उपदेश भी व्यर्थ हो जाता है। शास्त्रों में इसीलिये गुरुशुश्रूषा पर इतना बल दिया गया है क्योंकि शुश्रूषा के द्वारा ही गुरु में इस प्रकार की वृत्ति उत्पन्न होती है और वह वृत्ति उत्पन्न होने पर ही ब्रह्मविद्या का उपदेश किया जा सकता है। आजकल एक घण्टे का सत्संग सुनकर अथवा

धन आदि के द्वारा कुछ सहायता करके लोग अपने आपको ब्रह्मविद्या का अधिकारी समझने लग जाते हैं। ब्रह्मविद्या मांग के नहीं मिलती। जब तक गुरु के हृदय में पुत्र की तरह उसके प्रति प्रेम न उत्पन्न हो जाये तब तक उसका देना नहीं बनता। अथवा पुम् का अर्थ नरक होता है। नरक से जो त्राण करे, वह पुत्र है। तात्पर्य है कि जिस व्यक्ति ने अपने को नरक रूपी पाप से बचा लिया है, वही व्यक्ति ब्रह्मविद्या का अधिकारी होता है। अथवा जो गुरु के कष्टों का निवारण करने में लगा रहता है और इसमें किसी कष्ट को कष्ट ही नहीं मानता, उसके ऊपर गुरु की कृपा होती है। आचार्य आनन्दगिरि एवं आचार्य पद्मपाद इसके ज्वलन्त दृष्टांत हैं।

१२. शम, दम आदि अधिकार सम्पत्ति युक्त भी हो, उसके प्रति प्रेम भी हो परन्तु वह शिष्य भाव से ब्रह्मविद्या के लिये इच्छुक न हो तो भी उसे उपदेश देना ठीक नहीं है। बिना इच्छा के दिया हुआ उपदेश व्यर्थ हो जाता है। अतः प्रशान्त, दीर्घकाल तक सेवा करने वाले जिज्ञासु शिष्य को ही यह आत्मज्ञान देना चाहिये। अनधिकारी को देने पर विद्या वीर्यहीन हो जाती है, यह हमेशा याद रखना चाहिये। अर्जुन के प्रति भगवान् का पूर्ण प्रेम होने पर भी, अनेकों वर्षों तक एक ही बिछौने पर सोने पर भी जब तक उसने **शिष्यस्तेऽहं शाधि मां** इस प्रकार शिष्यत्व ग्रहण नहीं किया, तब तक उसे जगद्गुरु कृष्ण ने भी आत्मविद्या का उपदेश नहीं दिया। अथवा शिष्य पद से यहां भिन्न-भिन्न शास्त्रों में कहे हुए शास्त्रीय लक्षणों का यथा योग्य संग्रह कर लेना चाहिये अर्थात् जहां शिष्य के लक्षण मिलें, ऐसे पुत्र को ही उपदेश देना चाहिये, अन्यथा नहीं। संयोग विभाग से जिसमें प्रशान्तत्व न हो, ऐसे पुत्र शिष्य को अथवा जिसमें पुत्रवत् प्रेम न हो, ऐसे प्रशान्त शिष्य को अथवा जिसमें शिष्य के गुण न हों, ऐसे प्रशान्त पुत्र को ब्रह्मविद्या देने के निषेधों की प्राप्ति कर लेनी

चाहिये। पुनः शब्द को किसी अर्थ में अपि समझ लेना चाहिये और किसी अर्थ में एव। अथवा प्रिय (वै) शिष्य भी हो, फिर भी अप्रशान्त हो तो भी उसे नहीं देना चाहिये। अधिकारी पुत्रवत् प्रिय को ही देना चाहिये, यह सारे मंत्र का तात्पर्य हुआ।

२३

यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ।
तस्य एते कथिताः हि अर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

यस्य = जिस (साधक) को[1]	**तस्य** = उस
देवे = महादेव में[2]	**महात्मनः** = महात्मा को[6]
परा = परा[3]	**एते** = ये
भक्तिः = भक्ति है, एवं[4]	**कथिताः** = उक्त[7]
यथा = जैसी	**अर्थाः** = विषय[8]
देवे = महादेव में	**हि** = निश्चय रूप से[9]
तथा = वैसी	**प्रकाशन्ते** = ज्ञात होते हैं[10]।
गुरौ = गुरु में है।[5]	

१. परमात्मा में परा भक्ति होना स्वयं परमात्मा की कृपा से ही होता है। परमात्मा और गुरु में भक्ति वालों को ही गुरु के द्वारा कही हुई विद्या अनुभव में आ सकती है। बृहदारण्यक भाष्य में सर्वज्ञ शंकर ने लिखा है कि ईश्वर की प्रसन्नता का रूप ही यह है कि परमेश्वर में श्रद्धा हो। अतः यहां साधक का अर्थ वह उत्कृष्ट कोटि का साधक है जिसमें तीव्र शक्तिपात हो चुका है।

२. यहां सगुण और निर्गुण, परमेश्वर के दोनों ही भावों का संग्रह है जो इस उपनिषद् में प्रतिपादित है। अखण्ड एकरस परज्योति शिव में ही वास्तविक पर प्रेम सम्भव है। पूर्व मंत्र में कहा गया था कि जो शिष्य उपसन्न हो, उसे आत्मविद्या देनी चाहिये।

अतः प्रश्न हो सकता था कि यहां उपसत्ति किस प्रकार की होती है अथवा इसका प्रयोजन क्या होता है। उसी को बताने वाला यह मंत्र है। उपसत्ति हमेशा किसी न किसी आरोपित रूप में सम्भव है। उपसत्ति का अर्थ होता है कि यह आरोपित रूप ही मेरे को सारे पुरुषार्थों को दे देगा एवं इसके संतुष्ट होने पर मैं कृतकृत्य हो जाऊंगा। अथच, इसके असंतुष्ट होने पर मेरा सर्वस्व चला जायेगा। इस प्रकार की दृढ़ भावना को उपसत्ति कहते हैं। इसका प्रयोजन स्वयं परमात्मा ही हुआ करता है। जिस प्रकार शालिग्राम में विष्णु का आरोप किया जाता है, उसी प्रकार अहं इस स्फुरण में उस महादेव का आरोपण किया जाता है। यदि तीव्रतर शक्तिपात के प्रभाव से निर्गुण परमेश्वर में निरुद्देश्य प्रेम उत्पन्न हो जाये, तब तो बिना आरोप के भी साक्षी भाव में स्थित हुआ जा सकता है। अतः दोनों प्रकार का अर्थ यहां ग्रहण कर लेना चाहिये। यद्यपि कुछ लोग भगवान् और भगवद्देह की समान रूप से चिदानंदमयता का प्रतिपादन करते हैं, पर रूप में किसी भी प्रकार के ब्रह्मत्व की कल्पना न श्रुतिसिद्ध है, न विचारसह। श्रुति स्पष्ट ही कहती है कि विकारो नामधेयम् नाम मात्र ही विकार है। युक्ति के आधार पर जो भी रूप होगा, वह अवश्य परिच्छिन्न होगा और परिच्छिन्न को ब्रह्म कहना तो वदतोव्याघात है। इसी दृष्टि से नित्य और चिन्मयी लीलाओं का कथन भी संगत नहीं होता। वस्तुतः इन सबको आरोप ही स्वीकारा जा सकता है। आरोप मानकर उसके प्रति प्रेम करने में कुछ लोग यह दोष बताते हैं कि असत्य पदार्थ से प्रेम नहीं हुआ करता। परन्तु यह शंका अति तुच्छ है। प्रायः करके मनुष्य अपने कल्पित रूप से ही प्रेम करता है। लोक में एक ही वर एक कन्या को पसन्द आता है और दूसरी को नहीं। अथवा अपना पुत्र टेढ़ी नाक वाला होने पर भी सुन्दर लगता है। इसी प्रकार आरोपित धर्मों में

ही प्रेम होता है। विचार दृष्टि से शोभनाध्यास ही अनुकूल वेदनीयता का कारण है। पदार्थ की शोभनता ही आकर्षण के प्रति कारण हो, ऐसा नियम नहीं है। इसलिये भक्ति के लिये इन चीजों को आवश्यक मानना सर्वथा अकारण ही है। तात्पर्य यही है कि चाहे आरोपित भाव से उस महादेव में, चाहे शुद्ध भाव से उसी में तीव्र शक्तिपात के कारण यदि प्रेम का उदय हो गया तो अधिकार की प्राप्ति हो गयी।

३. निरुपचरित ही परा है। अचंचलता और श्रद्धा इसकी बाह्य प्रतीति है। तीव्र शक्तिपात को ही परा भक्ति कहा जा सकता है। वस्तुतः परमात्मा के प्रति जीव स्वयं किसी भी प्रकार से गति करने में असमर्थ है, जब तक उसमें प्रातिभ ज्ञान उत्पन्न न हो जाये। हृदय में सत्तार्क अथवा शुद्ध विद्या का प्रकाश होना ही इसका रूप है। इसके द्वारा शिव में निश्चल और निश्छल प्रेम उत्पन्न होता है एवं अनुभूत तत्त्व को स्वायत्त करने की सामर्थ्य आती है। एवं कभी जो शास्त्र नहीं पढ़ा, उसका भी अर्थज्ञान हो जाता है। विवेक की वृद्धि से यद्यपि अनेक सिद्धियां प्रकट होती है परन्तु चित् भाव में उपरामता होने के कारण उन सिद्धियों के प्रति राग नहीं रहता। वह लड़कों के खेल अथवा स्वप्न के समान प्रतीत होता है। जिस प्रकार छोटे से दर्पण में सारे पर्वत का प्रतिबिम्ब पड़ जाता है, वैसे ही प्रातिभ ज्ञान के आलोक में अनंतकोटि ब्रह्माण्ड प्रतीत हो जाते हैं। सारा विश्व आनन्दघन की तरह भान होने लगता है। हेय उपादेय का ज्ञान नहीं रहता। शाप तथा अनुग्रह की सामर्थ्य स्वभावतः हो जाती है। परन्तु प्रातिभ का योग होने के कारण बिना परमात्मा की आज्ञा के इनका प्रयोग वह कभी नहीं कर पाता।

४. यद्यपि गीतोक्त प्रकार से चार प्रकार की भक्ति मानी गई है लेकिन उसमें से तीन प्रकार तो अपराभक्ति है। परा भक्ति तो केवल

ज्ञाननिष्ठा को ही कहते हैं क्योंकि इसी को भगवान् ने अपना अभिन्न रूप बताया है। **ज्ञाननिष्ठालक्षणया भक्त्या** इत्यादि शांकरभाष्य इसमें प्रमाण है। प्रश्न हो सकता है कि ज्ञान उत्पन्न होते ही जब अज्ञान की निवृत्ति कर देता है तो फिर यह ज्ञाननिष्ठा किम् रूप है। आवृत्ति रूप मानने पर तो प्रसंख्यानवाद प्राप्त हो जायेगा जो वेदांत सिद्धान्त को मान्य नहीं है। वस्तुतस्तु ज्ञान उत्पन्न होना ही यद्यपि अज्ञान को नष्ट कर देना है परन्तु वह असम्भावना और विपरीत भावना से ग्रस्त होने के कारण अपने फल नित्यानंद की स्थिति नहीं करा पाता। अतः ज्ञान के परिपाक के सहकारी कारण शुद्ध अंतःकरण के साथ सर्वकर्म संन्यास के अवस्थान को ही यहां भक्ति शब्द से कहा गया है। जिस प्रकार गंगा सागर को जाने वाला व्यक्ति एवं भृगुकच्छ को जाने वाला व्यक्ति सर्वथा विपरीत मार्ग के पथिक होते हैं, उसी प्रकार अविक्रिय प्रत्यगात्मा के स्वरूप में निष्ठा करने की इच्छा वाला व्यक्ति, एवं संसार के प्रति जो क्रियास्वरूपता उसकी तरफ जाने वाला व्यक्ति एक मार्ग के पथिक नहीं हो सकते। **प्रत्यगात्मविषयप्रत्ययसंतानपरिणामनिवेशः ज्ञाननिष्ठा** कहकर सर्वज्ञ शंकर यही बताते हैं कि प्रत्यगात्मा की प्रतीति के सतत बने रहने में अभिनिवेश करना ही ज्ञाननिष्ठा है। उसके लिये जब-जब बाह्य पदार्थों की वृत्ति बनेगी, तब-तब उन्हें निवृत्त करने में स्वतः प्रवृत्ति होगी एवं यदि अविद्या लेश के बल से स्वतः नहीं होगी तो नियमविधि से तो अवश्य ही हो जायेगी। अतः यहां पराभक्ति का असली अर्थ प्रत्यगात्मा की सतत वृत्ति को बनाना है जो केवल परमहंस में ही सम्भव है।

गीता में भगवान् ने परम गुरु की सेवा मैं कर रहा हूं, ऐसा समझकर उनके सिद्धान्त का प्रचार और प्रसार करना परा भक्ति बतायी है। अतः यहां पर उसका भी संग्रह समझ लेना चाहिये।

५. गुरु और देव में एकता की बुद्धि ही यहां बताई जा रही है क्योंकि वेदांत सिद्धान्त में ब्रह्मनिष्ठ गुरु सगुण परमात्म रूप ही है। यह पहले भी प्रतिपादित किया जा चुका है। देवभक्ति और गुरुभक्ति को अंतरंग साधन बताना इस मंत्र का प्रधान तात्पर्य है। आस्तिक्य बुद्धि से युक्त होकर शरीर, इन्द्रिय, मन, को इष्ट में समर्पण करना ही वास्तविक भजन क्रिया है। ब्रह्मज्ञान उपदेष्टा ही वास्तविक गुरु पद का वाच्य होता है। जिस प्रकार सिर के ऊपर अंगारा जल रहा हो तो जलराशि के अन्वेषण को छोड़कर और कोई दूसरा उपाय करने में मनुष्य प्रवृत्त नहीं होता। उसी प्रकार भूखा व्यक्ति भोजन को छोड़कर और किसी साधन को करने में प्रवृत्त नहीं होता। जैसे ये दोनों दृष्टांत हैं, वैसे ही परमात्म प्राप्ति की इच्छा वाले मुख्य अधिकारी साधक की गुरु की कृपा को छोड़कर और किसी साधन में प्रवृत्ति नहीं होती। संसार ताप से तपने वाला व्यक्ति भी छोटी चीजों की तरफ प्रवृत्त न होकर के आत्मज्ञान को बताने वाले आचार्य की तरफ ही प्रवृत्ति करता है क्योंकि उसके सिवाय और किसी उपाय से ब्रह्म विद्या दुर्लभ है। उत्तम साधक को ही ऊपर कहे हुए श्वेताश्वतर महात्मा कवि के उपदेश स्वानुभव को उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं, यह तो स्पष्ट ही है। तात्पर्य यह हो गया कि जो महानुभाव इस उपनिषद् में बताये हुए ज्ञान को प्राप्त करना चाहें, उनके लिये महादेव रूप गुरु विषयक निरुपाधिक भक्ति ही प्रधान रूप से कर्त्तव्य है। गुरु कार्य का साधन ही वास्तविक दृष्टि से आंतरिक सेवा है। **देवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन** इत्यादि वाक्यों के अनुसार महादेव के रुष्ट हो जाने पर भी गुरु त्राण कर सकते हैं, परन्तु गुरु के रुष्ट होने पर महादेव भी त्राण नहीं कर सकते। अतः देव की अवज्ञा करके भी गुरु की आज्ञा का पालन करना चाहिये। स्पष्ट ही अनादि काल से परमात्मा विद्यमान है परन्तु गुरु के अभाव में संसार बंधन की

निवृत्ति नहीं कर पाता। अतः इस प्रकार की गुरुभक्ति ही उपाय है एवं ऊपर कहा हुआ तत्त्व उपेय है।

६. आत्मज्ञान को प्रत्यक्ष की तरह जो अनुभव करना चाहता है अर्थात् आत्मा जिस ज्ञान का विषय है एवं मोक्ष जिसका प्रयोजन है, इस प्रकार का अपरोक्ष साक्षात्कार करना चाहता है, उसे ही महान् अनुभव वाला होने के कारण महात्मा कहा गया है। यह ऐसा ही है, इस प्रकार का दृढ़ निश्चय तभी पैदा हो पाता है। यही वस्तुतः प्रकाश कहा जाता है। अथवा गर्व आदि रहित होने से महान् जिसका अंतःकरण है, उसको भी महात्मा कह दिया जाता है।

७. इस उपनिषद् में जो साधन और साध्य बताये गये हैं, वे सभी इस सर्वनाम से ग्रहण कर लेने चाहिये। यद्यपि सारे ही वेद आत्मतत्त्व को ही प्रतिपादित करते हैं परन्तु वेदांत तो स्पष्टतः इसके अतिरिक्त और किसी चीज का प्रतिपादन करता ही नहीं। शमी के वृक्ष पर उगे हुए (शमीगर्भ) पीपल के वृक्ष की पूर्वमुख या उत्तर-मुख या ऊपर को फैली हुई शाखा को पीछे की ओर ताके बिना काटकर उस लकड़ी से अरणियों का निर्माण किया जाता है। अरणी की लम्बाई २४ अंगुल, चौड़ाई ६ अंगुल और ऊंचाई ४ अंगुल होनी चाहिये। इसमें पहला भाग चार अंगुल मस्तिष्क, नेत्र, कान और मुख माना जाता है, दूसरा भाग चार अंगुल गर्दन छाती और हृदय माना जाता है एवं तीसरा पेट, कमर और वस्ति छः अंगुल तथा चौथा दो अंगुल गुह्य स्थान है। पांचवां चार अंगुल दोनों जांघें हैं। तथा जिस भाग में दोनों घुटने और पैर वाले चार अंगुल हैं, दो अंगुल वाले योनि स्थान का मंथन करके अग्नि को उद्दीप्त किया जाता है। प्रथम मंथन के लिये ही यह नियम है। बाद के मंथनों के समय स्थान विशेष का विचार नहीं किया जाता। जिससे देह शुद्धि, इन्द्रिय शुद्धि,

अहंकार शुद्धि और चित्त शुद्धि आदि होती है, उन्हीं को यज्ञ कहा जाता है। कर्म से जो यज्ञेश्वर की प्रसन्नता होती है, वही अमृत है। त्याग और ग्रहण ही कर्म के दो अंग हैं। प्रकृति राज्य में सभी पदार्थ सांकर्य दोष से युक्त हैं। यहां ऐसा कुछ नहीं, जो बिल्कुल निर्मल हो अथवा केवल मल हो। जिसके द्वारा यह सारासार विवेचन किया जाता है, वही चैतन्य शक्ति है। यज्ञीय परिभाषा में उसी का प्रति-निधि सुसंस्कृत अग्नि है। मनुष्य देहात्मपरम्परा से ही निम्नतम भूमि में स्थित है। जाग्रत् शक्ति सर्वप्रथम आत्मबोध को देह से हटा-कर समष्टि या महा समष्टि की ओर ले जाती है। पंचाग्नि में महायज्ञ के प्रारम्भ में जठरानल में आहार्य की आहुति देने से प्राणाग्निहोत्र के प्रभाव से सप्तम धातु का विकास होता है। सामान्यतः बिन्दु की आहुति देना असम्भव होने से वह मृत्यु का कारण बनती है। महाभारत की प्रदीप टीका में आचार्य नीलकण्ठ ने लिखा है कि मनोवहा नाड़ी अन्न रस द्वारा हृदयांतर वृत्ति मन को आप्यायित करती है, यही अन्न रस की सूक्ष्म सत्ता सम्पूर्ण देह में तेज के रूप में संचित होती है जिससे देह में कांति, सौन्दर्य, लावण्य, धृति, स्वास्थ्य आदि गुणों का विकास होता है। चित्त में कामना, उदय होने पर वह तेज उत्तप्त होकर वीर्य रूप में परिणत हो जाता है। तब वही मनोवहा नाड़ी उसे सारे शरीर से खींचकर घनीभूत करके अपने बहिर्मुख वेग से देह में रहने नहीं देती। महर्षि अत्रि को अन्न, रस व कामना हीन मनोवहा होने से त्रिबीज के अभाव रूप होने से ही अत्रि कहा गया है। प्रायः इस बिन्दु का क्षरण देह के कालाग्नि कुण्ड में होता है एवं उसके फलस्वरूप जरा, मरण, विकार, मालिन्य आदि उत्पन्न होते हैं। यदि ऐसा न किया जाये तो वह शुद्ध हुआ हुआ क्रमशः सहस्रार के मध्यबिन्दु में पहुंचकर सादाख्य कला के रूप में परिणत हो जाता है। भगवान् सुरेश्वराचार्य ने इसीलिये कहा है **मूर्ध्नि संचिनुते सुधाम्** शंखिनी

नाड़ी मूर्धा में अमृत का संचय करती है। यदि यह ज्ञानपूर्वक किया जाता है तो ब्राह्मी स्थिति हो जाती है। अन्यथा आंशिक रूप से क्षरण की सम्भावना बनी रहने के कारण स्वप्रकाशमय स्थिति नहीं हो पाती। बिन्दु की सामान्य रूप से आहुति द्वितीय अग्नि में पड़ती है। उसका सार भाग प्राणमय कोश को पुष्ट करता है। मन का धर्म संकल्प और विकल्प है। अतः वह निर्मल नहीं है। साधारणतः जीव इसी विकल्प के अधीन है। चतुर्थ अग्नि में इसकी आहुति होने पर मन से विकल्प अंश हट जाता है, जिसे विज्ञान कहते हैं अर्थात् विशुद्ध संकल्पमात्र ही विज्ञान है। विज्ञान भूमि का जीव सत्यसंकल्पतावश योगसिद्ध है। वहां मनोवहा नाड़ी निष्क्रिय हो जाती है। पुराण आदि में उसको ईश्वर भी कहा गया है। वस्तुतः यह ईश्वरमय जीव की भूमि है। विज्ञानमय में अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनों हैं। प्रतिकूलता विज्ञान का मल है। अतः जब विज्ञान की भी आहुति दी जाती है तब वह शुद्ध होकर आनन्दरूप में परिणत होती है जो पंचम अमृत है। यह अमृत और अक्षय है यही आनन्दरूप संवित् है। इसकी आहुति नहीं देनी पड़ती। परन्तु सूक्ष्मद्रष्टा लोग जानते हैं कि आनन्दमय कोश भी कोश में ही गोपनीय है। इसलिये उसका भी अतिक्रम करना पड़ता है। यहां अपने को रिक्त करना पड़ता है, इसका नाम ही आत्मसमर्पण है और यही पूर्ण आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठा का साधन है। यहां पहुँचकर अमृत भाव और निर्मल भाव पूर्ण हो जाता है जब तक यह नहीं होता तब तक अद्वय, विशुद्ध चैतन्य में स्थिति नहीं होती। दृढ़ ब्रह्मानुभवी इस बात को जानते हैं कि आनन्द ही प्रियतम परमात्मा को उपहार देने के लिये एकमात्र योग्य वस्तु है। अन्य जितनी भी आहुतियां हैं, वे तो तब तक हैं जब तक इस आनन्द को प्राप्त नहीं किया। अतः जिस मलिन आनन्द को आनंद समझते रहे, उसको जला देना ही है। मोटी भाषा में कह सकते हैं कि प्रथम पंचाग्नि में

आनन्द के साथ आहुति रूप से निरानन्द का ही अर्पण होता है एवं इस मलिन आनन्द के अर्पण करने से ही आनंद का निर्मल रूप स्वायत्त होता है। चरम आहुति में उस निर्मल आनन्द का ऐसा समर्पण करनेपर स्वरूपस्थिति की प्राप्ति होती है। अविद्याग्रंथि नष्ट हो जाती है और द्वन्द्वातीत परम समाधि में प्रतिष्ठापित हो जाता है। संक्षेप में कह सकते हैं कि उन्हें मृत्यु भी देनी होगी, अमृत भी देना होगा। दुःख भी शिव को ही अर्पित करना पड़ेगा और उसके बाद आनन्द भी उन्हें दे देना होगा। हेय और उपादेय दोनों उन्हें देने होंगे। तभी निर्मल प्रकाश का उदय होगा। तभी अद्वितीय सत्ता जो आनन्द रूप में प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होती है, शिव रूप बन जायेगी। अमृत, मृत्यु, सुख, दुःख सभी वह ही है। लौकिक या अलौकिक किसी भी अग्नि की सामर्थ्य नहीं है जो उस चरम अर्थात् पूर्ण आहुति का ग्रहण कर सके क्योंकि वह तो शुद्ध निर्मल अमृत है। एकमात्र विशुद्ध चैतन्य अग्नि में ही उस निर्मल सोम को धारण करने की सामर्थ्य है। वहां अग्निरूप सोम एकाग्र हो जाता है। यही शिव शक्ति का सामरस्य है, यही परिपूर्ण सत्य है। यद्यपि यहां याज्ञिकों की दृष्टि से पंचाग्नि का ही उल्लेख है एवं उपनिषद् में भी पंचाग्नि विद्या का ही वर्णन है, तथापि यह स्मरण रखना चाहिये कि अग्नियों की संख्या इससे बहुत अधिक है। भगवान् सुरेश्वराचार्य ने मानसोल्लास में कालाग्नि, वाड़वाग्नि, विहिताग्नि, पृथ्व्याग्नि, सूर्याग्नि इत्यादि भेद से अनेक अग्नियों का बड़ा निरूपण किया है। वेदों में मरुताग्नि, चंद्राग्नि, शोभनाग्नि, हुताग्नि, अशनाग्नि, हव्यवाहन, साहसाग्नि, व्रताग्नि, मृदाग्नि, जठराग्नि, क्रव्याद अग्नि, संवर्तकाग्नि, पावक आदि अग्नियों के अनेक भेद बताये हैं। वस्तुतः एक ही स्तरहीन अखेण्ड सत्ता सर्वत्र विराजमान है, उसमें अनंत स्तरों की कल्पना की जा सकती है और फिर समझने के लिये उनका कोटिकरण (Categor-

isation) भी किया जा सकता है। जब सभी अग्नियों की क्रिया समाप्त हो जाती है तो अग्नि का आत्मा में आरोप हो जाता है। उसी प्रकार आत्मभाव अनात्म सत्ता से हटकर द्रष्टा के स्वरूप में ही स्थित हो जाता है।

सृष्टि रहस्य अत्यंत विचित्र है। यहां अमरता और मृत्यु, आनन्द और दुःख, अच्छा और बुरा हमेशा साथ-साथ ही लगे रहते हैं। आत्मबलि और यज्ञ के द्वारा उसमें से निर्मल अंश को ग्रहण करके ऊपर उठा जाता है एवं अशुद्धि का त्याग करना पड़ता है। शनैः शनैः वहां पहुँचते हैं जहां मृत्यु समाप्त हो जाती है। दुःख का लवलेश नहीं रहता, असार वस्तु तुच्छ हो जाती है। यही महाज्ञान का उदय है। उस समय अनुकूल और प्रतिकूल पृथक् रूप से नहीं रहते। तब लगता है कि प्रकाश की भूमिका पर प्रकाश ही खेल खेल रहा है। सब कुछ अपने में ही विराजमान है। न कुछ बाहर है, न कुछ भीतर। वस्तुतः अपरोक्ष शिव तत्त्व उदय अस्त से रहित, अतः अकर्म है। यही अग्नि वस्तुतः गुहाहित कही गई है। आत्मविस्मृति, संदेह आदि भावों से अवच्छिन्न जीव इस मध्य बिन्दु से दूर हो जाता है और इसीलिये शुद्ध, चित् का अज्ञान होकर कर्तृत्व की भावना, शक्ति का संकोच आदि अविद्या के परिणाम सामने आ जाते हैं। अंत में जब इन्द्रिय को स्रुक् बनाकर शिवरूपी अग्नि में शक्तिरूपी अग्नि ज्वालाओं के मुख के द्वारा परिच्छिन्न चिदात्मा होता बनकर सर्व अनुभूतियों की आहुति देता है, तब पृथक्ता और भेद नष्ट होकर अमृतभाव का आविर्भाव होता है। इस प्रकार की बोधेद्धा वृत्ति से इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता अमृत का भोग करते हैं। देवता भी तृप्त होकर आनंदबोध के साथ अभिन्न हो जाते हैं, यही पूर्णता महा स्वतंत्र एवं अद्वैत भाव है। परशुराम कल्पसूत्र में इसीलिये कहा है **सर्वम् वेद्यम् हव्यम्, इन्द्रियाणि स्रुचः, शक्तयो ज्वालाः, स्वात्मा शिवः, पावकाः स्वयमेव**

होता। आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरम् गृहम्। पूजा ते विषयोपभोगरचना तथा **प्रणामः संवेशः सुखमखिलमात्मार्पणदृशा। सपर्यापर्यायस्तव भवतु यन्मे विलसितम्** इत्यादि के द्वारा सर्वज्ञ शंकर भी इसी बात का प्रतिपादन करते हैं। **अंतः प्रभास्वति निरंतरमेधमाने मोहांधकारपरिपंथिनि संविदग्नौ। कस्मिंश्चिदद्भुतमरीचिविकासभूम्यै विश्वम् जुहोमि वसुधादि शिवावसानम्।** इत्यादि के द्वारा इसी का प्रतिपादन किया गया है।

८. इस समग्र उपनिषद् का वास्तविक अर्थ जीव और शिव की सजातीय, विजातीय, स्वगत तीनों भेदों से रहित एकता ही है। शिव निरंतर जीव की भावना कर रहा है परन्तु जीव शिव की भावना नहीं कर रहा। इसीलिये जीव को कर्त्तव्य का उपदेश देना पड़ता है, शिव को नहीं। **मनुष्याधिकारत्वात् शास्त्रस्य** इत्यादि ब्रह्मसूत्र भाष्य इसी बात का प्रतिपादन करता है। शिव अपनी शक्ति से जीव को आनंद भोग प्रदान करता रहता है परन्तु शिव प्रदत्त इन भोगों को बिना उसे अर्पित किये हुए ही जीव भोग करके ऋणी बनता जाता है। अर्थात् जीवगत भाव से अपने को परिच्छिन्न मानता हुआ एक छोटे से शरीर, मन के संघात की कामना को पूर्ति के लिये रात दिन प्रयत्न करता रहता है। तुच्छ अहंकार के वश में हुआ कभी अशुभ कर्मों के द्वारा इन कामनाओं की पूर्ति करना चाहता है, कभी शुभ कर्मों के द्वारा। यद्यपि शिव उसे भोग देता है, परन्तु उसके लिये उन्हें चिंता करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि वह तो स्वयं ही अपनी चिंता कर रहा है। परन्तु जो अपनी चिंता छोड़कर शिव के आंतरिक सम्बन्ध को समझ लेता है, वह अनन्य चित्त होकर केवल शिव का ही ध्यान करता है। वह अपनी चिंता नहीं करता, इसलिये उसके भोग और मोक्ष दोनों की चिंता केवल शिव ही करते हैं। तात्पर्य यह है कि जिसके हृदय में दूसरों की चिंता लगी हुई है, इस

भाव से नहीं कि वे दूसरे हैं, परन्तु साक्षात् अपना ही आत्मस्वरूप है, वह मंगलमय जगत् चक्र रूपी यज्ञ को होता बनकर के जगत् चक्र में से बाहर निकल जाता है। इन्द्रियाराम व्यर्थजीवन वाले व्यक्ति के लिये विश्वसंस्थान में भस्म होने के अतिरिक्त दूसरा उपाय नहीं है। वह केवल खगोल चक्र में पिसा जाकर जन्म, मरण, सुख, दुःख, रोग, शोक आदि के आवर्त में पड़ा हुआ कभी–कभी क्षणमात्र को शहद की एक बूंद के मिठास को होठों पर चाट कर अपने आपको कृतार्थसा मानता रहता है। ऐसे लोगों को विषय करने के लिये ही अथर्ववेद ने कहा है कि जिन कर्मों में मनुष्य कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों, प्राण, मन, बुद्धि और अहंकार इन १८ रूपों के भरोसे ही काम करता है और इनके लिये ही सारी प्रवृत्ति करता है, वह पुनः पुनः संसार चक्र में ही घूमता रहता है।

प्लवा ह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तम् अवरम् येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढ़ाः जरामृत्युम् ते पुनरेवापि यान्ति॥

समग्र उपनिषदों का यही सार है एवं इन उपनिषदों में भी ब्रह्म चक्र इत्यादि के निरूपण के द्वारा इसका स्पष्ट प्रतिपादन किया है। यह स्मरण रखना चाहिये कि बहिर्मुख मनुष्य के लिये जो वृत्ति बंधन का कारण बनती है, ठीक वही अंतर्मुख व्यक्ति के लिये परमात्म शक्ति का विलास बन जाती है। **बहिर्मुखस्य मंत्रस्य वृत्तयो याः प्रकीर्तिताः। ता एवान्तर्मुखस्यास्य शक्तयः परिकीर्तिताः।**

९. जिसकी ईश्वर और गुरु में भक्ति है, उसको तत्त्वज्ञान न हो, यह वैसे ही असम्भव है जैसे सूर्य के उदय होने पर अंधकार का नाश न होना। भक्ति तारतम्य के कारण इसमें देर-अवेर हो सकती है। परन्तु **यस्मिन् काले तु गुरुणा निर्विकल्पम् प्रकाशितम्। तदैव किल मुक्तोऽसौ यन्त्रास् तिष्ठति केवलम्** इत्यादि के द्वारा यह स्पष्ट है कि गुरु जैसे ही आत्मज्ञान का उपदेश देता है, उसी क्षण जीव मुक्त हो

जाता है। उसके बाद वह यही अनुभव करता है कि मेरा शरीर और मन केवल उनके द्वारा परिचालित यंत्रमात्र है। यंत्री तो वे ही हैं। जिस प्रकार आवाज ढोल से निकलती है परन्तु वही आवाज निकलती है जो बजाने वाला निकाल रहा है। यदि परमात्मा की अथवा गुरु की इस कृपा को हृदय में अनुभव किया जाता है तो जीवन्मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है। अन्यथा अविद्यालेश और प्रारब्ध के प्रतिबंध के कारण इस आनन्द से वंचित रहना होता है।

१०. प्रमाणगत, प्रमेयगत और प्रमातृगत दोषों के कारण ज्ञान की पूर्णता नहीं हो पाती। गुरु प्रमाणगत प्रमेयगत तथा प्रमातृगत संशयों को निवृत्त कर देते हैं। वेद जीवेश्वर की एकता का प्रतिपादन नहीं करते, यह प्रमाणगत संशय है। वेद प्रतिपादित होने पर भी क्या वस्तुतः जीव और ईश्वर की एकता है, यह प्रमेयगत संशय है। पापों से आवृत हुआ हुआ जीव इस रूप को देखने में समर्थ नहीं हो पाता, यह प्रमातृगत दोष है। इन तीनों दोषों की निवृत्ति गुरु ईश्वर की भक्ति से हो जाती है। अथवा यहाँ शास्त्र का तात्पर्य बता रहे हैं। अतः पराभक्ति वाले अंतःकरण में प्रमाण और प्रमेयगत संशय तो आ ही नहीं सकते और जब वह ही मेरे अन्दर बैठा हुआ है तो पापादि स्पर्श भी कैसे कर सकते हैं, यह भाव प्रमातृगत संशय को भी दूर कर देता है। ईश्वर की कृपा के बिना गुरु कृपा उपलब्ध ही नहीं हो सकती क्योंकि शास्त्र का चरम रहस्य है कि ईश्वर ही गुरु मूर्ति धारण करके तत्त्वज्ञान का उपदेश देते हैं। जहां असत् गुरु में भी श्रद्धा देखी जाती है, उसके पीछे भी महामहेश्वर का ही संकल्प है क्योंकि जब तक साधक में पूर्ण ज्ञान को ग्रहण करने की सामर्थ्य नहीं आती तब तक ब्रह्मनिष्ठ गुरु के द्वारा उपदेश सफल नहीं हो सकता। जैसे विशेषज्ञ चिकित्सक के पास जाने के पूर्व सामान्य चिकित्सक के द्वारा इलाज कराना पड़ता है एवं उसके

माध्यम से ही वहां पहुंचा जा सकता है। उसी प्रकार असद् गुरु के माध्यम से सद्गुरु की प्राप्ति होती है। वास्तविक विचारक इसीलिये यह जानते हैं कि एकमात्र वह महामहेश्वर ही अपने अखण्ड संकल्प से सभी जीवों को पूर्णता की ओर ले जा रहा है क्योंकि वह स्वयं ही तो उन सभी जीवरूपों में खेल रहा है एवं अपने आपको बद्ध अनुभव कर रहा है। सभी काल क्रम से परिपक्व हुए हुए पूर्णता की ओर ही जा रहे हैं। अतः मेरी श्रद्धा ठीक है या नहीं अथवा किसी दूसरे की श्रद्धा ठीक है या नहीं, ये दोनों विचार असंगत होने से सर्वरूपों में स्थित परमात्मा ही सारी क्रीड़ा कर रहा है यही अंतिम प्रकाश संयततम है। इस प्रकाश के होने पर ही फिर और कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रह जाता।

प्राचीन परम्परा के अनुसार अंतिम मंत्र के अंतिम पाद को अथवा समग्र मंत्र को दो बार पाठ किया जाता है, यह ग्रन्थ की समाप्ति का द्योतक होता है।

वेदान्तसिंहरूपाय नृरूपाय विलोकने।
प्रत्यगात्मात्मभूताय निर्मलाय नमो नमः॥